हिन्दी का

स्वातंत्र्योत्तर विचारात्मक गद्य

सागर विश्वविद्यालय की पी० एच० डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत

शोध प्रबंध

डॉ० सिस्टर क्लेमेंट मेरी

सप्रेम भेंट

स्मृति प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रकाशक
स्मृति प्रकाशन
६१, महाजनी टोला
इलाहाबाद-३

आवरण
शिवगोविन्द पाण्डे

मूल्य :
पच्चीस रुपये

मुद्रक :
श्रीकान्त पाठक
'फाइन प्रिन्ट'
१०६, शहराराबाग, इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

प्राक्कथन

प्रस्तुत प्रबंध का विषय हिन्दी के स्वातंत्र्योत्तर विचारात्मक गद्य का अनुशीलन है। इस काल के अंतर्गत १९४७ से १९६७ तक के बीस वर्ष आ जाते हैं। स्वातंत्र्योत्तर युग अनेक सूत्रों से पिछले युगों से संबंधित है और इसीलिए यह आवश्यक है कि हम हिन्दी के वैचारिक गद्य के पूर्व-विकास की रूपरेखा भी अपने शोध-प्रबंध के आरंभ में दें।

वस्तुतः वैचारिक गद्य-साहित्य, समीक्षा और शोध के क्षेत्रों में अभी तक उपेक्षित ही रहा है। शोध-कर्ताओं ने हिन्दी गद्य के सर्जनात्मक पक्षों को विशेष रूप से अपने अध्ययन का विषय बनाया है। उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी और निबंध के क्षेत्रों में जो कार्य हुआ है वह मुख्यतः इन विधाओं के भाव-पक्ष पर आधारित है। इन विभिन्न गद्य-रूपों में विचार की भूमिकाएँ सामान्य रूप से ही व्याख्यापित हुई हैं। निबंध-संबंधी समीक्षाओं और शोध-प्रबंधों मे विचार की अपेक्षा भाषा-शैली को ही अधिक महत्व मिला है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबंध का क्षेत्र एक तरह से अछूता है। इसलिये प्रस्तुत शोध-कर्त्री ने अपने विषय के संबंध में काफी स्वतंत्रता ली है और विषय के अनेक पक्षों का उद्‌घाटन अपने ढंग पर किया है।

सामान्यतः गद्य-साहित्य के दो पक्ष होते हैं—एक सर्जनात्मक और दूसरा विचारात्मक। विचारात्मक पक्ष को ही हमने 'वैचारिक' नाम दिया है। परन्तु वैचारिक गद्य का अनुशीलन आरंभ करने से पहले हमें यह भी जान लेना होगा कि वैचारिक साहित्य की क्या सीमा है? विद्वानों के विचार में वैचारिक साहित्य के दो छोर हैं। एक सीमा पर वह विशुद्ध विचार और तर्कवाद को महत्व देता है और दूसरे छोर पर वह एकांततः भावात्मक, प्रेरणामूलक तथा उद्‌बोधनात्मक बन जाता है। इन दो पक्षों के बीच में विचारणा और भावना के अनेक संबंध-सूत्र मिलते हैं और फलस्वरूप वैचारिक गद्य की अनेक शैलियों का जन्म होता है। वैचारिक गद्य-साहित्य बौद्धिक विवेचना के भीतर विचार और भाव की एक सम्पूर्ण परिपाटी आत्मसात करने में समर्थ है। तार्किक विचारणा में एक प्रकार की द्वन्द्वात्मकता विद्वानों ने मानी है। इसमें स्थापना, उसके विरोध एवं समाहार के तीन पहलू रहते हैं। अंतर्विरोधों के आधार पर विचार उच्चतर भूमिका की प्राप्ति करता है। भावात्मक वैचारिक गद्य में यह पद्धति काम में नहीं आती। वह मूलतः रागात्मक होता है और उसके द्वारा लेखक पाठकों को विशेष प्रेरणा देता अथवा उन पर हावी होना चाहता है। पहले में सत्य का प्रकाश है और

दूसरे में विजय की आकांक्षा। इन दोनों पक्षों के संतुलन से ही आदर्श वैचारिक गद्य का जन्म होता है।[1]

वैचारिक साहित्य का प्रारंभिक रूप वह है, जो हिन्दी में 'उपयोगी साहित्य' कहलाता है। उपयोगी साहित्य के अंतर्गत विशुद्ध साहित्य को छोड़कर ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विषयों पर प्रस्तुत सारी सामग्री आ जाती है। आरंभ में यह सामग्री सामान्य कोटि की होती है और उसमें साहित्यिकता का अभाव रहता है। परन्तु जैसे-जैसे इन क्षेत्रों में चिंतन की दिशाएँ पुष्ट होती जाती हैं और भाषा-शैली की क्षमता में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे उपयोगी साहित्य विशिष्ट बनता जाता है और प्रत्येक क्षेत्र में वैचारिक साहित्य का रूप धारण कर लेता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास से यह बात स्पष्ट हो जाती है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'पुस्तक साहित्य' नामक अपने ग्रंथ में आधुनिक काल को दो विभागों में विभक्त किया है। उन्होंने १८६७ से १९०६ तक के साहित्य को 'विगत काल का साहित्य' कहा है और उसे एक प्रकार से प्रारंभिक प्रयोग मात्र माना है। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग का आधा भाग इस काल के अंतर्गत आ जाता है। उन्होंने इन ४२-४३ वर्षों के अंतर्गत रचित उपयोगी साहित्य की विस्तृत तालिका दी है। परन्तु जो रचनाएँ हमारे सामने आती हैं वे अत्यन्त सामान्य हैं और उन्हें हम वैचारिक नहीं कह सकते। वे सतही और सूचना-प्रधान हैं। वैचारिक साहित्य का जन्म उत्कृष्ट चिंतन के युगों में ही हो सकता है। १९१० के बाद ही अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति हिन्दी भाषा में इतना सामर्थ्य आया कि उसके द्वारा प्रौढ़ और गंभीर विचारों की अभिव्यक्ति हो सके। यद्यपि डॉक्टर गुप्त ने १९०६ से १९४२ तक के साहित्य में भी उपयोगी साहित्य के शीर्षक के अंतर्गत ही ज्ञान-विज्ञान-संबंधी उस सामग्री को रखा है जो विशुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आती, परन्तु रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि हम नये वैचारिक युग में प्रवेश कर रहे हैं और ये रचनाएँ केवल अनुवाद मात्र ही नहीं हैं। उनमें पर्याप्त नवचिंतन है। १९२० के लगभग गांधी-युग आरंभ होता है और उसे ही हम काव्य के क्षेत्र में 'छायावादी युग' कहते हैं। इस समय के लगभग ही हमारी राष्ट्रीयता नयी दीप्ति को प्राप्त करती है और हमारे भीतर आत्मविश्वास तथा आस्था का जन्म होता है। १९१७ से १९४७ तक के तीस वर्षों को हम स्वातंत्र्योत्तर युग की पूर्व-भूमिका मान सकते हैं। इसके बाद हम प्रस्तुत प्रबंध के कार्यक्षेत्र में आते हैं जो राजनैतिक भूमिका पर 'नेहरू-युग' है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दी के वैचारिक साहित्य के चार सोपान

---

१. Boris Ford (Ed.)—'*The modern age*' (*Penguin Books-Vol.7*), P 231

है जो क्रमशः

(१) भारतेन्दु-युग (१८६७-१९०९)
(२) द्विवेदी युग (१८६७-१९१७)
(३) गांधी-युग अथवा छायावादी युग (१९१७-१९४७)

और (४) नेहरू-युग अथवा स्वातंत्र्योत्तर युग (१९४७-१९६७) कहे जा सकते हैं। इन युगों में हम विचार के क्षेत्रों में आरंभिक प्रयत्न से लेकर उत्कृष्ट बौद्धिक विकास तक पहुँचते हैं। भारतेन्दु-युग वैचारिक साहित्य के क्षेत्र में आरंभिक युग ही माना जा सकता है। इस युग में पहली बार गद्य का उपयोग विचार के प्रकाशन के लिए हुआ, परन्तु नवीनता के कारण गद्य में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह विचार के ऊँचे सोपान तक पहुँच सके। इस युग का गद्य अधिकांश भावात्मक अथवा प्रेरणात्मक है। वैचारिक नाम की वस्तु हमें केवल निबंध साहित्य से ही मिल सकती है। संस्मरण, आलोचना, जीवनी, आत्मकथा एवं ज्ञान-विषयक साहित्य के क्षेत्रों में रचनाएँ अत्यंत सामान्य और सूचना मात्र है। द्विवेदी-युग संकलन-युग है। 'सरस्वती' के माध्यम से द्विवेदी जी ने अंग्रेज़ी, बंगला, मराठी और उर्दू के साहित्य का मंथन कर एक नया साहित्य-कोष तैयार किया। उसमें मौलिकता अधिक नहीं थी। परन्तु उन्होंने पहली बार पूर्व-पश्चिम के साहित्यों से हिन्दी को पुष्ट किया है। तीसरे युग में राजनीति के क्षेत्रों में हलचलों का आरंभ होता है और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आन्दोलन के साथ कल्पना और भावना के स्रोत भी उन्मुक्त होते हैं। फलस्वरूप यह युग सर्जना-युग है। किन्तु इस सर्जना का क्षेत्र वैचारिक भूमिका पर निबंध-साहित्य ही है। पुस्तकों के रूप में स्वतंत्र रचनाएँ कम मिलती हैं। तार्किक और भावात्मक दोनों पद्धतियों का उपयोग निबंध के क्षेत्र में होता है और समाचार-पत्रों एवं मासिक-पत्रों, अग्रलेखों और सम्पादकीयों के द्वारा अर्थशास्त्र, राजनीति आदि विषयों पर नयी बौद्धिक चेतना सामने आती है। स्वाधीनता के बाद का नेहरू-युग चिंतन और मनन क्षेत्र में हमारे विकास को और भी आगे ले जाता है और हम नये बौद्धिक उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं।

परंपरा और प्रयोग

हिन्दी साहित्य में वैचारिक साहित्य की कोई परंपरा नहीं थी। आज के युग में विचार के प्रकाशन के लिए गद्य का उपयोग होता है। परन्तु हिन्दी साहित्य के अंतर्गत प्राचीन युग में हमें काव्य ही अधिकतर मिलता है। 'वार्ता'-ग्रन्थों और पौराणिक कथाओं के रूप में जीवनीपरक और आख्यानपरक गद्य हमें अवश्य मिल जाता है, परन्तु उसकी मात्रा अधिक नहीं है। प्राचीन युग में काव्य ही विचार का वाहन था और भक्ति-साहित्य के अंतर्गत हमें आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक विचारणा के उच्चतम सोपान मिलते हैं उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में पहली बार विचार-

प्रकाशन के लिए गद्य का उपयोग होता है। यह मुख्य रूप से पत्रों के अग्रलेखों और सम्पादकीयों, टिप्पणियों और निबंधों के रूप मे मिलता है। आरंभ में श्रीरामपुर के ईसाई मिशनरियों ने हिन्दी की विभिन्न बोलियों में अंजील (बाइबिल) के अनुवाद प्रस्तुत कराये और धार्मिक ट्रैक्ट लिखे। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज ने भी इसी समय हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों के रूप में कुछ ग्रन्थ तैयार कराये और आगरे की टेस्ट बुक सोसाइटी (Text Book Society) जैसी संस्थाएँ इस क्षेत्र में सामने आयीं। पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में प्रारम्भिक निबन्ध-लेखन के लिए आगरे से प्रकाशित 'बुद्धि-प्रकाश' (१८५०) महत्व-पूर्ण माना जाता है। इस प्रकार विभिन्न संस्थाओं और शैक्षणिक प्रवृत्तियों के द्वारा अर्द्ध-शताब्दी के काल-विस्तार में हिन्दी गद्य-शैली इतनी सम्पन्न हो सकी कि उसके माध्यम से भाव और विचार सुस्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति पा सकें।

परन्तु वास्तविक रूप में वैचारिक गद्य का जन्म भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही माना जाता है, जिन्होंने 'कवि-वचन-सुधा' (प्रका० १८६७) और 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' (प्रकाशन १८७३) में विभिन्न विषयों पर लेख, निबन्ध, टिप्पणियों आदि का प्रकाशन किया। काव्य और नाटक के क्षेत्रों में उनकी अग्रगामिता हमें बराबर मान्य रही है, किन्तु बहुत कम लोग यह जानते हैं कि परिमाण और विशिष्टता दोनों को ध्यान मे रखकर उन्हें हिन्दी का पहला विचारक और निबन्धकार कहा जा सकता है। 'भारतेन्दु-ग्रंथावली', भाग ३ के एक सहस्र के लगभग पृष्ठ इस क्षेत्र में उनकी मौलिकता और सक्रियता के प्रमाण हैं। भारतेन्दु और उनकी मण्डली के निबन्धकार पत्रकार होने के कारण सामयिक जीवन और ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों से सम्बन्ध रखते हैं। उन्होंने ही विचारात्मक गद्य साहित्य की नींव डाली और निबंध को अपनी प्रौढ़ अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उनके पीछे कोई परम्परा नहीं है। अतः उनके साहित्य मे प्रयोग ही प्रयोग है।

भारतेन्दु-युग के बाद हिन्दी का वैचारिक गद्य परम्परा और प्रयोग दोनो से पुष्ट होता है। उसमें तार्किक शैली की विचारणा के साथ-साथ भावात्मक शैली की सजीवता बराबर मिलती है। निबन्ध मूलतः पश्चिम की चीज़ है और सोलहवीं शताब्दी के अंत में बेकन और मौंतेन से उसका सम्बन्ध स्थापित किया गया है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में यूरोप में सामाजिक चिंतन को प्रधानता मिली और जहाँ निबंध के क्षेत्रों में एडिसन और स्टील जैसे शैलीकार सामने आये, वहाँ दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में विचारात्मक निबन्धों और स्वतन्त्र पुस्तकों के द्वारा गम्भीर चिंतन को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न हुआ। इससे यूरोपीय भाषाओं का गद्य बड़ी शीघ्रता से पुष्ट हो सका। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक यूरोपीय भाषाओं का गद्य वैचारिक भूमिका पर ऊँची से ऊँची उड़ान भरने में समर्थ हो गया था और पूर्व के साहित्य-प्रेमियों के लिए आश्चर्य का विषय बन चुका था। Irror Evans अपनी पुस्तक 'English literature—values and tradition' मे ब्रिटिश उपनिवेशों विशेषतः भारतवर्ष के आधुनिक

साहित्य पर अंग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रभाव का उल्लेख करते हुए गद्य-साहित्य पर अजील (Bible) और शेक्सपियर के प्रभाव को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताते हैं और उनके विचार में भारतीय राजनैतिक चिंतन और इतिहास-दृष्टि को विकसित करने में बर्क और मैकाले की वक्तृत्व-कला विशेष रूप से उपादेय रही है।[1]

---

१. देखिए पृष्ठ ५२—'English had become the instrument of development in what were once the British colonial Territories. Even now that these areas are independent they still employ the English language and their educated minorities still study English literature It can be confidently affermed that the best product that the English ever took from their own country, overseas was the language and the literature that was written in it. The political oratory of writers such as Burke and Macaulay had a profound influence of the development of Indian thought and of Indian movements towards political liberty. At the same time writers such as Shakespeare and Wordsworth formed part of the education back ground of cultivated Indians and helped to serve as some link between the culture of the East and of the West. While Hindi has been pro claimed the official language of India it is to be hoped that English will still continue to be practised as an internationl medium of communication English as a language and as a literature has penetrated very deeply into the Indian mind. If that tradition were lost much that is valuable to the human spirit as a whole would perish. In a very different way, English has had a profound influence in African territories. The period of contact has been shorter and the background is entirely different, but the need of contact in the future is no less important.

Thus English literature, though it has always had a strongly domestic and at times insular aspect, has become more an international influence than any of the other arts produced in England It is the language itself that has made this possible and the language has, from a world point of view, had an influence greater than that of the literature itself. If there is to be a world language medium then that language must be English. History and Contemporary usage make that essential.

At the same time the English themselves have never treasured their language as their greatest national asset. Despite Jonathan Swift's advice they have developed no academy for its preservation. They have failed to produce a stand and classless pronunciation It was left to an Irish man. George Bernard Shaw in the preface to

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय मध्यवर्ग अंग्रेजी भाषा और साहित्य द्वारा पश्चिम की विचार-शैली से परिचित होता है और पहली बार गद्य के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति होती है। विकासवादी इतिहास-दृष्टि और समीक्षात्मक मेधा पश्चिम की दो बड़ी देनें कही गई हैं।[1] इन दोनों के सहारे ही भारतीय चेतना अपने अतीत की गहराइयों में उतर सकी है और अपने वर्तमान के लिए नया समाधान प्रस्तुत करने में समर्थ हुई है। पिछले ६७ वर्षों में हिन्दी का वैचारिक गद्य, विकास की एक सीधी रेखा पकड़कर चलता है और यद्यपि हम उसे शैली की दृष्टि से विभिन्न कालों में बाँट देते हैं, परन्तु सच्चाई यह है कि पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा द्वारा मध्यवर्ग बौद्धिक संपन्नता और प्रौढ़ता प्राप्त करता गया है और इसके फलस्वरूप आज हमारे वैचारिक गद्य का एक सुनिश्चित व्यक्तित्व बन गया है। इस व्यक्तित्व के निर्माण में अंग्रेजी और अन्य यूरोपीय भाषाओं के लेखकों, पत्रकारों और विचारकों का महत्वपूर्ण योग रहा है। सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी मे भारतीय मध्यवर्ग मुख्यतः अंग्रेजी को ही अपनी सांस्कृतिक भाषा बनाकर चला और उसने उसमें धीरे-धीरे अपनी स्वतंत्र शैली का भी निर्माण कर लिया। भारतीय भाषाओं में वैचारिक साहित्य का जन्म १८५० के बाद अवश्य हो जाता है, परन्तु उसे विशेष प्रगति १८८५ के पश्चात् कांग्रेस की स्थापना के साथ मिलती है। मध्यवर्ग का एक प्रभावशाली बहुसंख्यक भाग मातृभाषाओं का उपयोग करने लगता है, क्योंकि उसके लिए अंग्रेजी के द्वारा जन-चेतना पर प्रभाव डालना संभव नहीं था। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१८) के पश्चात् स्वाधीनता की आकांक्षा बलवती हो जाती है और भारतीय विचारक भारतीय भाषाओं में स्वतन्त्र रूप से ऐसे चिंतन का आविष्कार कर लेते हैं, जो पश्चिमीय प्रभावों को आत्मसात करते हुए भी बहुत कुछ मौलिक कहा जा सकता है। उसमें भारतीयता पूर्णतः प्रतिष्ठित है।

यदि हम हिन्दी के वैचारिक गद्य के विकास को परम्परा और प्रयोग के चक्र के भीतर से देखें तो उसकी ऐतिहासिक स्थिति नितांत स्पष्ट हो जाती है। वैचारिक गद्य ने युग की आवश्यकता के अनुसार अनेक माध्यमों को विकसित किया है—निबंध, प्रबंध, लेख, टिप्पणी, अग्रलेख, सम्पादकीय, डायरी, पत्र, समीक्षा आदि। अनेक गद्य-माध्यम

'Pygmalion' to say that phoneticians 'are among the most important people in England at present.' In the play itself Shaw gave to Professor Higgins, in addressing the cockney flower-girl the glorious speech which defines what English could be remembered that you are a human being with a soul and the divine gift of articulate speech. That your native language is the language of Shakespeare and Milton and the Bible; and dont sit there crooning like a bibeous pigeon.'

1. D. P. Mukerji—Essay on Western Influence on Indian culture in D versities P 163 182

वास्तव मे विचार-प्रकाशन की विभिन्न शैलियाँ रही हैं। परंतु सर्जनात्मक गद्य में भी विचारो का प्रवेश हुआ है और उपन्यास, कहानी, नाटक आदि में युग की अनेक समस्याओं का इस प्रकार समावेश किया गया है कि साहित्य की रसात्मक भूमिका विचार और चिंतन से भी पुष्ट होती गयी है। 'साहित्य की मात्रा' शीर्षक एक निबन्ध में महाकवि रवीन्द्र-नाथ ठाकुर ने उपन्यास में विचारों के समावेश पर विचार किया है और उसकी सीमाएँ बतलायी हैं।[1] इसी प्रकार समस्यामूलक नाटक में भी विचारों की प्रधानता रहती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि उपन्यास, नाटक और अन्य सर्जनात्मक गद्य-शैलियाँ विचारो को एक सीमा तक ही आधार बना सकती हैं। यह आवश्यक है कि उनकी आनन्द-प्रदायिनी शक्ति का विकास हो और रचना रसात्मक बनी रहे। इस प्रबन्ध मे हमने सर्जनात्मक साहित्य के अन्तर्गत आनेव ले वैचारिक गद्य को छोड़ दिया है, क्योंकि हमने आरम्भ में ही अपने प्रबन्ध के लिए कुछ सीमाएँ स्वीकार कर ली है।

सर्जनात्मक विचारणा और विचारात्मक सर्जना

समस्यामूलक साहित्य को हम विचारात्मक सर्जना का साहित्य कह सकते है। उसमें सर्जना अधिक महत्वपूर्ण होती है और विचार उसी सीमा तक काम में लाया जाता है जिस सीमा तक वह सर्जना में सहायक हो। यह ठीक है कि केवल भावात्मकता से उत्कृष्ट कोटि के साहित्य का निर्माण नहीं होता। उसमें बौद्धिकता के मेरुदण्ड आवश्यक शर्त हैं। किन्तु दूसरे छोर पर जाकर विचारणा भी सर्जनात्मक हो सकती है। आल्डस हक्सले और जैनेंद्र के निबन्धों में सर्जनात्मक विचारणा के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। हक्सले ने अपने निबन्ध-संकलनों की भूमिका में निबन्ध के एक अत्यन्त ऊँचे सोपान का उल्लेख किया है, जहाँ निबन्ध भावात्मक और विचारात्मक न होकर नितांत आत्मगत हो जाता है और एक नये प्रकार की सर्जना बन जाता है।[2]

---

१. देखिए 'रवीन्द्र साहित्य' मे 'साहित्य की मात्रा' शीर्षक निबंध और धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी द्वारा इस सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर—

(रवीन्द्र साहित्य, भाग २४ तथा D. P. Mukerji—Diversities; Essay entitled—'Social problems in Fiction' P. 285–297).

2. Aldous Huxley—'Preface' to 'Collected Essays' (Bantam classic, 1960)—Essay belong to a literay species whose extreme variability can be studied most effecting within a three-poled frame of reference. There is the pole of the personal and the autobiographical; there is the pole of the objective, the factual the concrete-particular; and there is the pole of the abstract-universal. Most essayists are at home and at their best in the neighbour-hood of only one of the essay's three poles, or at the most only in the neighbourhood of two of them. There are the predominantly objective essayists who do not speak directly of themselves, but turn their attention onward to some literary or scientific or political theme........In the third group we find those essayists who do their work in the word of high abstractions, who never condescend to be personal and who hardly design to take notice of the particular fact from which their generalisations were originally drawn. (p. V–VI)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के भी कुछ निबंध इस श्रेणी में आते हैं। विकासात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि परंपरा, प्रयोग और स्वतंत्र चिंतन से पुष्ट होकर हिन्दी का वैचारिक गद्य आज अनेक रूपों में विकसित हो गया है और उसकी उपलब्धियाँ निश्चय ही महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं। अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्म, नीति, दर्शन, साहित्य और अध्यात्म हमारे विचार-जगत के सात सोपान कहे जा सकते हैं। इनमें से प्रत्येक स्वतंत्र संस्थान है परन्तु इन्हें हम चिंतन और व्यक्तित्व की दृष्टि से स्वाभाविक विकास के रूप में भी देख सकते हैं। अर्थशास्त्र और राजनीति का संबंध हमारे आर्थिक जीवन से है और इन क्षेत्रों में हमारे चिंतन की कुछ स्पष्ट सीमाएँ हैं। इनके बाद धर्म और नीति को स्थान मिलता है जिनमें अधिक गंभीर चिंतन और अभिव्यक्ति की आवश्यकता है। और भी अधिक गंभीर और विकसित चिंतन हमें साहित्य, दर्शन आध्यात्मिक क्षेत्रों में मिलेगा। हिन्दी के क्षेत्र में इनमें से अधिकांश चेतनाएँ बहुत बाद में प्रवेश करती हैं और सभी गद्य-विधाओं में हम अपने स्वतंत्र मापदण्ड की स्थापना नहीं कर सके हैं। अर्थशास्त्र, राजनीति और साहित्य-चिंतन की कोई भाषा ही हमारे पास नहीं थी और इसलिए हमें अपना समूचा शब्दकोश यूरोपीय भाषाओं के सहारे बनाना पड़ा। धर्म, दर्शन, नीति और अध्यात्म भारतवर्ष के प्रिय विषय रहे हैं और इन क्षेत्रों में हमारे अपने शब्द, सूत्र और भावानुबन्ध थे। इन क्षेत्रों में हमने अपनी सम्पत्ति का भरपूर उपयोग किया है। परंतु युग की नयी चेतना के अनुकूल हमें पद्य के स्थान पर गद्य का उपयोग करना पड़ा और हमें इस क्षेत्र में यूरोपीय साहित्य से बहुत कुछ लेना आवश्यक हो गया। केवल साहित्य को ही लें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके भीतर कई स्तरों का चिंतन चल रहा है। विवेचनात्मक, समीक्षात्मक, ऐतिहासिक और भावात्मक चिंतन-शैलियाँ अलग-अलग देखी जा सकती हैं और भावात्मक तथा चिंतन-शैलियों को भी प्रेरणात्मक और कल्पनात्मक, दो भागों में बाँटा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी नयी चिंतन-शैली और उसकी अभिव्यक्ति के लिए हम अनिवार्यतः पश्चिम के ऋणी हैं और हमने अभी कुछ दिन पहले ही अपनी स्वतंत्र सत्ता का निर्माण कर पाया है। प्रस्तुत प्रबंध में हमने इन सभी विषयों और शैलियों के स्वातंत्र्योत्तर विकास को अपने अनुशीलन एवं अध्ययन का विषय बनाया है। इस संबंध में हमारी कुछ सीमाएँ भी स्पष्ट हैं। पिछले बीस वर्षों में हिन्दी गद्य इतनी विभिन्न और विविध भूमिकाओं में इतनी प्रचुर मात्रा में लिखा गया है कि शोध-प्रबंध की सीमित पृष्ठ-संख्या के भीतर इस सब सामग्री पर विस्तारपूर्वक विचार करना असंभव है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हमने पहली बार राजभाषा और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के विकास की योजना बनायी है और ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों को अनुवाद तथा मौलिक रचनाओं के द्वारा पुष्ट करना चाहा है। विभिन्न विषयों पर शब्दकोश तैयार किये गये हैं और पारिभाषिक शब्दों को लेकर अनेक प्रकार की चर्चाएँ हुई हैं।

विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान (technology) के क्षेत्रों में अभी हम पहली सीढ़ी पर ही है। इन क्षेत्रों मे हमारी वैचारिक उपलब्धि शून्य के बराबर ही कही जा सकती है। अन्य क्षेत्रों मे ऐसा कुछ अभी नहीं आया है, जो पश्चिम से एकदम स्वतंत्र और विशिष्ट कहा जा सके। अतः हिन्दी के स्वातंत्र्योत्तर वैचारिक गद्य का अनुशीलन करते हुए हमें मुख्यतः साहित्यकारों और निबन्धकारों तक ही सीमित रहना पड़ता है। ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में सामान्य कोटि की रचनाएँ ही हमारी सीमा बन जाती हैं।

वैचारिक साहित्य की विभिन्न भूमिकाएँ

वैचारिक गद्य को चार विभागों में विभाजित किया जा सकता है, जो ये हैं—(१) विवेचन (exposition), (२) तार्किक व्याख्या (argument), (३) वर्णन (description) और (४) विवरण (narration)। इनमें से पहले दो बौद्धिक चिंतन के आधार और पिछले दो विचार की सज्जा और उसकी प्रवाहात्मकता के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। शिपले ने अपने 'साहित्य-परिभाषावली' संबंधी कोश में इन चार तत्वों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।[1] शिपले का मत है कि इन चारों को वैचारिक गद्य के चार रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे वस्तुतः चार वैचारिक मनःस्थितियाँ हैं और गद्य-लेखन में इन चारों का आवश्यकतानुसार मिला-जुला उपयोग होता है। सामान्यत वैचारिक गद्य का वह स्वरूप जो केवल तात्पर्य का बोध कराता है, अधिकांशतः तथ्य-मूलक और संवेदनशील रहता है। विवेचनात्मक और तार्किक गद्य मे बौद्धिकता के साथ-साथ विचार को विश्वसनीय बनाने और उसके द्वारा प्रेरणा प्रदान करने का भी अवकाश रहता है। वर्णनात्मक गद्य मे मुख्यतः इन्द्रियानुभूतियों को काव्यात्मक भाषा मे विस्तार-पूर्वक अभिव्यंजित किया जाता है और लेखक का यह उद्देश्य रहता है कि रचना हमारे इन्द्रिय-बोध पर अपना प्रभाव डाले। विवरणात्मक शैली का गद्य वास्तविक अथवा काल्पनिक घटनाओं और पात्रों से सम्बन्धित रहता है। इसमें भी कल्पना का उपयोग सम्भव है। वर्णन और विवरण मुख्यतः हमारी कल्पना को उद्वेलित करते हैं। अत वैचारिक गद्य के अन्तर्गत प्रधानतः व्याख्यात्मक और तार्किक शैली का गद्य ही आता है, जो अधिकतः हमारे बुद्धि-व्यापार को आन्दोलित करता है। उसमें कहीं भी प्रेरणा अथवा पाठक पर प्रभाव डालने का आग्रह नहीं रहता। उसमें बौद्धिकता की प्रधानता रहती है। डगडन ने 'Literature of knowledge' और 'Literature of power' नामक साहित्य के जो दो वर्गीकरण किये हैं, वे वैचारिक गद्य के क्षेत्र में भी पूर्णतः लागू होते हैं। परन्तु वैचारिक गद्य का सर्वश्रेष्ठ संभवतः ज्ञानमूलक चेतना पर आधारित होता है। वास्तव में यह सम्पूर्ण विवेचन सुविधा के लिए ही है और एक प्रकार से

1. Joseph T. Shipley–Dictionary of world literary terms See under compostion p 73 74

उसमें सरलीकरण भाव की ही प्रधानता है। व्यवहार के क्षेत्र में जब रचनाकार किसी विचार को प्रस्तुत करता है, वह व्याख्या, तर्क, वर्णन और विवरण का एक साथ उपयोग करता है, क्योंकि विचार अपनी समग्रता मे धारणा, मूल्य, स्वरूप एवं इतिहास का समुच्चय है। वैसे पद्य अथवा काव्य में भी विचार की ये चारों शैलियाँ हमें मिलती है। परन्तु उनका विशेष उपयोग गद्य के क्षेत्र में ही होता है। शिपले के विचारों में ये शैलियाँ हमारे विषयगत दृष्टिकोण का ही दूसरा नाम है और उनका विभिन्न साहित्यिक रूपों में थोड़ा-बहुत उपयोग अवश्य होता है। उन्होंने महाकाव्य, नाटक, इतिहास, उपन्यास और निबन्ध के नाम इस सम्बन्ध में लिये हैं और इन चारों मे वैचारिक गद्य की स्थिति मानी है। पिछले पृष्ठों में हमने यह स्पष्ट कर दिया है कि सर्जनात्मक साहित्य में बौद्धिक प्रक्रिया अनिवार्य रूप से रहती है और सर्जनात्मक-साहित्यिक विधाओं में वैचारिक गद्य पर्याप्त मात्रा में मिलता है। परन्तु हमने अपना क्षेत्र निबंध, समीक्षा और ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी गम्भीर लेखन तक सीमित रखा है। साहित्य का उद्देश्य केवल आनन्द ही नहीं है। उसके द्वारा हम पाठक और श्रोताओं मे कर्मशीलता को भी जन्म देते हैं और साथ ही उनके ज्ञान में भी वृद्धि करते हैं। रसात्मकता, उद्बुद्धता और ज्ञानवर्द्धन तीनों ही वैचारिक गद्य के क्षेत्र है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैचारिक गद्य की चार प्रमुख भूमिकाएँ है और उतने ही विशिष्ट उद्देश्यों के लिए उसका उपयोग होता है। इन चारों को हम सब कहीं अलग-अलग नहीं कर सकते। फलस्वरूप हमें इनमे से किसी एक तत्व को रचना में प्रधान मानकर चलना पड़ता है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में हमने विभिन्न विषयों और विचारधाराओं की जिस सामग्री का अध्ययन किया है, उसमें हम विचार के इन चारों पक्षों के सम्बन्ध में जागरुक रहे हैं। आवश्यकतानुसार हमने एक ही निबन्ध, लेख अथवा रचना का एक से अधिक स्थानों पर उपयोग किया है। हमने साहित्य नाम से चलनेवाली वस्तु को ही प्रबन्ध में वस्तुतः प्रधानता दी है, परन्तु इस शब्द का हमने व्यापक अर्थों में उपयोग किया है और ज्ञान-विज्ञान की सभी धाराओं के अन्तर्गत विचारधारा अथवा चिंतन को स्थान दिया है। पत्र-साहित्य (Periodical Literature) को भी हमने अपनी विवेचना का विषय बनाया है, क्योंकि उसमें सामयिकता की मात्रा अधिक रहती है और उसके द्वारा वैचारिक और बौद्धिक चिंतन अग्रसर होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में हमारा साहित्य पत्र-साहित्य तक ही सीमित था। परन्तु पिछले पच्चास वर्षों से पत्रकारिता और साहित्य गद्य-रचना की दो स्वतंत्र धाराएँ रही हैं, यद्यपि दोनों को अलग रखना संभव नहीं है। हिन्दी के अधिकांश गद्य-शिल्पी और विचारक पत्रकार रहे और उनकी रचनाएँ आरम्भ में पत्रों में ही प्रकाशित हुई हैं। आज भी साहित्य और पत्रकारिता का अन्तरावलम्बन स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है

वैचारिक साहित्य की भाषा-शैली

वैचारिक गद्य की मानसिक भूमिकाएँ विभिन्न रही हैं। उसकी अभिव्यंजना के स्वरूपों में भी बड़ी विभिन्नता है। हिन्दी के अध्येताओं और शोधकर्ताओं ने सर्जनात्मक गद्य की शैलियों पर ही अधिकतर विचार किया है। वैचारिक गद्य के क्षेत्र में उन्होंने मात्र निबन्ध को ही अपने चिंतन और अन्वेषण का विषय बनाया है। यह सच है कि वैचारिक गद्य के क्षेत्र में निबन्ध को सर्वोपरिता प्राप्त है। परन्तु लेख, संवाद (dialogue), पत्र, दैनंदिनी (diary), टिप्पणी, अग्रलेख, रिपोर्ताज़ आदि वैचारिक गद्य की अनेक अन्य शैलियाँ भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं। प्रबन्ध के एक स्वतंत्र अध्याय में हमने इन समस्त शैलियों की उपादेयता पर विचार किया है और उनके तात्विक स्वरूपों का विवेचन भी वहीं हुआ है। यहाँ हमें केवल यह कह देना है कि वैचारिक गद्य की शैलीगत प्रौढ़ता विचार-प्रौढ़ता के साथ बँधी हुई है और जैसे-जैसे हम वैचारिक सम्पन्नता और प्रौढ़ता के क्षेत्र में आगे बढ़ते है, वैसे-वैसे हमारी शैलियाँ अधिक समर्थ और अभिव्यंजक होती हैं। विचार और उसकी अभिव्यंजना के क्षेत्र में इस प्रगतिशीलता का सम्बन्ध हिन्दी पाठक-समुदाय के प्रसार और उसके बौद्धिक विकास से जुड़ा हुआ है। इसलिए यह भी आवश्यक हो गया है कि हम अपने प्रबन्ध के विस्तार में शिक्षा और ज्ञान के प्रसार से सम्बन्धित आन्दोलनों और आयोजनों की चर्चा करें। अभी हम उत्कृष्ट कोटि के हिन्दी-पाठी बौद्धिक समुदाय को जन्म नही दे सके हैं। हमारा मध्यवर्ग ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेजी भाषा को ही अपनी उच्चतम अभिव्यक्ति का साधन बनाता रहा है और अब भी उसके प्रति उसका मोह उसी प्रकार बना है। फलस्वरूप हिन्दी-विचारणा का इतिहास बहुत विस्तृत नहीं है।

वैचारिक गद्य के पीछे विचार और भाव की सम्पन्नता और प्रौढ़ता है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान पश्चिम की देन है और उसमें पूर्व का योगदान अभी आरम्भ हुआ है। पिछले सौ वर्षों में हम हिन्दी भाषा में ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दवली का निर्माण करने में समर्थ हुए हैं और स्वतन्त्र-चिंतन के लिए हमें अवकाश ही नहीं मिल पाया है। विशुद्ध साहित्य, धर्म और दर्शन को छोड़कर शेष क्षेत्रों में हमारे प्रयत्न आरंभिक ही कहे जा सकते हैं।

वे या तो पाठ्य-सामग्री तक सीमित हैं और छात्रोपयोगी स्तर से आगे नहीं बढ़ पाये है अथवा वे बहुत कुछ सूचनात्मक हैं। उनमें बौद्धिक ऊहापोह का तेज नहीं मिलता। उत्कृष्टतम वैचारिकता के लिए स्वतन्त्र चिंतन और मानसिक साहस की आवश्यकता है। द्विवेदी-युग के बाद महात्मा गांधी के पदार्पण के साथ ही ऐसे स्वतन्त्र चिंतन का जन्म हुआ। परन्तु गांधी-युग में भी बौद्धिकों की भाषा अंग्रेज़ी ही थी। देशी भाषाओं के माध्यम से इस युग में एक समानांतर स्वदेशी और स्वधर्मी चिंतन का भी जन्म हुआ। परन्तु वह स्वातन्त्र्योत्तर युग में ही उच्चवर्ग में पहुँचकर अंग्रेजी भाषा के माध्यम से

आनेवाले भारतीय चिंतन की समकक्षता कर सका। पिछले बीस वर्षों का हमारा बौद्धिक विकास अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता और मौलिकता से सम्पन्न है। उसी के अनुरूप इन दो दशकों में वैचारिक गद्य-शैलियों का पर्याप्त विकास हुआ है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में ग्यारह अध्याय हैं और अन्त के परिशिष्ट में सामयिक पत्र-साहित्य को भी ले लिया गया है। इसी युग में पत्र-साहित्य पुस्तक-साहित्य से भिन्न स्वतंत्र स्थिति प्राप्त करता है और इसलिए हमने निबन्ध के कलेवर में उसे स्थान न देकर परिशिष्ट में रखा है। प्रबन्ध तीन खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड को एक प्रकार से शोध विषय की पृष्ठभूमि माना जा सकता है। दूसरे खण्ड में विशिष्ट साहित्यकारों और चिंतन-प्रणालियों को लेकर विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तीसरे खण्ड में वैचारिक शैलियों का विश्लेषण और उपसंहार के रूप में सामयिक वैचारिक गद्य की उपलब्धियों का आकलन है। तीनों खण्डों के अन्तर्गत अध्यायों की स्थिति इस प्रकार है।

शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में हमने सामान्य पीठिका के रूप में स्वातंत्र्योत्तर युग की विभिन्न प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। शास्त्रीय, राजनैतिक, भाषात्मक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिवेश का अध्ययन इस अध्याय का विषय है। स्वतंत्र भारत की राजनैतिक एवं वैचारिक एकता के लिए यह आवश्यक था कि हम मातृभाषाओं पर विशेष ध्यान दें और उन्हें अपने सांस्कृतिक और सामाजिक चिंतन का माध्यम बनायें। नये युग की आवश्यकताओं के अनुरूप हमें विचार तथा चिंतन के क्षेत्र में नया चुनौतियों का सामना करना पड़ा। भारतीय संविधान स्वयं अपने में इस युग की सर्वप्रमुख वैचारिक प्रेरणाओं का स्रोत है। उसमें राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की अवतारणा पहली बार वैज्ञानिक भूमिका पर हुई है। नेहरू जैसे विचारक और मानवतावादी नेता ने इस युग के बौद्धिक नेतृत्व को विशेष रूप से सम्पन्न बनाया है। इस प्रकार से आधुनिक काल की सारी उपलब्धियाँ हमारे इसी युग पर आकर समाप्त होती हैं। प्रस्तुत अध्याय में आलोच्य युग के वैशिष्ट्य का निरूपण है।

द्वितीय अध्याय में हमने स्वातंत्र्योत्तर युग के साहित्य पर विस्तारपूर्वक विचार किया है तथा उसके वैशिष्ट्य को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। यहाँ हमने उन मौलिक प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया है जो उसको स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। इसी प्रसंग में हमने उन यूरोपीय साहित्यकारों और आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों पर भी विचार किया है, जिन्होंने हमारे साहित्य की नई प्रवृत्तियों और चिंतन-धाराओं पर प्रकाश डाला है। यद्यपि प्रस्तुत शोध-प्रबंध का विषय वैचारिक गद्य है और हमने अपने विश्लेषणों में सर्जनात्मक गद्य को छोड़ दिया है। परंतु युग की समग्रगत साहित्यिक चेतना को सामने लाने के लिए यह आवश्यक था कि हम सर्जनात्मक साहित्यिक प्रवृत्तियों पर भी यहाँ विचार करें। इस अध्याय को एक प्रकार से हमारे अध्ययन की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है

तृतीय अध्याय मे हमने आलोच्य युग के वैचारिक गद्य पर विहंगम दृष्टि डाली है तथा उसके धारा-प्रवाह विकास को उद्घाटित किया है।

दूसरे खण्ड में हम कुछ विशेष साहित्यकारों को ही ले सके हैं, जो वैचारिक गद्य के विभिन्न स्वरूपों और पक्षों के प्रतिनिधि हैं। इसलिए यहाँ पर हमने अप्रधान साहित्य-कारों तथा उनकी रचनाओं का भी उल्लेख कर दिया है, जिससे हमारा अध्ययन अधिक पूर्ण हो सके।

चतुर्थ अध्याय में विशेष अध्ययन का आरंभ होता है तथा वह नवम अध्याय तक चलता है। इन छह अध्यायों को हमने साहित्यिक चिंतन, नैतिक एवं सामाजिक चिंतन, सास्कृतिक चिंतन, राजनैतिक चिंतन, धार्मिक एवं दार्शनिक चिंतन तथा प्रेरणार्थक और भावात्मक गद्य शीर्षकों के अंतर्गत रखा है। यह स्पष्ट है कि अंतिम अध्याय को छोड़कर शेष में ज्ञान-विज्ञान के एक-एक पक्ष को उठाया गया है और उसके अंतर्गत विचार और उसकी अभिव्यंजना के विभिन्न रूपों को अध्ययन का विषय बनाया गया है। चतुर्थ अध्याय में साहित्य-चिंतन के अंतर्गत हमें रसवादी, मनोवैज्ञानिक, मार्क्सवादी, व्यक्ति-वादी तथा स्वतंत्र अथवा अपरिबद्ध समीक्षकों को अलग-अलग स्थान देना पड़ा है। हिन्दी के वैचारिक गद्य में समीक्षात्मक गद्य और उसकी विभिन्न शैलियों तथा विचार-धाराओं के विकास का अपना इतिहास है। अन्य क्षेत्रों में हमारा चिंतन उतनी संपन्नता प्राप्त नहीं कर सका, जितनी साहित्यिक चिंतन और समीक्षा के क्षेत्र में। पिछले वर्षों मे सामयिक समीक्षा सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों अथवा स्वतंत्र रूप से समीक्षकों पर जो शोध-कार्य हुआ है उसका भी हमने लाभ उठाया है। परन्तु हमारा प्रयत्न यही रहा है कि हम साहित्यिक चिंतन की उच्चतर और समर्थ भूमिकाओं को प्रकाश में लायें और वादों के फेर में न पड़कर अपने समीक्षकों और चिंतकों की मौलिक दृष्टि को सामने लायें। हमारे वैचारिक गद्य का सर्वाधिक उत्कर्ष समीक्षा एवं साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में हुआ है और इसलिए हमें इस अध्याय में कुछ अधिक पृष्ठ रखने पड़े हैं।

पंचम अध्याय नैतिक एवं सामाजिक चिंतन से संबंधित है। इस अध्याय मे हमने गांधीवादी विचारक जैनेंद्र को केन्द्र में रखा है और उनके साहित्य पर विशद रूप से विचार किया है। परन्तु अन्य सामाजिक विचार-धाराओं को भी इस अध्याय में स्थान दे दिया गया है, यद्यपि उनमें बहुत विचार-धाराएँ ऐसी हैं जिनके विवेचन में हम पश्चिम के ऋणी हैं और हमारा मौलिक प्रायः बहुत कम है।

षष्ठ अध्याय में हम सांस्कृतिक चिंतन को विषय बनाकर चले हैं। वस्तुतः यह क्षेत्र हमारा अपना क्षेत्र है। इस क्षेत्र में हमारी मौलिक उपलब्धियाँ विशेष महत्वपूर्ण है। यद्यपि हमने इस अध्याय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉक्टर वासुदेव शरण पर ही विशेष रूप से विचार किया है परन्तु उनके योगदान को इस

क्षेत्र की अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धियों के साथ रखकर हम अपने अध्याय को अधिक व्यापक बना सके हैं।

सप्तम अध्याय में हमारा विषय राजनैतिक चिंतन है। इस क्षेत्र में हमारी मौलिक उपलब्धियाँ अधिक नहीं हैं। यद्यपि हिन्दी प्रदेश को महामना मदनमोहन मालवीय, पंडित मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू और स्वर्गीय राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जैसे हिन्दीभाषी राजनैतिक नेताओं को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है। परन्तु पारिभाषिक अर्थों में नेहरू जी को छोड़कर इनमें और कोई भी राजनैतिक विचारक नहीं कहला सकता। नेहरू जी का संपूर्ण साहित्य मौलिक रूप से अंग्रेजी साहित्य है और वह रूपांतरित होकर ही हिन्दी साहित्य को संपन्न बना सका है। यदि वह मौलिक रूप से हिन्दी में लिखते तो राजनैतिक विचार-धारा के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य के पास एक अत्यंत उत्कृष्ट मौलिक प्रतिमान होता। परंतु दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका और हमें द्वितीय श्रेणी के विचारकों से ही संतोष कर लेना पड़ा। जहाँ तक गद्य-शैली का संबंध है राजनैतिक गद्य का बड़ा सुन्दर स्वरूप हमें महामना मालवीय जी में मिलता है। राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद को हम गद्य-शैलीकार नहीं कह सकते। हिन्दी के राजनैतिक गद्य का जन्म १८७५-१८७७ में कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले 'भारत मित्र' एवं 'सार-सुधानिधि' साप्ताहिक पत्रों से होता है और हमारे पत्रकारों ने उसके विकास में विशेष योग दिया है। इस अध्याय में हमने पत्र-साहित्य की राजनैतिक गतिविधि पर विचार किया है जिससे राजनैतिक गद्य के विकास की रूपरेखा अधिक स्पष्ट हो सके।

अष्टम अध्याय में धार्मिक एवं दार्शनिक चिंतन तथा उनकी गद्य-शैलियों पर विचार किया गया है। इस क्षेत्र में हमारे पास पर्याप्त सामग्री है और 'कल्याण' जैसे मासिक पत्र भी हैं जो धर्म और दर्शन के संबंध में लेखों और निबंधों को बराबर प्रकाशित करते रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में साधु निश्चलदास के द्वारा अद्वैतवाद की नयी व्याख्या की ओर हमने इंगित किया है और स्वामी दयानंद एवं अन्य धार्मिक नेताओं के द्वारा हमें प्रचुर मात्रा में धर्म एवं दर्शन का गद्य मिला है परंतु विचारक की श्रेणी पर आने वाले लोग उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। इनमें डॉक्टर भगवानदास और डॉ० संपूर्णानंद प्रमुख हैं। हिन्दी के अन्य लेखकों में इस संबंध में बाबू गुलाबराय का नाम भी लिया जा सकता है।

नवम अध्याय वैचारिक गद्य के उस दूसरे छोर को लेकर चलता है जो विचार में भावना का समावेश करता है और प्रेरणा अथवा उद्बोधन को अपना लक्ष्य बनाता है। 'प्रताप' एवं 'कर्मवीर' जैसे साप्ताहिकों और 'महारथी' जैसे मासिकों में इस प्रकार का गद्य हमें प्रचुर मात्रा में मिला है। इस शैली के गद्य के प्रमुख प्रतिनिधि माखनलाल चतुर्वेदी एवं विद्यानिवास मिश्र हैं। इस अध्याय में अन्य भी बहुत से लेखकों का नाम लिया गया है और उनकी के प्रस्तुत किए गए हैं जिससे वैचारिक

गद्य की संवेदनशीलता एवं भावनामयता का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत हो सके।

दशम अध्याय में वैचारिक गद्य की शैलियों का विस्तृत अध्ययन है। गद्य के अनेक रूपों और शैलियों में पर्याप्त असमानता रही है तथा वैचारिक क्षेत्र की संपन्नता और प्रौढ़ता के साथ हमारे साहित्यकारों को अपने अभिव्यंजना-शिल्प को और अधिक सौष्ठवपूर्ण बनाना पड़ा है। गद्य-शैलियों के विकास पर अभी तक जो शोध-कार्य हुआ है वह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, परन्तु इससे हमने जहाँ-तहाँ अवश्य लाभ उठाया है।

एकादश अध्याय में हमने उपसंहार के रूप में आलोच्य युग के वैचारिक गद्य की तत्कालीन सर्जनात्मक गद्य से तुलना करते हुए आलोच्य युग की उपलब्धियों का लेखा-जोखा लिया है और नवीन प्रवृत्तियों के अध्ययन का प्रयत्न भी किया है। ये नवीन प्रवृत्तियाँ अभी परिपक्व नहीं हो सकी हैं। वे अभी प्रयोग मात्र हैं।

परिशिष्ट में समसामयिक पत्र-साहित्य में वैचारिक गद्य की स्थिति पर विचार हुआ है। पत्र-साहित्य स्वतंत्र रूप से शोध का विषय बन सकता था। अतः हमने सामान्य रूप से ही उस पर प्रकाश डाला है। प्रबंध की उपर्युक्त रूपरेखा से यह स्पष्ट है कि हमारे अध्ययन की कुछ अपनी सीमाएँ हैं। गद्य के क्षेत्र में अब तक शोधों पर प्रकाश डालते हुए हमने यह स्पष्ट कर दिया है कि वैचारिक गद्य के अंतर्गत आने वाले साहित्य पर स्वतंत्र रूप से विचार नहीं हुआ है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में स्वातंत्र्योत्तर युग ही आ सका है। पूर्वाभास के रूप में पिछले युगों की वैचारिक चेतना एवं उसकी अभिव्यक्ति के विभिन्न स्वरूपों को हमने संक्षेप में प्रस्तुत किया है। इससे अधिक विस्तार सभव ही नहीं था।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध संबंधी सामग्री का अध्ययन आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के निर्देशन मे हुआ था। परंतु उनके विक्रम विश्वविद्यालय के उपकुलपति निर्वाचित हो जाने के बाद प्रबंध के निर्देशन का भार विभाग के वरिष्ठ अध्यापक डॉ० रामरतन भटनागर के ऊपर पड़ा। उन्होंने नये ढंग से प्रबंध की रूपरेखा की स्थापना कर मेरे प्रबध-लेखन को पर्याप्त गति दी और उसे परिसमाप्ति तक पहुँचाने में मेरी सहायता की। अपने इन दोनों ही निर्देशकों की मैं आभारी हूँ। प्रबंध के अंतर्गत हिन्दी के जिन विद्वानों एवं शोध-कर्त्ताओं की सामग्री की उपयोग हुआ है उनका निर्देशन पाद-टिप्पणी में वहीं कर दिया गया है। यहाँ मैं उन सभी के प्रति नतमस्तक हो उनका ऋण स्वीकार करती हूँ।

—सिस्टर क्लेमेन्ट मेरी

"Dedicated to the former Principal and Superior of Mount Carmel College, Sister Mary Antoinette, T. C., Head of the English Department (Retired). She greatly encouraged me in the writing of this work, being convinced of the priority to be given to the study of the Hindi language and Literature among Indian languages today."

—**Clement Mary**

प्रथम अध्याय

पूर्वाभास : स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व हिन्दी विचारणा की स्थिति

जिसको हम पश्चिमी अर्थ में 'आधुनिक' कह सकते हैं, वैसा साहित्य हिन्दी के क्षेत्रों में सन् १८५७ से आरम्भ होता है। इस वर्ष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध पत्रिका 'कवि-वचन-सुधा' का प्रकाशन आरम्भ किया था। यह तिथि डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त को भी मान्य है। क्योंकि इसी वर्ष पुस्तक-प्रकाशन के क्षेत्र में एक निश्चित व्यवस्था का जन्म हुआ। उनका कहना है—'१८६७ की तिथि तीन कारणों से रखी गई है। एक तो १८६७ में ही देश के पुस्तक-प्रकाशन को नियंत्रण करने की आवश्यकता समझी गई और 'रजिस्ट्रेशन आव बुक्स एण्ड प्रेस एक्ट' बना, जिसके द्वारा भारत में प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक को अनिवार्य रूप से अपने-अपने प्रान्तीय रजिस्टर में दर्ज कराने और इस प्रकार निर्मित सूची के त्रैमासिक रूप में प्रान्तीय गजट में प्रकाशित होने की व्यवस्था की गई, दूसरे १८६७ के पहले हिन्दी में प्रकाशन की गति इतनी धीमी रही कि उसके कुछ ही बाद आने वाले वर्षों के अनुपात में वह प्रगतिहीन तक कही जा सकती है; और तीसरे हिन्दी के साहित्य के एक युग का आरम्भ इसी तिथि से माना जा सकता है। इसी वर्ष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पहली मौलिक रचना प्रकाशित हुई, उन भारतेन्दु की जिनको उस युग का उन्नायक और आधुनिक हिन्दी साहित्य का पिता माना जा सकता है।[1] अठारह सौ अड़सठ से उन्नीस सौ सैंतालिस तक (१८६७-१९४७) अस्सी वर्षों के काल-विस्तार में हिन्दी के उपयोगी साहित्य की जो उन्नति हुई उसकी सम्पूर्ण गाथा डॉ गुप्त के इस सन्दर्भ ग्रन्थ में मिल जाती है। यद्यपि उन्होंने अपने विवेचन की दूसरी सीमा उन्नीस सौ बयालिस (१९४२) ही रखी है और शेष पाँच वर्षों का इतिहास इस ग्रन्थ के अन्तर्गत नहीं आता। उन्होंने विशुद्ध साहित्य के साथ उपयोगी साहित्य को भी रखकर हमारे साहित्य के बौद्धिक पक्ष के महत्व को स्वीकार किया है। विशुद्ध साहित्य के अन्तर्गत उन्होंने निबन्ध, साहित्यशास्त्र और समालोचना को वैचारिक साहित्य के रूप में स्थान

---

१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : 'हिन्दी पुस्तक साहित्य', प्रस्तावना- पृष्ठ ५।

दिया है। उन्होंने साहित्य के इतिहास को भी स्वतंत्र सत्ता दी है। साहित्येतर सूची के अन्तर्गत उन्होंने लगभग एक दर्जन विषय रखे हैं। ये विषय हैं—जीवन-चरित्र, इतिहास देश-दर्शन, भाषा-दर्शन, ललित-कला, उपयोगी कला, शरीर-रक्षा, विज्ञान, समाजशास्त्र शिक्षा, धर्म और नीति, समालोचना और विभाषा-साहित्य का अध्ययन। उन्होंने अपनी तालिका को 'विगत युग' (१८६७-१९०८) और वर्तमान युग (१९०९-१९[illegible]) में विभाजित किया। अनूदित साहित्य को उन्होंने 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत स्वतंत्र स्थान दिया है। प्रत्येक विषय के अन्तर्गत उन्होंने सुविधानुसार कुछ विवेचन भी किया है। यह सारी सामग्री सूचक मात्र है। इससे वैचारिक साहित्य के वास्तविक विकास और उसकी भाषा-शैली के परिष्कार के सम्बन्ध में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। मोटे ढंग से हम यह अवश्य कह सकते हैं कि विगत युग के साहित्य के अन्तर्गत आने वाली सामग्री प्रारम्भिक सामग्री ही है और आज वह हमारे अध्ययन और अवगाहन का विषय नहीं हो सकती। वर्तमान युग में ही रचनाओं में प्रौढ़ता आई है और उपयोगी अथवा सामान्य सूचनाओं से आगे बढ़कर हमारा वैचारिक साहित्य अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के निर्माण की ओर अग्रसर हुआ है। वस्तुतः 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' के अन्तर्गत वर्तमान युग से सम्बन्धित रचनाएं हमारे अध्ययन की पीठिका बन जाती हैं। इस सारी सामग्री का डॉ० गुप्त ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में लगभग दो सौ पृष्ठों में विवेचित किया है। इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पश्चिम के साहित्य का अनुवाद तथा सामग्री के संचयन और आकलन के सम्बन्ध में हमारे गद्यकार जागरूक रहे हैं। आरम्भ में उनके पास पुष्ट विवेचनात्मक शैली नहीं थी। इसलिए भारतेन्दु का समस्त साहित्य स्वतन्त्र विचारणा के क्षेत्र में कोई मौलिक देन प्रस्तुत नहीं कर सका। उसका महत्व सर्जनात्मक साहित्य के कारण ही है।

काव्य, नाटक, उपन्यास और आत्मगत निबन्ध के क्षेत्र में हमें उस युग की नयी प्रवृत्तियों का जन्म स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। काव्य और नाटक की हमारी प्राचीन परम्परा थी, परन्तु निबन्ध और उपन्यास हमारे लिये एकदम नयी साहित्य विधा थी। इस सर्जनात्मक साहित्य के साथ विचारात्मक साहित्य के रूप में हमें जो कुछ प्राप्त हुआ वह इसलिये महत्त्वपूर्ण था कि उसमें पहली बार गद्य का उपयोग हुआ था। उसने हमारी गद्य-शैली को समर्थ और विशिष्ट बनाया।

वैचारिक गद्य के क्षेत्र में दूसरा चरण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन कार्य से आरम्भ होता है। १९०३ में उन्होंने प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथ में लिया और अपने सम्पादन-काल के पहले पाँच वर्षों में हिन्दी गद्य के नये प्रतिमान स्थापित किये। १९०९ के बाद हमें गद्य के क्षेत्र में जो प्रवृत्तियां मिलती हैं उनपर उनकी स्पष्ट छाप है। वैचारिक गद्य-साहित्य और [illegible] निर्माण

के सन्दर्भ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का महत्व और भी अधिक हो जाता है। उन्होंने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान का कोई क्षेत्र अछूता नहीं छोड़ा और उनके कार्यकाल में 'सरस्वती' एक विशिष्ट संकलन-पत्रिका बनी रही। उसे हम 'विचार-पत्रिका' नहीं कह सकते, क्योंकि उस समय तक हिन्दी भाषा के साहित्य को विचार की विशिष्टता प्राप्त नहीं हुई थी। वह बहुत कुछ सूचना तक ही सीमित था। परन्तु धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। द्विवेदी युग की समाप्ति तक वैचारिक साहित्य की विशिष्ट गद्य-शैलियों का निर्माण हो चुका था और जब हम गांधी-युग अथवा छायावादी युग में प्रवेश करते हैं तब हमें अभिव्यंजना के विभिन्न रूपों के विकास के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि मिल जाती है। गांधी युग में चिन्तन के नये क्षेत्र आविष्कृत हुए और सभी पुराने क्षेत्रों में उत्कृष्ट कोटि का काम हुआ। राष्ट्रीय संग्राम और सत्याग्रह-आन्दोलन ने जहाँ हमें अतीत के प्रति गौरव-प्राण बनाया, वहाँ यूरोप से स्पर्द्धा की मनोवृत्ति का भी जन्म हुआ जिसके फलस्वरूप वहाँ के श्रेष्ठ साहित्य को समकक्ष रखकर हमने समानान्तर रचनाओं की सृष्टि करनी चाही। हमारे राष्ट्रीय व्यक्तित्व के निर्माण में यह सारे प्रयत्न सहायक सिद्ध हुए हैं।

नीचे हम कुछ विशिष्ट शीर्षकों के अन्तर्गत इस सम्पूर्ण वैचारिक विकास को संक्षेप में प्रस्तुत करना चाहेंगे, जिससे इस क्षेत्र की प्रवृत्तियों का आभास हो सके और अपने विशेष अध्ययन के लिये हम एक सुनिश्चित पृष्ठभूमि का निर्माण कर सकें—

(क) निबन्ध, (ख) साहित्य शास्त्र, समीक्षा और साहित्य का इतिहास, (ग) धर्म और दर्शन, (घ) नीति, (ङ) इतिहास, भूगोल, अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्र आदि।

(क) निबन्ध

वैचारिक साहित्य का सबसे सुन्दर और सरस रूप हमें निबन्ध में मिलता है। निबन्धों का आरम्भ साप्ताहिक एवं मासिक पत्रों से सम्बन्ध रखता है। आलोचकों के विचार में आगरा से प्रकाशित होने वाला 'बुद्धि-प्रकाश' (१८५०) पहला मासिक पत्र है, जो व्यवस्थित रूप से निबन्ध प्रकाशित करता था। ये एक-दो पृष्ठों के छोटे-छोटे निबन्ध होते थे और ज्ञान-विज्ञान के सभी विषय इनमें रहते थे। बीसवीं शताब्दी के पहले दशक के अन्त तक निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित होते थे और जनता उन्हीं के द्वारा उनका आनन्द लेती थी। इस काल में पुस्तक-रूप में उनके संग्रह की माँग नहीं हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के निबन्ध-लेखकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और बालमुकुन्द गुप्त के ही निबन्ध उनके जीवन-काल में पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। इस युग के निबन्ध-लेखकों में इन दो प्रसिद्ध के अतिरिक्त प्रण मिश्र और

भट्ट विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन निबन्धकारों के निबन्ध एवं लेख 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका,' 'हिन्दी प्रदीप', 'ब्राह्मण' और सार सुधानिधि' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। पुस्तक के रूप में जो वैचारिक सामग्री आती है वह अपेक्षाकृत थोड़ी है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'पुस्तक साहित्य' में पहली निबन्ध पुस्तक हनुमानप्रसाद द्वारा लिखित 'प्रज्ञान-वाटिका' (१८८१) है। उन्होंने हरनाथप्रसाद खत्री के मानव-विनोद (द्वितीय संस्करण, १८८५) और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निबन्ध ग्रन्थ 'खुशी' (१८८७) का विशेष उल्लेख किया है। बालमुकुन्द गुप्त द्वारा विरचित 'शिवशम्भु का चिट्ठा' (१९०६) और 'चिट्ठे और खत (१९०८) बीसवीं शताब्दी के पहले दशक की सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। बालमुकुन्द गुप्त जी के निबन्धों में हमें निर्भीकतापूर्ण विचार-प्रकाशन मिलता है, परन्तु वह अधिकतर हास्य और व्यंग के साथ आता है। सन् १९१२ में बालमुकुन्द गुप्त के देहावसान के पश्चात् 'गुप्त निबन्धावली' का पहला भाग प्रकाशित हुआ। प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट वैचारिक निबन्ध-लेखन के क्षेत्र में और भी अधिक महत्वपूर्ण है, यद्यपि इनके निबन्ध संकलन पहले दशक के बाद ही प्रकाशित हुए। प्रतापनारायण मिश्र का निबन्ध-संग्रह 'निबन्ध-नवनीत,' भाग १, १९१९ में और बालकृष्ण भट्ट का निबन्ध-संग्रह 'भट्ट निबन्धावली', १९४२ में ही प्रकाशित रूप में सामने आये। इन निबन्धकारों के चिन्तन और लेखन का जो प्रभाव पड़ा उसे इनकी रचनाओं के पुस्तक रूप में प्रकाशन से नहीं आँका जा सकता क्योंकि जिन पत्रों में ये निबन्ध मौलिक रूप से प्रकाशित हुए थे, वे अत्यन्त लोकप्रिय थे और उनकी फाइलों का पठन-पाठन बराबर चलता रहा था।

द्विवेदी-युग साहित्य और जीवन के विभिन्न अंगों पर चिन्तन, मनन और तर्क-वितर्क का युग है। अब अंग्रेजी शिक्षा का व्यापक प्रसार हो गया है और मध्य वर्ग तथा मध्य वर्ग का नवयुवक पूर्व-पश्चिम के समस्त ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात कर लेना चाहता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य की परिभाषा देते हुए उसे 'ज्ञान-राशि का कोश' कहा है। उन्होंने स्वयं 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से उस समय तक उपलब्ध बौद्धिक और वैचारिक साहित्य को सुन्दर और सरल भाषा में पाठकों तक पहुँचाया। सच तो यह है कि आचार्य द्विवेदी के सम्पादनकाल में 'सरस्वती' पत्रिका ज्ञान-विज्ञान का कोश बन गयी थी। उसने अपने युग की बौद्धिक जिज्ञासा की बहुत दूर तक पूर्ति की। उनके लेखों और निबन्धों के चालीस पुस्तकाकार संकलन प्राप्त हैं। 'सरस्वती' के अतिरिक्त अन्य मासिक और साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं में भी उत्कृष्ट निबन्ध-सामग्री रहती थी।

१९२० तक के … में विशेष उल्लेखनीय हैं … चतुर्वेदी

कृत 'गद्यमाला' (१६०६), सत्यदेव स्वामी कृत 'सत्य निबन्धावली' (१६१३), 'ग्रामीण' कृत 'किरण' (१६१६), मिश्र बन्धु कृत 'पुष्पांजली' (१६१६), देवेन्द्र प्रसाद जैन कृत 'त्रिवेणी' (१६१७) और महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत 'रसज्ञरंजन' (१६२०) । किन्तु इस युग की अधिकांश महत्वपूर्ण निबन्ध-सामग्री बाद के युग में ही सकलित होकर पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुई । स्वयं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कुछ अत्यन्त श्रेष्ठ निबन्ध 'साहित्य-सन्दर्भ' (१६२८), 'साहित्य-सीकर' (१६३०), 'अद्भुत आलाप' (१६२४), 'लेखांजली' (१६२८), 'विचार-विमर्श' (१६३१) मे प्रकाशित हुए हैं । जो हो, यह स्पष्ट है कि इसी युग में विषयगत और वैचारिक निबन्धों को विशेष प्रश्रय मिला ।

१६२० से १६४७ तक अर्थात् गांधी युग (छायावादी युग) के भीतर जो निबन्ध-सामग्री हमें प्राप्त हुई वह अधिक पुष्ट और महत्वपूर्ण है । उसमें साहित्यिकता की छाप अपेक्षाकृत अधिक मिलती है । इस युग के निबन्धकारों में गोविन्दनारायण मिश्र,[1] जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी,[2] डॉ० भगवानदास,[3] पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी,[4] हरिभाऊ उपाध्याय,[5] राधामोहन गोकुल जी,[6] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,[7] जयशंकर प्रसाद,[8] सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला',[9] माधव मिश्र,[10] प्रेमचन्द,[11] मोहनलाल महतो,[12] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा[13] और महादेवी वर्मा[14] विशेष महत्वपूर्ण हैं । बीसवीं शताब्दी के निबन्ध-साहित्य के सम्बन्ध में डॉ० माताप्रसाद द्वारा एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है । उनका कथन है कि हम बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की (१६४२ तक की) इन रचनाओं को साधारणतः कुछ श्रेणियों मे रख सकते हैं—'पहली श्रेणी में वे होंगी जिनमें जीवन की विविध समस्याओं पर मननीय सामग्री मिलती है : जैसे उपर्युक्त में से 'समन्वय,' 'शृंखला की कड़ियाँ,' 'सत्य निबन्धावली', 'त्रिवेणी,' 'तरंगिणी', 'बुदबुद,' 'विप्लव', 'बिखरे फूल,' 'प्रबन्ध पद्म,' प्रबन्ध प्रतिमा,' तथा 'जैनेन्द्र के विचार' । दूसरी श्रेणी में वे होंगी जिनमें विशेष रूप से साहित्य-चर्चा होगी : जैसे उपर्युक्त में से 'रसज्ञ-रंजन', 'साहित्य-सन्दर्भ' तथा 'विचार-विमर्श' और तीसरी श्रेणी में वे रचनाएँ आवेंगी जिनमें जीवन-पक्ष और साहित्य पक्ष दोनों ही का अध्ययन मिलता है : जैसे

---

१. गोविन्द निबन्धावली (१६२५), २. निबन्ध-नियम (१६२६), ३. समन्वय (१६२८), ४. मकरंद-बिन्दु (१६३१), ५. बुदबुद (१६३२), ६. विप्लव (१६३२), ७. विचार-वीथी (१६३०), ८. काव्य-कला और अन्य निबन्ध (१६३७), ६. प्रबन्ध पद्म (१६३४), प्रबन्ध प्रतिमा (१६४०), १०. निबन्धमाला (१६३६), ११. कुछ विचार (१६३८), १२. विचार-धारा (१६४१), १३. विचार-धारा (१६४२) १४. शृंखला की कड़ियाँ (१६४२)

उपर्युक्त में से 'विचार-वीथी,' 'चिन्तामणि' और 'विचारधारा'। खोज और अध्ययन की कमी है, विशेष रूप से कल्पना का ही आश्रय लिया जाता है। ऐसे खोज और अध्ययनपूर्ण निबन्धों का अभी प्रारम्भ ही हुआ है जिनमें हमारे जीवन और हमारे साहित्य का परस्पर सापेक्ष अध्ययन हुआ है, और इनमें से धीरेन्द्र वर्मा की 'विचारधारा' अग्रगण्य है।[1]

(ख) साहित्य-चिन्तन, समीक्षा और साहित्य का इतिहास

उन्नीसवीं शताब्दी में ही पहली बार साहित्य के सम्बन्ध में हमारी ऐतिहासिक समीक्षात्मक चेतना का विकास हुआ। इससे पहले हमारे यहाँ इतिहास-बोध का अभाव था। पिछले युग की श्रेष्ठतम रचनाओं को हम समकक्षता देकर चलते थे और उनकी पूर्वापरिता के सम्बन्ध में हमारे भीतर कोई जिज्ञासा नहीं थी। पश्चिमी साहित्य के अध्ययन ने ही हमारे मानस-क्षितिज का विस्तार किया और हमने पहली बार प्राचीन कवियों और उनकी रचनाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना आरम्भ किया। जिन प्राचीन लेखकों पर हमारी दृष्टि मुख्यतः गयी है, वे चन्द बरदायी,[2] कबीर,[3] मीरा,[4] सूर,[5] तुलसी,[6] रहीम,[7] ध्रुवदास,[8] बिहारी,[9] भूषण[10] और नागरी-

---

१. डा० माताप्रसाद गुप्त : पुस्तक साहित्य, पृष्ठ १२५, २. पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर श्यामलदास कविराजा की पुस्तक पृथ्वीराज रहस्य की नवीनता (१८८६) तथा उसके उत्तर में मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या की 'चन्द बरदाई कृत पृथ्वीराज रासो की प्रथम संरक्षा' (१८८७) और हरिश्चरणसिंह लिखित 'अनंगपाल पृथ्वीराज समय'। ३. लोचनदास ज्योतिषी का 'कबीर साहब का जीवन-चरित्र' (१९०३) तथा शम्भुदास महन्त की 'कबीर सिद्धान्त बोधिनी' (१९०४)। ४. कार्तिक प्रसाद खत्री लिखित 'मीराबाई का जीवन-चरित्र' (१८९३) तथा देवीप्रसाद मुंसिफ लिखित 'मीराबाई का जीवन-चरित्र' (१८९८)। ५. देवीप्रसाद मुंसिफ लिखित 'सूरदास जी का जीवन-चरित्र' (१९०६)। ६. विश्वेश्वर दत्त शर्मा का 'तुलसीदास चरित-प्रकाश' (१८७३) कमलकुमारीदेवी लिखित 'गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन-चरित्र (१८९५) बहादुरदास का 'निर्द्वन्द्व रामायण' (१८८५) यमुनाशंकर नागर का 'रामायण अध्याय-विचार' (१८८७) सहजानंद स्वामी का 'आदय रामायण' (१९०४) गुरु सहायसिंह का 'मानस अभिराम' (१९०६) जयगोपाल दास का 'तुलसी शब्दार्थ प्रकाश' (१८६७) अमरसिंह का 'मानस कोष' (१८९०) आदि-आदि। ७. रामलाल दीक्षित सं० 'रहिमन शतक' (१८९८) तथा उमरावसिंह सं० 'रहीम-रत्नाकर' (१९०२), ८. रामकृष्ण वर्मा—सं० 'ध्रुव-सर्वस्व' (१९०४) ९. रसिकेश कृत 'रस-कौमुदी' (१८८५) तथा राधाकृष्णदास लिखित 'कविवर बिहारीलाल' (१८९५)। १०. (नकछेद तिवारी ?) सं० 'भूषण ग्रंथावली' १९००

दास[1] थे। आधुनिक लेखकों के सम्बन्ध में भी थोड़ी बहुत जिज्ञासा दिखलाई देती है। उनकी कृतियों का संकलन, उनके जीवन-चरित्र-लेखन अथवा उनके साहित्य की समीक्षा के सम्बन्ध में हमें जागरूकता दिखाई देती है। जिन आधुनिक लेखकों को विशेष रूप से प्रकाश में लाया गया है, उनमें मुख्य हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,[2] लाला तोताराम,[3] बलदेव प्रसाद मिश्र,[4] कार्तिक प्रसाद खत्री,[5] राधाकृष्णदास।[6] इनमें तुलसी पर ही विशेष कार्य हुआ है। मध्यवर्ग की धार्मिक चेतना एवं नैतिक दृष्टि उन्हीं के साहित्य में सबसे अधिक सुन्दर रूप में अभिव्यक्ति पाती थी। तुलसी सम्बन्धी यह कार्य विशेष महत्वपूर्ण है। उसकी कई दिशाएँ हैं—जैसे रचनाओं का संकलन और सम्पादन, शंका-समाधान, आध्यात्मिक विचारों का अध्ययन, शब्दकोष आदि। तुलसी की विभिन्न रचनाओं पर स्वतंत्र रूप से भी विचार किया गया है, विशेष रूप से रामचरितमानस[7] पर।

---

१. राधाकृष्णदास लिखित 'नागरीदास जी का जीवन-चरित' (१८९४) २. रामदीन सिंह सं० 'हरिश्चन्द्र-कला' (१८८७-१९०५) जिसमें उनकी कृतियों का संग्रह हुआ है तथा राधाकृष्णदास का 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित्र' (१९०४), शिवनन्दन सहाय का 'सचित्र हरिश्चन्द्र' (१९०५) ३. मुन्नीलाल लिखित 'बाबू तोताराम का जीवन-चरित्र (१९०६) ४. ब्रजनन्दन सहाय लिखित 'पं० बलदेवप्रसाद मिश्र की जीवनी' (१९०७) ५. बालमुकुन्द वर्मा लिखित 'बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री का जीवन-चरित्र' (१९०८) ६. ब्रजनन्दनसहाय लिखित 'बाबू राधाकृष्णदास की जीवनी' (१९०८) तथा गंगाप्रसाद गुप्त लिखित 'राधाकृष्णदास' (१९०७) ७. तुलसीदास के जीवन-वृत्त से संबंध रखने वाले ग्रन्थ हैं : विश्वेश्वरदत्त शर्मा का तुलसीदास चरित्र प्रकाश (१८७७ कमलकुमारी देवी लिखित 'गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन-चरित्र' (१८९५) तथा (रामस्वरूप लिखित ?) 'गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-चरित्र'। उनकी कृतियों के प्रमुख संग्रह हैं (नवलकिशोर सं० ?) 'पंचरत्न' (१८८६), जिसमें 'जानकी मंगल', 'पार्वती-मंगल', 'वैराग्य-संजीवनी', 'नहछू' तथा 'बरवा' संग्रहीत हैं : (खेमराज श्रीकृष्णदास सं० ?) 'षोड़स रामायण संग्रह' (नूतन बिहारी दे सं० ?) 'षोडश रामायण' (१९०३), जिनमें १६ ऐसी रचनाएँ संग्रहीत हैं, जो तुलसीदास की मानी जाती है तथा (नूतन बिहारी दे सं० ?) 'तुलसीदास जी की ग्रंथावली (१९०४)। कुछ ग्रन्थ केवल मानस संबंधी हैं : कन्नालाल शर्मा लिखित 'मानस शंकावली (१८८४), जानकीदास लिखित तुलसी कृत रामायण की मानस-प्रचारिका (१८८५), देवीप्रसाद रामायणी की 'कवित्त रत्नावली मानस-प्रकाश' (१८८६), तथा सुधाकर द्विवेदी सं० मानस-पत्रिका' (१९०४), जो प्रायः सामान्य अर्थ संबंधी है, बहादुरदास का 'निर्द्वंद्व रामायण (१८८५) यमुनाशंकर नागर का 'रामायण [illegible]' (१८८७),

उन्नीस सौ दस के बाद साहित्य के शास्त्र के क्षेत्र में विशेष अध्ययन की प्रवृत्ति विकसित होती है और छंदशास्त्र,[1] अलंकार शास्त्र,[2]

सहजानन्द स्वामी का 'आत्म रामायण' (१९०४) तथा गुरुसहाय सिंह का 'मानस-अभिगम' (१९०६), जो राम-कथा के एक वेदांत-परक अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इनमें यमुनाशंकर नागर का ग्रन्थ बहुत ही विस्तृत है और 'मानस' के अवतरणों का उल्लेख करते हुए अपने अर्थ के प्रतिपादन का प्रयास करता है। 'मानस' के कुछ शब्द-कोश भी लिखे गये : जयगोपाल बोस का 'तुलसी शब्दार्थ-प्रकाश' (१८६७), तथा अमरसिंह का 'मानस-कोष' (१८९०)। इसी प्रकार के प्रयास हैं। 'मानस के अतिरिक्त कवि के केवल एक ग्रन्थ पर विशेष कार्य हुआ वह है। 'सतसई', सुधाकर द्विवेदी का 'सतसई-सुधाकर' (१८९९) 'सतसई' के दोहों का एक पद्यात्मक विस्तार उपस्थित करता है।

१. छंदशास्त्र—ज्वालास्वरूप का 'रुद्र-पिंगल' (१८६९), बलवानसिंह राजा का 'चित्र-चन्द्रिका' (१८६९), श्रीधर का 'पिंगल' (१८६९), कन्हैयालाल शर्मा का 'छंद-प्रदीप' (१८७५), ऋषिकेश भट्टाचार्य का 'छन्दोबोध' (१८७७), उमरावसिंह का 'छन्दोमहोदधि' (१८७८), रामप्रसाद का 'छंद-प्रकाश' (१८९१), जादेजी उन्नदजी कवि का गुजराती अनुवाद सहित 'भागवत पिंगल' (१८९३), जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'छंद प्रभाकर' (१८९०), रामकिशोरसिंह का 'छंद-भास्कर' (१८९५), महावीर प्रसाद राव का 'मनोदूत' (१८९५), जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'घनाक्षरी नियम रत्नाकर' (१८९७), गदाधर कवि का 'छंदो-मंजरी' (१९०३), (द्वितीय), गिरिवर-स्वरूप पाण्डेय का 'गिरीश-पिंगल' (१९०५), हरदेवदास वैश्य का 'पिंगल' (१९०६)। इनमें 'चित्र-चन्द्रिका 'छन्दोबोध', तथा 'छन्द प्रभाकर' गणनीय हैं। बाकी सभी छोटे और अपर्याप्त हैं। केवलराम शर्मा कृत 'छंद सार पिंगल' (१९१६), जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत 'छंद-सारावली' (१९१७), नारायण प्रसाद 'बेताब' कृत 'पिंगल सार' (१९२२) तथा तुर्की का कोष 'प्राश-पुंज' (१९१९)।

२. अलंकार शास्त्र—रूपदास स्वामी कृत 'सुरसालंकृति बोधिनी' (१८७९), त्रिलोकीनाथसिंह कृत 'भुवनेश भूषण' (१८८२), लछिराम कवि कृत 'रावणेश्वर कल्पतरु' (१८९२) तथा 'रामचन्द्र भूषण' (१८९८), गंगाधर शर्मा कृत 'महेश्वर-भूषण' (१८९७), मुरारिदान कविराजा कृत 'जसवंत जसो भूषण' (१८९७), और नंदकिशोर मिश्र कृत 'गंगाभरण' (१९०१), ऊपर के इन सबमें किसी न किसी चरित्र का यश गाया गया है। उदाहरण के लिये किसी चरित्र का आश्रय लिया गया है। गोविन्द कवि कृत 'कर्णाभरण' (१८९४), बिहारीलाल आचार्य का 'अलंकारादर्श' (१८९७), कन्हैयालाल

ध्वनि शास्त्र,[1] रस शास्त्र,[2] नाट्य शास्त्र[3] आदि विषयों पर स्वतंत्र रचनाएँ प्रकाशित होती हैं। नयी साहित्य-विधाओं में उपन्यास और कहानी पर समीक्षकों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। प्राचीन साहित्य-शास्त्र में कवि-कर्तव्य[4] पर स्वतन्त्र पुस्तकें मिलती हैं और इस परिपाटी का निर्वाह एक अंश में इसी युग में दिखाई देता है। यह स्पष्ट है कि १९२० तक इन क्षेत्रों में हमें प्रारम्भिक रचनाएँ ही मिली हैं। विशेष महत्व-पूर्ण रचनाएँ १९२० के बाद आती हैं। १९२० के बाद ही साहित्यिक समस्याओं पर

पोद्दार का 'अलंकार-प्रकाश' (१९०२), ये ही महत्वपूर्ण हैं—भगवानदीन लाला का 'अलंकार मंजूषा' (१९१६) जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'अनुप्रास अन्वेषण' (१९१४) अर्जुनदास केडिया का 'भारती-भूषण' (१९३०) रामशंकर शुक्ल के 'अलंकार पीयूष' (१९२९-३०) तथा 'अलंकार-कौमुदी' (१९३०) जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'अंक-विलास' (१९२५)

१. ध्वनि-शास्त्र : भगवानदीन लाला की 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' (१९२७)

२. रस-शास्त्र : कृष्णलाल कृत 'रस-सिन्धु विलास' (१८८३), राधामोहन शर्मा कृत 'रस लहरी' (१८८४), साहबप्रसादसिंह कृत 'रस-रहस्य,' (१८८७), प्रताप-नारायण सिंह महाराजा कृत 'रस-कुसुमाकर' (१८९५), जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'रस-रत्नाकर' (१९१९), गुलाबराय का 'नवरस' (१९२१), कृष्णबिहारी मिश्र का 'नवरस-तरंग' (१९२५), अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'रस-कलश' (१९२५), किशोरी-दास बाजपेयी का 'रस और अलंकार' (१९३१) और गंगाप्रसाद (जी० पी०) श्रीवास्तव का 'हास्यरस' (१९३४)।

३. नाट्य-शास्त्र : हरिश्चन्द्र कृत 'नाटक' (१८८३), बलदेवप्रसाद मिश्रकृत 'नाट्य-प्रबन्ध' (१९०३), महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'नाट्य-शास्त्र' (१९११), रामशंकर शुक्ल का 'नाट्य-निर्णय' (१९३०), श्यामसुन्दर दास का 'रूपक-रहस्य' (१९३२), गोविन्द दास सेठ की 'नाट्यकला-मीमांसा' (१९३६), तथा वेदव्यास लाला की 'हिन्दी नाट्य-कला' (१९३७)।

४. जगन्नाथदास विशारद अधिकारी का 'कवि-कर्तव्य' (१९११) जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'काव्य-प्रभाकर' (१९१०) जगन्नाथ 'गोप' का 'काव्य-प्रभाकर' (१९१०), सीताराम शास्त्री का 'साहित्य-सिद्धान्त' (१९१३), गंगानाथ झा महामहोपाध्याय का 'कवि-रहस्य' (१९२९) तथा बिहारीलाल भट्ट का 'साहित्य-सागर' (१९३७) इसी परम्परा के ग्रन्थ हैं। इनमें से 'कवि-रहस्य' सर्वोत्कृष्ट है।

विशेष रूप से विचार करने का कार्य आरम्भ होता है और साहित्यिक-वाद-विवादों[1] की सृष्टि होती है। वस्तुतः जिसे आधुनिक ढंग की समीक्षा कहा जाता है, उसके जन्मदाता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दरदास ही हैं। यद्यपि साहित्य-शास्त्र और समीक्षा का यह नवीन विकास हिन्दी की उच्चतर कक्षाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति ही विशेष रूप से करता है, परन्तु धीरे-धीरे साहित्य-चिन्तन और समीक्षा स्वतन्त्र एवं व्यावसायिक रूप धारण कर लेते हैं और उच्च शिक्षा-केन्द्रों में संस्थानिक (एकेडेमिक) समीक्षा का आरम्भ होता है। हमारे प्रबन्ध के आरम्भ-काल तक हिन्दी में साहित्य-चिन्तन और समीक्षा की परिपाटी पूर्णतः विकसित हो गई थी और इन क्षेत्रों में अभिव्यंजना-शैलियों को बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से प्रस्तुत किया गया था। वैचारिक चिन्तन का यह साहित्यिक पक्ष अन्य पक्षों की अपेक्षा अधिक पुष्ट है। साहित्य-समीक्षा से सम्बन्धित स्वतंत्र ग्रंथों का आरम्भ बाबू श्यामसुन्दरदास कृत 'साहित्यालोचन' (१९२२) से होता है और इस क्षेत्र में १९४७ तक हमें अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं मिलती हैं। नवीन युग का साहित्य-सृजन जहाँ नये साहित्य-शास्त्र के निर्माण की अपेक्षा रखता था वहाँ यूरोपीय साहित्य-चिन्तन तथा साहित्यिक वादों को सामने रखकर नयी चिन्तन-भूमियों को प्रकाश में लाना भी आवश्यक था। यह कार्य अनेक साहित्य-मनीषियों और विद्वानों के द्वारा सम्पन्न हुआ। विभिन्न साहित्यिक रूपों के विस्तृत, गम्भीर और वैज्ञानिक विवेचन की प्रवृत्ति पहली बार छायावादी युग में ही दिखाई देती है और स्वतन्त्र युग में उसी का विकास होता है।

साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में भारतेन्दु युग वृत्त-संग्रह से आगे नहीं बढ़ता। केवल एक ही वास्तविक इतिहास हमें मिलता है। वह है राधाकृष्ण दास लिखित 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास' (१८९४)। इतिहास के क्षेत्र में विशेष चिन्तन और लेखन १९२० के बाद ही आरम्भ होता है और इतिहास-लेखकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दरदास की रचनाएं विशेष महत्वपूर्ण हैं—वैसे छायावादी युग में लिखित हिन्दी साहित्य के इतिहासों की एक लम्बी सूची हमें प्राप्त है।[2] परन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को छोड़कर कोई अन्य इतिहासकार इस क्षेत्र में अपना वैशिष्ट्य स्थापित नहीं कर सका।

---

१. पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का 'काव्य में रहस्यवाद' (१९२९), लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (१९३१), पुरुषोत्तमलाल का 'आदर्श और यथार्थ' (१९३७), जयशंकरप्रसाद का 'काव्य और कला' (१९३९) तथा गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'छायावाद और रहस्यवाद' (१९४१)

२. देखिए 'पुस्तक साहित्य', पृष्ठ १८४-१८५।

(ग) धर्म और दर्शन

धर्म-साहित्य के रूप में वैचारिक गद्य हमें प्रचुर मात्रा में मिलता है। इसका मुख्य कारण यह है कि आधुनिक युग में अन्य भारतीय प्रान्तों की तरह हिन्दी प्रदेश को भी ईसाई धर्म के संघात को सहन करना पड़ा और उसके फलस्वरूप उसमें धर्म-सम्बन्धी विचारणा का नये सिरे से जन्म हुआ। हिन्दी प्रदेश में मूलतः आधुनिक काल के आरम्भ के समय दो धर्म प्रमुख थे—हिन्दू और इस्लाम। दोनों पर ही ईसाई धर्म-प्रसार की प्रतिक्रिया हुई। 'इस्लामी प्रतिक्रिया उर्दू भाषा को लेकर चली जो खड़ी बोली हिन्दी का ही अन्य रूप है और उसके साहित्य को हम उर्दू साहित्य के अन्तर्गत रखते हैं। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत हिन्दू चेतना ही अधिक दिखलाई देती है। मध्य युग में हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म के समन्वय के फलस्वरूप सूफी साहित्य का जन्म हुआ था। परन्तु ईसाई धर्म और हिन्दू संस्कृति में ऐसा कोई सामंजस्य स्थापित नहीं हो सका। इसलिए हमें आधुनिक काल के गद्य और पद्य में ऐसी रचनाएं नहीं मिलतीं जिनमें हिन्दू और ईसाई धर्म-चेतना का समन्वय हो। हमें प्रतिक्रियात्मक साहित्य ही अधिक मिलता है। उसमें प्रतिरोध की प्रधानता है और हिन्दू चेतना का आक्रामक रूप अधिक सामने आता है। ऐसी कोई रचना हमें उपलब्ध नहीं हो सकी है जिसकी गणना साहित्य के अन्तर्गत हो सके। सारा धर्म-साहित्य एक प्रकार से प्रचारात्मक ही है और उसे हम उपयोगी साहित्य के अन्तर्गत ही रख सकते हैं। विचारात्मक कोटि की रचनाएं उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक कम ही मिलेंगी।

धार्मिक क्षेत्र के वैचारिक गद्य को डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त ने जाति व्यवस्था[1] सम्प्रदाय व्यवस्था,[2] वेदान्त,[3] भक्ति,[4] योग,[5] निर्विशिष्ट धर्म,[6] और नीतिधर्म[7] की

---

१. जाति व्यवस्था—शिवप्रसाद सितारे हिन्द की 'जाति की फिहरिस्त' (१८७१) ज्वालाप्रसाद मिश्र का 'जाति-निर्णय' (१९००), अवधबिहारीलाल मुंशी का 'वर्ण-निर्णय (१९०४) तथा शिवशंकर शर्मा का जाति-निर्णय (१९०५) (रीति-रस्म की), ठाकुर प्रसाद खत्री की 'दस्तूर अमल शादी' माला (१८७१) अहीर, कसेरा, कोहरी, बनिया तथा हलवाई जातियों के विषय में है।

जातियों की उत्पत्ति पर—हरिश्चन्द्र कृत 'अगरवालों की उत्पत्ति' (१८७१) तथा 'खत्रियों की उत्पत्ति' (१८८३)।

छोटेलाल सोनी का 'जाति-अन्वेषण' (१९१४), ज्वालाप्रसाद मिश्र का 'जाति-भास्कर' (१९१८), मूलचन्द का 'क्या शिल्प शूद्र-कर्म है?' (१९११)।

२. सम्प्रदाय व्यवस्था—हरिश्चन्द्र का 'जैन-कुतूहल' (१८७३), आत्मारामजी

श्रेणियों में रखा है और इनमें से प्रत्येक के अन्तर्गत अनेक रचनाओं का उल्लेख किया है। डाक्टर गुप्त का विचार है कि उन्नीसवीं शताब्दी का समस्त धर्म-साहित्य मध्ययुग

महामुनि का 'जैनतत्वादर्श ग्रंथ (१८८४), आलजो वेयर का 'सोर्सेज आव कबीर रेलिजन' (१८८१), मक्कन जी कबीर पंथी का 'कबीरोपासना पद्धति' (१९०८), ब्रजदास की 'श्री गोस्वामी महाराज जी वंशावली' (१८९८), गोपालदास का 'वल्लभाख्यान' (१८७३), ब्रजजीवनदास का 'वल्लभ-विलास' (१८८९), हरिश्चन्द्र का 'उत्सवावली' (१८९० ?), शंकरदयालु मिश्र का 'वल्लभाचार्य सम्प्रदायाष्टकम्' (१९०३), रघुनाथ जी शिवाजी का 'वल्लभ पुष्टि प्रकाश' (१९०६)। एक अज्ञात लेखक का 'पुष्टिमार्गीय गुरु-परम्परा-विचार (१८९१)। ब्लैकेट का 'वल्लभकुल चरित्र-दर्पण' (१८८१), भक्तानन्द का 'वल्लभकुल छल-कपट-दपर्ण' (१९०७), विष्णुदास कृत 'द्वादशी-ग्रन्थी' (१८९४); (नानक मत पर) गणेशसिंह कृत 'गुरु नानक सूर्योदय' (१९००), कृष्णानन्द उदासी कृत 'नानक सत्य प्रकाश' (१९०२), स्वामी दयानन्द कृत 'सत्यार्थ प्रकाश' (१८७५), समर्थदान का 'आर्य समाज परिचय' (१८८७), शिवनाथ का 'वैदिक जीवन' (१९०५), नवीनचन्द्रराय कृत 'आचारादर्श' (१८७२), धर्मदीपिका (१८७८), ब्रह्मधर्म के प्रश्नोत्तर (१८७३) तथा तत्वबोध (१८७५), हरनामचन्द्र कृत 'हिन्दू धर्म विवर्धन' (१८७४), प्रतापसिंह भोंसले कृत 'सत्य सागर (१८८६) तथा 'ब्रह्मस्मृति' (१८८३), शीतला प्रसाद ब्रह्मचारी के 'जैन धर्म का महत्व (१९११), 'जैन बौद्ध तत्व ज्ञान' (१९३४), तथा 'जैन धम में दैव और पुरुषार्थ' १९४१), विजय धर्म सूरि का 'जैन तत्व दिग्दर्शन' (१९३८), तथा चम्पतराय जैन का 'धर्म रहस्य' (१९४१), जैन धर्म के सम्बन्ध में, रमानाथ शास्त्री के 'शुद्धाद्वैत दर्शन' (१९१२), तथा 'शुद्धाद्वैत सिद्धान्तसार' (१९१६), आर्यमुनि का 'सद्दर्शनादर्श' (१९२५), वल्लभ सम्प्रदाय के सम्बन्ध में नारायण स्वामी के 'आत्मदर्शन' (१९२२), तथा 'मृत्यु और परलोक' (१९२९), नन्दकिशोर विद्यालंकार का 'पुनर्जन्म' (१९२५), लखाराम का 'सृष्टि का इतिहास' (१९२८), गंगाप्रसाद उपाध्याय के 'आस्तिकवाद' (१९२६), तथा 'जीवात्मा' (१९३३), आनन्द-स्वरूप, साहब जी महाराज के 'सत्संग के उपदेश' (१९२७), तथा 'यथार्थ प्रकाश' (१९३७), सत्यानन्द अग्निहोत्री का 'देवशास्त्र' (१९११)

२. वेदान्त–श्रद्धाराम शर्मा की 'आत्म-चिकित्सा' (१८७१), कृष्णचन्द्र धर्माधिकारी का 'ज्ञान-प्रदीप' (१८७४), तथा 'सम्यक् निर्णय' (१८७४), कृष्णदास का 'ज्ञान-प्रकाश' (१८७४), भगवतसरन का ,आत्मज्ञान-मंजरी' (१८७५), साधूराम का 'वाकसुधाकर (१८७५). हरिदास बाबा का 'परमार्थ-चिन्तन- विधि' (१८७६),

की परम्परा में रखा जा सकता है और उसमें नवचेतना के लक्षण अधिक नहीं दिखाई

पीताम्बर पण्डित के 'विचार-चन्द्रोदय' (१८७८) तथा बाल-बोध (१८८२), श्यामदास साधु का 'ग्रन्थत्रयम्' (१८८४), चिद्घनानन्द गिरि का 'तत्वानुसंधान' (१८८६), नन्दलाल शर्मा का 'उद्यान मालिनी' (१८९०), बसंत जायसी की 'समुद्र लहरी' (१८९४), खुशालदास की 'विचार रत्नावली' (१८९३), विशुद्धानन्द का 'पक्षपातरहित अनुभव प्रकाश' (१८९५), भजनदेव स्वामी का 'क्षेत्र-ज्ञान' (१८९८), वेदान्त धारा के भावना ग्रंथ—तोताराम का 'शान्ति-शतक' (१८७७), लक्ष्मीनाथ सिंह परमहंस की 'पदावली' (१८७९), ज्ञानानन्द की 'गीतध्वनि' (१८७९)। यमुनाशंकर नागर की 'विज्ञान-लहरी' (१८८३), हरिहरप्रसाद का 'वैराग्य-प्रदीप' (१८८६), निर्मल दास की 'निर्मल कृति' (१८८८), नृसिंहाचार्य का 'नृसिंह वाणी-विलास' (१८८९), ब्रह्मानन्द स्वामी के प्रबोध-शतक (१८८८) तथा 'भजन-माला' (१९०६), हेमराज स्वामी का 'शान्ति सरोवर' (१८९२ री-प्रिन्ट) सेवानन्द ब्रह्मचारी का 'ब्रह्मसंगीत' (१८९५), तथा साहबदास का 'वैराग्य रत्नाकर' (१९०३)। यह सभी पद्य में हैं—केवल इनमें कलात्मक विशेषता नहीं पाई जाती जिससे इनको ललित साहित्य में स्थान दिया जा सकता। वेदान्त विषयक स्वतंत्र ग्रंथों में उल्लेखनीय हैं—भीमसेन शर्मा का 'पुनर्जन्म' (१९१४), शिवानन्द स्वामी का 'आत्मदर्शन' (१९१७), ज्वालाप्रसाद सिंहल का 'कैवल्यशास्त्र' (१९२४), बलदेवप्रसाद मिश्र का 'जीव-विज्ञान' (१९२८), गंगा प्रसाद उपाध्याय का 'अद्वैतवाद' (१९२८), आनन्द भिक्षु सरस्वती की 'भावना' (१९२८), सुधाकर का 'आनन्दामृत' (१९३३) और नारायण स्वामी का 'ब्रह्म विज्ञान' (१९३३)।

४. भक्ति—रमाकान्त शरण का 'प्रेमसुधा-रत्नाकर' (१८९३), तेजनाथ झा का 'भक्ति-प्रकाश' (१९०५), गोपालदास का 'भक्ति-प्रकाश' (१९०५), ओंकार दास शर्मा की 'उपासना तत्व-दीपिका' (१९०५), तथा बोधिदास का 'भक्ति-विवेक' (१९०६)। भक्ति सम्बन्धी भावना-ग्रन्थ भाव-प्रचुरता के कारण ललित साहित्य की कतिपय कोटियों में आ गये हैं, इससे उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है। दुर्गादत्त की 'प्रेमाभक्ति' (१९०९), हरिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि' का 'प्रेमयोग' (१९२९), (ललित साहित्य की विशेषताओं से संयुक्त भक्ति साहित्य ऊपर आ चुका है)।

५. योग—लक्ष्मणानन्द योगी लिखित 'ध्यान योग-प्रकाश' (१९०१), हंसस्वरूप स्वामी लिखित 'षट्चक्र-निरूपण' (१९०३), ये दोनों सिद्धान्त ग्रंथ हैं, भावना ग्रंथ कोई भी नहीं है। प्रसिद्ध नारायणसिंह के 'योगत्रयी' (१९२०), 'योग-शास्त्रांतर्गत

देने । उसमें धर्म की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक मनन भी नहीं किया गया है या तो

धर्म' (१९२०), 'हठयोग' (१९२३), 'राजयोग' (१९३१) तथा 'अंतःकरण महत्त्व' ('९३३) और वंशीश्वर शुक्ल का 'मानधर्म' मुख्य हैं।

६. निर्विशिष्ट धर्म—श्रद्धाराम की 'धर्म रक्षा' (१८७४), श्यामलाल सिंह कृष्ण की 'ईश्वरोपासना' (१८८०), रामावतारदास का 'संत-विनास' (१८८१), अम्बिकादत्त व्यास की 'धर्म की धूम' (१८८५), जगमोहनसिंह ठाकुर की 'देववानी' (१८८६), श्रीरामशरण का 'भजनामृत' (१८९०), नरसिंह केसरीसिंह की 'भजनावली' (१८९०) अम्बिकादत्त व्यास की 'स्वर्ग सभा' (१८९१), प्रतापनारायण मिश्र का 'पंचामृत' (१८९२), अम्बिकाप्रसाद वर्मा का 'अम्बिका-भजनावली' (१८९८), जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का धर्म-संवाद'(१९०० ?) दुर्गाप्रसाद मिश्र का 'भारत-धर्म' (१९००) यह सभी भावना-ग्रंथ हैं। रामचन्द्र शुक्ल का 'आदर्श जीवन' (१९१४), मिश्रबन्धु का 'आत्म-शिक्षण' (१९१८), परमानन्द भाई का 'जीवन रहस्य' (१९२५), महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'आध्यात्मिकी (१९२८), गंगानाथ झा महामहोपाध्याय का 'धर्म-कर्म-रहस्य' (१९२९), हरिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि' का 'विश्व धर्म' (१९३०), हरिभाऊ उपाध्याय का 'युग-धर्म' (१९३१) तथा भगवानदास का 'दर्शनों का प्रयोजन (१९४१), शीतलासहाय का 'हिन्दू त्यौहारों का इतिहास' (१९५७) (द्वितीय), कुंवर कन्हैयाजू का 'हिन्दूओं के व्रत ओर त्यौहार' (१९=१), रामदास गौड का 'हिन्दुत्व' (१९३८), सन्तराम की 'भारत में बाईबिल' (१९३८)।

७. नीति धर्म—रूपनारायण शर्मा का 'स्त्री-चर्चा (१८७८), पालराम शर्मा का 'शील रत्नाकर' (१८७२), रामस्वरूप तिवारी का 'नीति सुधा-तरंगिणी' (१८७२), हरिदयाल की 'सार-उक्तावली' (१८८३ री-प्रिन्ट), वल्लभराम सूजाराम व्यास कृत 'वल्लभ-नीति' (१८८२), प्रतापनारायण मिश्र का 'मानस विनोद' (१८८६), काशी नाथ खत्री का 'तावीज' (१८८८), लालाबख्श चारण का 'उपदेश-पंचाशिका' (१८९०), अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'उपदेश-कुसुम' (१९०१), देवरतन शर्मा का 'शिष्टाचार' (१९०२), सीताराम लाला की 'नीति-वाटिका' (१९०४), जवाहिरलाल शर्मा का 'उपखान-पचासा' (१९०४), गोविन्दशरण त्रिपाठी का 'कर्तव्य-पालन' (१९०८), (नवचेतना के लक्षण ऊपरी साहित्य में नहीं दिखाई देते)। राधामोहन गोकुलजी का 'नीति-दर्शन' (१९१३), लोचनप्रसाद पाण्डेय की 'नीति-कविता' (१९१४), बालेश्वर-प्रसाद का 'लोक-परलोक हितकारी' (१९ ६), गुलाबराय का 'कर्तव्य-शास्त्र' '(१९१९) गोवर्धनलाल का 'नीति का विज्ञान' (१९२३), गुलाबराय का 'मैत्री-धर्म

पुरानी लकीरें पीटी जा रही हैं, अन्यथा कुछ खण्डन-मण्डन होता रहा है।[1]

बीसवीं शताब्दी में हमें धर्म-चिन्तन के क्षेत्र में अधिक प्रौढ़ रचनाएं मिलने लगती हैं और सभी श्रेणियों अथवा वर्गों में धर्म के सम्बन्ध में एक व्यापक उदार भावना के दर्शन होते हैं। इस क्षेत्र में हमारी विशिष्ट उपलब्धियां १९१० के बाद ही मिलती है। धीरे-धीरे प्राचीन ढंग की विचारणा विशेष महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में कर्म, नीति और दर्शन सम्बन्धी रचनाओं में इन विषयों की विवेचना मिले-जुले रूप में चलती है। वेदान्त, योग और भक्ति के सम्बन्ध में हमें ऐसी अनेक रचनाएं मिल जाती हैं जिनकी अपनी विशेषता है और जिनमें आधुनिक तार्किक शैलियों में धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र की विभिन्न प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है।

(ड) इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि

उन्नीसवीं शताब्दी पुनर्जागरण की शताब्दी है। पिछली शताब्दी के अन्त में ही रायल एशियाटिक सोसायटी जैसी संस्थाओं के द्वारा भारतीय इतिहास और संस्कृति के क्षेत्र में शोधों का आरम्भ हो गया था और बड़े परिश्रम से उनके आधार पर हमारे राष्ट्रीय इतिहास की रूपरेखा तैयार हुई थी। हिन्दी के प्रथम साहित्यकारों, जैसे राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थ लिखकर मध्यप्रदेश की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि के निर्माण में योग दिया। भारतीय राजनैतिक इतिहास,[2] धार्मिक इतिहास,[3] स्थानीय इतिहास,[4] और विदेशी इतिहास,[5]

,(१९२७), पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'तीर्थरेणु' (१९२९), नियाज मुहम्मद खाँ की 'लोक सेवा' (१९३३), तथा लक्ष्मणप्रसाद भारद्वाज संग्रहीत 'मनन' (१९३२), (धार्मिक साहित्य नवचेतना का प्रतीक यह काल नहीं बन सका है, वह प्रायः अपनी संकुचित भावनाओं का परित्याग नहीं कर सका है, और न वह सामान्य जीवन के लिये अपनी आवश्यकता प्रमाणित करने में समर्थ हुआ है।)

. देखिए गु० सा०, पृष्ठ ७२

२. भारतीय राजनैतिक इतिहास—शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'इतिहास-तिमिर-नाशक' (१८७३), मुहम्मद नजीर का 'भारत वृत्तावली' (१८६८)-(द्वितीय, गोपाललाल शर्मा का 'इतिहास-कौमुदी' (१८७३), हरिश्चन्द्र का 'बादशाह-दर्पण' (१८८४), जवाहरमल्ल का 'इतिहास मुकुर (१८८६), हरिश्चन्द्र का 'काल-चक्र' (१८९६), श्यामसुन्दरदास सं० 'प्राचीन लेखमणिमाला' (१९०३), रामदयाल कृत 'इतिहास-संग्रह' (१९०४), जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी लिखित 'स्वदेशी-आन्दोलन' (१९०८) पृष्ठ १३६-१३८। भारतीय इतिहास संबंधी ग्रन्थों को चार वर्गों में रख सकते हैं-

को लेकर अनेक रचनाऐं सामने आयीं। बीसवीं शताब्दी में इन क्षेत्रों में हम कुछ नयी मौलिक रचनाएँ जोड़ सके हैं। इसी प्रकार देश-विदेश के भौगोलिक वर्णन[6] और सामाजिक स्थिति[7] आदि पर भी स्वतंत्र ग्रन्थ १८७५ के बाद लिखे जाने लगे हैं। यह कहना उचित नहीं है कि हिन्दी के साहित्यकार नये ज्ञान-विज्ञान अध्ययन के संबंध में विशेष जागरूक नहीं थे, क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही हमें इतिहास, भूगोल, संस्कृति, विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि से सम्बन्धित अनेक रचनायें मिलती हैं और इनकी शृंखला मध्ययुग तक सीधी चली जाती है। जैसे जैसे शिक्षा का प्रसार होता गया है और शिक्षित जनता तैयार होती गई है, वैसे-वैसे सभी क्षेत्रों में अधिक मौलिक और अधिक प्रौढ़ रचनायें हमें मिलती गई है। प्रारम्भ में जो सूचनात्मक और उपयोगी साहित्य मिलता है वही बाद में चिन्तनमूलक और वैचारिक साहित्य बन गया है। वस्तुतः यह कहना कठिन है कि कहां सूचना और उपयोग की सीमाएँ समाप्त होती हैं और विचार की सीमा आरम्भ होती है समाजशास्त्र, शिक्षा, अर्थशास्त्र और विज्ञान आदि विषयों पर लिखी रचनाओं का विस्तृत उल्लेख हमें डाक्टर गुप्त के 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' में मिलता है। इस व्यापक भूमिका पर ही आधुनिक वैचारिक साहित्य का निर्माण हुआ है।

वैचारिक साहित्य के प्रचार और प्रसार का एक बड़ा साधन समाचार पत्र, साप्ताहिक पत्र, और मासिक पत्र हैं, जिनके द्वारा ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में, निबन्धों और लेखों आदि का पहली बार प्रकाशन हुआ। डाक्टर रामरतन भटनागर के शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' से भी यह पता चलता है कि उन्नीसवीं शताब्दी मुख्यतः 'पत्र-साहित्य की शताब्दी थी और उस युग की जिज्ञासा और समाधान के चक्र लगभग तीन सौ साप्ताहिक पत्रों और मासिक पत्रों को लेकर चलते हैं। बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' पत्रिका वास्तविक रूप में विचार-पत्रिका थी। आलोच्य काल के आरम्भ तक ज्ञान-विज्ञान के

---

३. सामान्य इतिहास, (२) हिन्दू युग का इतिहास, (३)मुस्लिम युग का इतिहास और (४) अंग्रेजी युग का इतिहास

४. उदयनारायण बाजपेई लिखित 'प्राचीन भारतवासियों की विदेश यात्रा और वैदेशिक व्यापार'(१९११), बालकृष्ण का 'भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास' (१९१४), हरिमंगलमिश्र का 'भारतवर्ष का इतिहास' (१९१४), जयचन्द्र विद्यालंकार के 'भारतीय इतिहास के भौगोलिक आधार'(१९२५) और भारत भूमि और उसके निवासी' (१९३१)' विद्याभास्कर शुक्ल का 'प्राचीन भारतीय युद्ध' (१९३१), जयचन्द्र

सभी क्षेत्रों में विशेष पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हो गया था और मासिक साहित्य की एक पुष्ट परम्परा विकसित हो चुकी थी।

विद्यालंकार के 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' (१९३४), तथा 'इतिहास-प्रवेश' (१९३८), सत्यकेतु विद्यालंकार की 'अपने देश की कथा' (१९३८), कालिदास कपूर का 'भारतीय सभ्यता का विकास' (१९३९), श्रीप्रकाश का 'भारत के समाज और इतिहास पर स्फुट विचार', (१९४१)।

२. रामदेव का 'भारतवर्ष का इतिहास' (१९११ द्वितीय), रघुनन्दनशरण सिंह का 'आर्य-गौरव' (१९१?), विश्वबन्धु का 'भारतवर्ष का इतिहास' (१९१९), धर्मदत्त कृत 'प्राचीन भारत में स्वराज्य' (१९२०), हरिमंगल मिश्र का 'प्राचीन भारत' (१९२०), गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का 'अशोक की धर्मलिपियाँ' (१९२३), जनार्दन भट्ट का 'अशोक के धर्मलेख' (१९२४), चन्द्रराज भण्डारी का 'भारत के हिन्दू सम्राट' (१९२४), आर्यमुनि का 'वैदिक काल का इतिहास' (१९२५), जनार्दन भट्ट का 'बुद्धकालीन भारत' (१९२६), कमलापति त्रिपाठी का 'मौर्यकालीन भारत का इतिहास' (१९२८), गौरीशंकर हीराचन्द ओझा की 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' (१९२८), बेनीप्रसाद की 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' (१९३१), रघुवीर-सिंह कृत 'पूर्व मध्यकालीन भारत' (१९३१), महादेव शास्त्री दिवेकर का 'आर्य संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष (१९३१), रघुनंदन शास्त्री का 'गुप्तवंश का इतिहास' (१९३२), गंगाप्रसाद मेहता का 'प्राचीन भारत' (१९३३), राहुल सांकृत्यायन की 'पुरातत्त्व निबन्धावली' (१९३७), चन्द्रगुप्त वेदालंकार का '[illegible]हत्तर भारत' (१९३९), प्राणनाथ विद्यालंकार का 'हरप्पा तथा मोहन-जो-दड़ो के [illegible]प्राचीन लेख' (१९३९), शनीशचन्द्र काला का 'मोहन-जो-दड़ो तथा सिन्धु सभ्[illegible] (१९४१), भगवद्दत्त का 'भारतवर्ष का इतिहास' (१९४०), सम्पूर्णानन्द का 'आर्[illegible]आदि देश' (१९४१)।

३. देवीप्रसाद मुंसिफ लिखित 'हिन्दोस्तान में [illegible] बादशाह' (१९०९), [illegible]नाथ पाण्डेय का 'भारत में पोर्चुगीज' (१९[illegible]प्रसाद त्रिपाठी का [illegible]महाराष्ट्रोदय' (१९१३), देशभक्त का 'हिन्दू जाति का स्[illegible]न' (१९२०), मन्नन द्विवेदी का 'मुसलमानी राज्य का इतिहास' (१९२०), [illegible]रण का 'मध्यकालीन भारत' (१९२५), तथा इन्द्र विद्यावाचस्पति का 'मुगल [illegible] का क्षय और उसके कारण' (१९३८)।

४. अमृतलाल चक्रवर्ती का 'भारतपुर का युद्ध' [illegible] शिवनारायण द्विवेदी का 'सन् १८५७ के गदर का इतिहास' (१९२२), ईश्व[illegible] का 'सन् सत्तावन का गदर' (१९२४), सूरजमल जैन का 'मराठे और [illegible]२), गंगाशंकर मिश्र

पत्र-साहित्य ने हिन्दी गद्य-शैली के विकास में भी पर्याप्त योग दिया है जैसा

का भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य' (१९३०), रामनाथलाल 'सुमन' का 'जब अंग्रेज आए' (१९३०), कन्हैयालाल का 'कांग्रेस के प्रस्ताव' (१९३?), बैजनाथ महोदय कृत 'विजयी बारदोली' (१९२९), नवजादिकलाल का 'पराधीनों की विजय-यात्रा (१९२४), मन्मथनाथ गुप्त का 'भारत में सशस्त्र क्रांति-चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास' (१९३७); 'राजवंशों के इतिहासों में देवीप्रसाद मुंसिफ कृत 'पड़िहार-वंश-प्रकाश' (१९११), लक्ष्मीनारायण गर्दे कृत 'महाराष्ट्र-रहस्य' (१९१२), नन्दकुमार देव शर्मा का 'सिक्खों का उत्थान और पतन' (१९१७), विश्वेश्वरनाथ रेउ का 'क्षत्रिय वंश का इतिहास' (१९१८) तथा 'भारत के प्राचीन राजवंश' (१९२६), प्रतिपाल-सिंह ठाकुर का 'आर्य देव कुल का इतिहास' (१९२८), गोपाल दामोदर तामस्कर का 'मराठों का उत्थान और पतन' (१९३१), विश्वेश्वर रेउ का राठौड़ों का इतिहास' (१९३४), सुरेश्वरानंद का कैकयवंश चन्द्रोदय' (१९३९) तथा रामनारायण यादवेन्दु का 'यदुवंश का इतिहास' (१९४२) महत्वपूर्ण कृतियां हैं।

३. धार्मिक इतिहास—रामनारायण मिश्र कृत 'पारसियों का इतिहास' (१८९५), गोविन्द सिंह साधु कृत 'इतिहास गुरु खालसा' (१९०२), शिवशंकर मिश्र का 'भारत का धार्मिक इतिहास' (१९२२), पूरनचन्द नाहर का 'जैन-लेख-संग्रह (१९१८), शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी लिखित 'मध्यप्रान्त, मध्यभारत और राजपूताने के प्राचीन जैन-स्मारक' (१९२६), अयोध्याप्रसाद गोयलीय लिखित 'जैन-वीरों का इतिहास' (१९३०), तथा 'मौर्य-साम्राज्य के जैन-वीर' (१९३२), हीरालाल जैन लिखित 'जैन-इतिहास की पूर्व पीठिका' (१९१९), कामताप्रसाद जैन लिखित 'संक्षिप्त जैन इतिहास' (१९४१), तथा 'सम्पादित प्रतिमा लेख-संग्रह'(१९४२), भदन्त आनन्द कौसल्यायन लिखित 'बुद्ध और उनके अनुचर' (१९३७), कण्ठमणि शास्त्री का 'कांकरौली का इतिहास' (१९२९)।

४. स्थानीय इतिहास— निरंजन मुकर्जी का 'भारत-वर्षीय राज्य-संग्रह' (१८७४), पूरनचन्द्र मुंशी कृत 'अवध समाचार' (१८७६), हरिश्चन्द्र कृत 'बूँदी का राजवंश' (१८८२), कल्हण की 'राजतरंगिणी' की सहायता से लिखा गया काश्मीर का इतिहास 'काश्मीर-कुसुम' (१८८४), दामोदर शास्त्री के लिखे 'चित्तौर का इतिहास' (१८९१) तथा 'लखनऊ का इतिहास' (१८९७), देवीप्रसाद मुन्सिफ लिखित 'आमेर के राजे' (१८९६) तथा 'मारवाड़ के प्राचीन लेख' (१८९६), राधारमण चौबे लिखित 'भरतपुर राज्य का इतिहास' (१८९९), महाराजसिंह लिखित 'इतिहास बुन्देलखण्ड' (१८९९)- हनुवंतसिंह तथा पूर्णसिंह लिखित 'मेवाड़ का इतिहास' (१९०४)- बलदेव

डॉक्टर गंगानारायण सिंह के शोध-प्रबन्ध से स्पष्ट है। सच तो यह है कि हिन्दी वैचारिक

प्रसाद मिश्र लिखित 'नेपाल का इतिहास' (१९०४), गंगाप्रसाद गुप्त लिखित 'पूना का इतिहास' (१९०६) इस श्रेणी के प्रमुख ग्रन्थों में से हैं।

रामनारायण दूगड़ लिखित 'राजस्थान रत्नाकर' (१९०९), नारायण पांडेय लिखित 'नेपाल' (१९१०?), सकल नारायण पांडेय लिखित 'आरा पुरातत्त्व' (१९१०), गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखित 'सिरोही राज्य का इतिहास' (१९११), सम्पूर्णानन्द लिखित 'भारत के देशी राष्ट्र' (१९१८), गौरीशंकर लाल लिखित 'चित्तौर की चढ़ाइयाँ' (१९१९), शिवपूजनसहाय लिखित 'बिहार का बिहार' (१९१९), देवीप्रसाद मुन्सिफ लिखित 'सिन्ध का इतिहास' (१९२१?), वृन्दावन भट्टाचार्य लिखित 'सारनाथ का इतिहास' (१९२२), रामेश्वरप्रसाद वर्मा लिखित 'लंका का इतिहास' (१९२२), नन्दकुमार देव शर्मा का 'पंजाब का हरण और महाराजा दिलीपसिंह' (१९२२), गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखित 'राजपूताना का इतिहास' (१९२५), जगदीशसिंह गहलोत लिखित 'मारवाड़ राज्य का इतिहास', १९२५), सुख-सम्पत्ति राय भण्डारी लिखित 'भारत के देशी राज्य' (१९२७), हरिकृष्ण रतूड़ी लिखित 'गढ़वाल का इतिहास' (१९२८), प्रतिपालसिंह ठाकुर लिखित 'बुन्देलखंड का इतिहास' (१९२८), सीताराम लाला लिखित 'अयोध्या का इतिहास' (१९२९), गोरेलाल तिवारी लिखित 'बुन्देलखण्ड का इतिहास' (१९३३), हीरालाल रायबहादुर लिखित 'मध्यप्रदेश का इतिहास' (१९३७), बदरीदत्त पांडेय लिखित 'कुमाऊँ का इतिहास' (१९३७), विश्वेश्वरनाथ रेउ लिखित 'मारवाड़ का इतिहास' (१९३८), मथुरालाल शर्मा लिखित 'कोटा राज्य का इतिहास' (१९३९), जगदीशसिंह गहलौत लिखित 'राजपुताने का इतिहास' (१९३९), ब्योहार राजेन्द्रसिंह लिखित 'त्रिपुरी का इतिहास' (१९३९), रामशरण उपाध्याय लिखित 'मगध का प्राचीन इतिहास' (१९३९?) तथा पृथ्वीसिंह मेहता लिखित 'बिहार—एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन' (१९४०)।

५. विदेशीय इतिहास—रामनारायण मिश्र का 'जापान का संक्षिप्त इतिहास' (१९०४), डॉ० महेन्दुलाल गर्ग की 'जापान की कहानी' (१९०७), गौरीशंकर पाठक का 'जापान का उदय' (१९०७), गदाधर सिंह का 'रूस-जापान-युद्ध' (१९०५), नटवर चक्रवर्ती कृत 'अफगानिस्तान का इतिहास' (१९०५), सूर्यकुमार वर्मा का 'ग्रीस की स्वाधीनता का इतिहास' (१९०६), सोमेश्वर दत्त शुक्ल का 'फ्रांस का इतिहास' (१९०८), 'जर्मनी का इतिहास' (१९०८), 'इङ्गलैंड का इतिहास' (१९११), मिश्रबन्धु का 'रूस का इतिहास' (१९०९) तथा 'जापान का इतिहास' (१९०९) नटवर

ाद्य विषय और शैली दोनों के क्षेत्र में पत्र-साहित्य का बहुत दूर तक ऋणी है।

चक्रवर्ती लिखित 'रूस-जापान-युद्ध' (१९०६), जीवनसिंह लिखित 'रूस-रोम-युद्ध' (१९११), मनोहरचन्द्र मिश्र लिखित 'स्पेन का इतिहास' (१९०४), भवानीसिंह लिखित 'सर्विया का इतिहास' (१९१८), कृष्णबिहारी मिश्र लिखित 'चीन का इतिहास' (१९१८), प्राणनाथ विद्यालंकार लिखित 'इङ्गलैंड का इतिहास' (१९२६), शंकरराव जोशी लिखित 'रोम साम्राज्य' (१९११), प्यारेलाल गुप्त कृत 'ग्रीस का इतिहास' (१९२३), वासुदेवकृत 'राजनैतिक इतिहास' (१९२८), गंगाप्रसाद : 'अंग्रेज जाति का इतिहास' (१९३८), रामकृष्ण सिंह : 'प्राचीन मिस्र' (१९४१), नन्दकुमारदेव शर्मा 'टर्की की स्वाधीनता का इतिहास' (१९१५), भवानीदयाल संन्यासी का 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' (१९१६), रमाशंकर अवस्थी कृत रूस की राज्यक्रांति (१९२०), सम्पूर्णानन्द :'चीन की राज्यक्रांति' (१९२१), सोमदत्त विद्यालंकार : रूस का पुनर्जन्म' (१९२१), रमाशंकर अवस्थी 'लाल क्रांति' (१९१८), विश्वम्भरनाथ जिज्जा : 'रूस में युगान्तर' (१९२३), छविनाथ पांडेय : 'अमरीका कैसे स्वाधीन हुआ' (१९२३), सम्पूर्णानन्द : मिश्र की स्वाधीनता (१९२३), सत्यभक्त : 'आयरलैंड के गदर की कहानियाँ' (१९२७), प्यारेलाल गुप्ता फ्रांस की राज्यक्रांति' (१९२६), देवकीनन्दन : 'अमेरिका की स्वाधीनता का इतिहास' (१९३०), विश्वनाथ राय : 'मिस्र की स्वाधीनता का इतिहास' (१९३३), शंकरदयालु श्रीवास्तव-'रूस की क्रांति' (१९४२)। देश समूहों से संबंध रखने वाले इतिहास ग्रन्थ— शिव नारायण द्विवेदी लिखित 'युद्ध की झलक' (१९१४), प्राणनाथ विद्यालंकार 'सभ्यता का इतिहास (१९१८), कृष्णकान्त मालवीय : 'संसार संकट' (१९२०), यशुपाल शर्मा 'यूरोप का आधुनिक इतिहास' (१९२३), रामकिशोर शर्मा का 'यूरोप का इतिहास' (१९२७), श्रीनारायण चतुर्वेदी का 'संसार का संक्षिप्त इतिहास' (१९३५), रामनारायण यादवेन्द्र का 'युद्ध छिड़ने से पहले' (१९३६), राजबहादुर सिंह का 'वर्तमान युद्ध में पोलेंड का बलिदान' (१९४०), इन्द्र वेदालंकार का 'राष्ट्रों की उन्नति' (१९०४), लक्ष्मीनारायण गर्दे लिखित 'एशिया का जागरण' (१९२३), एस० एम० जोशी का 'एशिया की पराधीनता का इतिहास' (१९३०) तथा सुखसम्पत्ति राय लिखित 'संसार की क्रांतियाँ' (१९३०)।

१. देखिए डॉक्टर गुप्त कृत 'पुस्तक साहित्य', पृष्ठ ५५-५६।

२ वही पृष्ठ ५४।

हिन्दी प्रदेश की बौद्धिक चेतना और विचारणा का अपना इतिहास है। आधुनिक युग में हमारी वैचारिकता का जन्म धार्मिक नवजागरण से होता है, जिसका प्रवर्तन हिन्दी क्षेत्र के बाहर राजा राममोहनराय (१७७२-१८३३) द्वारा हुआ, जिन्होंने ब्रह्म समाज की कई शाखाएँ स्थापित कीं। परन्तु विशेष कारणों से ब्रह्म समाज आन्दोलन हिन्दी प्रदेश का आन्दोलन नहीं हो सका। इस समाज के नेताओं ने उपनिषद् सम्बन्धी हमारी चेतना को प्रबुद्ध किया और हिन्दू धर्म को ईसाई धर्म की उदारता तथा संघबद्धता से मंडित कर एक नवीन चेतना को जन्म दिया। 'ज्ञान-प्रदायिनी-पत्रिका' नाम से एक पत्रिका भी हिन्दी में इस समाज के द्वारा प्रकाशित होती थी। हिन्दी प्रदेश में बौद्धिक जीवन में ब्रह्म समाज का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पल्लवित हुआ है। हिन्दी प्रदेश के बड़े नगरों में शिक्षकों और राजकर्मियों के रूप में जो बंगाली नियुक्त हुए उन्होंने इस नयी धर्म-चेतना को हिन्दी-भाषी जनता तक पहुँचाया। सामाजिक क्षेत्र में बन्धुत्व, सहयोग, सह-शिक्षा, नारी-स्वातंत्र्य आदि प्रवृत्तियों का जन्म इसी समाज की देन है। परन्तु हिन्दी प्रदेश का धार्मिक जागरण सर्वाधिक आर्य समाज का ऋणी है, जिसकी स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा सन् १८७५ में हुई। अगले पचास वर्षों में यह हिन्दी प्रदेश का सबसे सशक्त आन्दोलन था। इसने तर्क-वितर्क और शास्त्रार्थ की भावना को उद्दीप्ति दी और समस्त उत्तर भारत में बौद्धिक हलचल का एक नया वातावरण दिखलाई पड़ने लगा। यद्यपि कालान्तर में आर्य समाज आन्दोलन, भावुकता के कारण अपनी प्रगतिशीलता से हाथ धो बैठा, पर आरम्भ में उसमें विचार और धारणा के तत्व ही अधिक थे। उसने ही पहली बार विचार के क्षेत्र में समीक्षात्मक दृष्टिकोण को जन्म दिया। धर्म, दर्शन, नीति और अध्यात्म भारतीय चिन्तन के प्रिय विषय रहे हैं। आर्य समाज को यह श्रेय प्राप्त है कि उसने इन चिन्तन-क्षेत्रों में नयी भूमिकाओं की सृष्टि की और युग के अनुरूप इस चिन्तन को नई भाषा दी। हिन्दी के वैचारिक गद्य के शैली-निर्माण में भी आर्य समाज का प्रमुख हाथ रहा है। वाद-विवाद की भाषा और अनास्थामूलक वातावरण आधुनिक युग की नयी चीजें हैं। आर्य-समाज के नेताओं ने हमारी चेतना को झकझोर कर उसे युग की चुनौती के लिये तैयार किया। फल यह हुआ कि हममें अतीत के प्रति गौरव उत्पन्न हुआ और मौलिक विचारों के प्रति आस्था बढ़ी। धार्मिक जागरूकता का एक तीसरा स्रोत परमहंस श्री रामकृष्ण (सन् १८३६-१८८६) तथा उनके प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२) की साधना और उनकी विचारणा है, यद्यपि इन्होंने बंगाल को ही पहले प्रभावित किया और हिन्दी प्रदेश में इनका प्रभाव थोड़ी देर बाद पहुँचा किन्तु यह निश्चित है कि द्विवेदी युग के साहित्यकार और कवि इन महान व्यक्तियों के कार्य से परिचय करें और हमारे धार्मिक तथा नैतिक चिन्तन पर श्री राम-कृष्ण मिशन द्वारा प्रचारित साहित्य की छाप पड़ने लगी थी। संक्षेप में यह कहा जा

सकता है कि साहित्य में वैचारिकता का जन्म धार्मिक आन्दोलनों द्वारा भी हुआ और इसीलिए इस क्षेत्र में हमें भाषा और शैली की सम्पन्नता पहले प्राप्त हुई।

विचारात्मक साहित्य-विकास के सन्दर्भ में हमें यह भी समझ लेना होगा कि उसका सम्बन्ध विशेषतः मध्यवर्ग से है और उसमें हमारे राष्ट्रीय स्वभाव की ही अभिव्यक्ति हुई है। हमारा समस्त आधुनिक साहित्य मध्यवर्ग का साहित्य है, और इसलिए उसकी अपनी कुछ सीमाएँ भी बन गयी हैं। डॉ० बी० मिश्रा ने अपने ग्रन्थ 'दी इण्डियन मिडिल क्लासेज़' में इस मध्यवर्ग के जन्म और विकास की सन् १६०५ तक की कहानी कही है और अमरीका के प्रोफेसर डॉक्टर शिल ने अपने ग्रन्थ 'दी इण्डियन इनटेलिजेनसिया' में इस सूत्र को आधुनिक काल तक आगे बढ़ाया है। भारतीय मध्य वर्ग ने पिछले सौ वर्षों में यूरोपीय मध्य वर्ग विशेषतः आंग्ल मध्य वर्ग का अनुसरण किया है। उसका पोषण अंग्रेजी साहित्य के द्वारा हुआ है और उसकी समस्त मनोभूमिकाएँ उसी के द्वारा निर्मित हैं। एक प्रकार से मध्य वर्ग का जन्म विश्व-इतिहास के नये मोड़ की सूचना देता है और संसार के सब देशों में उसके विकास की रूपरेखा समान रही है। इसलिये हम भारतीय मध्यवर्ग में उन्हीं विचारधाराओं का पल्लवन देखते हैं, जिनसे हम यूरोपीय इतिहासों से परिचित हैं। फ्रांस के बन्धुत्व, साम्य और स्वतंत्रता के साथ अमरीका के सामाजिक न्याय के नारे को भी हमने अपने विचार-सूत्रों में बाँधा है। राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र, आर्थिक स्वतंत्रता और साम्यवाद आदि सभी विचारधाराओं के लिये हम पश्चिमी मध्यवर्ग के ऋणी हैं।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मध्यवर्गीय चेतना की सर्जनात्मक और वैचारिक देन अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। उसका सम्बन्ध मुख्यतः लौकिक सुख और सम्पन्नता से है। इसीलिए उसके केन्द्र में भौतिकवादी विचारधारा है जिसका अध्यात्मवाद से विरोध है। यह विचारधारा ऐतिहासिक और विकासात्मक दृष्टिकोण को सर्वोपरि मानती है। एक प्रकार से इसी के द्वारा हमें इतिहास-चेतना प्राप्त हुई। आधुनिक युग की सम्पूर्ण विचारणा पर इसका प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

भारतीय मध्यवर्ग उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अपने स्वरूप का निर्माण कर चुका था। इस शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतेन्दु-युग है। बीसवीं शताब्दी के साथ हम द्विवेदी युग में प्रवेश करते हैं। इस युग में मध्यवर्ग के विकास की एक नयी रूपरेखा हमारे सामने आती है।

मध्यवर्ग के प्रारम्भिक विकास में हमें बौद्धिकता का समावेश ही अधिक मिलता है। विशेष कारणों से मध्यवर्ग अति संवेदनशीलता से आक्रांत रहा है। संवेदनशीलता का यह अतिरेक काव्यों और कथा-साहित्य में ही नहीं दिखाई देता, वह दर्शन और

रहस्यवाद सम्बन्धी रचनाओं में भी अभिव्यक्त है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में साधु निश्चलदास ने अद्वैतवाद की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत की थी और शताब्दी के अन्तिम वर्षों में स्वामी विवेकानन्द के द्वारा नव्य वेदान्त के रूप में उसका एक नया स्वरूप हमारे सामने आया। श्री रामकृष्ण परमहंस की साधना में रहस्यवाद का काफ़ी योग था। उन्होंने विभिन्न धार्मिक साधनों का प्रत्यक्ष अनुभव किया था और अद्वैत, वैष्णव और शाक्त परम्पराओं को एक सूत्र में जोड़ा था। उनकी साधना में ध्यान, योग, भक्ति के तीनों तत्वों का समाहार था।

दर्शन और रहस्यवाद सम्बन्धी जिस विचार-धारा और भावना का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ, वह गांधी-युग में जहाँ एक ओर व्यावहारिक रूप प्राप्त करती है वहाँ दूसरी ओर छायावादी काव्य-धारा के अन्तर्गत रहस्यवाद के नाम से एक विशेष प्रकार के काव्य की सृष्टि भी उसके द्वारा होती है। गद्य के क्षेत्र में रहस्यवादी प्रवृत्ति अध्यापक पूर्णसिंह की रचनाओं में अत्यन्त शक्तिशाली अभिव्यक्ति पाती है और छायावादी युग में हमें गद्य-काव्य के रूप में उसका प्रसार मिलता है।

लेकिन सन् १९०५ के बाद वैचारिक गद्य के क्षेत्र में जो चीज़ हमें विशेष रूप से मिलती है, वह है साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण, जो मर्यादावादी मान्यताओं को लेकर चलता है। इसकी अभिव्यक्ति उस व्यावहारिक और परिनिष्ठित गद्य में होती है जो शीघ्र ही अपने युग का मान-दण्ड बन जाता है। इस वैचारिक गद्य के प्रवर्तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हैं। बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्ष द्विवेदी-युग के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन्हीं वर्षों में हमारा वैचारिक व्यक्तित्व विशेष रूप से निश्चित हुआ है। उसमें बौद्धिकता का विशेष आग्रह है और वह नैतिक मूल्यों को विशेष महत्व देकर चलता है। इसी युग में काव्य और साहित्य को जीवन के साथ सम्पृक्त करने की माँग पहली बार उठी और लोक-मंगल को साहित्य का उद्देश्य मान लिया गया। फलस्वरूप साहित्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण का जन्म हुआ और प्रेमचन्द के कुछ स्वतंत्र निबंध हमें प्राप्त हैं जो सामयिक जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में उनकी प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करते हैं। लेकिन उनका सम्पूर्ण कथा-साहित्य उनके राष्ट्रीय दृष्टिकोण, सामाजिक जीवन संबंधी अनुभव और गम्भीर नैतिक विचारणा पर आधारित है। उनके द्वारा हिन्दी-साहित्य में पहली बार राजनीति का प्रवेश हुआ। सन् १९०५ के बंग-भंग-आन्दोलन के बाद देश में राजनैतिक चेतना विशेष रूप से सक्रिय हो जाती है और जहाँ पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादकीयों, लेखों और टिप्पणियों में उद्वेगपूर्ण राजनैतिक साहित्य हमें मिलता है, वहाँ राजनैतिक समस्याओं पर स्वतंत्र निबन्ध और लेख भी मिलने लगते हैं। इस युग में ही बौद्धिकता पहली बार

अपना सिर उठाती है और ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में बौद्धिक विश्लेषण एवं गम्भीर चिन्तन की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती है। हमारे पाठ्य-क्रमों में उत्तरोत्तर अधिक गम्भीर और कठिन सामग्री का समावेश होता गया है और भावानात्मक रचनाओं मे बौद्धिकता की अन्तधारा प्रतिष्ठित है। इतिहास, समाज-नीति और नैतिकता सम्बन्धी निबन्धों म हमें बौद्धिकता का आग्रह विशेष दिखाई पड़ता है। साप्ताहिक पत्रों के स्तम्भो क लिये लेखों और टिप्पणियों के रूप में जो राजनीतिक और सामाजिक चिन्तन इन दो दशकों में सामने आया है, वह आज भी पठनीय है। शताब्दी के प्रारम्भ में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'शिवशम्भु का चिट्ठा' नाम से धारावाहिक निबन्ध लिखकर लाड कर्जन और उनकी राजनीति को व्यंग्य और विनोद का विषय बनाया था और अन्तिम वर्षो में स्वर्गीय पं० विश्वम्भरनाथ 'कौशिक' ने 'दुबे जी की चिट्ठी' नामक अपने पत्र-साहित्य में प्रतिदिन के जीवन की नैतिकता को बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्त किया था। इस प्रकार सम्पूर्ण द्विवेदी युग विचारों का युग बन गया। इस युग को इतिवृत्तात्मक अति नैतिक और नीरस कहा जाता है और यह आक्षेप लगाया जाता है कि इस युग में उत्कृष्ट काव्य और साहित्य की सृष्टि नहीं हुई। मगर इसका कारण यही है कि इस युग म बौद्धिकता का प्राबल्य हो गया था और हिन्दी का साहित्यकार चारों ओर से विचारों का संकलन करता है। उसे इतना अवकाश ही नहीं है कि अपनी रचना को सरस बनाये और काव्य-गुणों से अलंकृत करे। यह निश्चित है कि इस पीठिका के बिना हमें विचार-क्षेत्र में मौलिक व्यक्तित्व की उपलब्धि करना सम्भव नहीं था।

उन्नीस सौ बीस के बाद चालीस वर्ष हमारे भाव क्षेत्र में नवीन स्फूर्ति के वर्ष है। इन वर्षों मे हिन्दी प्रदेश की जनता गांधी जी के नेतृत्व में स्वाधीनता-संग्राम मे लगी रही है और उसने अपूर्व साहस का परिचय दिया है। फलस्वरूप साहित्य में भावना एवं कल्पना की परिपूर्ण उन्मुक्ति मिलती है। द्विवेदी-युग की नीरस विचारणा इस युग में अपनी तर्कबद्धता को छोड़कर रसात्मक अनुभूति एवं आलंकारिक अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेती है। इस युग का वैचारिक गद्य शब्द एवं अर्थ की पारस्परिक एकता तथा अन्तरंग सिद्धि का उदाहरण है। इस प्रकार से गद्य-शैलियों में अनेक-रूपता एवं विशिष्टता का उदय इन्हीं बीस वर्षों में हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और जैनेन्द्रकुमार जैसे गद्य-शिल्पी और साहित्य-चिन्तक हमें इन्हीं वर्षों में मिलते हैं। उन्नीस सौ बीस के पश्चात् ही उच्चतर कक्षाओं में हिन्दी का प्रवेश होता है तथा पठन-पाठन की सुविधाओं के अनुरूप समीक्षा-ग्रन्थों की रचना होने लगती है। वैचारिक क्षेत्र में समीक्षा-संबन्धी साहित्य सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित है। परन्तु धर्म, नीति एवं अध्यात्म एकदम भुला नहीं दिये गये, क्योंकि ये सब गांधी जी के राजनैतिक क्षेत्र के आन्दोलनों के अनिवार्य अंग थे। इस युग

में फिर एक बार व्यक्तिगत अथवा आत्मगत निबन्धों का विकास होता है यद्यपि भारतेन्दु युग से उनकी प्रवृत्ति भिन्न है। आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में हम इन बीस वर्षों को 'स्वर्ण युग' कह सकते हैं। महात्मा गांधी द्वारा संचालित भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन एक महान क्रांति था, तथा उसने जहाँ हमारे बौद्धिक एवं राजनैतिक क्षेत्र को उत्कर्षमय बनाया, वहाँ दूसरी ओर स्वच्छन्दतावादी भावनाओं एवं विचारों को भी प्रश्रय दिया। इन बीस वर्षों में हम यथार्थवाद की ओर एक चरण आगे बढ़ गये हैं। परन्तु इसकी प्रतिक्रिया के रूप में हमने आदर्शवाद को भी बड़ी दूर तक पल्लवित किया है।

प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, वस्तुतः इस युग की चेतना का ही स्पष्टीकरण है। इस युग में पहली बार हमारे यहाँ वैज्ञानिक शिक्षा की गहरी नींव पड़ती है और हम बौद्धिकता, वैज्ञानिक विश्लेषण और वैज्ञानिक दृष्टि से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। बौद्धिकता तथा विज्ञान का यह समन्वय आगे के युग में और भी अधिक प्रतिफलित होता है।

सन् १९४० के बाद हमें मध्यदेश के जीवन और साहित्य में नये मोड़ मिलने लगते हैं। साहित्यिक विचारणा में परिवर्तन हो जाता है एवं विषय तथा अभिव्यक्ति के क्षेत्रों में व्यक्तिमत्ता की प्रधानता होने लगती है। यह युग ही प्रस्तुत शोध का विषय है। अतः इसकी प्रवृत्तियों का विश्लेषण हमने प्रबन्ध के भीतर ही विस्तारपूर्वक किया है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हमें निश्चित रूप से बौद्धिक चेतना का विकास मिलता है। इस युग के साहित्य और चिन्तन के कुछ प्रमुख प्रतिमान और व्यक्तित्व हैं। प्रबन्ध के कलेवर में उनकी विशद चर्चा हुई है।

पिछले पृष्ठों में हमने पूर्व युग के विचारात्मक साहित्य का विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत किया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के क्षेत्र में ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी जागरूकता का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में ही हुआ। भारतीय मनीषा धर्म सम्बन्धी चिन्तन के क्षेत्र में ही पहले-पहल प्रबुद्ध हुई। इसका कारण यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही ईसाई धर्म-प्रचारकों और नवोदित इस्लामी चेतना के कारण जो धर्म-परिवर्तन के प्रति विशेष आग्रही थी, हिन्दू धर्म के नेताओं ने आत्म-रक्षा के लिये अपने प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे। हिन्दी के क्षेत्र में सन् १८६७ से ही गद्य में धार्मिक रचनाएं सामने आने लगी थी इनमें से कुछ प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों तक ही सीमित थी। परन्तु श्रद्धाराम शर्मा, नवीन चन्द्र राय, दयानंद सरस्वती और राधारमण गोस्वामी जैसे नये धर्म-विचारक अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दू धर्म और आचार-विचार को नया रूप देने का प्रयत्न करते हैं। सन १९१० तक धर्म, दर्शन और आचार-विचार के क्षेत्रों में भारतीय मान्यता का स्वरूप एकदम नया हो जाता है। हिन्दू धर्म के इस नवीकरण में आर्य-समाज और श्री रामकृष्ण-मिशन के संन्यासियों का योगदान

सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु हिन्दू प्रतीक कथाओं और पौराणिक गाथाओं की नयी बौद्धिक व्याख्या के पीछे ईसाई धर्म-वेत्ताओं और प्रचारकों का विरोध भी काम कर रहा है। जहाँ एक ओर अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को हटाकर हिन्दू-धर्म को विवेक और बुद्धि की आधार-शिलाओं पर स्थापित करने की आवश्यकता का अनुभव भारतीयों को हुआ, वहाँ दूसरी ओर निर्गुण-सगुण भक्तिवाद, पाप, पुण्य नीति-अनीति की व्याख्या के लिये विलसन, कार्पेन्टर, डॉक्टर ग्रियर्सन आदि अनेक प्राच्य विद्या-विशारदों की मान्यताओं को भारतीयों को आत्मसात करना पड़ा जो ईसाई धर्म से पूर्णतः परिचित थे और जिन्होंने हिन्दू धर्म और दर्शन की व्याख्या में ईसाई मान्यताओं का उपयोग किया था। जो हो, यह स्पष्ट है कि सन् १९१० के बाद हमें इन क्षेत्रों में स्वतन्त्र और प्रौढ़ विचारणा निबन्धों, लेखों और पुस्तकों के रूप में मिलती है। सन् १९१० से १९४६ तक हमारी धार्मिक चेतना पर्याप्त रूप में मौलिक निर्माण में समर्थ होती है और मध्य युग के हिन्दी भक्ति-साहित्य की व्याख्या और समीक्षा में धार्मिक शब्दावली का उपयोग इसी स्रोत का ऋणी है। सन् १९२० के बाद ही कबीर, तुलसी, सूर, मीरा और अन्य भक्त कवियों के सम्बन्ध में स्वतंत्र और समर्थ समीक्षाओं का सर्जन होता है। परन्तु इन वर्षों में धार्मिक साहित्य विशुद्ध साहित्य से अलग, अपनी एक स्वतंत्र स्थिति का निर्माण कर लेता है।

एक प्रकार से अन्य क्षेत्रों में भी हम सन् १९१० को विभाजन-रेखा मान सकते हैं। इससे पहले का साहित्य प्राचीन विचारों, सन्दर्भों और शब्दों से बहुत कुछ चिपटा हुआ है, यद्यपि ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में एक ऐसा वर्ग भी उठ खड़ा हुआ है जो नवीनता का पोषक है। साहित्य के क्षेत्र में हमें नयी विचारणा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक लगभग नहीं ही मिलती, जबकि बंगला साहित्य में सन् १८८० के बाद ही महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के द्वारा प्राचीन और नवीन साहित्य पर सुन्दर विचारात्मक लेखों और निबन्धों का समावेश हो जाता है। इसका कारण यह था कि बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा कई पीढ़ियों पहले से प्रचलित थी और अधिकांश बंगला कवि और लेखक उच्च कोटि के यूरोपीय साहित्य से परिचित थे। हिन्दी प्रदेश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही आरम्भ होता है और 'भारतेन्दु-युग' के अधिकतर कवि और लेखक नाम मात्र को ही अंग्रेजी से परिचित हैं। हिन्दी क्षेत्र का शिक्षित वर्ग सन् १९२०-१९३० तक मौलिक रूप में अंग्रेजी में ही लिखता रहा है और मातृ-भाषा हिन्दी के प्रति उसकी संवेदना अधिक विकसित नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही कुछ थोड़े से अंग्रेजीदाँ लेखक बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में हिन्दी को प्राप्त हुए। पश्चात् गांधी जी की प्रेरणा, स्वदेशी और सत्याग्रह के आन्दोलनों के कारण अधिक संख्या में [illegible] में शिक्षा-प्राप्त अंग्रेजी शिक्षित जन साहित्य के क्षेत्र

में आये। इसीलिये समीक्षा, इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों में हिन्दी का मौलिक साहित्य बहुत बाद में पुष्ट हुआ और स्वातंत्र्योत्तर युग तक उसका यह पक्ष दुर्बल बना रहा है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि गांधी-युग में साहित्य और राजनीति हमारी विचारणा के प्रमुख क्षेत्र बने हुए थे और इन क्षेत्रों में पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों, गोष्ठियों और सभाओं के द्वारा हमारा चिन्तन अनेक दिशाओं में विकसित हुआ। साहित्यिक विचारणा के क्षेत्र में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु पद्मसिंह शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनके शिष्य वर्ग का नाम लिया जा सकता है। इन्होंने साहित्य-विवेचना की प्राचीन रस-छंद-अलंकार-मूलक व्याख्यात्मक परिपाटी को छोड़कर सैद्धान्तिक विवेचना के आधार पर विचार-पुष्ट समीक्षा-पद्धति का आश्रय लिया। इसके लिए उन्हें प्लेटो और अरिस्टाटिल से लेकर आर्नाल्ड और टी० एस० इलियट तक के श्रेष्ठतम प्रतिमान पश्चिमी साहित्य में मिले और उनके अध्ययन के आधार पर हमारे यहाँ समीक्षा की अनेक कोटियाँ विकसित हुईं जो प्राचीन साहित्य-शास्त्र की ओर न देखकर नये जीवन और नयी संवेदना की ओर देखती थीं। जब हमने स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रवेश किया तो हमारे पास एक सम्पन्न और सुनिश्चित साहित्य-विचारणा की परम्परा थी जिसका विशेष विकास आलोच्य युग में हुआ।

राजनीति गांधी-युग की सबसे अधिक व्यापक और तलस्पर्शी चेतना है जिसने करोड़ों मनुष्यों को प्रभावित किया है। सन् १९१९ के बाद महात्मा गांधी के द्वारा भारतीय जनता पहली बार राजनीति में दीक्षित हुई। हमारी राजनीति ऐसे देश की राजनीति थी जो पिछले सौ वर्षों से विदेशी सत्ता द्वारा अनुशासित था और वह केवल राष्ट्रीयता ही हो सकती थी। उसने असहयोग और सत्याग्रह के अस्त्रों का अन्वेषण किया और त्याग एवं तपस्या को राजनीति के आन्दोलनों का प्रमुख अंग बनाया। हिन्दी का अधिकांश राजनैतिक साहित्य पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा पहली बार सामने आता है और हमारे श्रेष्ठतम पत्रकार उच्चकोटि के राजनीति-मर्मज्ञ अथवा आन्दोलनकर्ता रहे हैं। इनमें माधवप्रसाद सप्रे, पराड़कर, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि मुख्य हैं। पुस्तकों के रूप में इनका साहित्य अभी सम्पूर्णतः प्रकाशित नहीं हुआ है। यह भी सम्भावना है कि गांधी-युग का अधिकांश राजनैतिक साहित्य पत्रों के वेष्ठनों में लिपटा रहकर ही नष्ट हो जाये, परन्तु उसने हिन्दी भाषा को जिस शक्ति और ओज से समन्वित किया वे उसकी मूल सम्पत्ति बन गयी हैं।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि धर्म, दर्शन, राजनीति और साहित्य के चार आयामों के भीतर से स्वातन्त्र्यपूर्व-युग में हिन्दी की विचारणा का विकास हुआ और उसके द्वारा भाषा-शैली ने पर्याप्त शक्ति का अर्जन किया। यह हमारे अध्ययन की पूर्व-पीठिका है। अगले अध्यायों में हम इसी केन्द्र-बिन्दु से आगे बढ़ते हुए ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी की वैचारिक मनीषा के विकास का अध्ययन करेंगे।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी साहित्य का स्वातन्त्र्योत्तर युग : सामान्य पीठिका (शासकीय, राजनीतिक, आर्थिक, भाषात्मक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिवेश का अध्ययन)

स्वातन्त्र्योत्तर युग के विचारात्मक गद्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उस युग के राजनीतिक, शासकीय, आर्थिक, भाषात्मक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिवेश का व्यापक रीति से अनुशीलन करें और साहित्यिक तथा सांस्कृतिक चेतनाओं के उन मूल स्रोतों तक पहुँचें जो रचनाओं में मूल-बद्ध हैं। लगभग दो शताब्दियों के अंग्रेजी आधिपत्य के बाद भारतवर्ष की स्वतन्त्रता-प्राप्ति विश्व-इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी जिसने अन्य प्रदेशों की भाँति हिन्दी प्रदेश के जन-जीवन को दूर तक प्रभावित किया। नई स्वाधीनता ने नई आकांक्षाओं को जन्म दिया और एक उच्चतर जीवन के स्पन्दन के प्रति हमारा आग्रह बढ़ा। स्वातन्त्र्योत्तर युग के पिछले दो दशक एक नई पीढ़ी के सूचक हैं जिसकी चेतना साहित्य, कला, संगीत और आचार-विचार के सभी क्षेत्रों में मूर्तिमान है। यह अनिवार्य सत्य है कि इस स्वातन्त्र्योत्तर पीढ़ी को उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण का पूरा प्रदेय प्राप्त था, क्योंकि भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में उसकी शक्ति का भरपूर उपयोग हुआ था। इस नवजागरण ने एक सुसंगठित और गत्यात्मक भारतवर्ष को जन्म दिया था जिसने पूर्व-पश्चिम के सांस्कृतिक समन्वय से अपने नवजीवन का नया मार्ग प्रशस्त कर लिया था।

भारतीय पुनर्जागरण ब्रिटिश संघात की ही देन है।[1] इतिहास के सुदीर्घ विस्तार में इस देश को जिन आक्रमणों और संक्रमणों का अनुभव करना पड़ा है उनमें अंग्रेज जाति के लोगों द्वारा यह अन्तिम आक्रमण सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा है। एकदम अपरिचित लोगों से ही हमारा सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ, वे लोग ज्ञान-विज्ञान और टेक्नो-

---

१. Bijoy Bhattacharya · Bengal Renaissance (A Study in the Progress of English Education, 1800-1858). p. 1.

लाजों में हमसे कहीं अधिक आगे थे। इस संघात को केवल राजनीतिक ही नहीं कहा ज सकता क्योंकि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रभाव अत्यन्त गम्भीर और बहुमुखी था। उसके फलस्वरूप ऐसी परिस्थितियों का जन्म हुआ कि भारतवर्ष आधुनिक राष्ट्र के रूप में परिवर्तित हो गया और राष्ट्रीयता का एक नया युग आरम्भ हुआ। सारा देश एक सुसंगठित राजनैतिक तन्त्र में दृढ़तापूर्वक बँधा और इस प्रकार केन्द्रीय शासन के माध्यम से हमने राष्ट्रीय एकता का नया अनुभव प्राप्त किया। परन्तु इससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण था समूचे देश का आधुनिकीकरण। यातायात और सम्पर्क के साधनों में वृद्धि के फलस्वरूप भारतीय नगरों और ग्रामो की आत्मनिर्भरता की भावना नष्ट हो गई परन्तु पारस्परिक सहयोग तथा विभिन्न प्रान्तो के आदान-प्रदान के कारण पहली बार एक राष्ट्रीय आर्थिक जीवन का आरम्भ हुआ और भी अधिक श्रेयस्कर वस्तु थी चेतना का प्रसार। १८ वीं शताब्दी से अवरुद्ध हमारी चेतना सौ वर्षों के कुण्ठा-जाल से बाहर निकल कर नये प्रकाश का अनुभव करने लगी। अंग्रेजी शिक्षा ने एक नई समर्थ भाषा और उसके साहित्य से ही हमारा परिचय नहीं कराया, पश्चिमी लोकतन्त्रात्मक राजनीति और तत्सम्बन्धी संस्थाओं से भी हम परिचित हुए। राष्ट्रीय जीवन के नए पहलू सामने आये और राजनीति का एक नया दौर शुरू हुआ। अन्य उपनिवेशों की तरह भारतवर्ष भी एक उपनिवेश था जिसका मूलाधार सात समुद्र पार की एक व्यापारी जाति के द्वारा हमारा शोषण था। इस जाति ने ढाई-सौ वर्ष पहले नई औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया था और उस समय उसे यूरोप की सर्वाधिक प्रगतिशील जाति कहा जा सकता था। अंग्रेज व्यापारियों और शासकों द्वारा वह शोषण जहाँ हमारी आर्थिक दुर्दशा के लिए उत्तरदायी है वहाँ उसने नये राष्ट्र के रूप में हमारा नवनिर्माण भी किया है।[1] उसके फलस्वरूप जिन प्रचण्ड बौद्धिक और राजनीतिक आन्दोलनों का हमने अनुभव किया वही कालान्तर में विदेशी सत्ता के आधिपत्य से हमें मुक्त करने में समर्थ हुए।

भारतीय नवजागरण का विस्तृत विवरण देना यहाँ आवश्यक नहीं है। संक्षेप में, 'भारतीय नवजागरण का जन्म बंगाल में हुआ जहाँ नवीन शक्तियों और नये व्यक्तियों ने नए युगधर्म को समझकर युगान्तर की प्रक्रिया में योग दिया जिसके फलस्वरूप हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नव अरुणोदय के दर्शन हुए। इस्लामी शासन-केन्द्रों से दूर होने के कारण बंगाल प्रतिक्रिया का केन्द्र नहीं बन सका था और उसकी जीवन-शक्ति अपराजिता थी। फलस्वरूप वही नए सांस्कृतिक अभियान का केन्द्र बना और वहीं से आध्यात्मिक पुनर्जागरण की लहर उठकर भारतवर्ष के दूर-दूर प्रान्तो

---

१ Humayun Kab r Britain and India (1960) P 5

में पहुँची। राजा राममोहनराय (१७७२-१८३३) से स्वामी विवेकानन्द (१८६६-१९०८) तक एक सम्पूर्ण शताब्दी का काल-प्रवाह कलकत्ता को केन्द्र बनाकर चलता है जो १९११ तक ब्रिटिश राज्य की राजधानी बना रहा। यद्यपि भारतेन्दु युग में काशी और आगरा हिन्दी साहित्य के प्रमुख केन्द्र बन गये थे परन्तु समाचार पत्रों और मासिक पत्रों का केन्द्र कलकत्ता ही था। भारतीय राजनीति और राष्ट्रीय चेतना का केन्द्रीय नगर भी वही था। इसीलिए बंगाल का साहित्य नई प्रवृत्तियों का उन्नायक और नवदृष्टि-सम्पन्न होने के कारण हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के लिए प्रेरणाप्रद बन गया। वस्तुतः १७५७ से १८५७ तक बंगाल में विदेशी सत्ता के प्रति संघर्ष भी किसी-न-किसी रूप में बराबर चलता रहा परन्तु पश्चिमी संस्कृति का स्वागत भी पहले-पहल वहीं हुआ। आरम्भ में इससे स्वदेशी संस्कृति को गहरा धक्का पहुँचा परन्तु शीघ्र ही एक नए समन्वय का विकास होने लगा। अध्यात्म, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला और विज्ञान सभी क्षेत्रों में बंगाल की अग्रगामिता ऐतिहासिक सत्य है। बंगाल के क्षितिज पर उन दिनों जिन शताधिक महामनीषियों और उदारचेता महाप्राणों का जन्म हुआ वे आज भी हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं। उन्हें हम आधुनिक भारतीय संस्कृति का निर्माता कह सकते हैं परन्तु विश्व-संस्कृति के विकास के इतिहास में भी उनका नाम महत्वपूर्ण रहेगा। उनके प्रयत्नों से पश्चिमी संस्कृति का वैज्ञानिक और भौतिकवादी स्वरूप सच्चे अर्थों में उद्‌घाटित हुआ। पश्चिम के बुद्धिवाद को भारतवर्ष ने आंशिक रूप में ही स्वीकार किया क्योंकि उसकी अपनी आध्यात्मिक संस्कृति अन्तर्ज्ञान पर आधृत थी यद्यपि बौद्धिकता से उसका कोई विरोध नहीं था। पश्चिम के प्रयत्नों से ही भारतवर्ष अपनी प्राचीन संस्कृति से परिचित हुआ और ऐतिहासिक एवं विकासवादी दृष्टि ने उसमें भावजगत को नई सम्पन्नता दी। भाषा-विज्ञान, नृतत्व-शास्त्र और तुलनात्मक धर्म की जिन मान्यताओं ने पश्चिम के धार्मिक विश्वासों को ढीला कर दिया, वही भारतीय सांस्कृतिक चेतना को आत्मगौरव दे सके। पश्चिम के सम्पर्क से प्रबुद्ध भारतीय मनीषा प्राचीन आदर्शों की ओर मुड़ी।"[1] परन्तु विद्वान लेखक ने नवजागरण की भूमिका में बंगाल के महत्व को स्वीकार करते हुए भी हिन्दी प्रदेश (मध्यदेश) की अवहेलना नहीं की है। उसका कथन है—"बंगाल इस नवजागरण में अग्रगण्य रहा है और १९३६ तक उसी की आँखों से हमने पश्चिम को देखा था परन्तु इससे मध्यदेशीय नवजागरण का महत्व कम नहीं हो जाता क्योंकि वह बंगाल की शताधिक वर्षों की उपलब्धियों को पादपीठिका बना कर और भी बड़ी उपलब्धियों तक उठ सका है।"[2]

---

१. डॉ० रामरतन भटनागर : निराला और नवजागरण (१९६५), पृ० २३-२४।

२ वही पृष्ठ ३२

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय नवजागरण के साथ जिस नई संस्कृति का जन्म भारतवर्ष में हुआ उसे डॉ० अरविन्द हुसेन ने अपने ग्रन्थ 'राष्ट्रीय संस्कृति' (१६५७) में 'औपनिवेशिक अंग्रेजी संस्कृति' कहा है। उन्होंने १८५८ से १६१८ तक के अर्द्धशताब्दी काल को इस संस्कृति के विकास का प्रथम चरण माना है। इस काल के भीतर ही १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई और १६०५ के बंग-भंग तथा १६१० के स्वदेशी आन्दोलन चले। परन्तु विदेशी सत्ता के विरुद्ध जो नया मोर्चा महात्मा गांधी द्वारा खड़ा किया गया था उसने इस औपनिवेशिक संस्कृति के विरोध में स्वदेशी संस्कृति की आवाज उठाई। डॉ० अरविन्द हुसेन के शब्दों में—"१८५७ के बाद औपनिवेशिक अंग्रेजी संस्कृति ने भारत में उच्च और मध्य वर्गों के मन को प्रायः वशीभूत कर लिया था। केवल रूढ़िग्रस्त धार्मिक वर्ग और उनके नेतृत्व में चलने वाली अधिकांश जनता ही पश्चिम के सांस्कृतिक प्रभावों का घोर विरोध कर रही थी। लेकिन प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर नई राजनीतिक परिस्थितियों के कारण शिक्षित वर्गों के रवैये में मानो एक क्रांति सी आ गई। ब्रिटिश सरकार ने उनसे स्वशासन देने का वादा किया था पर अब उनकी आशाएँ झूठी पड़ गई थीं और अब उन्हें अपनी भौतिक और बौद्धिक गुलामी का सचमुच अहसास होने लगा था। उनमें राजनीतिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता पाने की इच्छा जाग उठी थी। अतः वे धार्मिक दलों और जन-साधारण की ओर मुड़े जिनसे उन्होंने अपना नाता बिल्कुल तोड़ लिया था और उनके साथ मिलकर उन्होंने विदेशी शासकों के विरुद्ध अपना एक सामान्य ध्येय निश्चित कर लिया।'[१] गांधी जी द्वारा संगठित इस राष्ट्रीय मोर्चे का अपना एक सुनिश्चित इतिहास है जिसके फलस्वरूप ३० वर्षों के तप, त्याग और बलिदान के बाद हम विदेशी दासता से मुक्ति पा सके। स्वातंत्र्योत्तर भारत के पिछले बीस वर्षों के इतिहास के पीछे हमारे राष्ट्रीय संग्राम के दिनों की समस्त धरोहर है।

प्रश्न है कि गांधी जी के नेतृत्व में लड़े गए इस स्वतंत्रता-संग्राम की स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी को क्या देन है? निश्चय ही वह देन कम महत्वपूर्ण नहीं होगी क्योंकि उसी के द्वारा हमारे राष्ट्रीय व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है।[२] गांधी जी को हम जहाँ एक ओर हिन्दू सुधारकों की उस शृङ्खला की अंतिम कड़ी कह सकते हैं जिसका आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में राजा राममोहन राय के द्वारा हुआ था, वहाँ हम उन्हें रानाडे जैसे विधानवादियों के साथ भी रख सकते हैं जो जनतंत्रीय पद्धति से विधान-सभाओं और लोक-सभाओं में बहुमत अर्जित कर वैधानिक ढंग से समाज को बदलना चाहते थे।

---

१. डॉ० अरविन्द हुसैन : राष्ट्रीय संस्कृति (१६५७), पृष्ठ ६० ।

२. Dr. Karan Singh : Post-Independence Generation : Challenge and Response, P. 16-17.

राजनीति के क्षेत्र में तिलक जैसे उग्रवादियों और अरविन्द घोष जैसे अध्यात्मवादियों ने जनान्दोलन को जो भूमिका प्राप्त की थी वह उन्हें उत्तराधिकार के रूप में मिली। उन्होंने व्यक्तिगत जीवन के परिष्कार और चारित्रिक शुद्धता को सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों का मूलाधार बताया। उनके लिए राजनीति धर्मनीति थी क्योंकि जीवन को अन्तरंगी और दृष्टि को व्यक्तिगत अनुभूति और साधना के क्षेत्र से बाहर लाकर उन्हें सबकी चीज बना देना उनका ही काम था।

परन्तु राजनीति और जनान्दोलन के क्षेत्र में अकेले गांधी जी ही नहीं थे। उनके अनुयायियों में पंडित जवाहरलाल नेहरू अन्यतम थे परन्तु उन्हें गांधी जी की भाँति किन्हीं भी अर्थों में आध्यात्मिक या धार्मिक पुरुष नहीं कहा जा सकता। यदि गांधी सनातन भारतवर्ष के प्रतिनिधि थे तो नेहरू उस आधुनिकता के प्रतीक थे जो पश्चिम के बुद्धिवाद और ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात कर एक नई विश्व-संस्कृति का निर्माण कर रही थी। प्रजातंत्र, धर्मनिरपेक्षता, योजनाबद्धता तथा पंचशील जैसे सिद्धान्तों के प्रति नेहरू का आग्रह कम भावुकतापूर्ण नहीं था। उनकी बौद्धिक प्रखरता और संगठन-शक्ति ने कांग्रेस को प्रथम श्रेणी की विद्रोही संस्था बना दिया। मध्यवर्ग की सर्वश्रेष्ठ मेधाएँ कांग्रेस के झंडे के नीचे इकट्ठी हुईं और राजनीति भारतीय चेतना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्राणवान अंग बनी।

गांधी युग की राजनैतिक प्रबुद्धता के पीछे जहाँ आधुनिक भारत की सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक उपलब्धियाँ थीं, वहाँ इस युग ने साहित्य, कला, विज्ञान, पाण्डित्य, विधि वाणिज्य और व्यापार सभी क्षेत्रों में नए उत्कर्ष की प्राप्ति की। हमारे राष्ट्रीय जीवन में अनेक नए पहलू विकसित हुए और प्रतिभावान पुरुषों तथा महिलाओं ने इस विकास में योग दिया। एक प्रकार से यह युग भारतीय जागरण का सर्वोच्च शिखर कहा जा सकता है। गांधीवादी और समाजवादी विचारधारा के रूप में दो आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टियाँ हमें इस युग में मिलीं जिनके उन्नायक गांधी और नेहरू थे, परन्तु इन दो महान नेताओं के परस्पर सहयोग और श्रद्धा-भाव ने एक समन्वित कार्यक्रम को जन्म दिया। राजनीति के क्षेत्र में जनशक्ति का उदय इस युग की सबसे बड़ी घटना थी। शताब्दियों से निष्क्रिय संतोषी मानव-समूह को असहयोग और सत्याग्रह का अस्त्र देकर स्वातंत्र्य-संग्राम में लगाना चमत्कार से कम नहीं था। जनचेतना से अनुप्राणित तथा सब प्रकार के प्रतिबंधों एवं सत्ताधारियों के प्रति विद्रोही नये प्रबुद्ध मानस की नींव उन्हीं दिनों पड़ी। स्वातंत्र्योत्तर युग की राजनैतिक तथा लोकतांत्रिक हलचलों के पीछे हमारी वह रणनीति है जिसका उपयोग हमने विदेशी सत्ता के विरुद्ध किया था।

साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में भावना और कल्पना का स्वच्छन्द तथा अनिरुद्ध

उपयोग गांधी-युग के इसी विद्रोही मानस से संबंधित है। काव्य के क्षेत्र में उसने प्रगीतात्मक चेतना और व्यक्तिवाद को जन्म दिया। कवि का स्वच्छन्द तथा अनुभूतिप्रवण व्यक्तित्व ही उसका काव्य बन गया। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की छाप साहित्य के अन्य क्षेत्र पर भी दिखलाई देती है। कथा-साहित्य, गद्यकाव्य, राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न नाटक और व्यक्तिगत (ललित) निबन्ध इसी प्रवृत्ति की देन हैं। संगीत, चित्रकला, नृत्यकला, मूर्तिकला आदि क्षेत्रों में भी नवप्रवर्तन क्लासिकल नियमों की उपेक्षा से ही आरम्भ होता है। जिसे व्यक्तिवाद कहा गया है वह इसी व्यक्तित्व की साधना का अतिवादी रूप है।

परन्तु स्वातंत्र्य-पूर्व का सब कुछ अच्छा नहीं था। उसने अनेक ऐसी समस्याओं को भी जन्म दिया जिनसे हम आज तक उलझे हुए हैं। सर सैयद अहमद से मुहम्मद अली जिन्ना तक भारतीय मुसलमानों का नेतृत्व अधिकाधिक संकीर्ण और हिन्दू-द्वेषी होता गया और अन्त में भारत के पश्चिमी और पूर्वी भागों में धार्मिक बहुमत के आधार पर एक मुस्लिम-राष्ट्र (पाकिस्तान) का जन्म हुआ। विदेशी सत्ता ने हिन्दू और मुसलमान मध्यवर्ग के बीच में फूट की इस नीति के जो बीज बोये थे वे विभाजन के रक्त-पात, घृणा-द्वेष और बाद में युद्ध के रूप में पल्लवित हुए। अधिकारों के प्रति आवश्यकता से अधिक जागरूकता, अंग्रेजी भाषा के प्रति मोह, वर्गीय तथा प्रान्तीय स्वार्थों का आग्रह, पश्चिमी रहन-सहन तथा संस्कृति का अनुकरण आदि भी स्वातंत्र्यपूर्व युग की देन कही जा सकती हैं।

राजनीतिक पृष्ठभूमि

पिछले बीस वर्षों में भारतीय राजनीति का पुनर्निर्माण ही नहीं हुआ है, वह हमारी सर्वाधिक महत्वपूर्ण चेतना ही है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ भारतवर्ष को विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रों में जो अग्रगण्य स्थान मिला वह उसके महत्व के अनुरूप ही था, परन्तु संघर्षशील स्वार्थों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उस स्थान की सुरक्षा साधारण प्रतिभा का कार्य नहीं था। स्वतन्त्र राष्ट्र में विदेशी राजनीति का सर्वोपरि महत्व है। सौभाग्य से हमें प्रधानमंत्री के रूप में युग के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ और जननेता पंडित जवाहरलाल नेहरू का समर्थ और जागरूक नेतृत्व प्राप्त हुआ। इन बीस वर्षों को एक प्रकार से नेहरू-युग भी कहा जा सकता है क्योंकि भारतीय राष्ट्र की गौरवशाली रूपरेखा उन्हीं के द्वारा तैयार हुई है।

स्वातंत्र्योत्तर युग का मूल्यांकन उतना सहज नहीं है क्योंकि पिछले बीस वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय मोर्चे पर स्वतन्त्र भारत राष्ट्र को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ा वे अनेक रही हैं। 'स्वतन्त्रता-प्राप्ति में देश विदेशी दासता से

मुक्ति की एक मंजिल पर पहुँच गया। वहाँ से राष्ट्रीय लक्ष्य की एक दूसरी मंजिल आरम्भ हुई—स्वतन्त्र भारत में अपने जीवन को अधिक सुखी बनाने के सपनों को साकार करने की मंजिल। इस मंजिल का नया लक्ष्य सामने आया—वर्गहीन शोषणमुक्त समाज-वादी समाज की स्थापना का लक्ष्य। इस नये राष्ट्रीय लक्ष्य के सन्दर्भ में गतानुगत संस्कारों, रूढ़ियों, सामाजिक कुरीतियों और पिछड़ेपन तथा विदेशी दासता के मानसिक, प्रशासनिक एवं सामाजिक अवशेषों से मुक्त स्वतन्त्र, सम्मानित और सुखी राष्ट्र के रूप में राष्ट्रीय प्रगति के नवनिर्माण के संघर्ष की चेतना आज भी प्रधान राष्ट्रीय चेतना है जो आज सारे भारतीय जीवन को अनुप्राणित कर रही है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का राष्ट्रीय जीवन नये राष्ट्रीय लक्ष्य की ओर—राज्यों के विलीनीकरण, जमींदारी प्रथा के अन्त, अस्पृश्यता-निवारण बिल, भूमि-सुधार, सहकारी खेती, पंचवर्षीय योजनाओं तलाक बिल, हिन्दू कोड बिल, दहेज विरोधी बिल, तटस्थता, पंचशील और सह-अस्तित्व पर आधारित विदेश-नीति, विश्व-शांति में सक्रिय सहयोग आदि के एक के बाद एक उठे राष्ट्रीय तथा साम्प्रदायिक दंगों तथा तज्जन्य समस्याओं, काश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण और उत्तरी सीमा पर साम्यवादी चीन के आक्रमण, गतानुगत मान्यताओं और संस्कारों, आन्तरिक वर्ग-हितों और स्वार्थों तथा विरोधी विचारों के टकराव, अनावृष्टि या अतिवृष्टि के दैविक प्रकोपों आदि के अवरोधों के परस्पर संघर्ष का जीवन है।

स्वतन्त्रता के बाद जीवन-प्रवाह इस अनेकमुखी संघर्ष में कभी अवरोधों से रुक कर मन्द पड़ा है, तो कभी उन्हें दूर करता हुआ तीव्र हुआ है। कहीं अवरोधों से परा-जित होकर स्थिर हो गया है तो कहीं रुककर अपनी ही घुटन और कुण्ठाओं से घिरा अनास्थाशील, संशयग्रस्त, विघटनशील और विकृत हुआ है। कहीं उस पर काई की परत छा गई है, तो कहीं वह मानसिक विकृतियों असमाजिकता, स्वार्थ, भ्रष्टाचार और अनैतिकता के पंक से पंकिल हुआ है। कहीं प्रवाह से अलग होकर अपने में ही सिमटता जा रहा है और उसी में अपनी सार्थकता समझता है। कहीं अवरोधों से टकरा कर छींटों के रूप में मूल धारा से अलग छिटककर अपने औद्धत्य में ही प्रगतिशीलता समझता है, तो कहीं स्वस्थ निर्मल जलधारा के रूप में गतिमान अपने प्रवाह के नये रास्ते खोज रहा है। यह संक्रांति है जीवन-मूल्यों के विघटन और पुनर्मूल्यन की। आज भारतीय राष्ट्र नये विकास की प्रसव-पीड़ा की वेदना भोग रहा है। इस भोग में वह अनास्था, संशय, घुटन, उद्धत उच्छृंखलताओं, झूठे दंभ, दिखावा, स्वार्थपरता, व्यक्तिवादिता, अनै-तिकता आदि से ग्रस्त होकर व्यक्तित्व के द्वैत और विघटन से पीड़ित है, मान्यताओं के प्रति उद्धत विद्रोह में ही प्रगति और क्रांतिकारिता के भ्रम में भटक रहा है, तो साथ

ही नये युग के निर्माण की आस्था, विश्वास और उल्लास के साथ सादी पीड़ाओं को भोगता हुआ नये युग को जन्म देने में भी संलग्न है।''[1]

स्वतन्त्र भारत की बड़ी घटनाएँ हैं—महात्मा गांधी की हत्या (३१ जनवरी १९४८), गणतंत्र-राज्य की स्थापना (२६ जनवरी १९५०), चीनी आक्रमण (२० अक्टूबर, १९६२), प्रधान-मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का निधन (२७ मई १९६४) और भारत-पाकिस्तान युद्ध (सितम्बर १९६५)। परन्तु इस बीच देश को अनेक अव्यवस्थाओं और दुर्घटनाओं के बीच में से गुजरना पड़ा है। प्रांतों का भाषागत विभाजन, मद्रास प्रान्त का हिन्दी विरोधी आन्दोलन, पंजाबी सूबे के लिए संघर्ष, गोआ और हैदराबाद कांड, बिहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश की अकाल-स्थितियाँ आदि इस प्रकार के दैवी और मानवीय दुर्विपाक हैं जो हमें हृदय-मन्थन के लिए आग्रही बनाते हैं। तीन बड़ी योजनाओं की समाप्ति पर भी अभी अकाल, मँहगाई, बेकारी और निर्धनता की समस्या बनी हुई है। औद्योगीकरण, आणविक शक्ति-संचयन, बाँध-योजनाओं तथा नव-निर्माण के अनेक क्षेत्रों में स्वतंत्र भारत की प्रगति विदेशियों के लिए भी आकर्षक रही है। परन्तु उदीयमान राष्ट्र को जिस बौद्धिक तथा नैतिक प्रखरता के साथ जीवन-क्षेत्र में आगे बढ़ना था, वह कदाचित सम्भव नहीं हो सका है। द्वितीय महायुद्ध के बाद राजनीति के क्षेत्र में जो व्यापक अनिश्चितता और अराजकता दिखलाई देती है, भारतवर्ष भी उसका शिकार बना है। जनसंख्या के अभूतपूर्व विस्फोट, अवृष्टि तथा धनी एवं व्यापारी समाज की चारित्रिक स्खलनशीलता ने यदि इस सद्यः स्वतन्त्र राष्ट्र की अर्थनीति को संकट में डाला है तो मध्यवर्ग की चरित्रभ्रष्टता तथा निष्क्रियता के कारण उसका सामाजिक तथा पारिवारिक सामनस्य भी नष्ट हुआ है। चीनी आक्रमण (१९६२) तक के पन्द्रह वर्ष यदि हमारे लिए आशा, उत्साह और नवस्फूर्ति के वर्ष रहे हैं तो अगले पाँच वर्षों में पराजय, कुण्ठा, अवसाद और अनिश्चितता का का भी 'दौर-दौरा' रहा है। भारत-पाक-युद्ध में हमारे लोकतन्त्र ने जिस दृढ़ता और मनस्विता का परिचय दिया तथा भारतीय सैनिक और सेनापतियों ने जिस शौर्य और साहस की लीक डाली, वे कुछ थोड़े ही समय के लिए हमें आत्मगौरव प्रदान कर सकी। पिछले चुनाव में देशव्यापी हलचलों के साथ केन्द्र और राज्यों में जो नया लोकतन्त्रीय दलगत ढाँचा खड़ा हुआ है वह निश्चय ही विस्फोटक है। उसमें राष्ट्र की सबसे पुरानी और सुदृढ़ राजनैतिक संस्था कांग्रेस को कड़ी चुनौती मिली है और हमारी

१. देखिए, डॉ० रामगोपालसिंह चौहान का निबन्ध 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : एक सर्वेक्षण' ('साहित्य परिचय' मासिक पत्र का 'आधुनिक साहित्य विशेषांक, पृष्ठ १८२-१८३)।

राष्ट्रीयता की दीवारों में गहरी दरारें पड़ी हैं। कांग्रेस की राष्ट्रीय राजनीति का स्थान धीरे-धीरे दलगत राजनीति ने ले लिया है। इनमें कुछ दल ऐसे भी हैं जो रूसी अथवा चीनी साम्यवाद के प्रतिश्रुत हैं और राष्ट्रीय एकता के सम्बन्ध में विशेष उत्साही नहीं दिखाई पड़ते। वास्तव में पिछले बीस वर्षों का हमारा स्वातंत्र्योत्तर जीवन राष्ट्रीय एकता पर एक बड़ा प्रश्न-चिह्न लगा देता है।

डॉ० कर्णसिंह ने अपनी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय पीढ़ी के मूल्याकन में उन चुनौतियों का उल्लेख किया है जिनका हमें सामना करना पड़ा है।[1] उनके मत में सबसे बड़ी चुनौती है—स्वतन्त्र और लोकतन्त्रात्मक भारत का निर्माण। यह अवश्य है कि हमने स्वतन्त्र भारतवर्ष के लिए एक धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणतन्त्र व्यवस्था की आयोजना की है और समस्त प्रजा के लिए वयस्क मताधिकारों का विधान है। परन्तु राष्ट्रीय एकता की इस व्यापक भूमिका के लिए हमें धार्मिक, भाषात्मक, आर्थिक और शासकीय क्षेत्रों में जिस आत्मसंयम तथा अवरोधी दृष्टि की आवश्यकता थी वह सदैव सुलभ नहीं है। सबसे महत्वपूर्ण मत यह है कि हम अपने पारस्परिक समाज को आधुनिकता के ढाँचे में ढाल रहे हैं और यह नितांत आवश्यक है कि हमारे जीवनमूल्य हमारी नई चेतना के अनुरूप हों।

प्राचीन काल और मध्ययुग में भारतवर्ष की एकता सांस्कृतिक रही है। अंग्रेजी शासन में ही हमने पहली बार राजनैतिक एकता का अनुभव किया। इसका कारण यह था कि यातायात और सम्पर्क के आधुनिक साधनों के द्वारा देश के विभिन्न भाग निकट आ गये थे। विदेशी सत्ता के विरुद्ध भारतीय नेताओं ने जो मोर्चा खड़ा किया वह अखिल भारतीय और राष्ट्रीय ही हो सकता था। राष्ट्रव्यापी असहयोग और सत्याग्रह आन्दोलन ने हिमालय से कन्याकुमारी और सिन्धु से लौहित तक समस्त भारतवर्ष को समान रूप से भावान्दोलित किया। अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा जो मध्यवर्ग हमारे देश में तैयार हुआ था वह जहाँ सांस्कृतिक-सामाजिक धरातल पर भारतीय ऐक्य के सूत्रों का निर्माण कर रहा था, वहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन में जन-शक्ति और जनभाषाओं के उपयोग ने निचले परन्तु अधिक व्यापक धरातल पर एकता को जन्म दिया। परन्तु विदेशी राजसत्ता के दबाव से जो एकता हमें प्राप्त थी वह हमें 'राष्ट्र' के रूप में संगठित नहीं कर सकती थी। आधुनिक परिभाषा में राष्ट्र एक ही संविधान, समान आर्थिक और राजनैतिक हितों तथा पारस्परिक सांस्कृतिक मूल्यों की एकता से ही निर्मित होता है। स्वतन्त्र भारत ने अपने लिए एक सुविस्तृत लिखित संविधान तैयार कर इस राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया।

१. Dr. Karan Singh : Post-Independence Generation : Challenge and Response· P 19-37

भारतीय राष्ट्रीय चेतना मूलतः मध्यवर्गीय वस्तु थी यद्यपि उसने गांधी जी के नेतृत्व में नगर और ग्राम के साधारण जनों को भी अपने आन्दोलन में दीक्षित किया था। यह नई जन-शक्ति का उदय था। नगरों के निम्नवर्ग और गाँवों की किसान-जनता ने बहुत बड़ी संख्या में राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया। परन्तु १९२८ से ही नगरों के उद्योग-धंधों में लगा मजदूर (सर्वहारा) वर्ग इस आंदोलन से बहुत कुछ अलग रहा और उसका नेतृत्व साम्यवादियों और मजदूर-नेताओं के हाथ में रहा। मध्यवर्गीय राजनीति विदेशी सत्ता के उन्मूलन तक ही सीमित थी, बिड़ला और बजाज जैसे उद्योगपति कांग्रेस के साथ थे। परन्तु जैसे-जैसे उद्योग-धंधों का विकास होता गया, मजदूर-वर्ग अधिकाधिक संगठित होता गया। यह वर्ग पूँजीपतियों के शोषण से भी मुक्ति चाहता था और किसानों को जमींदारों के चंगुल से छुड़ाना भी अपना धर्म समझता था। किसान-आंदोलन का जन्म बिहार और उत्तरप्रदेश में गांधी जी के सत्याग्रह-आंदोलन से कुछ पहले ही हो चुका था। एक प्रकार से कांग्रेस को विदेशी सत्ता से मुक्ति और मजदूरों के पूँजीपतियों के शोषण से मुक्ति के आन्दोलन समानान्तर चलते ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध कांग्रेस के मोर्चे ने सर्वहारा-वर्ग को भी शक्ति प्रदान की। मध्यवर्गीय नेतृत्व ने मध्यवर्ग, ग्रामीण समाज और मजदूर-वर्ग के विरोधी स्वार्थों के ऊपर राष्ट्रीयता का परदा डालकर सहयोग और सत्याग्रह आन्दोलनों को सार्वभौमिक महत्व दिया, परन्तु भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के अन्तर्विरोध को बहुत दिनों तक छिपाया नहीं जा सका। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारतीय राजनीति राष्ट्रीयता और आदर्शवाद का नारा लगाने में असमर्थ रही है। फलतः मजदूर-आन्दोलन का नियंत्रण ऐसे लोगों के हाथ में आ गया है जो भारतीय संस्कृति, धर्म और परम्परा के प्रति अविश्वासी हैं[१]।

स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् भौगोलिक अन्तर्योजन, संविधान-निर्माण तथा गण-तन्त्रीय धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना कर भारतीय प्रजातंत्र को सुस्थिर करने में हम सफल हुए। इनमें से प्रत्येक कार्य अपने में ऐतिहासिक महत्व का कार्य है। संविधान के द्वारा हमने न्याय, स्वतंत्रता, साम्य तथा बन्धुत्व का घोषणा-पत्र प्रस्तुत किया है। हम सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में न्याय के हामी हैं, विचार, अभिव्यक्ति, आस्था, विश्वास तथा धार्मिक अनुष्ठानों के क्षेत्र में स्वतंत्रता चाहते हैं। सबको समाना-धिकार और विकास के समान साधन उपलब्ध करा कर हमने ऊँच-नीच की परम्परागत व्यवस्था का विरोध किया है। इनके अतिरिक्त हम मानव-व्यक्तित्व की सर्वोपरिता तथा राष्ट्र की एकता के प्रति संकल्पी हैं। सच तो यह है कि भारतीय संविधान के निर्मा-

---

१. V. V. Balabushevich & A. M. Dyakon —
A contemporary History of India (1964) ; Introduction, Page 15.

ताओं ने फ्रांसीसी और अमरीकी जनक्रांति के नारे को अपने तंत्र में गूँथ लिया है। यह संविधान स्वतंत्र भारत राष्ट्र की अभिनव मनु-संहिता है। इसे आचार-शास्त्र में परिणत कर हम भारतीय जीवन में अकल्पित सौख्य और समृद्धि की स्थापना कर सकते है। पिछले चार चुनावों ने हमारी लोक-तंत्र जीवन-पद्धति की शक्ति तथा सप्राणता की घोषणा कर दी है। अपने लोकतंत्र के ढांचे को एक-साथ सुदृढ़ और लचीला बनाकर हमने भारतीय प्रजा की स्वतंत्र तथा सम्पन्न परम्पराओं को अक्षुण्ण बना दिया है। स्वातंत्र्योत्तर युग में भारतीय जन का निरन्तर वृद्धिमान जीवन-मान हमारी कृतसंकल्पता का प्रमाण है।

परन्तु सर्जनात्मक साहित्य (काव्य, कथा-साहित्य, नाटक आदि) के भीतर से देखें तो स्वातंत्र्योत्तर युग का यह चित्र अनेक स्थानों पर खंडित हो जाता है ऐसा क्यों है? राजनीतिज्ञ ने पिछले बीस वर्षों की उपलब्धियों को जिस रूप में देखा है, संवेदनशील साहित्यकार उन्हें उस रूप मे देखने में क्यों समर्थ नहीं है? सच तो यह है कि पिछले दो दशकों के साहित्य के अध्ययन से जो चित्र बनता है वह उस चित्र से भिन्न नही है जो श्री के० एम० पणिक्कर ने अपने एक प्रसिद्ध ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।[१] परन्तु विद्वान लेखक और कूटनीतिज्ञ ने इस द्वन्द्व की स्थिति का एक समाधान भी प्रस्तुत किया है, भले ही हम उससे सहमत न हों।[२] साहित्य और कला के क्षेत्र में नई पीढ़ी के जिस विद्रोह से हम परिचित हैं और पिछले दो दशकों की रचनाओं में जिस कुंठा, अवसाद और नग्नता के दर्शन होते हैं, उसके पीछे मध्यवर्गीय जन की अपनी वर्गीय स्थिति की अनिश्चितता है। हमारी नई पीढ़ी दो महायुद्धों के बीच के यूरोपीय साहित्य से ही प्रभावित नहीं है, उसने उसे यूरोपीय पीढ़ी की मनोवृत्ति भी उधार ले ली है जो आदर्शों के विघटन और मूल्यों के ह्रास को ही अपने जीवन का अन्तिम सत्य समझती है। फलस्वरूप हमारे समसामयिक में वर्गीय मानस ही अधिक प्रतिबिम्बित है। उसमें सम्पूर्ण भारतीय जनता के प्रतिनिधि की शक्ति नहीं है।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय युवक-समाज के लिए यह नितान्त आवश्यक हो गया है कि महात्मा और मार्क्स में से किसी एक को चुन ले। गांधीवाद और मार्क्सवाद भारतीय राजनीति के दो छोर बन गये हैं और अन्य दलों की गति इन्हीं दोनों सीमाओं के

---

१. K. M. Pannikar : The Foundations of New India, P. 174.

२. "Revolutions are inevitably followed by disillusionment. The New genertion does not descent immediately and the more eager spirits feel the wasted and frustrated at the slowness of practical achievement."--Ibid, P. 175

भीतर है। कांग्रेस ने समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को लक्ष्य घोषित कर मार्क्सवाद की चुनौती को कुंठित करना चाहा है परन्तु यह चुनौती अब भी बनी है क्योंकि अध्यात्म और नैतिकता को आधारभूमि बनाने वाले गांधीवाद का भौतिकवादी तथा सुविधावादी मार्क्सवाद से किसी भी प्रकार का समझौता सम्भव नहीं है। व्यवहार में आर्थिक दृष्टिकोण और योजनावाद को गांधीवाद जितना ले सकता है उतना नेहरू के जीवन-दर्शन और समाजवादी कार्यक्रम में आ गया है। साम्यवादी-माओवादी चीन और धर्मवादी इस्लामी राष्ट्र पाकिस्तान की चुनौतियों के बीच में अडिग खड़े रहने के लिए जिस जीवन-दर्शन की आवश्यकता है वह गांधीवाद में भरपूर है। उसमें वेदान्तधर्म और मार्क्सवाद को सेवावादी, अनासक्त जीवनधर्म का रूप प्राप्त हुआ है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय पीढ़ी अनास्था, नास्तिकता और अराजकता को ही भविष्यत् जीवनधर्म मानने लगी है और पिछले दिनों में हमारे पारंपरिक जीवन-मूल्यों को गहरी क्षति पहुँची है। यह ठीक है कि पीछे लौटना हमारे लिए सम्भव नहीं है कि हम अपने सांस्कृतिक दाय से आँखें मूँद लें और प्रगतिशीलता के लिए पश्चिम के अस्थिर, एकांगी तथा दुस्साहसी जीवन की ओर देखें। हमारे कतिपय आधुनिक चिन्तक मनुष्य की चिरंतन आध्यात्मिकता तथा तज्जन्य मानवता के आधार पर नयी पीढ़ी के लिए नई कर्मण्यता का दर्शन प्रस्तुत करना चाहते हैं[1] तो उसे रूढ़िवादिता और अप्रगतिशीलता कहकर एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

शिक्षा

स्वातंत्र्योत्तर भारत में शिक्षा का विस्तार आश्चर्यजनक गति से हुआ है परन्तु उसकी प्रकृति में विशेष अन्तर नहीं आया है। पिछले युग में राष्ट्रीय शिक्षा के अनेक प्रयत्न हुए थे और गुरुकुल कांगड़ी, काशी-विद्यापीठ, जामिया-मिल्लिया, दिल्ली तथा शांति-निकेतन (बोलपुर, बंगाल) जैसी अनेक स्वदेशी शिक्षा संस्थाओं का जन्म हुआ था। परन्तु अंग्रेजी शिक्षित मध्यवर्ग अंग्रेजी भाषा के माध्यम से विदेशी ढंग की शिक्षा को ही अपनाता रहा। स्वाधीन भारत के लिए अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार करना असम्भव था। फलतः शिक्षा के माध्यम को लेकर अनेक प्रकार के वाद-विवाद उठ खड़े हुए। कुछ लोगों के विचार में अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से च्युत कर हम फिर एक बार अंधकार-युग मे प्रवेश करेंगे।[2] इसी प्रकार केन्द्र द्वारा शिक्षा के नियंत्रण का

---

१. Dr. Karan Singh : Post-Independence Generation, P. 42.

२. Bijoy Bhattacharya : Bengal Renaissance, P. 39.

'There are two pernicious trends in post-independent India : One the reaction against English as to its future place in the

भी विरोध हुआ। परन्तु शिक्षा के प्रान्तीय विषय बने रहते हुए भी इस क्षेत्र में केन्द्र का प्रभाव बढ़ना आवश्यक बात थी क्योंकि शिक्षा का संस्कृति से अनिवार्य सम्बन्ध है और भावी नागरिकों के मनोबल का निर्माण उसीके द्वारा होता है। लोकतंत्र वयस्क मताधिकार पर आधारित और उसके लिए शिक्षा की उपेक्षा घातक ही सिद्ध हो सकती है।

अंग्रेजों के समय में मैकाले द्वारा स्थापित जिस शिक्षा-पद्धति का प्रचार था, उससे पल्ला छुड़ाना स्वतन्त्र भारतवर्ष के लिए कठिन हो रहा है। स्वातन्त्र्य-युग में इस क्षेत्र में जितने प्रयोग हुए हैं, वे औपचारिक मात्र हैं। उनसे न शिक्षा की प्रकृति में अन्तर हुआ है, न उच्च शिक्षा की भाषा के माध्यम में। राजकाज और उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में देशी भाषाओं का उपयोग अभी दो-चार वर्षों की ही बात है और व्यवहार में अभी हम इस दिशा में बहुत आगे नहीं बढ़े हैं। अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राष्ट्र-भाषा घोषित तो कर दिया गया परन्तु केन्द्रीय कार्यों में कुछ प्रान्तों का आग्रह अंग्रेजी के लिए ही है। भाषा-प्रान्तों के निर्माण के पश्चात् यह तो अनिवार्य ही है कि प्रांतीय भाषाओं का उपयोग प्रान्तीय शिक्षा तथा राजकीय स्तर पर हो, परन्तु उच्चस्तरीय शिक्षा ज्ञान-विज्ञान और टेकनोलाजी के ग्रंथों के अभाव के कारण इन क्षेत्रों में अंग्रेजी भाषा का उपयोग आवश्यक हो जाता है। पिछले वर्षों में विभिन्न राजकीय विभागों में प्रच-लित अंग्रेजी शब्दों को चुनकर हिन्दी और अन्य भाषाओं में कोश-निर्माण का कार्य भी सम्पादित हुआ है परन्तु अंग्रेजी से हिन्दी की ओर संक्रमण में इन कोशों का उपयोग कहाँ तक हो सकेगा, यह कहना कठिन है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत की शिक्षा के लिए आवश्यक था कि वह धर्मनिरपेक्ष (सेक्यूलर) हो और सामान्य जनता को कम पैसों में प्राप्त हो सके। उसे युग की आव-श्यकताओं के अनुरूप प्रगतिशील होना आवश्यक था जिससे वह विकासमान भारतीय समाज को गति देने में समर्थ हो। स्वातन्त्र्य-पूर्व भारत की शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य राजकर्मचारी वर्ग का सृजन था। वैज्ञानिक और प्राविधिक (टेकनिकल) शिक्षा के अभाव

---

curriculum of the educational institutions; and the other, the attempt to control education by the state with a view to setting a uniform pattern in the cultural life. Both in the end may prove to be dangerously injurious; because while the former has the possibility of cutting India adrift from her cultural contact with the West, the latter will imply total regimentation in the realm of culture. Taken conjointly they foreshadow the reappearance of "darkness" that had enveloped India in the past and may be the cause of her doom in future.'

के कारण पश्चिमी देशों के समकक्ष खड़ा रहना हमारे लिए असम्भव था। नये परिवेश मे ये क्षेत्र हमारे लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो गये। जिस आर्थिक और औद्योगिक क्रांति के लिए हम कृतसंकल्प थे वह मातृभाषा में शिक्षा की अपेक्षा रखती थी। शिक्षा को राष्ट्रीय जीवन और नई आवश्यकताओं से सम्बन्धित करके ही हम इस क्षेत्र में क्रांति की कल्पना कर सकते हैं।

प्रारम्भिक (प्राथमिक) और माध्यमिक शिक्षा के अकल्पित विस्तार ने शिक्षा के मानदंड की समस्या को भी जटिल बना दिया। कारण, बढ़ती हुई जनसंख्या और प्रजातन्त्र के आग्रह ने शिक्षा-संस्थाओं की एक ऐसी बाढ़ को जन्म दिया जिसका नियंत्रण हमारे लिए असंभव बात थी। शिक्षा के विस्तार के लिए प्रवीण शिक्षकों की आवश्यकता थी, आवश्यक संस्था में हम उनका निर्माण नहीं कर सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे नये पाठ्यक्रम का नियोजन अधिक राष्ट्रीय एवं व्यावहारिक है, परन्तु यह निश्चित है कि अभी भी हम प्रयोगकालीन स्थिति में है। सुरक्षा और सेना की आवश्यकताओं के लिए अपनी आय का पचास प्रतिशत खर्च करने वाले देश से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वहाँ शिक्षा के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण कदम उठा सकेगा।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत के लिए क्या आवश्यक था, इसका विवेचन अनेक विद्वानों द्वारा बार-बार हुआ है[1], परन्तु आज दो दशक बाद भी हम शिक्षा के क्षेत्र में दुर्व्यवस्था का ही अनुभव कर रहे हैं।[2]

संस्कृति

शिक्षा का संस्कृति से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। यदि हम राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षा का स्वरूप भी राष्ट्रीय हो। पश्चिमी शिक्षा से हम पश्चिमी संस्कृति को ही अपने बीच में प्रश्रय दे सकते है। स्वातंत्र्योत्तर युग में हम जिन दो पीढ़ियों को लेकर चल रहे हैं उनमें से अधिक वय-प्राप्त पुरानी पीढ़ी गांधी-युग के परिवेश और उस युग की संस्कृति में दीक्षित है। उन्नीसवीं शताब्दी में जिस भारतीय नवजागरण की दागबेल पड़ी, वह गांधीयुग (१९१७-१९४७) में अपने उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है। गांधीयुग के पहले दो दशकों में हमारी अपने प्रति अटूट आस्था है, परन्तु १९३६ के पश्चात हमारी चेतना मे दरारें पड़ने लगती हैं और कुंठा, अवसाद, अनास्था तथा पराजित मनोवृत्ति का बोल-

---

१. Dr. A. R. Desai : Recent Trends in Indian Nationalism (1960) P. 108-109.

२ Ibid, P 114-115

वाला हो जाता है। इसका कारण कदाचित् यह है कि नई पीढ़ी के युवक भारतीय सांस्कृतिक दाय के प्रति प्रतिश्रुत नहीं हैं। वे परम्परा से विच्छिन्न एकदम नई लीक डालना चाहते हैं और इस सम्बन्ध में अनिश्चित होने के कारण अपने को 'मार्गों का अन्वेषक' बतलाते हैं। द्वितीय महायुद्ध (१९३९–१९४५) में जन्म लेने वाली यह तरुण पीढ़ी राष्ट्र के संकटों से तो अवगत थी परन्तु उसने गांधीयुग की राष्ट्रीय भावना तथा आदर्शवाद में दीक्षा नहीं प्राप्त की थी। फलतः उसने गत्यवरोध का अनुभव किया और सामयिक संस्कृति को नये विश्वासों से मंडित करना चाहा है। मार्क्स, फ्रायड, डी० एच० लारेन्स, टी० एस० इलियट, फ्रेजर और काफ्का उसके आदर्श साहित्यकार बन गये। जहाँ पुरानी पीढ़ी गांधीवाद से ही चिपटी रहना चाहती थी और भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आश्वस्त थी, वहाँ यह नई पीढ़ी पश्चिमी साहित्य और संस्कृति की हताशा और प्रयोगशीलता को अपने जीवन और साहित्य में उतारना चाहती थी। पुरानी और नई पीढ़ियों का यह द्वन्द्व हिन्दी साहित्य के पिछले दो दशकों में लगभग सभी विधाओं में प्रतिबिम्बित है। 'नयी कविता', 'अकविता,' 'भूखी पीढ़ी की कविता', 'नयी कहानी' आदि नाम ही इस द्वन्द्व की स्थिति को स्पष्ट कर देते हैं। मूल्यों का यह विघटन भारतीय संस्कृति के संक्रांति-काल का सूचक है। स्वातंत्र्योत्तर युग में 'अंग्रेजी शिक्षित वर्ग अमरीकी पूँजीवादी संस्कृति और रूसी साम्यवादी संस्कृति में बँट गया है। परन्तु पिछले महायुद्ध और औद्योगीकरण के फल-स्वरूप ठेकेदारों, व्यवसायियों, पूँजीपतियों और विशेषज्ञों का जो वर्ग महार्घता प्राप्त करने में सफल हुआ है वह अमरीकी साज-सज्जा, वैज्ञानिक सुविधाओं तथा तौर-तरीकों की ओर ही अधिक आकर्षित है। उसने थोक रूप से पश्चिमी (अमरीकी) सभ्यता और संस्कृति का आयात करना चाहा है। फलतः महानगरों में एक ऐसी संस्कृति का जन्म हो रहा है जो भारतीय राष्ट्रीय परिस्थितियों से बेमेल है। डॉ० रघुवंश ने अपने एक लेख में युवा-पीढ़ी की मनोवृत्तियों का उद्घाटन इन शब्दों में किया है—"इस युवा पीढ़ी के साहित्यिकों में...अराजकता, उच्छृंखलता और मुक्ति की भावना को देखा जा सकता है। विदेश के प्रभाव से इन्होंने केवल इतना ग्रहण किया है कि इस प्रकार की नयी साहसिकता से शक्ति का प्रदर्शन किया जा सकता है, ध्यान आकर्षित किया जा सकता है और अन्ततः.. शक्ति का साधन किया जा सकता है। अन्यथा उनको अपने देश और समाज के प्रति गहरी विरक्ति की भावना किसी प्रकार के दायित्व से पूरी मुक्ति की कामना, आत्मरति, भोगवृत्ति में गहरी आसक्ति, इसी स्तर पर अपने सर्जनात्मक व्यक्तित्व की खोज आदि की मनोवृत्तियों को अपने देश के नये समाज की रचना के साथ भली-भाँति समझा जा सकता है। एक प्रकार से व्यापक युवक-वर्ग खाली यानी कि खालिस (शुद्ध) जीने की माँग करता है। यह किसी सामाजिक राष्ट्रीय या मानवीय मूल्य

दायित्व के चक्कर में नहीं पड़ना चाहता।'[1] यह स्पष्ट है कि तरुण वर्ग का खालीपन और आक्रोश उस सांस्कृतिक संकट और विघटन की देन है जिसके मूल में स्वातंत्र्योत्तर युग की अनेक सामाजिक एवं आर्थिक विडम्बनाएँ है।

साहित्य

गद्य के जन्म और विकास के लिए समस्त भारतीय भाषायें अंग्रेजी साहित्य की ही ऋणी है यद्यपि पिछले ४०–५० वर्षों में हमने अन्य यूरोपीय भाषाओं के गद्य-साहित्य से भी अपना परिचय स्थापित किया है और एक सीमा तक उससे प्रभावित भी हुए हैं।[2] स्वातंत्र्योत्तर युग मे गद्य के विभिन्न क्षेत्रों में हमारी प्रगति अप्रत्याशित रही है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में हमें विचारात्मक गद्य की प्रगति का ऐतिहासिक एवं तात्विक अध्ययन प्रस्तुत करना चाहा है। सर्जनात्मक गद्य (उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी आदि) को हमने छोड़ दिया क्योंकि वे प्रबंध की सीमा के बाहर पड़ते हैं। काव्य क क्षेत्र में 'प्रयोगवाद,' 'प्रगतिवाद', 'नयी कविता' से आरम्भ कर हम 'नवगीत', 'अकविता' आदि अनेक आन्दोलनों के भीतर से गुजरे हैं। वस्तुत: पिछले बीस वर्ष काव्य के क्षेत्र मे सबसे अधिक सशक्त, महत्वपूर्ण और विविध आन्दोलनों के वर्ष रहे हैं। व्यक्तिवाद की लम्बी छाया इन आन्दोलनों पर रही है और सिद्धान्तवाद ने मौलिक तथा स्वतन्त्र सर्जन-प्रतिभा को पग-पग पर कुंठित किया है। प्रगति और व्यक्तिवाद काव्य के क्षेत्र मे पश्चिम की ही देन हैं और इन दोनों को लेकर आज हम बंद गली में पहुँच गये है।

पश्चिमी संस्कृति के इस असंतुलित प्रभाव की ओर भारतीय विचारकों का ध्यान जाना आवश्यक था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में 'यूरोपीय संस्कृति आज एक बहुत बड़ी हलचल से होकर गुजर रही है। न केवल वहाँ के दार्शनिक विचार डाँवाडोल हो रहे हैं बल्कि एक नई प्रतिक्रिया में बहुत से उलट-फेर भी होते जा रहे है। पिछली तीन शताब्दियों से यूरोप मे जो संस्कृति विकसित हुई थी उसे आज के पश्चिमी विचारक 'फाउस्टियन संस्कृति के नाम से पुकारते हैं। फाउस्टियन संस्कृति व्यक्तिगत स्वातंत्र्य, उद्दाम लालसा और भौतिक विकास की संस्कृति कही जाती है। आज इस संस्कृति के विरुद्ध एक बड़ी प्रतिक्रिया आरम्भ हो चुकी है और यूरोप के प्रमुख विचारक एक नवीन संस्कृति की रचना की नींव डालने की चिन्ता में है। निःसीम स्वातंत्र्य का जो आदर्श पश्चिम में प्रचलित था, वह आज त्याज्य और हेय माना जाता है। इसके बदले सामाजिक दायित्व, समता, नैतिक व्यवहार और आचरण

---

१. 'धर्मयुग', रविवार, १६ जुलाई १९६७—देखिए—डॉ० रघुवंश का 'खाली जीने की माँग' शीर्षक लेख।

२ Humayun Kabir : Brita.n and India; P. 5-6.

आदि नए आदर्शों का आग्रह किया जा रहा है। बहुत से नए विचारक और द्रष्टा आज एक नई संस्कृति की पुकार उठा रहे हैं, जिसे वे मध्ययुग की धार्मिक संस्कृति का नई परिस्थिति के अनुरूप नवोन्मेष का नाम देते हैं। उनका झुकाव भारतीय और एशियाई संस्कृतियों की ओर भी कम नहीं है। ऐसी स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि यूरोप अपने पिछले सामाजिक आदर्शों को छोड़ चला है और वह नए जीवन-तथ्य की खोज में है। प्रश्न यह है कि क्या उन त्यक्त आदर्शों को हम अपने समाज में और अपने साहित्य में अपनाने जा रहे हैं? यदि नहीं तो हमारे आज के सामाजिक और साहित्यिक आदर्श क्या हो सकते हैं?'[१] आगे चलकर उन्होंने स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य की असंगतताओं का भी प्रकाशन किया है—'छायावाद-युग को पार कर जब हम नव्यतर युग में प्रवेश करते हैं, तब हमें सबसे पहली अभिज्ञता यह होती है कि साहित्य में सामूहिकता का स्वर मन्द पड़ने लगा है और लेखकों की व्यक्तिनिष्ठा और खण्डदृष्टियाँ बढ़ने लगी हैं। छायावाद-युग में प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे दो भिन्न प्रकृति के लेखकों के बीच भी राष्ट्रीयता और सामाजिकता का एक सुदृढ़ सम्बन्ध-सूत्र बना हुआ था। वैसे सुदृढ़ सूत्र आज के नवीनतर साहित्य में ढूंढ़ निकालना कठिन हो गया है। यदि आज के लेखकों और कलाकारों में कोई संबंध-सूत्र है भी, तो वह अनास्था और अविश्वास का है, जो एक नकारात्मक सूत्र है। दूसरा संबंध-सूत्र मनुष्य की एक सी स्वार्थवृत्तियों का, पशु-वृत्तियों का संबंध-सूत्र है। किंतु इन सूत्रों को पकड़ कर साहित्य और मनुष्यता कितने पग आगे बढ़ेगी?'[२] 'अज्ञेय'[३] और जगदीशचन्द्र माथुर भी अपने सर्वेक्षणों में यही बात दुहराते है।[४] तात्पर्य यह है कि समसामयिक साहित्य में हमारी सांस्कृतिक संक्रांति पूर्णतः प्रतिबिम्बित है और नए प्रसव की पीड़ा से बचना हमारे लिए असम्भव हो रहा है।

समाज

साहित्य और संस्कृति का समाज से अनिवार्य सम्बन्ध है। प्रश्न यह होता है

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : राष्ट्रीय साहित्य (भूमिका में)

२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : राष्ट्रीय साहित्य (भूमिका में)।

३. Contemporary Indian Literature (Sahitya Academy, 1957 ; P. 76-77. Article by S. H. Vatsyayan on 'Hindi Literature.'

४. N. K. Gokak (Ed.) Literatures in Modern Indian Languges, P. 193.

'It is difficult to forecast the trends of the Hindi Literature of tomorrow. But the intellectual efforts at sophistication, of both Marxism and psy ysis have J C Mathur 1957

कि पिछले दो दशकों में भारतीय समाज में क्या परिवर्तन आये हैं जो हमारी संस्कृति तथा हमारे साहित्य में प्रतिफलित हो रहे हैं। गांधीयुग का समाज आज के समाज से किन अर्थों में भिन्न था? सामयिक समाज में हम किन अन्तर्द्वन्द्वों अथवा अन्तर्विरोधों के शिकार हैं?

आधुनिक भारतीय समाज चिरन्तन और शाश्वत में विश्वास नहीं कर सकता योंकि पश्चिमी संस्कृति के सघात तथा नए ज्ञान-विज्ञान ने उसे नई कर्मशीलता तथा यी प्रगतिवादिता प्रदान की है। विकासमान के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह एक क्षण के लिए भी अपनी गति को शिथिल न होने दे और अवरोधक तत्वों का जमकर प्रतिरोध करे। जड़ता और ह्रास से बचने के लिए उसे बराबर प्रगतिशील दृष्टिकोण चाहिए।[1]

परन्तु आधुनिक भारतीय समाज में प्रगतिशीलता का क्या रूप है, यह भी विचारणीय है। समाज का नेता मध्यवर्ग है जिसके हाथ में शासन की बागडोर है, परन्तु यह मध्यवर्ग नगरों तक ही सीमित है। जहाँ तक विचार का सम्बन्ध है अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव ने इस मध्यवर्ग को बुद्धिवादी तथा व्यक्तिवादी बना दिया है। वह प्रत्येक वस्तु को तर्कवाद की दृष्टि से देखना चाहता है। इहलौकिक उपयोगिता ही उसका मानदण्ड है। प्राचीन समाज पारलौकिक, और धार्मिक है। आधुनिक समाज ने धर्मनिरपेक्षता को अपने संविधान में स्थान दिया है और सामाजिक न्याय, बन्धुत्व, साम्य और स्वतन्त्रता की दुहाई दी है। परन्तु व्यवहार में ये सब कहाँ हैं? जाति-धर्म के पालन में चाहे शिथिलता आ गई हो परन्तु जातिवाद का सभी क्षेत्रों में प्रवेश है। पिछले चुनावों में उसकी सार्वभौमिक विजय रही है। खान-पान के सम्बन्ध में यह मध्यवर्ग आज किसी भी प्रकार के बन्धन मानने को तैयार नहीं है। परन्तु विवाह के विषय में उसकी दृष्टि जाति-पाँति और बिरादरी की लौह शृङ्खलाओं में अभी जकड़ी है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हमें औद्योगीकरण की गति तीव्र करनी पड़ी है परन्तु हम यह नहीं समझ पाये हैं कि इसका स्वाभाविक फल यह होना चाहिए कि हमारे सामाजिक सम्बन्ध बदलें और हमारी मान्यताओं में परिवर्तन हो। समाज के ढाँचे और रहन-सहन, खान-पान, शादी-विवाह सभी में नई चेतना का प्रवेश आवश्यक है। नए औद्योगिक जीवन के अनुरूप हमारी संस्थाओं को भी बदलना होगा। संभव है, उनके स्थान में हमें नई संस्थाओं का निर्माण करना पड़े जो नई परिस्थितियों के अधिक

१. Jawaharlal Nehru : The Discovery of India, P. 518.

अनुकूल हों। यही नहीं, अन्त में हमारे जीवन-मूल्य भी बदलेंगे। यह भी निश्चित करना होगा कि हमारा औद्योगीकरण हमें पूँजीवादी व्यवस्था की ओर ले आ रहा है या समाजवाद की ओर। अन्ततः प्रश्न यह उठता है कि हमें स्पर्द्धाशील समाज की स्थापना करनी है या आत्मदानी अथवा सहयोगी समाज की। भारतीय समाज-व्यवस्था को धार्मिक, रूढ़िवादी तथा परम्परावादी भूमिका से बाहर, निकालकर ही हम संविधान की उद्देश्यपूर्ति में सफल होंगे। परन्तु सामाजिक प्रगतिशीलता आर्थिक व्यवस्था से इतनी मिली-जुली चलती है कि राजनीति का प्रश्न पहले आ जाता है। अर्थशास्त्रियों के विचार में हमारे समाज-कल्याण के सारे प्रयत्न नगरों और ग्रामों दोनों में समाज के उच्चतर स्तर को ही लाभान्वित करते रहे हैं और निम्न स्तर बराबर शोषण का विषय बना रहा है। एक ओर नगरों का मध्यवर्ग प्रतिदिन अपना जीवन-मान खोता जा रहा है और मँहगाई, बेकारी, अव्यवस्था और भाई-भतीजवाद का शिकार है, दूसरी ओर गाँवों की जनता निष्क्रियता, जातिवाद, आर्थिक शोषण और सामाजिक कुप्रथाओं से त्रस्त है। हमारे कथा-साहित्य में दोनों ही समाजों का नैतिक तथा चारित्रिक स्खलन चित्रित हुआ है।

आर्थिक भूमिका

स्वतन्त्र भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण चेतना आर्थिक नवनिर्माण की रही है। राजनैतिक स्वतन्त्रता को हमने आर्थिक स्वतन्त्रता की भूमिका के रूप में ही देखा है और इसके लिये योजनाओं की व्यवस्था की है। तीन पंचवर्षीय योजनाओं के पश्चात् अब हम चौथी योजना के दौर से गुजर रहे हैं। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश रहा है और उसकी जनसंख्या का ८० प्रतिशत गाँवों में ही निवास करता है। यह आवश्यक था कि हमारी औद्योगिक योजनाएँ नये उद्योगों और कल-कारखानों को जन्म दें और गाँवों की अतिरिक्त जनसंख्या मजदूरों के रूप में उन्हें प्राप्त हो। गांधीजी ने गाँवों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए एक कार्यक्रम लोगों के सामने रखा था। जिस अहिंसक समाज की कल्पना का उदय उनके मन में हुआ था उसका पल्लवन विकेन्द्रीकरण के ही द्वारा हो सकता है। गांधीजी की आर्थिक नीति गाँवों को केन्द्र में रखती थी। वे औद्योगीकरण को मानवता के लिए अभिशाप समझते थे।[1] इसके विपरीत नेहरू जिस

---

१. 'Young India', 12 November, 1931.

'......Industrialisation is, I am afraid, going to be a curse for mankind. Exploitation of one nation by another cannot go on for all time. Industrialisation depends entirely on your capacity to exploit, on foreign market being open to you, and on the absence of competitors......In fact, India, when it begins to exploit other

समाजवादी व्यवस्था के कायल थे उसके लिये औद्योगीकरण अनिवार्य शर्त था। यही नहीं, सद्यःप्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये भी राष्ट्र का औद्योगीकरण आवश्यक था क्योंकि बड़े कल-कारखानों के अभाव में अस्त्र-शस्त्रों के लिये हमें अन्य देशों पर निर्भर रहना पड़ता।[१]

गांधी जी व्यक्ति को भीतर से बदलना चाहते थे, नेहरू ने समाज के बदलने का प्रयत्न किया। गांधी जी आध्यात्मिक दृष्टिकोण को महत्ता देते थे क्योंकि उनके लिए मनुष्य आत्मिक था और पाप ही उसका सबसे बड़ा शत्रु था। इसके विपरीत नेहरू मनुष्य को शक्तिशाली भी मानते थे और विशेषाधिकार उनकी दृष्टि में मानवता के रूप मे सबसे बड़े शत्रु थे। वे ऐसे समाज की कल्पना करते थे जो श्रम और धन के बंटवारे पर आधारित होगा और जिसमें विशेषाधिकार समाप्त हो जायेंगे। हार्दिक और चारित्रिक परिष्कार की अपेक्षा वे सामाजिक और राजनैतिक नियंत्रणों पर अधिक बल देते थे। वस्तुतः ये दो विरोधी दृष्टिकोण थे।[२] गांधीजी के निधन के बाद उनके दृष्टिकोण को उनके प्रिय शिष्य विनोबा भावे ने सर्वोदय, ग्रामदान, भूमिदान आदि आंदोलनो के के रूप में विकसित किया और गाँधी जी द्वारा स्थापित प्रवृत्तियों के संरक्षण के द्वारा गाधीवाद को सक्रिय रूप देना चाहा। स्वातंत्र्योत्तर युग की आर्थिक विचारधारा के दो ही ध्रुव हैं नेहरू और भावे। परन्तु सरकारी स्तर पर योजनाओ के माध्यम से हम नेहरू की आर्थिक नीति को ही लेकर चल सकते थे। फलस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर युग के पिछले दो दशक अधिकाधिक औद्योगीकरण के युग कहे जा सकते हैं।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि नये भारत के लिए औद्योगीकरण के जिस मार्ग को नेहरू ने स्वीकार किया वही मात्र मार्ग था जिस पर चल कर वह अपनी स्वतन्त्र तथा समर्थ भूमिका दृढ़ कर सकता था। परन्तु केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो के लिये सभी उद्योग-धंधों को अपने हाथ में लेना सम्भव नहीं था, इसके लिए जिस विशाल धन-सम्पत्ति और विशेषता की आवश्यकता थी, वह हमें प्राप्त ही नहीं थी। फलतः पूंजीपतियों की सहायता की आवश्यकता पड़ी। पिछले बीस वर्षों में जिन उद्योग-धंधो का जन्म और विकास स्वतत्र भारत में हुआ है वे उसे प्रथम श्रेणी का राष्ट्र बनाने में समर्थ है। परन्तु इस विकास का ऐतिहासिक फल यह हुआ है कि हमारी अर्थव्यवस्था पर

---

nations as it must if it becomes industrialised will be a curse for other nations, a menace to the world. And why should I think of industrialising India to exploit other nations?'

१. Jawaharlal Nehru : An Autobiography, P. 526.

२ Jawaharlal Nehru An Autobiography P 521 523

पूँजीवाद की गहरी छाप पड़ी है और समाज शोषक तथा शोषित वर्गों में बँट गया है। इसके फलस्वरूप वर्ग-संघर्ष की एक नई भूमिका तैयार हो गई है। उद्योग-धंधों, व्यापार और अर्थव्यवस्था के कुछ थोड़े से परिवारों में सिमटने का परिणाम यह हुआ है कि शिक्षित मध्यवर्ग के लिए इन स्वदेशी प्रतिष्ठानों में नौकरियाँ पाना भी कठिन हो गया है। काव्य और साहित्य में हमें जिस कुंठा और अवसाद के दर्शन होते हैं उसके पीछे यही जातिवाद और अवसरवाद है जो हमारे साम्य, बन्धुत्व, स्वातन्त्र्य और न्याय के आदर्शों को खोखला बना देता है। अंग्रेजों के युग की नौकरशाही ज्यों-की-त्यों दृढ़ बनी है और उसने नवोदित उद्योगपतियों और ठेकेदारों से साँठ-गाँठ कर घूसखोरी और असत्य का काला बाजार ही खड़ा कर दिया है। औद्योगिक और शासकीय जीवन की इस नई पृष्ठभूमि को समझे बिना हम शिक्षित मध्यवर्ग की हताशा और अवसादी मनोवृत्ति के मूल में नहीं पहुँच सकेंगे।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि पिछले वर्षों में केन्द्रीय और राज्य-सरकारों ने भूमि-सुधार संबंधी अनेक नये कानून बनाये हैं और जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन के द्वारा कृषक-समाज को राहत मिली है। कल्याण-योजनाओं, ग्रामीण जीवन के पुनर्निर्माण, पंचायत-व्यवस्था के पुनर्संङ्गठन तथा ग्रामों के आधुनिकीकरण के द्वारा हम भारतीय अर्थ-व्यवस्था को नये औद्योगिक जीवन से जोड़ना चाहते हैं परन्तु यह उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक हम औद्योगीकरण को नगरों से गावों में नहीं ले जाते और अपनी विद्युत्योजनाओं के द्वारा ग्रामीण जीवन में नागरिक सुख-सुविधाओं की योजना नहीं करते। गाँव के तरुण वर्ग में नगरी का आकर्षण जिस तीव्रता से बढ़ रहा है वह हमारे राष्ट्रीय स्वास्थ्य के लिए हानिकारक ही नहीं है, वह हमारी पंचवर्षीय योजनाओं को भी संकट में डाल सकता है। कृषि-प्रधान देश के लिए यह आवश्यक है कि उसकी जन-शक्ति का समुचित भाग धरती पर लगे और विज्ञान के नए साधनों के उपयोग के द्वारा वस्त्र की व्यवस्था करे। पिछले दिनों के अन्न-संकट और सम्भ्रांत अकाल की स्थिति ने ग्रामीण योजनाओं की ओर हमें मोड़ा है परन्तु जब तक हम उद्योग-धंधों का विकेन्द्रीकरण नहीं करते और ग्राम को अपनी आर्थिक नियोजना का केन्द्र नहीं बनाते, तब तक संकट की स्थिति से उबर नहीं सकते।

इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य पर इस नई आर्थिक और सामाजिक विभीषिका की छाया पड़ी है। जिस गाँव की कल्पना प्रेमचन्द ने स्वर्ग के रूप में की थी वह 'निराला', नागार्जुन और फणीश्वरनाथ रेणु के आंचलिक उपन्यासों में पारस्परिक द्वेष, छल-प्रपंच,

१. Dr. A. R. Desai : Recent Trends in Indian Nationalism, P. 86-87.

आत्मप्रताड़ना और सामाजिक कुत्सा के नरक के रूप में चित्रित हुआ है। दूसरी ओर महानगरों की चरित्रहीनता, मध्यवर्ग की दैन्यपूर्ण असहाय स्थिति तथा राजकर्मचारियो की भयंकर लिप्सा के चित्रण से हमारा कथा-साहित्य भरा पड़ा है। जीवन की आदर्श स्थिति से नीचे खिसककर हम आत्महीनता और राष्ट्र-द्वेष के गर्त में गिर गये हैं। शिक्षित--समाज और सम्भ्रान्त वर्ग दिग्भ्रम में है। एक ओर विशेषज्ञता की माँग है तो दूसरी ओर अकल्पित रूप से बेकारी में वृद्धि हुई है। निरर्थक शिक्षा और संस्कारहीनता के भार से दबी भारतीय जनता को हमारी आर्थिक योजनाएँ यदि उत्साहित नहीं कर पातीं तो इसके मूल में हमारी मानसिक तथा चारित्रिक अराजकता ही है।

उपलब्धियाँ और सीमाएँ

स्वातंत्र्योत्तर युग की उपलब्धियाँ क्या हैं? उसमें हमारी क्या सीमाएँ रही हैं? क्या अपनी पिछले तीस वर्षों की प्रगति से हम आश्वस्त हो सकते हैं? ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं और इनका उत्तर हिन्दी साहित्य के अध्येता के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना राजनीति-विशारदों और सांस्कृतिक नेताओं के लिए। कारण यह है कि साहित्य युग-चेतना से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध रहता है और राजनैतिक तथा आर्थिक अराजकता साहित्य और कला मे भी प्रतिफलित होती है। रूस जैसे राजनैतिक क्षेत्र के जागरूक इतिहासकारों ने भी हमारे स्वातंत्र्योत्तर प्रयत्नों की प्रशंसा की है।[1] आये दिन विदेश मंत्री, राजदूत और आमंत्रित विशेषज्ञ स्वातंत्र्योत्तर भारत की प्रगति का गुण-गान करते रहे हैं। योजनाओं के द्वारा हमने अल्प-काल में बहुत कुछ प्राप्त करने का प्रयत्न किया है और उसमें आंशिक रूप में सफल भी हुए हैं, परन्तु भारतवर्ष की जनसंख्या और विदेशी शासन में उनकी दुर्व्यवस्था को देखते हुए हमारी प्रगति प्रशंसनीय कही जा सकती है। राष्ट्रीय जीवन की प्रगति के लिए चतुर्दिक प्रयत्न आवश्यक हैं। एक ही साथ अनेक क्षेत्रों में प्रयत्नशील होने की जागरूकता ने हमें अपनी सीमाओं और दुर्बलताओं के प्रति अतिसंवेदित बना दिया है। फलस्वरूप तर्क-वितर्क और वाद-विवाद महत्वपूर्ण हो गये हैं। मध्यवर्ग आकांक्षाओं के देश में विचरण करता है और अपनी ऐतिहासिक भूमिका से त्रस्त होने के कारण कुंठा, अवसाद और अनास्था का व्यवसाय करने लगता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछले दो दशकों के अन्तराल ने भारतीय जीवन और संस्कृति को एक अभिनव दिशा प्रदान की है। जहाँ स्वतंत्रता ने हमें अपने आर्थिक और सामाजिक जीवन के नवनिर्माण के लिए उत्सुक और प्रयत्नशील बनाया है,

---

१. V. V. Balabushvich and A. M. Dyakov (Ed.)— A contemporary History of India (1964), P. 570-571.

वहाँ संसार के अनेक प्रगतिशील राष्ट्रों के समकक्ष खड़ा कर हममें एक प्रकार की स्तब्धता को भी जन्म दिया है। पिछले कुछ दिनों में अमरीकी और यूरोपीय वस्तुओं, विचारधाराओं और परिपाटियों का इतना अधिक आयात हुआ है कि यह कहना कठिन हो गया है कि हमारा कोई स्वदेश-धर्म भी है। राष्ट्रीय संस्कृति की किसी बँधी-सधी परम्परा की दुहाई हमें नहीं चाहिए, यद्यपि हिन्दू महासभा और जनसंघ जैसे राजनीतिक दल अतीतजीवी ही कहे जा सकते हैं। परन्तु 'नये' के स्वागत में हमें 'प्राचीन' को एकदम तिरस्कृत नहीं करना है। कुंठा और अनास्था के जिस वातावरण में से हमारा बुद्धिजीवी समाज गुजर रहा है उसका समाधान एक ही है— वह है निरंतर प्रगति, सतत कर्मशीलता।[1]

समाजशास्त्रियों के विचार में स्वातंत्र्योत्तर युग में हमने जो सांस्कृतिक विघटन पाया है उसका मूल कारण है नये नेता-वर्ग (इलाइट) का अभाव। प्राचीन पंडित-समाज का नेतृत्व ब्राह्मण-वर्ग के हाथ में था परन्तु यह वर्ग धीरे-धीरे अपने नेतृत्व को खोता गया है। अंग्रेजी शिक्षा ने ज्ञान-विज्ञान को सभी जातियों, वर्णों और वर्गों के लिए सुलभ कर दिया। फलस्वरूप बौद्धिक संभ्रान्त वर्ग का ढाँचा बदला। नया नेतृत्व राजनैतिक वर्ग और राजकर्मचारियों में तो सुस्थिरता प्राप्त कर चुका है परन्तु अन्य क्षेत्रों में अराजकता समाप्त नहीं हुई है, फलस्वरूप बौद्धिक समाज में स्थान प्राप्त करने में उन्हें कठिनाई का अनुभव हो रहा है। जिस बौद्धिक क्रान्ति अथवा समीक्षात्मक विचारणा के स्फुरण की नवयुग को अपेक्षा थी, अभी हम उससे काफी दूर हैं।[2] पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान को भारतीय विद्या से जोड़ने के आग्रह ने हमें परम्परावादी और रूढ़िग्रस्त ही अधिक बनाया है। उससे हमारी क्रान्तिचेतना को व्याघात पहुँचा है। एडवर्ड शिल ने अपने ग्रन्थों में ब्राह्मणों के सनातन नेतृत्व को बौद्धिक अराजकता के लिए उत्तरदायी ठहराया है, क्योंकि प्राचीन युग में उन्हें वंशानुक्रम से ही बौद्धिक क्षेत्र में मान्यता प्राप्त थी और पश्चिमी-ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में इस वर्ग के प्राधान्य ने हमारे नवजागरण की तीव्र धार को कुंठित ही किया है। यह वर्ग प्राचीन विचार-पद्धतियों तथा पारम्परिक चेतनाओं को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं और पश्चिम के व्याख्याता के रूप में अपने विशेषाधिकारों को ही स्थायित्व देना चाहता है।[3] अब्राह्मण बौद्धिकों के लिए आत्मविश्वास के साथ नए ज्ञान-

---

१. D. P. Mukerji (Dr.)— Diversities, P. 196-197.

२. T. K. N. Unnithan & others (Ed.)— Towards a sociology of culture in India, P. 186.

३. E. shill— The Intellectual between Tradition and Modernity : The Indian Situation (1961).

विज्ञान में दखल जमाना कठिन हो रहा है और फलस्वरूप एक प्रकार के द्वन्द्व की स्थिति का जन्म बौद्धिक ससार में स्पष्ट ही दिखलाई पड़ता है।

परन्तु अंग्रेजी का स्थान देशी भाषाओं को मिलने पर धीरे-धीरे यह नया बौद्धिक वर्ग अपनी संस्था और शक्ति में वृद्धि करेगा, ऐसा कुछ समाजशास्त्रियो का विश्वास है। उनके अनुसार प्रान्तीय भाषाओं का भारतीय रंगमंच पर प्रवेश निश्चय ही एक विस्फोटात्मक घटना है और उसके परिणाम अत्यन्त क्रान्तिकारी होंगे। दो सहस्र वर्षों के बाद सस्कृत के स्थान पर जन-भाषाओं को पहली बार यह अवसर मिला है कि वे ज्ञान-विज्ञान और नई संस्कृति की वाहक बनें और उनको लेकर एक नए बौद्धिक वर्ग का विकास हो।[1] उच्च शिक्षा के लिए मातृभाषाओं के उपयोग से कालान्तर में पांडित्य, कला, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्रों में नई प्रतिभा का प्रवेश आवश्यक है। सम्भव है प्रतिक्रिया-स्वरूप पारम्परिक ज्ञान की ओर कुछ विद्वानों का आग्रह बढ़े और नए पुनरुत्थानवाद का जन्म हो, परन्तु भाषा-साहित्यों का मुख अतीत की ओर न होकर भविष्यत् युगों की ओर है। स्वातन्त्र्योत्तर युग का हिन्दी साहित्य भाषा-साहित्य की इसी नई नियति की ओर संकेत करता है।

1. Selig S. Harrison : India— The most Dangerous Decades
J (P ..)

तृतीय अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर युग के साहित्य का वैशिष्ट्य

पृष्ठभूमि

भारतवर्ष की स्वतन्त्रता विश्व के आधुनिक इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। उसने जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अर्थनीति पर अपना व्यापक प्रभाव डाला है वहाँ उसने भारतीय जीवन और हमारे सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिवेश को भी अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। घर और बाहर के इन प्रभावों के फलस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर युग में साहित्य और कला के क्षेत्रों में नयी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ है। वैसे साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रत्येक नया प्रवर्तन पूर्ववर्ती साहित्य और कला से ही जन्म लेता है और नये युग के विकास-सूत्रों को हम अनिवार्य रूप से पिछले युग तक ले जा सकते है। इसीलिए भारतीय स्वाधीनता के पूर्व साहित्य और कला के क्षेत्र में जो प्रवृत्तियाँ चल रही थीं, बहुधा उन्हीं को हम स्वातंत्र्योत्तर युग में भी विकसित होते देखते हैं। यह दूसरी बात है कि भारतीयों के हाथ में राजनीतिक शक्ति आ जाने के कारण और शिक्षा, साहित्य और कला के सूत्र केन्द्रीय सरकार के हाथ में चले जाने से विकास की गति को तीव्रता मिली है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि नया कुछ हुआ ही नहीं है। जहाँ तक पश्चिम के प्रभाव का सम्बन्ध है, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता ने हमें विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रों के एकदम बीच में खड़ा कर दिया है। यूरोप, एशिया, अफ्रीका और अमरीका की अनेकानेक राजधानियों में हमें अपने दूतावास स्थापित करने पड़े और हमारे राजदूतों तथा राजदूतावास के कर्मचारियों को विभिन्न राष्ट्रों के साहित्यों और संस्कृतियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा। यह भी आवश्यक हो गया कि स्वतन्त्र भारत संस्कृति, कला और साहित्य के क्षेत्र में अपने एकदम निजी योगदान की घोषणा करे और हमारे साहित्यकार भारतीय संस्कृति के उन्नायक बनकर सामने आयें।

स्वातंत्र्योत्तर युग में जहाँ एक ओर पश्चिमी प्रभावों से बचना हमारे लिए असम्भव था, वहाँ दूसरी ओर उनको अस्वीकार कर भारतवर्ष की स्वतन्त्र संस्कृति और साहित्य-चेतना का दावेदार बनना भी हमारे लिए आवश्यक था। एक ओर थी परम्पर

थी। अतः कवियों और कलाकारों ने अपने को मार्गों का अन्वेषक कहा और व्यापक रूप से अपनी रचना में प्रयोगों को स्थान दिया। भाषा, शैली, शिल्प और अभिव्यंजना के क्षेत्र में स्वातंत्र्योत्तर युग में अनेक रूप मिलते हैं। साहित्य की सभी विधाओं में एक प्रकार की प्रयोगशीलता चल रही है। काव्य के क्षेत्र में तो 'प्रयोगवाद' नाम से एक आन्दोलन ही उठ खड़ा हुआ। आचार्य वाजपेयी ने प्रयोगवाद को 'बैठे-ठाले का धन्धा'[1] कहा है। उनकी राय में प्रयोगवादी कवि और लेखक समाज के प्रति अनुत्तरदायी हैं और उनका प्रयोग शिथिल समाधि का सूचक है। कुछ लोगों के विचार में प्रयोगवादी कवियों की मनःचेतना पर पूँजीवादी मनोवृत्ति की छाप है। ये लोग उच्च मध्यवर्ग में सम्मिलित और अपनी विशिष्ट शिक्षा-दीक्षा के कारण समसामयिक यूरोपीय आन्दोलन से प्रभावित हैं। उनके साहित्य में कुण्ठा-अवसाद, यौन-लिप्सा और व्यक्तिगत प्रतीकों के उपयोग की प्रधानता है। परन्तु स्वयं प्रगतिवादी कवियों ने इन विचारों का खण्डन किया है। वे यह दावा करते हैं कि इनके साहित्य में युग की सच्ची अभिव्यक्ति है। स्वतन्त्र भारत की विषमताएँ, उसके अन्तर्विरोध और उसकी असफलताओं ने ही उनके साहित्य में कुण्ठा और अवसाद को जन्म दिया है। इसके अतिरिक्त ये कवि काव्य के क्षेत्र में प्रयोगों को अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि भाषा-शैली और शिल्प के नये प्रयोगों के द्वारा ही नये जीवन को अभिव्यक्ति मिल सकती है। उपन्यास, कहानी और नाटक के क्षेत्रों में भी पिछले बीस वर्षों में अनेक प्रयोग हुए हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोगवादिता का पूँजीवाद से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। यह साहित्य की एक नयी दिशा है, जो पूर्व-पश्चिम में समान रूप से विकसित हुई है। बाद में काव्य के क्षेत्र का प्रयोगवाद 'नयी कविता'[2] में बदल जाता है और यह नयी कविता अपने साथ अपने विशिष्ट समीक्षक और प्रशंसकों को लेकर हमारे सामने आती है।

उन्नीस सौ छत्तीस तक आते-आते छायावाद अथवा स्वच्छन्दतावाद की धारा शिथिल पड़ गयी थी। प्रकृति और नारी का सौन्दर्य तथा आध्यात्मिकता काव्य के सर्वाधिक आकर्षक विषय नहीं रहे थे। राष्ट्रीय धारा के कवियों का स्वर भी क्षीण हो गया था। राजनैतिक आन्दोलनों की असफलता के कारण मजदूरों और किसानों के क्षेत्रों में चलनेवाला आन्दोलन अधिक शक्तिशाली बन गया और प्रगतिवाद के रूप

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—'आधुनिक साहित्य', पृ० ६९-१९ ('प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक निबन्ध)।

२. वही, पृ० ५७। 'नयी कविता' सम्बन्धी आचार्य वाजपेयी जी की विचार-धारा से अवगत होने के लिए 'राष्ट्रीय साहित्य' (१९६५) में प्रकाशित उनका निबन्ध 'नई कविता' भी द्रष्टव्य है।

में सामाजिक शक्तियों को प्रधानता देने वाला एक नया आन्दोलन सामने आया। जिस समय हमने स्वाधीनता के युग में प्रवेश किया, उस समय यह आन्दोलन अत्यन्त उग्र था, परन्तु धीरे-धीरे प्रगतिवादी आन्दोलन की प्रगतिशीलता नष्ट हो गयी और उसमें नवीन चेतना का अभाव झलकने लगा। यह आन्दोलन अपनी व्यापकता खोकर भारतीय राजनीति के विशेष दल अथवा मार्क्सवादी दल से अपना सम्बन्ध स्थापित कर चुका था। फलतः वह एकांगी था। इसीलिए स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रगतिवादी काव्य केवल तर्क-वितर्क का विषय बना था। उसके कवियों ने नया मार्ग पकड़ लिया।

परन्तु प्रगतिशील आन्दोलन काव्य के क्षेत्र से बाहर उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में अपनी प्रगतिशीलता बनाये रखने में अधिक सफल हुआ। उसने यथार्थवाद की भूमिका बनायी तथा शोषितों और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति लेकर चला। आलोच्य युग में कथा-साहित्य और विचार के क्षेत्र में यह आन्दोलन अत्यन्त सक्रिय रहा। गाधी और मार्क्सवाद समसामयिक भारतीय चिन्तन के दो छोर हैं। एक की जड़ सनातन भारतीय संस्कृति में और दूसरे की जड़ यूरोप के आधुनिक औद्योगिक विकास में है। गाँधी आध्यात्मिकता की ओर देखते हैं और मानव-हृदय सर्वोपरि रखते हैं। इसके विपरीत मार्क्स भौतिकवादी हैं और वे समाजतंत्र और राज्यतंत्र को सर्वाधिक महत्व देते है प्रश्न यह है कि राष्ट्र मानव के लिए है या मानव राष्ट्र के लिए है? आधुनिक भारतीय चिन्तन इन दो विरोधी विचारों को एकसूत्रता देता है। वह एक साथ गाधी और मार्क्स को स्वीकार करता है। राष्ट्र और व्यक्ति का कोई मौलिक विरोध नहीं है क्योंकि व्यक्ति ही राष्ट्र की इकाई है और उसके चरित्र, चिंतन और कर्म से ही राष्ट्र का निर्माण होता है। समसामयिक युग में भारतीय शिक्षित समाज ने अनेक बौद्धिक भूकम्पों का अनुभव किया है, परन्तु उसके पैर धरती पर जमे रहे हैं। इसका कारण यह है कि बीसवीं शताब्दी के यूरोपीय राष्ट्रों और समाजों के अन्तर्विरोधों और स्वार्थों को बहुत बारीकी से देखा है और उनकी गलतियों से बचने का प्रयत्न किया है। उन्नीसवीं शताब्दी में जिस भारतीय जन-जागरण का आरम्भ होता है, वह पश्चिम के अनुकरण को ही सब कुछ नहीं समझता, वरन् युग की आवश्यकताओं के अनुकूल नये समाधानों को जन्म देता है। इसलिए भारतीय स्वाधीनता का पश्चिम स्वागत करता है। भारतीय महामनीषियों और विचारकों की ओर यूरोपीय दृष्टि इसीलिए गयी कि वह भौतिकता से आक्रान्त अपनी उन्नति से आतंकित हो उठा था और वह चाहता था कि पूर्व से उसे नये प्रकाश की प्राप्ति हो। राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानद, महात्मा गांधी, महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, योगी अरविंद और जवाहरलाल नेहरू पश्चिम के शिक्षितों और विचारकों के सामने संस्कृति के नये मानदंड को लेकर आये थे। अतः स्वतंत्र भारत के इन्हीं महामनीषियों को प्रतिनिधि समझा गया और उसके लिए य

आवश्यकता हो गई कि वह विदेशों में अपने इस चित्र को अक्षुण्ण बनाये रखे। स्वातन्त्र्योत्तर युग हमारी विचार-साधना में मूलतः विचार-स्वातंत्र्य की साधना है। अंग्रेजी शासन के लगभग दो शताब्दियों के विस्तृत काल-विस्तार में हमने यूरोपीय अथवा पश्चिमी विचार-धारा का अनुसरण किया है और उससे बराबर आतंकित रहे हैं। अठारहवीं शताब्दी में भारतीय चिंतन की धारा एक प्रकार से पूर्णतः सूख गयी थी और उसमें थोड़ा भी जल नहीं रह गया था। हम अपनी पूर्व परंपराओं के प्रति संशयग्रस्त और अविश्वासी बन गये थे। प्राचीन रीति-रिवाजों का पालन ही भारतवर्ष में सनातन धर्म के नाम से प्रचलित था और वही हिन्दू धर्म था। इस्लामी विचार की क्रांतिकारिता भी अठारहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते नष्ट हो गयी थी और हिन्दू धर्म एवं समाज की अनेक रूढ़ियों ने इस्लाम में भी प्रवेश कर लिया था। जहाँ तक शास्त्रीय ज्ञान का सम्बन्ध है, वह परम्परा का मुख छोड़कर चलने के लिए तैयार नहीं था। प्राचीन पांडुलिपियाँ अधिकांश नष्ट हो चुकी थीं और संस्कृत तथा फारसी के माध्यम से जो शिक्षा की व्यवस्था उस समय चल रही थी, वह अत्यन्त प्रारम्भिक और पण्डिताऊ ढंग की थी। उसमें कण्ठस्थ ज्ञान को ही प्रधानता प्राप्त थी। धर्म और दर्शन को छोड़कर अन्य विषयों के क्षेत्र में कोई नई उपलब्धि हमें बारहवीं शताब्दी के बाद नहीं मिलती। अठारहवीं शताब्दी में हमारा अध्ययन तर्कबद्ध विषयगत विश्लेषण और मनन पर आधारित नहीं था। यूरोप में यह शताब्दी बुद्धिवाद की शताब्दी मानी गयी है और वहाँ ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी चिन्तन का जन्म इसी शताब्दी में हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी में जब अंग्रेजी सभ्यता और साहित्य के माध्यम से यूरोप ने भारतवर्ष से सम्पर्क स्थापित किया तो हमारे देश के बुद्धि-विलासियों और पण्डितों को अपनी दुर्बलता का परिचय मिला। नये युग के नये ज्ञान की चकाचौंध से उनकी आँखें बन्द होने लगीं। उन्होंने आत्महीनता का अनुभव किया था और अपने भीतर नये विकास को जन्म देने के लिए विचार की यूरोपीय पद्धति अपनायी। नये धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों ने समाचार पत्र, मासिक पत्र, सार्वजनिक मंच (Public platform) और मुद्रित प्रचारपत्रों (पेंफ्लेट्स), पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों के रूप में विचार के प्रसार और वितरण के लिए नये साधन हमारे पण्डित समाज के सामने रखे। इन साधनों के उपयोग ने भारतीय चिन्तन को एकदम नया मोड़ दिया है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से हमारा नवशिक्षित समाज इंग्लैंड, यूरोप और अमरीका की नयी विचार-धाराओं से परिचित हुआ। एमर्सन, मिल, स्पेन्सर, थोरो कांट, बर्कले और हीगल आदि पश्चिमी विचारकों ने भारतीय मनीषा को पहली बार इतना अभिभूत कर लिया कि अपनी प्राचीन सम्पत्ति हमें एकदम व्यर्थ जान पड़ी। फल यह हुआ कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के साथ हममें अपने प्रति अनास्था का जन्म हुआ और पश्चिम

का अनुकरण ही हमारे लिए अन्तिम सत्य बन गया। इस स्थिति ने एक विशेष प्रतिक्रिया को भी जन्म दिया। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हमारे बीच में ऐसे अनेक सदाशयी अंग्रेजी-राजकर्मचारी, विद्वान और धर्मप्रचारक आये, जिन्होंने यूरोपीय तर्कवाद, विश्लेषण और शोध की पद्धति को भारतीय इतिहास, संस्कृति और ज्ञान के क्षेत्र में लागू किया। इन्होंने अत्यन्त अध्यवसाय से पुरातत्व की सामग्री के आधार पर प्राचीन भारत की खोज की और भारतीय सम्राटों और राजाओं की वंशावलियों की स्थापना की। इसके साथ ही इन्होंने हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू दर्शन के क्षेत्र में भी अपनी ऐतिहासिक दृष्टि का आरोप कर विकासात्मक अध्ययन के रूप में एक नयी परम्परा का उद्घाटन किया। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हम भारतीय गौरव से पहली बार परिचित हुए और अपनी संस्कृति के प्राचीन ऐश्वर्य ने हमें एक बार फिर अपने प्रति आस्था प्रदान की। परन्तु विदेशी अनुकरण के प्रति विरोध की भावना का जन्म उस समय तक नहीं हुआ था, जब तक हमारे भीतर राजनैतिक और राष्ट्रीय चेतना का प्रसार नहीं हुआ था। १८८५ में कांग्रेस की स्थापना के बाद ही भारत अपने व्यक्तित्व और विचार के क्षेत्र में स्वाधीनता की ओर आगे बढ़ता है।

१८९३ में स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो धर्म-सम्मेलन में वेदान्त की पताका पहली बार ऊँची फहरायी और भारतीय ज्ञान के चमत्कार से पश्चिम को परिचित कराया। वे ही हमारी स्वतंत्र विचारणा और मनीषा के आदि पुरुष कहे जा सकते हैं। लगभग दस वर्षों के अपने शेष जीवन-काल में उन्होंने पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के सर्वश्रेष्ठ को आत्मसात करते हुए भारतीय चिंतन में नवीन अध्याय की सृष्टि की। इसके बाद हम बीसवीं शताब्दी में प्रवेश करते हैं। इस शताब्दी के पहले पचास वर्ष भारतीय जीवन और विचार के नवोन्मेष के वर्ष हैं। अर्द्ध शताब्दी के इस काल-विस्तार में भारतवर्ष आधुनिक युग में पहली बार विचार के क्षेत्र में पश्चिम की समकक्षता प्राप्त करता है। धर्म, दर्शन, नीति, साहित्य और संस्कृति सभी क्षेत्रों में हमारे पास कुछ नया कहने के लिए हो जाता है। लोकमान्य तिलक, महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, योगी अरविंद, महात्मा गांधी और पंडित जवाहरलाल नेहरू बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की नयी सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक हैं। परन्तु जिन विचारकों और मनीषियों ने हमें पश्चिम के अनुकरण से स्वतंत्र कर नये बौद्धिक जीवन में दीक्षित किया, उनकी सूची महापुरुषों पर समाप्त नहीं हो जाती। सम्भवतः पूर्वीय राष्ट्रों में भारतवर्ष ही ऐसा है, जहाँ पश्चिम के सारे ज्ञान और विज्ञान को आत्मसात कर अपने स्वतंत्र बौद्धिक व्यक्तित्व को बनाये रखने का इतना बड़ा और गम्भीर प्रयत्न हुआ है। वैचारिक क्षेत्र में पश्चिम ने अनेक मतिवादों का संग्रह कर लिया था। मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, अति प्राकृतवाद, अति-

यथार्थवाद (Surrealism) और (Cubism) आदि ऐसी अतिवादी दृष्टियाँ हैं, जो पश्चिम के प्राणवान परन्तु नितनवीनता के आकांक्षी मानस की उपज हैं। भारतवर्ष इतनी दूर तक जाने के लिए तैयार नहीं था। आरम्भ से ही उसकी साधना मध्यममार्ग की साधना रही है। इसलिए उसने इन अतिवादों को अस्वीकार कर दिया। उसने जीवन, साहित्य और संस्कृति के सभी क्षेत्रों में संतुलन की आवाज उठायी। उसने धर्म और अध्यात्म की नयी व्याख्या की। पश्चिम के मानववाद को बौद्धिकता से मुक्त कर उसने नैतिक और आध्यात्मिक मानवतावाद को जन्म दिया। अहिंसा को धर्मनीति बनाकर महात्मा गाँधी ने राजनैतिक उद्देश्यों और साधनों में एकदम क्रांति प्रस्तुत कर दी। उनके व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक तथा राष्ट्रीय उद्देश्यों में पश्चिमी ईसाई राष्ट्रों को पहली बार ईसा के मौलिक प्रेम-धर्म का सक्रिय स्वरूप दिखलाई पड़ा। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतवर्ष विश्वास के साथ विश्व-संस्कृति में प्रवेश करता है। प्रथम महायुद्ध ने पहली बार यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान, बुद्धिवाद और भौतिकतावाद की सीमाओं को सामने रखकर पश्चिम के विद्वानों और पंडितों को एकदम चमत्कृत कर दिया। उन्हें पहली बार पता लगा कि धर्म-नीति-निरपेक्ष विज्ञान और राजनीति मानवता के लिए संहारक बन सकते हैं। इसीलिए भारतीय नेताओं और विचारकों का वहाँ स्वागत हुआ। १९४७ तक भारत पराधीन राष्ट्र था। अतः उसकी स्वतंत्र विचार-साधना अभिनन्दनीय होते हुए भी संसार के राष्ट्रों में अनुकरणीय नहीं थी। द्वितीय महायुद्ध ने संसार के मानचित्र में अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया और स्वतंत्र भारत एक प्रकाशवान दीप-स्तंभ की भाँति विश्व की प्रबुद्ध जनता के सामने आया। इस प्रकार पश्चिम के अविरोधी अनुकरण से आरम्भ होकर हमारी विचार-साधना अन्त में पश्चिम से स्वतंत्र अपने अभिनव मौलिक व्यक्तित्व की स्थापना कर लेती है। आलोच्य युग में प्रवेश करते समय हमारे पास एक महान राष्ट्र की आस्था थी, जो ठीक अपने पैरों पर खड़ा रहना चाहता था। आलोच्यकाल में विचार-स्वातंत्र्य की यह साधना अनेक संक्रांतियों के भीतर से गुजरती हुई और नयी परिस्थितियों से जूझती हुई आगे बढ़ती है।

प्रमुख प्रवृत्तियाँ

स्वातंत्र्योत्तर युग के साहित्य की मूल प्रवृत्तियों पर इस पृष्ठभूमि का व्यापक प्रभाव पड़ा है। उन्नीस सौ अड़तालिस में महात्मा गांधी की हत्या के साथ 'गांधी-युग' की समाप्ति हुई थी और एक प्रकार से आधुनिक भारतीय चेतना का वह अध्याय विराम पर आ जाता है, जिसमें आशा, उत्साह और आस्था की प्रधानता थी। एक नया युग आरम्भ होता है, जिसे हम 'अनास्था का युग' कह सकते हैं। वास्तव में पिछले महायुद्ध ने ही भारतीय चेतना को भीतर तक झकझोर दिया था। द्वितीय महायुद्ध के छह वर्ष भारतीय जनता के लिए कुंठा अवसाद और निराशा के वर्ष थे। युद्ध के समाचार ही

भयावह नहीं थे, विदेशी सत्ता ने भारतीय नेताओं की इच्छा के विरुद्ध भारतवर्ष का मित्रराष्ट्रों में सम्मिलित कर हमारे आत्म-सम्मान को बहुत बुरी तरह झकझोर दिया था। गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह के द्वारा राष्ट्र के आत्म-सम्मान की रक्षा करनी चाही, परन्तु अगस्त १९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के सिलसिले में कांग्रेस की कार्यकारिणी के समस्त नेताओं के साथ वे भी बन्दी बना लिये गये। फलतः विस्फोट की स्थिति ने जन्म लिया और जनता ने तोड़-फोड़ के द्वारा अपने नेताओं की गिरफ्तारी का बदला लिया। अंग्रेज अधिकारियों ने इसके उत्तर में राजदण्ड का सहारा लिया और सारा भारत एक अत्यन्त कठोर दमन-चक्र के नीचे पिसने लगा। विदेशीय सत्ता ने जान-बूझकर भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति को तोड़ने का प्रयत्न किया और युद्धकालीन नियंत्रणों ने जनता के भीतर क्षोभ भर दिया। युद्ध के बाद विजयी मित्र-राष्ट्रों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे उपनिवेशों के प्रश्न को नये ढंग से उठायें। भारतवर्ष में शान्ति-पूर्वक राज्य-परिवर्तन के सारे प्रयत्न असफल हो गये और धार्मिक विद्वेष के प्रेत एक बार फिर भारतीय रंगमंच पर अब ताण्डव नृत्य करने लगे। इस स्थिति का एकमात्र समाधान था भारतवर्ष का विभाजन। १९४७ में हमने स्वतंत्र भारत के रूप में एक नये राष्ट्र को जन्म दिया। परन्तु पिछले आठ-दस वर्षों की राजनीतिक और आर्थिक अराजकता से पीछा छुड़ाना इतना सरल नहीं था। स्वाधीनता-प्राप्ति के अगले दो-तीन वर्षों में हमें जिस अन्तर्पीड़ा के भीतर से गुजरना पड़ा, वह सामान्य वस्तु नहीं थी। फल यह हुआ कि संसार को देखने का हमारा ढंग एकदम बदल गया। धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में जिन नयी परिस्थितियों ने जन्म लिया, वे इतनी विषम थीं कि मध्यवर्ग के एक बड़े भाग के लिए आत्म-विश्वास सँजोये रखना बहुत कठिन काम बन गया। आलोच्यकाल के बीस वर्षों के सांस्कृतिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि परंपरागत मानवमूल्यों पर से हमारा विश्वास उठ गया है और हमें नये राष्ट्रीय जीवन के अनुरूप नये समाधानों की खोज करनी पड़ी है।

वास्तव में दूसरे महायुद्ध के बाद की हमारी मनःस्थिति बहुत कुछ पहले महायुद्ध के बाद की यूरोपीय मनःस्थिति से मिलती-जुलती थी। पहले महायुद्ध के बाद भारतवर्ष में महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वाधीनता के आन्दोलन का जन्म होता है और अदम्य आशा और विश्वास से भरकर हम अपने उस नव-जागरण के अन्तिम चरण में प्रवेश करते हैं, जिसका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में राजा राममोहनराय से होता है। प्रथम महायुद्ध के बाद की हमारी मनःस्थिति यूरोप के एकदम विपरीत है। यूरोप ने जिस हत्याकाण्ड को देखा और सहा था उससे हम बहुत कुछ बच गये थे। दूसरे महायुद्ध में भारत की सेनाओं ने ही मित्र राष्ट्रों के साथ भाग नहीं लिया, हमारी आर्थिक स्थिति भी पश्चिम की अर्थनीति के साथ बँध गयी और युद्धव्यय के शोषण ने हमारे देश पर

भी प्रभाव डाला। युद्ध के फलस्वरूप जहाँ उद्योग-धंधों में उन्नति हुई और समाज का ठेकेदार व्यापारी-वर्ग सम्पन्न बन गया, वहाँ मजदूरों और श्रम-जीवी जनों की संस्था-वृद्धि के साथ मजदूर आन्दोलनों का भी जन्म हुआ। सार्त्र ने अपने एक उपन्यास में प्रथम महायुद्ध के बाद का जो वर्णन किया है वह द्वितीय महायुद्धोत्तर भारतवर्ष पर भी लागू होता है।[1] इस उपन्यास के प्रधान पात्र स्कूल के अध्यापक मांत्यु ने अपने चारों ओर के टूटे जीवन के सम्बन्ध में जो सोचा है, सम्भवतः वही द्वितीय महायुद्ध के बाद का भारतवासी भी सोचता था। वह जहाँ एक नये प्रभात में प्रवेश कर रहा था, वहाँ साथ ही अपने पिछले युग के सम्बल से उसने छुटकारा प्राप्त कर लिया था। उसे राष्ट्रीय सामाजिक और सांस्कृतिक सभी धरातलों पर नया जीवन जीना था। आधुनिक साहित्य प्रमुख रूप से मध्यवर्गीय साहित्य रहा है और पिछले बीस वर्षों के साहित्य में मध्यवर्ग की बदलती हुई मनोवृत्तियों के साथ हमारे साहित्य की दिशाओं में भी परिवर्तन हुआ है।

नयी परिस्थितियों का साहित्यकारों पर प्रभाव दो रूपों में सूचित होता है। साहित्यकारों का एक वर्ग नये परिवर्तन से आश्वस्त था, वह भविष्य के प्रति आस्थावान

---

१. Gean Paul sartre—'The Reprieve'

'The Post-war epoch was beginning, the begining of peace. Gazz was a beginning, and the Cinema, which I so much enjoy, was also a beginning. Surrealism too; and communism. I hesitated, I chose with care. I had time enough. Time, peace they were the same. And now that future lies at my feet, dead. It was a spurious future, an imposture. He searched those twenty years, like an expanse of sunlit sea, and he now saw them as they had been : a finite number of days compressed between two high, hopeless walls, a period duly catalogued, with a prelude and an end, which would figure in the history manuals under the heading. Between the two wars. Twenty years : 1918-38. Only twenty years : Yesterday it had seemed both a shorter and a longer period : and indeed no one would have thought to estimate it, since it had not ended. Now it has ended. A spurious future. All the experience of the last twenty years have been spurious. We were energetic and serious we tried to uuderstand, and here is the result : those lovely days led to a dark and secret future, they deceived us; today war, the new Great War. stole them surreptitiously away. Without knowing it we were cucholds. And now the war is there, my life is dead : that was my life : everything must bo started afresh.

उसने भारत की राष्ट्रीय स्वतंत्रता का स्वागत किया और सत्ताधारी कांग्रेस दल से साधुवाद प्राप्त करने का प्रयत्न किया। स्वाधीन भारत के लिए यह आवश्यक था कि वह सूचना-प्रसार, शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्रों में साहित्यकारों की मेधा का उपयोग करें। आजादी के बाद सरकार को विभिन्न राज्यों और केन्द्रों में सूचना और प्रसारण मन्त्रालयों की योजना करनी पड़ी तथा सरकारी विचारधारा को जनता तक पहुँचाने के लिए सम्पादकों एवं अग्रलेख लिखने वाले लेखकों के रूप में अनेक साहित्यकारों की नियुक्ति करनी पड़ी। रेडियो में भी उन्हें स्थान मिला। नयी शिक्षा-संस्थाओं और सांस्कृतिक मण्डलों में भी उनकी माँग हुई। इस प्रकार लेखकों, कवियों और मसिजीवियों का एक बड़ा भाग सरकार के द्वारा वेतनभोगी बना लिया गया। इन साहित्यकारों ने पूर्व परम्परा के साहित्य को ही आगे बढ़ाया। वे किसी नयी लीक के डालने में समर्थ नहीं हुए।

इसके विपरीत सरकारी नौकरियों और सरकारी संस्थाओं से बाहर रहनेवाले साहित्यकारों ने जनता के कष्टों का अनुभव किया तथा स्वप्न-भंग की स्थिति से आगे बढ़कर वे धीरे-धीरे सत्ता के प्रति आक्रोश और अन्त में विरोध की स्थिति में आ गये। उन्होंने विषम परिस्थितियों से मार्ग निकालकर नवजीवन की ओर बढ़ना चाहा। इन कवियों और साहित्यकारों में हमें निर्माण की अपेक्षा विध्वंस और परम्परा की अपेक्षा प्रयोग ही अधिक मिलता है। स्वीकार एवं विरोध के इन दो चक्रों के भीतर से ही हमारे आलोच्य युग का साहित्य आगे बढ़ता है।

आलोच्य युग का साहित्य

आलोच्य युग के प्रारम्भ काल में छायावादोत्तर काव्य तथा प्रगतिवादी काव्य के रूप में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ काव्य-क्षेत्र में मिलती थीं। छायावादोत्तर काव्य में बच्चन 'अंचल' और नरेन्द्र शर्मा की रचनाएँ प्रमुख हैं। इन रचनाओं में जहाँ एक ओर छायावाद काव्य के शिल्प का ही विकास हमें मिलता है, वहाँ दूसरी ओर जीवन के प्रति अधिक स्वस्थ और मांसल दृष्टिकोण भी दिखाई पड़ता है। छायावाद के कवि कल्पनाओं और स्वप्नों में खो गये थे। उन्होंने सामयिक जीवन से अपना सम्बन्ध तोड़ दिया था। ये नये कवि उतनी ऊँची उड़ान में समर्थ नहीं थे। उन्होंने ठोस धरती पर खड़ा होने में सुरक्षा समझी। प्रेम के अतीन्द्रिय रूप के स्थान पर उन्होंने उसके वासनात्मक रूप को पाठकों के सामने रखा। इन वर्षों में ही सामाजिक सन्दर्भ को लेकर चलनेवाली प्रगतिवादी काव्य-धारा का जन्म हुआ। यह काव्य-धारा रूस की साम्यवादी विचार-धारा की पक्षपाती थी। द्वितीय महायुद्ध में भारतीय कम्युनिस्टों ने अंग्रेजी सरकार का साथ दिया था, क्योंकि रूस मित्र-राष्ट्रों में सम्मिलित था। फलस्वरूप उन दिनों कम्युनिस्ट विचार-धारा का व्यापक रूप से प्रसार हुआ था और साहित्य के क्षेत्र

मे प्रगतिवादी धारा मुख्य रूप से साम्यवादी विचारों से पोषित हुई। छायावादी कवियो मे पन्त और निराला का उत्तरकाव्य प्रगतिवाद के आन्दोलन से ही सम्बन्धित है। बाद मे डॉक्टर रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, शिवदानसिंह चौहान, केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन आदि कवियो ने प्रगतिवादी काव्य एवं साहित्य को विशेष रूप से विकसित किया। ये दो धाराएँ एक प्रकार से साथ-साथ चलती रही हैं। हम प्रगतिवादी काव्य को भी छायावादोत्तर काव्य के अन्तर्गत रख सकते हैं। आलोच्य युग में छायावादी प्रवृत्तियों के साथ छायावादोत्तर काव्य और प्रगतिवादी काव्य की प्रवृत्तियां भी चलती रही हैं, परन्तु कुछ विशेष कारणों से नयी कविता के रूप में एक नयी काव्यधारा का जन्म होता है, जो प्रयोगों को बहुत अधिक महत्व देती है और व्यक्तिवादी भूमिका पर बिम्बों और प्रतीकों की खोज करती है।

इस नयी कविता की धारा को हम पश्चिम के Symbolism अथवा प्रतीकवाद के आन्दोलन से सम्बन्धित कर सकते हैं। यूरोप में इस आन्दोलन का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में अन्तिम बीस वर्षों में मलार्मे, पाल वेलरी आदि फ्रेंच कवियो से होता है और बीसवीं शताब्दी में टी० एस० इलियट तक इस आन्दोलन का प्रसार है। इस आन्दोलन ने यूरोपीय काव्य-चेतना को प्रयोगों की नयी भूमि दी है और उसे नयी माधुरी से पुष्ट किया है। हिन्दी में इस आन्दोलन के पुरस्कर्ता 'अज्ञेय' हैं। उनके आरम्भिक काव्य मे हमें छायावाद के भाव और शिल्प के दर्शन होते हैं, परन्तु १९४० के बाद उनका काव्य अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व निर्माण करने में सफल होता है। आलोच्य काल में नयी कविता की धारा हिन्दी काव्य की केन्द्रीय धारा रही है।

स्वातंत्र्योत्तर साहित्य की एक अन्य प्रवृत्ति यथार्थवाद की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति जीवन की समीक्षा को अपना विषय बनाती है। वैसे प्रेमचन्द में भी आदर्श के साथ हमें पर्याप्त यथार्थ मिलता है और उन्होंने अपनी कला के लिए 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' नाम हमें दिया है। परन्तु बाद में एक स्वतन्त्र साहित्यधारा के रूप में यथार्थवाद का प्रचार हुआ तथा उसके कई स्वरूप साहित्य में प्रतिष्ठित हुए, जहाँ एक ओर मोपासां, बाल्ज़ाक, जोला आदि साहित्यकारों से प्रेरणा लेकर प्रकृतिवादी यथार्थवाद अथवा नग्न यथार्थवाद को आधार बनाकर रचनाएं प्रस्तुत की गई हैं, वहाँ दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद के रूप में नयी यथार्थवादी धारा भी साहित्य में आयी। यथार्थवाद आलोच्य युग की सबसे प्रशस्त साहित्यिक भूमिका है तथा उपन्यास एवं कहानी के साथ उसने काव्य के क्षेत्र में भी प्रवेश किया है। सम-कालीन लेखकों ने फ्रायड, युंग और एडलर की मनोविश्लेषणात्मक मान्यताओं को अनेक प्रकार से अपने साहित्य में लिया है तथा मनोवैज्ञानिक लेखन का एक नया आयाम इस युग में हमारे सामने आता है। वह स्वतन्त्र धारा के रूप में भी चलता है और यथार्थ-

वाद का आश्रय लेकर उसके साथ एक नयी साहित्यिक शैली का भी निर्माण करता है। यह स्पष्ट है कि काव्य और साहित्य के क्षेत्र में ये नयी धाराएँ हमारे स्वातंत्र्योत्तर जीवन से ही अनुप्राणित हैं। इसमें हमारे नये जीवन और नयी सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं की अभिव्यक्ति भी है। यह कहा जा सकता है कि अनेक रूपों में स्वाधीनता के बाद का हमारा जीवन पूर्व जीवन से भिन्न और अपेक्षाकृत अधिक उलझा हुआ है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए नये साधनों की आवश्यकता पड़ी है। ये नये साधन नयी साहित्य-प्रवृत्तियों का रूप धारण करते हैं। साहित्य को जीवन की व्यापकतम और गंभीरतम संवेदना देने का प्रयत्न आलोच्य युग के साहित्यिक प्रयत्नों को अनेक प्रकार से विशिष्ट बनाता है। विचारों के जगत में जिस नयी उत्क्रांति का अनुभव उसने किया है, उसे काव्य, कथा तथा रंगमंच के माध्यमों से सर्जनात्मक स्वरूप देना ही इस स्वातंत्र्योत्तर युग के कवि और कलाकार का धर्म रहा है। इस परिवेश से अलग रहकर हम स्वातंत्र्योत्तर साहित्य के प्रति न्याय ही नहीं कर सकते, क्योंकि वह सामयिक जीवन से पूर्णतः संपृक्त है और उसमें स्वीकार और विरोध के सूत्र स्पष्ट रूप से दौड़ते हैं।

इस युग में नयी स्वाधीन चेतना और शिक्षा-प्रसार के नये प्रयत्नों के कारण लोगों में लिखने-पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ी, जिसके फलस्वरूप हिन्दी को बहुत बड़ी संख्या में लेखक और पाठक प्राप्त हुए। प्रजातंत्र का आधार ही सार्वजनिक शिक्षा है। इसलिए स्वातंत्र्योत्तर युग में लगभग प्रत्येक वर्ष अनेकानेक शिक्षा-संस्थाओं का जन्म हुआ है और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा का विस्तार जिस तीव्र गति से हुआ, उससे यह अनिवार्य था कि शिक्षा का मान नीचे गिरे। परन्तु साक्षरों की इस बाढ़ के कारण साहित्य समझी जाने वाली रचनाओं को बड़ी लोकप्रियता मिली। सच तो यह है कि ये लोकप्रिय रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आतीं। इन रचनाओं में सस्तेपन को ही साहित्य के नाम से चलाया गया है। उपन्यास के क्षेत्र में कुशवाहाकांत, गुलशन नंदा, गुरुदत्त, भारती आदि साहित्यिक प्रेम के इसी सस्तेपन के प्रतीक हैं। स्वातंत्र्योत्तर युग में साप्ताहिक और मासिक पत्रों की बाढ़ सी आ गई और उनके पृष्ठ भरने के लिए चलती हुई लोकप्रिय रचनाओं की माँग बढ़ी। उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में ही नहीं, निबंध और काव्य के क्षेत्र में भी हमें यह सस्तापन दिखाई देता है। फल यह हुआ कि विशुद्ध साहित्य एवं लोकप्रिय साहित्य के रूप में साहित्य की दो शाखाएँ हुई हैं। विशुद्ध साहित्य पढ़े-लिखे शिक्षित वर्ग के आनन्द की वस्तु था और उसकी संवेदना, संभ्रांत जीवन और उच्च संस्कारों को लेकर चलती थी। इसके विपरीत लोक-प्रिय साहित्य निम्न मध्यवर्ग और सामान्य जनता का साहित्य बन गया। इनमें साहित्य के विशिष्ट और सुन्दर उपकरणों का बहुधा अभाव ही रहता है। विशुद्ध और लोक-प्रिय साहित्य का यह द्वन्द्व स्वस्थ साहित्य के निर्माण में बाधक रहा

है। लोकप्रिय साहित्य पत्र-साहित्य (Periodical Literature) की तरह क्षण-जीवी होता है और वह साहित्य के इतिहास का अंग नहीं बन पाता। इसलिए हमने अपने इस शोध-प्रबंध में उसे अध्ययन का विषय नहीं बनाया है। वह विचारात्मक साहित्य है भी नहीं। उसके आकर्षण के विषय यौन-जीवन की विकृतियाँ तथा भावुकता-पूर्ण सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। शिक्षा-प्रसार की इस तीव्र गति के साथ स्वातंत्र्योत्तर युग में जनता के आनन्द के साधनों में भी वृद्धि हुई। समाचारपत्र, रेडियो, सिनेमा और टेलिविज़न, आधुनिक जगत में मनोरंजन के चार प्रमुख साधन हैं। इनमें से अन्तिम उपकरण अभी पिछले एक-दो वर्षों में हमारे यहाँ प्रवेश कर सका है और केन्द्रीय राजधानी दिल्ली तक सीमित है। परन्तु शेष तीनों में पिछले बीस वर्षों में आश्चर्यजनक गति से उन्नति हुई। सामान्यतः समाचारपत्रों और मासिक पत्रों से कोई शिकायत नहीं हो सकती, क्योंकि उससे जनता के ज्ञान का धरातल ऊपर उठता है तथा मनोरंजन के साथ वह समसामयिक संस्कृति में भी दीक्षित होती है। परन्तु रेडियो और सिनेमा मनोरंजन के साधन ही अधिक रहे हैं। यद्यपि आकाशवाणी का सञ्चालन राष्ट्रीय सरकार द्वारा होता है और आरम्भ में उसमें बालकृष्ण राव, भगवतीचरण वर्मा और सुमित्रानन्दन पन्त जैसे हिन्दी के माने-जाने कवियों और लेखकों को आमंत्रित कर अपने प्रसार के स्तर को ऊँचा उठाना चाहा, किन्तु अन्त में धीरे-धीरे यह संस्था प्रसार के सामान्य धरातल पर लौट आयी। समसामयिक जीवन, साहित्य और संस्कृति के विकास में उसका योगदान किसी भी प्रकार महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। चित्रपटों का व्यवसाय, बंबई मद्रास और कलकत्ता के मारवाड़ी और पारसी धनपतियों के हाथ में केन्द्रित है जो बाजार के सस्तेपन को ही सर्वाधिक मान्यता देते हैं और उनके लिए पैसा ही एकमात्र धर्म है। साहित्य और संस्कृति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। इस क्षेत्र में प्रेमचन्द की असफलता से भी लोगों की आँखें नहीं खुली थीं और स्वातंत्र्योत्तर युग में भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और अमृतलाल नागर आदि बहुत से हिन्दी लेखक इस क्षेत्र में पहुंचे। परन्तु अन्त में असफलता ही उनके भी पल्ले पड़ी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शिक्षा और मनोरंजन के साधनों के प्रसार के साथ जन-रुचि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ और साहित्य-चेतना को कुछ थोड़े से विशिष्ट शिक्षित जनों तक सीमित रहना पड़ा।

इस स्थिति का विशुद्ध साहित्य पर भी प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। साहित्यकारों का एक वर्ग मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के नाम पर जनता की हीन काम-वृत्तियों को प्रश्रय देने लगा। सुसंस्कृत भाषा-शैली के आवरणों के नीचे छिपी हुई असाहित्यिक वृत्तियों के दर्शन हमें इस युग की अनेक रचनाओं में मिलते हैं। पश्चिमी साहित्य में जेम्स ज्वाइस (James Joyce), डी० एच० लारेन्स (D. H. Lawrence) और

वर्जीनिया वूल्फ (Virginia Woolf) जैसे अनेक लेखकों ने मानव-मन के अवचेतनीय स्तरों के विस्फोट और अन्तर्जीवन की असंगतियों को अत्यन्त आकर्षक कथाओं का विषय बनाया था। इन सब लेखकों का इस युग के तथाकथित साहित्यकारों ने अनुकरण किया। इसका फल यह हुआ कि गांधी युग के आदर्शवाद और उस युग के साहित्य की नैतिकता से नीचे उतर कर हम निम्न कोटि के यथार्थवाद और उद्वेलनात्मक (Sensational) चमत्कारों तक ही सीमित रहे। निश्चय ही साहित्य के लिए यह दिशा स्वस्थ नहीं कही जा सकती।

इस युग की एक अन्य मुख्य प्रवृत्ति पश्चिमी साहित्य का अन्धाधुन्ध अनुकरण है। कवियों और लेखकों में विचित्रता और नवीनता का आग्रह इतना बढ़ गया कि परम्परा बहुत पीछे छूट गयी। कवियों और कथाकारों ने यूरोप और अमरीका के नये-नये वादों और लेखों से प्रेरणा प्राप्त की। इसके फलस्वरूप स्वातन्त्र्योत्तर युग का साहित्य बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी पौधे की ऐसी कलम बन जाता है जिसे बलपूर्वक नयी धरती मे रोप दिया गया हो। उसमें यदि धर्महीनता, कुंठा, अवसाद और वासनाओं के तिक्त फल लगें तो आश्चर्य ही क्या है! प्रयोगवादी और प्रगतिवादी कवियों में हम समान रूप से यौन-वर्णन पाते हैं और इन्द्रियों के संवेदन का व्यापार सब कहीं समान रूप से चलता है। एक प्रकार की आत्मगत पीड़ा से इस युग का बहुत सा साहित्य आक्रांत है। सम्भवतः मध्यवर्ग का साहित्यकार अपने विशेष अधिकारों को सुरक्षित रखने में समर्थ न रहकर समस्त युग के प्रति शंकाग्रस्त हो उठा है। उसने भारतीय संस्कृति के गौरवपूर्ण अतीत के प्रति आँखें मूँद ली हैं और अपने स्वतंत्र राष्ट्र के भविष्य के प्रति भी उसमें कोई बडी आस्था नहीं है। वह केवल वर्तमान में जीता है। काव्य के क्षेत्र में 'क्षणवाद' का आन्दोलन एक प्रकार से दुर्बल मनःस्थितियों की ही उपज है। सच तो यह है कि स्वाधीनता के बाद हमारा कवि और साहित्यकार यूरोप के उन्नत देशों के बीच पहुँचकर सहसा चौराहे पर खड़ा हो गया है और वहाँ की समृद्धि तथा प्रगतिशीलता से स्तंभित रह गया है। उसमें उधार की मनोवृत्ति बढ़ी। अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति उसमें कोई मोह ही नहीं रह गया। जहाँ राष्ट्रीय भारती के लिए अपने स्वतंत्र साहित्यिक मानदण्डों का आविष्कार आवश्यक था, वहाँ हमारा साहित्यकार विक्टोरिया-युग के बाद के इंग्लैन्ड और यूरोप के नित्य नवीन वादों का शिकार हुआ। परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि यह वर्ग नवयुवक कवियों और कलाकारों का वर्ग था। नवीनता के प्रति उसका आकर्षण नये साहित्य-सर्जनों की आवश्यक शर्त है। उसकी रचनाओं में जो अतिवाद दिखलाई पड़ता है, उसका मुख्य कारण हमारी शिक्षा में राष्ट्रीयता का अभाव था। गाँधी-युग की राष्ट्रीय शिक्षा में प्रयत्नों की असफलता के बाद हमारे शिक्षाविदों ने हथियार डाल दिये और हमारी शिक्षा पश्चिम के संस्कारों और भावों से भर गयी। इसके फलस्वरूप

मौलिकता के नाम पर अनुकरण का सिक्का चलने लगा और राष्ट्रीयता तथा आदर्श को लेकर चलने वाला कवि और साहित्यकार रूढ़िवादी और अगतिगामी माना जाने लगा। नये और पुराने का यह द्वन्द्र समसामयिक युग में नयेपन की विजय के रूप में समाधान पाता है। परन्तु उसमें हमारा अपना कुछ नहीं ठहरता। पिछले युग के हमारे कवि और लेखक पश्चिमी काव्य और साहित्य से कम परिचित नहीं थे, परन्तु उन्होंने पश्चिम के समसामयिक कवियों और साहित्यकारों की रचना को आदर्श नहीं बनाया था।[1] वे पिछले युगों के माने-जाने कवियों, कलाकारों और साहित्यिक आन्दोलनों को ही अपना विशिष्ट प्रेरणा-स्रोत बनाकर चले थे। कविता के क्षेत्र में शेक्सपियर, मिल्टन, गोल्डस्मिथ पोप और रोमान्टिक धारा के अंग्रेजी तथा यूरोपीय कवि उनकी आशंसा और अनुकरण के विषय हैं। गद्य के क्षेत्र में डिकेन्स और थैकरे, तुर्गनेव और टालस्टाय, मोपासा और बालजक, बेकन, मान्तेन और इमर्सन उनके सामने ज्वलन्त दीपशिखा के रूप में थे। ये सब उस युग के कवि और लेखक थे जो बीत चुका था और इतिहास बन चुका था। इनकी रचनाओं की दुर्बलता से भी हम परिचित हो चुके थे। यूरोप और अमरीका के ये बहुचर्चित कवि और लेखक हमारे लिए मार्गदर्शक बने और अठारह सौ साठ से उन्नीस सौ चालिस तक के अस्सी वर्षों में हमने साहित्य के सभी क्षेत्रों में अत्यन्त सशक्त और प्राणवान रचनाएँ प्रस्तुत कीं, जिनमें हमारी नवजागरण की चेतना प्रतिबिंबित थी। स्वातंत्र्योत्तर युग में इसके विपरीत हम यूरोप और अमरीका से समसामयिक अथवा अभी कुछ पहले कल के कवियों और लेखकों से प्रभावित हुए। उनकी रचनाओं में जगमगाहट अधिक थी। उन्होंने हमें आकर्षित ही नहीं किया, हम उनकी चकाचौंध में आ गये। जो धाराएँ और प्रवृत्तियाँ प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप की छायाग्रस्त मनोवृत्ति की सूचक थी, वे हमारी प्रियता की अधिकारी बनीं और अन्त में हमारे भीतर कुण्ठा और अवसाद की जड़ें जमाने में सफल हुईं। हमारे राष्ट्रीय साहित्य को जैसा होना चाहिए, वैसा यह हमारा स्वातंत्र्योत्तर युग का साहित्य नहीं हो सका। उसमें हम परंपरा-विच्छिन्न एकदम नयी कोटि के मनुष्य के रूप में सामने आते हैं, जो हमारा पहचाना हुआ नहीं है।

समसामयिक साहित्य की विशिष्टता

आलोच्य युग का साहित्य कहाँ विशिष्ट है? उसमें हमें कौन-सी ऐसी नयी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं जो पूर्ववर्ती साहित्य से एकदम भिन्न हैं? उसे हम परम्परा और विकास के रूप में देखें अथवा एक नवीन विस्फोट या रूपान्तर के रूप में? उसमें हम गांधी-युग का ह्रास देखें अथवा उसमें आगे बढ़ा हुआ सोपान? उसमें परम्परा और

---

१. देखिए आचार्य वाजपेयीकृत 'आधुनिक-साहित्य', भूमिका, पृ० १०-१२।

प्रयोग की क्या स्थिति थी ? उसकी विशिष्टता विषय-वस्तु (Content) को लेकर है या रूप (Form) को लेकर ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो आलोच्य युग के साहित्य के अध्येता के सामने बराबर आते है और उसके मन में अनेक प्रकार की शंकाएं उठाते हैं, जिनका समाधान उसके लिए आवश्यक हो जाता है।

गांधी-युग की साहित्य की अपेक्षा इस अगले अथवा नेहरू-युग का साहित्य अधिक संश्लिष्ट (Complex) है। उसकी संश्लिष्टता का कारण यही है कि हम अपने चारों ओर के जीवन को अधिक जागरूकता से देख रहे हैं। जीवन के यथार्थ के प्रति हमारी आँखें खुल गयी है। हम परम्पराओं के प्रति अविश्वासी बन गये हैं और प्रयोगों में ही जीवित रहना चाहते हैं। गांधी-युग में एक ओर आदर्श और दूसरी ओर रोमांस को लेकर हमने उदात्त चेतनामूलक साहित्य की सृष्टि की। अध्यात्म, नैतिकता और इतिहास-चेतना से मण्डित नया साहित्य हमारे सामने आया, उसमें विद्रोह की सप्राणता थी तो निर्माण का नया उन्मेष भी था। उन्नीस सौ बीस के बाद भारतीय चेतना अपने अतीत के प्रति अस्वस्थ होकर एक सुन्दर और सम्पन्न भविष्य की कल्पना की ओर आगे बढ़ती है। वह यथार्थ जीवन को एकदम छोड़ नहीं पाती, परन्तु उसे अपनी भावना और कल्पना के रंग में रँगकर, सुन्दर और आकर्षक बना देती है। एक नये राष्ट्रीय जीवन के स्वप्नों का निर्माण आलोच्य युग के पूर्व हो चुका था। परन्तु सत्याग्रह आन्दोलन की असफलता, विदेशीय सत्ता की दमन-नीति, द्वितीय महायुद्ध की विभीषिकाओं और आर्थिक विसंगतियों आदि ने गांधी-युग के मानव-मूल्यों को नये युग के लिए व्यर्थ कर दिया है। विचारशील लोगों ने यह अनुभव किया कि केवल राष्ट्रीयता के प्रचार और प्रसार से हमारी समस्त समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है। राजनैतिक आन्दोलनों में बौद्धिकता का प्रवेश हुआ। और राष्ट्रीय राजनीति पर दलगत राजनीति का विकास हुआ परन्तु उन्नीस सौ सैंतालिस तक जब तक भारतवर्ष स्वतन्त्र राष्ट्र नहीं बना, सबसे बड़ी समस्या राष्ट्रीय स्वतन्त्रता ही थी। इसी मोर्चे पर विभिन्न विरोधी स्वार्थ एक बिन्दु पर आकर मिलते थे। साहित्य में आदर्श और यथार्थ, भावना और कल्पना, स्वच्छंदतावाद और प्रगतिवाद सभी का उद्देश्य यही था कि उनके द्वारा राष्ट्रीय स्वतंत्रता की भावना की अभिव्यक्ति हो और राष्ट्रीय जन का व्यक्तित्व उभर कर सामने आया। हमारे स्वाधीनता के आंदोलन ने हमें आन्तरिक शक्ति से मण्डित किया और उसी ने हमारे भीतर अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की परिकल्पना जगायी, परन्तु १५ अगस्त, १६४७ को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के साथ खण्डित भारतवर्ष एक ऐसे युग में प्रवेश करता है जो अन्तर्विरोधों और संघर्षों से भरा हुआ है और जिसमें समस्याओं का अन्त ही नहीं है। राष्ट्रीय उद्देश्यों का विकेन्द्रीकरण हो जाता है और विभिन्न जनों, वर्गों, धर्मों, प्रान्तों सम्प्रदायों और भाषाओं के

स्वार्थ चुनौती लेकर सामने आते हैं। टकराते हुए स्वार्थों के संघर्ष से बुद्धिवाद को विशेष प्रश्रय मिलता है। हम तर्क-वितर्क और विचार के द्वारा अपनी समस्याओं का हल करना चाहते हैं। समस्याएँ अनेक हैं और विचार की भूमिकाएँ भी अनेक हैं। बौद्धिकता का यह अतिवादी आग्रह हमारे चिन्तन और साहित्य को पूर्ववर्ती चिन्तन और साहित्य की विपरीत दिशा में एक नया मोड़ देता है। इसके फलस्वरूप लेखों, निबन्धों, सम्पादकीयों, अग्रलेखों, टिप्पणियों, भाषणों तथा अभिभाषणों की बाढ़ आ जाती है और विचार के क्षेत्र में अभूतपूर्व जागृति के दर्शन होते हैं। चारों ओर टकराहट है। प्रत्येक वर्ग अपने विचार को ही सर्वश्रेष्ठ मान रहा है। सब कहीं नये मूल्यों की खोज का आग्रह है। द्वितीय महायुद्ध के बाद के नवनिर्माण और स्वतन्त्र राष्ट्र की आवश्यकताओं ने हमारे लिए इसके अलावा कोई मार्ग नहीं छोड़ा है कि हम विचारशील बनें और समस्याओं की ओर सीधे और निर्भीकता पूर्वक देखें। इसीलिए स्वातंत्र्योत्तर युग के साहित्य में विचारात्मकता की ही प्रधानता है। यह विचारात्मकता पिछले युगों के बंधी-सधी चिन्तन-शैली से भिन्न और स्वतन्त्र वस्तु है। उसमें व्यक्तिवाद की प्रधानता है। जितने व्यक्ति उतने समाधान। ये समाधान भी सुधारवादी, राष्ट्रीय न होकर क्रान्तिकारी तथा सार्वजनिक है। यद्यपि स्वातंत्र्योत्तर युग के सर्जनात्मक साहित्य काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी आदि में भी युग की नयी विचारणाएँ अनेक प्रकार से प्रतिबिम्बित हैं, परन्तु निबन्धों, लेखों और पुस्तकों के रूप में ही उनका पल्लवन अधिक मिलता है। इस वैचारिक हलचल की जानकारी के बिना हमारे लिए युग-बोध की प्राप्ति असंभव बात है।

पूर्व और पश्चिम

स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए यही आवश्यक नहीं था कि वह प्रतिदिन की समस्याओं पर विचार करे और उन समस्याओं को हल करे। उसके लिए यह भी आवश्यकता थी कि अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के अनुकूल नये जीवन-मूल्य खोज निकालें, जिनमें सनातन भारतीय संस्कृति और अर्वाचीन संस्कृति का संगम हो। उसके लिए पूर्व और पश्चिम में से किसी को भी छोड़ देना सम्भव नहीं था। पिछले दो सौ वर्षों में पश्चिम से हमने बहुत कुछ प्राप्त किया था। विज्ञान और टेकनोलाजी पश्चिम की नयी चीजें थीं परन्तु उसने बड़ी शीघ्रता से अपने सामाजिक, आर्थिक जीवन को उनके अनुरूप ढाल लिया था और प्रारम्भिक ईसाई-मानवतावाद (Christian Humanitarianism) से आगे बढ़कर वैज्ञानिक मानवतावाद (Scientific Humanism) के रूप में नये जीवनादर्शों की सृष्टि की थी वैज्ञानिक मानवतावाद के भी दो स्वरूप पश्चिम में विकसित थे। एक पूँजीवाद के रूप में पश्चिमी यूरोप और अमरीका में और दूसरा साम्यवाद के रूप में रूस में। स्वतन्त्र भारत के सामने प्रश्न यह था कि वह इन दोनों में से किस प्रकार के मानवता-

वादी स्वरूप को अपनाये। वह पूँजीवादी व्यवस्था को अपने नये जीवन का आधार बनाये अथवा साम्यवाद को ? उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण में भारतवर्ष ने उस समय तक के पूर्वी-पश्चिमी विचारों और जीवन-व्यापारों के समन्वय से एक नयी सांस्कृतिक कल्पना को जन्म दिया था, जिसके निर्माण में राजा राममोहन राय से महात्मा गांधी तक अनेक महापुरुषों ने योग दिया था। नयी राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण यह सांस्कृतिक समन्वय उन्नीस सौ छत्तीस के बाद ही टूटने लगा था और द्वितीय महा-युद्ध के आर्थिक संकटों, नियन्त्रणों और दमन ने इसे एकदम चकनाचूर कर दिया। स्वतन्त्र भारतवर्ष के रूप में हमें जो मिला, वह हमारे अतीत गौरव का कंकाल मात्र था। नयी पीढ़ी के नवयुवकों को प्राचीन सब कुछ हास्यास्पद लगने लगा और वे उसे एकदम महत्वहीन और अनावश्यक समझने लगे। अपनी सम्पूर्ण परम्परा को तिलांजलि देकर ये नवयुवक वर्ग तत्कालीन जीवन और उद्देश्यों को लेकर नयी संस्कृति के निर्माण की ओर आगे बढ़ा। उसकी चेतना में सब कुछ ह्रस्व हो गया था। गांधी-युग अथवा छायावादी युग के लिए यदि कोई शब्द सबसे अधिक सार्थक है तो वह है उदात्त, और उसके एकदम विपरीत स्वातंत्र्योत्तर युग के लिए यदि कोई शब्द है तो वह है ह्रस्व। अध्यात्म, प्रेम, प्रकृति और मानव में जिस उदात्त और ऐश्वर्य की स्थापना गांधी-युग अथवा छायावाद युग में रही थी, वह हमें असंगत प्रतीत हुई और उसे हमने 'पलायनवाद' कहा। हमने व्यावहारिक बनना चाहा और इन सबके छोटे संस्करण लेकर चले।[1] हमारी नये मनुष्य की खोज ऐसे मनुष्य की खोज थी जो अर्थ और काम को ही महत्व देगा और धर्म तथा मोक्ष की संकीर्ण गलियों में विचरण नहीं करेगा। नये युग ने आध्यात्मिकता को एकदम अस्वीकार कर दिया, यहाँ हम शिक्षित वर्ग और बुद्धिजीवियों की बात कह रहे हैं, सर्वसाधारण की नहीं। यह शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग ही सामान्य जन-समाज का नेता था और इसी के आदर्श और विचार नीचे उतरकर जनता में फैल रहे थे। उन्नीस सौ अड़तालीस में एक हिन्दू नवयुवक द्वारा महात्मा गांधी की हत्या यह स्पष्ट रूप से घोषित करती है कि हमारे वे आध्यात्मिक मूल्य नष्ट हो चुके थे, जिनके प्रतीक राष्ट्रपिता थे। एक ओर साम्प्रदायिक बुद्धि और दूसरी ओर नास्तिकता का फैलाव था। स्वातंत्र्योत्तर युग में आध्यात्मिकता के नाम पर साहित्य में यदि कुछ मिलता है तो वह अरविन्दवाद है, जिसकी छाया में सुमित्रानन्दन पन्त, विद्यावती कोकिल, 'नीरज' और वीरेन्द्र मिश्र की रचनाएँ हुई थीं। अरविन्दवाद वेदांत की एक नयी व्याख्या है, जिसमें आधुनिकता का पर्याप्त समावेश है और वह यूरोप के दर्शन तथा मनोविज्ञान से भी प्रकाश प्राप्त करता है। उसे 'समग्र योग' (Integrated yoga) कहा

---

१ D P Mukerji Modern Indian culture pp 141

गया और पूर्व-पश्चिम के अनेक मनीषियों ने उसे मनुष्य का भविष्यती जीवन-दर्शन माना। परन्तु अध्यात्म का यह नया स्वरूप नास्तिकता और सांप्रदायिकता की विशाल मरुभूमि में एक छोटे से हरे-भरे कुंज के समान है जो थोड़े से लोगों को ही विश्राम दे सकता है। वास्तव में स्वतन्त्र भारत का आग्रह भौतिक जीवन की ओर ही अधिक रहा है। स्वाधीनता के प्रभात में जब हमने आँखें खोलीं तो अपने को नितान्त निरीह और समस्त अभावो से पीड़ित पाया। दो शताब्दियों के विदेशी साम्राज्यवादी शोषण ने हमारा सारा रक्त चूस डाला था। फलतः हमारे नये जीवन का स्वप्न एक ही प्रहार मे टूट गया और हम औद्योगीकरण के द्वारा भौतिक सम्पन्नता के क्षेत्र में अध्यवसाय मे लग गये। बहुत बड़े पैमाने पर पश्चिम की भौतिक सुख-सुविधाओं, खान-पान और मनोरंजन की वस्तुओं का देश में आगमन हुआ। इसका फल यह हुआ कि हमारे भीतर असन्तोष की वृद्धि हुई और संग्रह का भाव बढ़ा। नये भारतवर्ष के लिए यह अभिनंदनीय नहीं थी, क्योंकि गांधी-युग में उसे त्याग और तपस्या की दीक्षा मिली थी। परन्तु स्वतंत्र होते ही चारों ओर से हमारे बीच में भौतिकता का जिस अबाध गति से प्रवेश हुआ वह हमारे पैर उखाड़ने के लिए काफी थी। फलस्वरूप हमारे जीवन और साहित्य का मानदण्ड भौतिकता से आक्रांत हो उठा।

साहित्य मे भौतिकता का प्रवेश अर्थशास्त्र और काम-शास्त्र की भूमिकाओं पर हुआ। नये युग के ऋषि थे कार्ल मार्क्स और सिगमंड फ्रायड। मार्क्स ने अपनी रचनाओ मे मानव-जीवन के विकासात्मक इतिहास की हमारी आर्थिक भूमिका निश्चित की थी और वर्ग-संघर्ष को मानव की प्रगतिशीलता का मानदण्ड बताया था और इन दोनों वर्गों का द्वन्द्व उस समय तक चलता रहेगा जब तक सम्पूर्ण विश्व में वर्गहीन समाज की स्थापना न हो जाय। उन्नीस सौ सत्रह की रूसी राज्यक्रान्ति के बाद मार्क्स की सैद्धान्तिक विचारधारा एक विश्वव्यापी क्रान्ति का नारा बन जाती है और एशिया एवं अफ्रीका के समस्त पराधीन और शोषित देशों में इस विचारधारा के प्रति आकर्षण का जन्म होता है। वर्ग-संघर्ष का प्रचंडतम स्वरूप औद्योगिक राष्ट्रों में देखा जाता है, जहाँ पूँजीपतियों के आधिपत्य में बड़ी-बड़ी मशीनों के द्वारा ऐसी वस्तुओं का निर्माण होता है जो जीवन मान (Standard of life) के लिए आवश्यक है। १९१७ से १९४७ तक, तीस वर्षों के काल-विस्तार में साम्यवादी विचारधारा, गांधीवाद के साथ हमारी सबसे बड़ी राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के अंचल में नेहरू जी और उनके अनुयायियों के द्वारा विकसित होती रही और कांग्रेस से बाहर भी अनेक ट्रेड-यूनियनों के रूप में उसने मजदूर संगठनों को जन्म दिया है। राष्ट्रीय स्वाधीनता के बाद मिल-मालिकों और मजदूरों का मोर्चा और अधिक उग्र हो गया और समाजवाद के नाम पर साम्यवादी विचारधारा अनेक राजनीतिक वर्गों मे बँट गयी कांग्रेस-सोशलिस्ट प्रजावादी सोशलिस्ट दल दक्षिण और वामपंथी कम्युनिस्ट

दल और भारतीय समाजवादी दल आदि मार्क्सवादी विचारधारा के ही अनेक रूप हैं जो भिन्न संस्थाओं के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं। उपन्यास और कहानियों में वर्ग-संघर्ष को प्रधानता प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य की विशेषता है। काव्य के क्षेत्र में प्रगतिवादी आन्दोलन के कवि इसी विचार-भूमि को लेकर चलते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वातंत्र्योत्तर युग में आर्थिक जीवन के महत्वपूर्ण हो जाने के कारण हमें रूसी साम्यवादी विचारधारा और उसके क्रान्तिवादी नारे को बहुत दूर तक अपनाना पड़ा। इसके फल-स्वरूप हमारे यहाँ राजनैतिक साहित्य का जन्म हुआ और साहित्य में सिद्धान्तवाद की प्रधानता होने लगी। जहाँ गांधीवाद आर्थिक सम्बन्धों को मानवता के धरातल पर देखना चाहता है और समस्त सामाजिक वर्गों के सहयोग अथवा सर्वोदय की कल्पना करता है, वहाँ साम्यवाद अथवा मार्क्सवाद समाज को दो वर्गों में बाँटकर पारस्परिक संघर्ष और कलह के बीज बो देता है।

फ्रायड की विचारधारा का सम्बन्ध मनुष्य के यौन-जीवन से था, जिसका अभि-व्यक्तिगत प्राचीन युगों में भी शृंगारात्मक काव्यों, कथाओं और नाटकों के द्वारा होती रही। वास्तव में शृंगार मानव जीवन का एक प्रमुख पक्ष है, परन्तु फ्रायड ने अपने चिकित्सात्मक और मनोविश्लेषणात्मक अनुभवों के आधार पर उसे अतिव्याप्ति दी थी। मनुष्य का सारा जीवन ही काम-भावना अथवा यौन चिंता से ओत-प्रोत हो गया। यह एक प्रकार की एकांगिता थी। परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप के संतुलनहीन जीवन में वह बड़ी तीव्रता से पनपी। ऐसी काव्य-रचनाओं, नाटकों और उपन्यासों की बाढ़ आ गयी जो इन्द्रिय-संवेदनाओं को बड़े विस्तार से वर्णित करते थे और दाम्पत्य जीवन के बाहर जाकर वर्जित यौन-जीवन और काम-सुख के आनन्द में डूब जाते थे। निश्चय ही यह भारतीय परंपरा का वह शृंगार साहित्य नहीं था जिसका आदर्श वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। इस नयी परम्परा के शृंगार साहित्य ने हमारी स्वस्थ चेतना को कुण्ठित किया और भौतिकता की वृद्धि की। भारतीय दाम्पत्य और प्रेम में त्याग और बलिदान का जो अपूर्व आनन्द है, उससे नये साहित्यकार वंचित ही रह गये। स्वातंत्र्योत्तर युग के प्रयोगवादी काव्य, 'नयी कविता' और अनेकानेक उपन्यासों और कहानियों में हमें अतिवादी और विकृत यौन-चर्चाएँ ही अधिक मिलती हैं और एक प्रकार से पिछले बीस वर्षों में हमारा साहित्य यौन-जीवन से आक्रांत रहा है। इसे हम विकास कहें या ह्रास ? हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि स्वातंत्र्योत्तर युग के साहित्य की एक विशेषता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर युग में जहाँ एक ओर पूर्व-युग की साहित्यिक परम्पराएँ चल रही हैं, वहाँ दूसरी ओर साहित्य की धारा ने एक नवीन मोड़ ले लिया है और एक ऐसा साहित्य तैयार हो गया है जिसकी विषय-वस्तु और

अभिव्यंजना दोनों क्षेत्रों में कुछ निश्चित विशेषता है। पीछे हमने यह इङ्गित कर दिया है कि इस विशिष्टता का क्या स्वरूप है ? उसके मूल में नये युग की चेतना है जो अनेक प्रकार से पूर्व युग से भिन्न है और जिसकी समस्याएँ एकदम नयी समस्याओं ने एक नया और अधिक जटिल रूप धारण कर लिया है। १९४७ से पहले भारत पराधीन देश था और साहित्यकार का अपने देश और समाज के प्रति उत्तरदायित्व यही था कि वह राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का संवर्द्धन करे और समाज में नयी चेतना को आगे बढ़ाये। स्वाधीनता के बाद हमारी समस्याएं राष्ट्रीय न रहकर अंतर्राष्ट्रीय और सामाजिक बन गई हैं। विभिन्न प्रान्तों, सम्प्रदायों, राजनीतिक दलों और भाषाओं में समन्वय स्थापित करना सरल नहीं था। इसके साथ ही राष्ट्रीय सरकार के लिए यही आवश्यक हो गया था कि वह सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन का काम अपने हाथों में ले। हमें एक ओर पश्चिम की औद्योगिक और वैज्ञानिक संस्कृति में दीक्षित होना था और दूसरी ओर अपनी सामाजिक संस्थाओं का परिष्कार कर अपने सामाजिक जीवन को नये युग के अनुरूप प्रगतिशील बनाना था। जिस तीव्र गति से पिछले बीस वर्षों में उद्योग-धंधों और वाणिज्य व्यापार आदि के क्षेत्र में हमारा पश्चिमीकरण हुआ है, उतनी तीव्र गति से हम अपने समाज को बदलने में समर्थ नहीं हुए हैं। फलतः एक अन्तर्विरोध का जन्म हुआ है। नेहरू-युग हमारे औद्योगीकरण का पहला चरण है। परन्तु इस युग में हम अपने यहाँ औद्योगिक समाज की स्थापना में सफल नहीं हुए हैं। यद्यपि संविधान ने सब प्रकार के भेदभाव दूर करने का संकल्प हमारे सामने रखा है परन्तु व्यवहार में अब भी हम परम्परावादी और रूढ़िवादी हैं। परम्परा और प्रगतिशीलता का यह द्वन्द्व साहित्यकार की सीमा बन जाता है। उससे साहित्य में असंतुलन आ जाता है। जो साहित्यकार नये जीवन और उसकी समस्याओं के प्रति संवेदित नहीं हैं, वे अपने साहित्य में पूर्व-परंपरा को ही निभाते हैं। उनका मूल्य ऐतिहासिक मात्र है। उन्हें प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। वे ही साहित्यकार हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं, जो नये जीवन की सम्पन्नता, संश्लिष्टता और संगतिमूलकता के प्रति जागरूक हैं और अपनी रचना में युग-बोध को लेकर चल रहे हैं। अधिक विस्तृत और असंतुलित भूमिका पर चलने के कारण इस युग का साहित्य सीधी-सादी भावना एवं सुस्पष्ट संवेदना के चित्र प्रस्तुत नहीं करता। एक प्रकार से गांधी-युग के बाद ही हम उस आधुनिकता में प्रवेश करते हैं, जो आज सब कहीं पश्चिम का पर्याय है। इसके अतिरिक्त स्वातंत्र्योत्तर साहित्य में विशिष्टता का एक कारण यह भी है कि इस युग के कवि और साहित्यकार के व्यक्तित्व पूर्व-युग के कवि और साहित्यकार का व्यक्तित्व से कहीं ऊँचा उठा हुआ है। वह स्वयं नये युग का प्रतिनिधि है और उसकी संवेदना की रेखाएँ सरल और सुस्पष्ट नहीं हैं। उसके साहित्य पर भावना से अधिक बुद्धि का आरोप है और उसने आत्मगोपन को अपने व्यक्तित्व का अंग

बना लिया है। उसे हम स्वस्थ मनस्तत्व वाला प्राणी नहीं कह सकते। फल यह हुआ कि उसका साहित्य मनोविकारों की लीलाभूमि बन गया है।

परम्परा और आधुनिकता

स्वातंत्र्योत्तर जीवन और साहित्य का एक पक्ष परम्परा और आधुनिकता के प्रश्न को लेकर चलता है। गांधी-युग में यह प्रश्न इतना उग्र नहीं था क्योंकि हमने श्रद्धा-मूलक सनातन भारतीय संस्कृति और बुद्धिमूलक आधुनिक पश्चिमी संस्कृति को लेकर अपने लिए एक समझौता बना लिया था जो अभिनव भारतीय संस्कृति के नाम से प्रच-लित था। इसे नवजागरण की संस्कृति भी कहा जा सकता है। इस संस्कृति के उन्नायक राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक और गाँधी थे। परन्तु यह नया समन्वय केवल पश्चिम के बुद्धिवाद को ही अपना सका था। उसमें विज्ञान और टेकनोलॉजी का नया विकास आत्मसात नहीं हो सका था। प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप और अमरीका में विज्ञान सिद्धान्तवाद से बाहर निकलकर व्यावहारिक हो गया और नयी टेक्नोलॉजी ने विश्व-सभ्यता का रूप बदल दिया। उपनिवेशों में यूरोप की जो संस्कृति पहुँची थी, वह बुद्धिवाद और आवागमन एवं संचार के सुगम साधनों तक ही सीमित थी। उसका पूर्वीय देशों में बड़े प्रेम से स्वागत हुआ। उसने पूर्वीय देशों की संस्कृतियों को इतिहास-चेतना दी और विकासात्मक चिंतन की पद्धति से उन्हें परिचित कराया। एक नयी प्रकार की कार्मिक जीवन की चेतना पूर्वी देशों में जाग्रत हुई। नयी परिस्थितियों में जीवन और जगत को माया मानकर चलना हमारे लिए सम्भव नहीं था। परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद की नयी वैज्ञानिक प्रगति पूर्वी देशों के लिए संकटप्रद बन गयी। उसने नास्तिकता और भौतिकता को जन्म दिया। प्राचीन परम्परा और विश्वासों के आगे प्रश्न-चिन्ह लग गये। तब कहीं आधुनिकता की माँग होने लगी।

प्रश्न है कि आधुनिकता क्या है? क्या उसमें और सनातनता में अनिवार्य विरोध है? यह आधुनिकता क्या केवल भौतिक जीवन की सुख-सुविधाओं तक सीमित है या वह मानसिक वस्तु है? अधिकांश जन आधुनिकता में पश्चिम से आये हुए वैज्ञानिक और टेक्नोलॉजी से सम्बन्धित उपकरणों का अर्थ लेते हैं। इन्होंने हमारे रहन-सहन और भौतिक जीवन को बदल दिया है। ये वही उपकरण हैं जो सभ्यता के अन्तर्गत आते हैं। उपनिवेशों के लिए इन्हें अपनाना असम्भव बात नहीं थी। चीन और जापान में जैसे देश जो पश्चिम के उपनिवेश नहीं बने, नये वैज्ञानिक युग में प्रवेश कर सकने में सफल हुए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान के व्यावहारिक साधनों का उपयोग संसार के सब राष्ट्रों के लिए सम्भव है। परन्तु ऊपरी टीमटाम और शिक्षा-दीक्षा से कोई देश आधुनिक नहीं बन जाता। सच्ची आधुनिकता मानसिक है। उसके उपकरण हैं व्यक्ति-

स्वातंत्र्य, व्यक्तित्व के प्रति सम्मान, मानवतावाद, बुद्धिवाद, जाति-धर्म, प्रान्त-भाषा इत्यादि से निरपेक्ष सहज मानवत्व की प्रतिष्ठा, प्राणिमात्र के प्रति दया, क्षमा और मैत्री का भाव, मनुष्य की जीवन-शक्ति और स्वतंत्र चेतना में अदम्य विश्वास, सामाजिक न्याय और विश्व-बन्धुत्व की परिकल्पना। यह सच्ची आधुनिकता अभी पश्चिम को भी पूर्णतः प्राप्त नहीं है। यद्यपि वहाँ पिछले दो सौ वर्षों में असंख्य वैज्ञानिकों, साहित्य-कारों, लेखकों, कवियों और राजनीतिक मनीषियों ने इस सच्ची आधुनिकता के अवतरण के लिए बराबर प्रयत्न किया है। पूर्वी देशों में अभी तक देवता पर अडिग विश्वास है और पुनर्जन्म एवं कर्मवाद या कर्म के सिद्धान्तों के कारण मनुष्य की स्वतन्त्र सत्ता पर प्रश्न-चिन्ह लगा हुआ है। यहाँ नियतिवाद (Fatalism) की प्रधानता है। ऐसी स्थिति में नये वैज्ञानिक और टक्नोलाजिकल जीवन के अनुरूप नये जीवन की कल्पना पूर्वी देशों में विकसित नहीं हो सकी है।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि परम्परा और आधुनिकता का विरोध अनि-वार्य बात है। भारतीय समाज का सबसे बड़ा भाग हिन्दू समाज है। इस समाज में परपरागत और रूढ़िवादी बहुत कुछ है, परन्तु ऐसा भी कम नहीं है जो विवेक पर आधारित है और आधुनिकता के विरोध में नहीं पड़ता। कुछ लोगों ने भारतीय मानस, विशेषतः उसके अन्तर्विरोधों का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।[१] परन्तु यह अन्तिम चित्र नहीं है, क्योंकि हिन्दू समाज के अन्तर्गत प्रगतिशीलता की कोई कमी नहीं रही है। वैदिक हिन्दू समाज में पुनर्जन्म, कर्मवाद अथवा नियतिवाद, देवी-देवताओं और छूत-अछूत का कोई स्थान नहीं था। वहाँ नारी पूर्णतः स्वतंत्र थी और समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसी प्रकार बाद के युगों में रूढ़िवादी धार्मिक अनुष्ठानों के साथ रहस्यवादी साधनाएँ भी हमारे देश में चलती रही हैं जो मनुष्य के भीतर अलौकिक शक्तियों की कल्पना करती है और प्रेम, दया, तप, विश्वमैत्री आदि को सर्वोपरि साधना मानती हैं। परम्परागत धर्मों में भी अहिंसा, करुणा और सेवाभाव को प्रधानता मिली है। इस प्रकार आधुनिकता के बीज हिन्दुस्तान की धरती में बहुत पहले से पड़े हुए हैं। पश्चिम की आधुनिकता यदि इन बीजों को अंकुरित करने में समर्थ होती है तो वह अभिनन्दनीय है। आवश्यकता यह है कि पश्चिम की आधुनिकता हमारी देह को सुविधा देकर ही समाप्त नहीं हो जाये, प्रत्युत वह हमारी आध्यात्मिकता का भी पोषक बने।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हम परम्परा और प्रयोग को लेकर ही चल रहे हैं। पर-म्परा का अर्थ है सनातन धर्म और जीवन। वह हमारे व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग है।

१- 'Tradition and Modernity in India' (Edited by A B Shah and C R M Rao) Introduction pp- 10-11

उससे छुटकारा पाना हमारे लिए असम्भव बात है। परन्तु आधुनिक जीवन का इतना दबाव आज हमारे ऊपर आ पड़ा है कि हमें यह निश्चित करना आवश्यक हो गया है कि हम परम्परा का कितना अंश लेंगे। कहा जाता है कि विज्ञान और भारतीय परम्परा में कोई विरोध नहीं है। परन्तु दूसरी ओर यह भी माना जाता है कि पश्चिम के विज्ञान का हमारी आस्तिक और नैतिक विचारधारा से पोषण नहीं होता। इसका फल यह हुआ कि हमारे कर्म और विश्वास में अन्तर पड़ गया है और हम एक प्रकार से संशय-ग्रस्त और अराजक बन गए हैं। पिछले बीस वर्षों में हम परम्परा और आधुनिकता में कोई समन्वय स्थापित नहीं कर पाये और इस प्रकार के समाधान की कोई आशा निकट भविष्य में दिखलाई भी नहीं पड़ती। फलतः हमारा समस्त सामाजिक साहित्य असन्तुलित और अनिर्दिष्ट है। उसमें पश्चिम की ओर ही अधिक झुकाव दिखलाई पड़ता है।

आधुनिकता का प्रश्न मुख्यतः विज्ञान और औद्योगिक संस्कृति से जुड़ा हुआ है। आधुनिक जगत को बदलने वाले ये ही दो तत्व हैं। विज्ञान जीवन और जगत के सम्बन्ध में हमें नयी दृष्टि प्रदान करता है। उसकी सीमा हमारी पंचेन्द्रिय हैं। इन्द्रियों के माध्यम से प्रयोग और परीक्षा के द्वारा हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह विज्ञान के अन्तर्गत आता है। विज्ञान ईश्वर और नैतिकता जैसे तत्वों पर विचार नहीं करता, क्योंकि वे इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। प्राचीन संस्कृतियाँ अन्तर्बोध (Intution) को महत्व देती हैं और उनका विश्वास है कि वस्तु-जगत के पीछे एक सूक्ष्म अतीन्द्रिय जगत है। वे जीवन और जगत के शास्ता के रूप में अलौकिक सत्ता को मानती है और उसे ईश्वर के विभिन्न नामों से अभिहित करती हैं। उनमें श्रद्धा के तत्व की प्रधानता है और बुद्धि का विरोध है। हिन्दू धर्म ने आरम्भ से ही अलौकिक अथवा अति-प्राकृतिक और सर्वोच्च सत्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना की है। रहस्यात्मक अनुभूति के प्रति हिन्दू धर्म पूर्णतया विश्वासी है और भारतीय इस्लाम के अन्तर्गत सूफी मत भी उसे मान कर चलता है। आधुनिक विचारकों ने यह स्थापित करना चाहा है कि वेदांत की मूलभूत एकता की मान्यता और भौतिक विज्ञान की एकता की भावना में कोई भेद नहीं है, यद्यपि दोनों की भाषाएं विभिन्न हैं परन्तु पुनर्जन्म, कर्मवाद और वर्णवाद ऐसे सिद्धांत हैं जो विज्ञान को किसी भी प्रकार माननीय नहीं हो सकते हैं। आधुनिक विचारकों ने विज्ञान और हिन्दू धर्म के विरोध को स्पष्ट करते हुए भी अन्त में यह मान लिया है कि इस सर्वोच्च भूमिका पर हम दोनों में कोई भेद नहीं है। परन्तु व्यावहारिक रूप मे अभी वैज्ञानिक शिक्षा भारतवर्ष के मस्तिष्क और भावजगत को बदलने में असमर्थ रही है। साहित्य की अभिव्यंजना-शैलियों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण और वैज्ञानिक लेखन का प्रभाव अवश्य पड़ा है। किन्तु हमारे भीतर अभी भी असंख्य पौराणिक विश्वास

जाग्रत हैं। फलस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर युग का मध्यदेशीय जन दो दुनियाओं में जीता है। एक वह दुनिया है जो पुरातन धर्म और नीति से सम्बन्धित है और दूसरी वह दुनिया है जो हमारे पश्चिमी सम्पर्क और उससे उत्पन्न बुद्धिवाद तथा विज्ञानवाद की उपज है। आधुनिक चेतना को अधिक से अधिक आत्मसात करते हुए भी हम प्राचीन संसर्गों से अपने को मुक्त नहीं कर सके हैं। इसीलिए पश्चिम की आधुनिकता के केन्द्र में प्रस्तुत मानव-व्यक्तित्व के समादर, मानव स्वातंत्र्य और निर्बन्ध सर्जनात्मकता से सम्बन्धित विचारों को हम उतना महत्व हम नहीं दे सके हैं जितना आवश्यक था। हमारी विकास-योजनाओं में अभी भी मनुष्य केन्द्र में नहीं है।[१]

द्वितीय महायुद्ध में भारतवर्ष बड़ी तीव्रगति से औद्योगीकरण के क्षेत्र में आगे बढ़ा। स्वातंत्र्योत्तर युग में हमें योजनाओं के द्वारा इस क्षेत्र में और भी अग्रसर होना पड़ा है। फल यह हुआ कि हमारा परम्परागत सांस्कृतिक ढाँचा नये परिवर्तनों के कारण नष्ट होता दिखाई देता है। परन्तु अभी हम युग के अनुरूप अपने समाज को कोई नया ढाँचा नहीं दे सके। परम्परागत समाज और आधुनिक समाज के बीच में एक बड़ी खाई स्वातंत्र्योत्तर युग में हमें दिखलाई देती है और उद्योग-धन्धों के द्वारा सम्पन्नता बढ़ने से यह खाई और भी चौड़ी होती गई है। समाज के भीतर अन्तर्विरोधों का सृजन निस्संदेह नये संकटों को जन्म देता है। पिछले युग में इन संकटों में वृद्धि हुई है। स्वाधीनता के पश्चात् भारतवर्ष के लिए एक नये बुद्धिजीवी संभ्रांत वर्ग (Intellectual elite class) की आवश्यकता बढ़ी है जिसने हमारी आधुनिकता को आगे बढ़ाया। जिस आधुनिकता की ओर हम गतिशील हैं उसके उपकरण हैं—राष्ट्रीयता, धर्म-निरपेक्षता, सार्वजनिक समाजनीति और समाज-व्यवस्था, सामाजिक जनों की निरन्तर ऊर्ध्वोन्मुखता, उदार ढंग की व्यापक शिक्षा (Liberal education) और यांत्रिक शिक्षा एवं शोध। पिछली पंचवर्षीय योजनाओं में इन सब क्षेत्रों में हमने आश्चर्यजनक ढंग से उन्नति की है किन्तु हमारा सांस्कृतिक और सामाजिक क्षितिज अभी भी नये परिवर्तनों के अनुरूप व्यापक नहीं हो सका है। हम अभी भी मानवतावाद और मार्क्सवाद के बीच मे झूल रहे हैं।[२] इस संस्कृति का प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ना अनिवार्य था।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हमारे विचारकों और साहित्यकारों के सामने जो सबसे बड़ा आदर्श था, वह अपरिबद्ध समाज (Free society) का निर्माण था, जो मनुष्य की

---

१. Tradition and Modernity in India—P. 34.
(R. L. Nigam in his article–'Science and Indian culture,)
२ Ibid P 62-63

मौलिक स्वतंत्रता की रक्षा करती हो और उसके जीवन-यापन के साधनों और शासन के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से चुनाव का अधिकार देती हो।[१] हमने एक ऐसे समाज को अपने संविधान के द्वारा विकसित करना चाहा है जो सच्चे अर्थों में भारतीय समाज कहा जा सकता है और जिसमें भाषा, धर्म, वर्ण, प्रान्त आदि विभेदों को कोई भी स्थान प्राप्त न हो। हमारे साहित्यकार अपनी रचनाओं में बराबर नूतन आदमी की खोज की बात उठाते रहे हैं, विशेष रूप से 'नयी कविता' के कवि एवं आलोचकों ने नूतन मूल्यों के साथ नूतन मानव को भी महत्व दिया है। किन्तु चेतना को मुक्त करने का यह प्रयास अभी प्रारम्भिक स्तर पर ही है। इसीलिए जीवन की भाँति साहित्य में भी एक प्रकार के तनाव (Strain) की स्थिति दिखलाई पड़ती है। अभिनव साहित्य की प्रकृतियाँ हमें धीरे-धीरे अपनी परम्परा से हटाकर पश्चिम की ओर ढकेल रही हैं। परन्तु भारतीय विचारक अपनी सजगता के क्षणों में यह विश्वास कर लेना चाहता है कि वह पश्चिम की भौतिकता को अपने देश में नहीं आने देगा और नये मानव-मूल्यों में भी सनातन और अधुनातन भारतीयता की प्रतिष्ठा करेगा। इस सन्दर्भ में सामयिक युग के सबसे अधिक सम्पन्न विचारक और जीवन-शिल्पी पण्डित जवाहरलाल नेहरू के वे

१, इस अपरिबद्ध समाज की एक प्रामाणिक परिभाषा इस प्रकार है—

"When we talk of a 'free society, we mean a society where the common man is able to function with freedom in the most important and prevasive aspacts of his daily life. This involves the possession by him of two fundamental freedoms. One is the freedom to determine the conditions of his work; protect his existing standard of living against any involuntary reduction, and also obtain for himself his due shore in the increment of output resulting from increased economic activity. The other is the freedom to have that type of Government which he can influence, if not actually control. Both these fundamental freedoms may be generally combined under the single phrase of 'democratic freedom' and require for their effective utilization such toolfreedoms as an elected Gevernment, an independent judiciary, the rule of law, adult suffrage, freedom of association inculuding the right to form unions and resort to strikes, freedom of speech, freedom of the press, freedom of movement and freedom of occupation."

('Freedom and development. Edited in 1960. Quoted in Tradition and Modernity in India—P. 91.

V. K. R. V. Rao. in his essay—'Some problems co: fronting Traditional Societies in the process of Devalopment.')

विचार हमारे लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, जो इस युग के संक्रांतिपूर्ण मानस का प्रतिनिधित्व करते हुए भी हमें भविष्य के सम्बन्ध में आश्वस्त करते हैं। उन्होंने प्रगतिशीलता को भौतिक क्षेत्र तक सीमित न रखकर भारतीय जीवन में उस सम्पन्नता और गंभीरता का आह्वान किया है, जो हमारी प्राचीन संस्कृति की विशेषता रही है।[१]

इस अध्याय में हमने स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के वैशिष्ट्य को स्थापित करते हुए उन विचारधाराओं और अन्तर्द्वन्द्वों को वाणी देनी चाही है जो इस युग के शिक्षित मानव को आक्रान्त कर रहे हैं और जिन्होंने साहित्य पर अनिवार्यतः प्रभाव डाला है। निस्सन्देह पिछले बीस-बाइस वर्ष भारतीय चेतना के लिए संक्रांति के वर्ष रहे हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हलचलों से ये दो दशक भरे पड़े हैं। अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण के प्रयत्न में स्वाधीन भारत को जो कठिनाइयाँ पड़ी हैं, वे इस युग के सर्जनात्मक साहित्य में पूर्णतः प्रतिबिम्बित हैं। परन्तु और भी बड़ी बात यह है कि इन कठिनाइयों ने हमारी बौद्धिक चेतना को बराबर अग्रगामी बनाये रखा है। विचारात्मक साहित्य का जैसा प्रसार और गाम्भीर्य हमें स्वातंत्र्योत्तर युग में मिलता है वैसा पिछले किसी आधुनिक युग में नहीं।

---

१ Jawaharlal Nehru India To-day and Tomorrow

चतुर्थ अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर युग का विचारात्मक गद्य : एक विहंगम दृष्टि

स्वातन्त्र्योत्तर युग का हिन्दी साहित्य एक नये परिवेश को लेकर प्रस्तुत हुआ है। उसमें नये प्रश्नों की बाढ़ आ गई है और ऐसा लगता है कि हम प्रश्नों के इन्द्रजाल मे फँस गये हैं। परन्तु युग यदि समाधान के लिए प्रयत्नशील है तो प्रश्नों से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत की तरह उसके साहित्य का दायित्व भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अतः यह आवश्यक है कि हम इस दायित्व से परिचित हों और अपनी नयी उपलब्धियों को उस नयी चेतना के परिप्रेक्ष्य में देखें जो पिछले दो दशकों से सम्बन्धित हैं और हममें नये कृतित्व के प्रति जागरूकता भर सकी है।

सन् १९४७ में भारत स्वतन्त्र राष्ट्रों की पंक्ति में आ खड़ा हुआ। निस्सन्देह आधुनिक विश्व के इतिहास में यह घटना असाधारण घटना मानी जायेगी। प्रथम महायुद्ध के बाद रूस की समाजवादी क्रान्ति ने पूँजीवादी राष्ट्रों के विपक्ष में एक नये समाजवादी राष्ट्र (सोवियत रूस) को जन्म देकर एक नई क्रान्ति की सूचना ही नहीं दी थी, एक नये युगारम्भ की भी घोषणा की थी। परन्तु इस महायुद्ध ने उपनिवेशवाद के चंगुल में फँसे देशों के बुद्धिजीवियों और शिक्षित समाज के सामने विदेशी दासता का जो भयानक रूप प्रस्तुत किया और राजनैतिक तथा आर्थिक शोषण से बचने के लिए राष्ट्रीयता की उत्कट कामना को विकसित किया, वह भी निश्चय ही इतिहास के एक नये मोड़ की सूचना देता है। लगभग ३० वर्षों में राष्ट्रीय मोर्चे के बाद भारतवर्ष विदेशी अंग्रेजी सत्ता के हाथ से राजनीतिक शक्ति छीनने में सफल हुआ परन्तु उसके लिए पूँजीवादी व्यवस्था (जो विदेशी शासन की शोषण-नीति से जुड़ी हुई थी) को एकदम समाप्त करना असम्भव नहीं है। राष्ट्रीय संग्राम के दिनों में, गांधी-युग में, भारतीय चेतना ने गांधीवाद के रूप में एक नये सांस्कृतिक दर्शन और युद्धनीति को विकसित किया था, जिसका इस राष्ट्र के लिए समाजवाद या साम्यवाद से कम महत्व नहीं हो सकता था, परन्तु स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद पूँजीवादी व्यवस्था से मुक्ति पाकर समाजवादी जीवन-निर्माण की बात सामने आयी। गांधीवाद यदि हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक नवजीवन का उद्घोषक था तो समाजवाद हमारे सामाजिक और आर्थिक

जीवन का यन्त्र बन सकता है। भारतवर्ष ने उत्तर-शती में जिस नवजीवन में प्रवेश किया उससे समाधान के सूत्र इन दोनों स्वदेशी-विदेशी वादों के हाथ में थे। फलस्वरूप राष्ट्रनेताओं में नवचिंतन का जन्म हुआ और अनेक समन्वय-सूत्र सामने आये। जहाँ नेहरू और भावे (विनोबा) समाजवाद और गांधीवाद के दो छोर थे और राजकीय स्तर पर समाजवादी अर्थव्यवस्था के आग्रह के साथ नव-जीवन के अन्तरंगी विकास के लिए 'सर्वोदय' के रूप में एक नया सशक्त आन्दोलन विकसित हुआ, वहाँ गांधीवादी समाजवादी दल, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, भारतीय साम्यवादी दल आदि के रूप में अनेक समझौते भी मिलते हैं। गांधीवादी बनाम समाजवाद' स्वातन्त्र्योत्तर युग के राजनीतिक और आर्थिक चिन्तन का सर्वाधिक चर्चित विषय है।

भारत की स्वतन्त्रता का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य आज सुपरिचित ही है। स्वर्गीय राष्ट्रनेता पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारतवर्ष ने समाजवाद और विश्वशांति का मार्ग पकड़ा और उसके अन्तर्मन में अपने राष्ट्रीय व्यक्तित्व की खोज और प्रतिष्ठा तथा सामाजिक-आर्थिक जीवन के पुनर्निर्माण के नये स्वप्न जाग्रत हुए। नये अणु-युग की हिंसा की विभीषिका से कहीं अधिक भयावह वस्तु थी हमारा औपनिवेशिक पिछड़ापन और गरीबी। पिछले बीस वर्षों में औद्योगीकरण, योजनाओं, बाँधों आदि कृषि-विषयक विराट व्यवस्थाओं और प्रजातन्त्री राजनैतिक चेतना के विकास के द्वारा हमने अपने नव-जागरण को आवश्यक रूप से यथार्थ जीवन की भूमिका देनी चाही है और जीवन के सभी क्षेत्रों में नव-निर्माण के लिए प्रयत्नशील हुए हैं। पुनरुत्थानवादियों की भाँति इस प्राचीन संस्कृति की आड़ लेकर पश्चिम के नये विचारों को अस्वीकार नहीं किया, अपने चिन्तन और सृजन की उपलब्धियों का विश्व-साहित्य और संस्कृति से जोड़कर सब कहीं बन्द कठघरों से बाहर आने का प्रयत्न किया। 'पश्चिम से प्रभाव हम पर न पड़े, यह सम्भव नहीं है। लेकिन पश्चिम का चिन्तन और सृजन जिस तरह अपने जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों से उद्भूत होकर भी सार्वभौम सार्थकता प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार यह कामना गलत नहीं थी कि भारतीय और एशियाई-अफ्रीकी चिन्तन और सृजन भी अपने-अपने राष्ट्रीय जीवन का इतना गहरा यथार्थ प्रतिबिम्बित हो कि वह सार्वभौमता प्राप्त कर ले।'[1]

परन्तु स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् जिस प्रतिकूल सामाजिक-आर्थिक वातावरण का जन्म हुआ वह एकदम आशाप्रद नहीं था। फलस्वरूप पुरानी या नई पीढ़ी के साहित्य में इस उत्साहजनक ऐतिहासिक भूमिका में परिप्रेक्ष की चेतना या झलक शायद ही

---

१. आलोचना, ३३—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक, सम्पादकीय, पृ० ३४।

कहीं मिलती है कि लगता है कि इस छोटी अवधि में ही इस नये राष्ट्र की वह ऐतिहासिक भूमिका और उसका सादा मानववाद चुक गया है या चुकने लगा है कि भारतीय मानस आस्था का संबल त्याग रुग्णता का शिकार हो गया है, जिसमें अच्छे-बुरे, नैतिक-अनैतिक, मानवीय-अमानवीय का भेद मिट रहा है और हमारे बुद्धिजीवी वर्ग के लोग समाज से ही नहीं, स्वयं अपने आपसे भी बेगानापन और अलगाव महसूस करने लगे हैं, तो इसमें निश्चय ही हमारे तरुण या पुराने लेखकों का दोष नहीं है। उन्होंने इस बीच जो लिखा है, उसमें उन्होंने अनेक विपरीत दबावों को झेलते हुए भी ईमानदारी से भारतीय जीवन की हकीकत को ही रूपायित करने की कोशिश की है।'[1]

विभाजन के बाद के हिंसा और रक्तपात, महात्मा गांधी की निर्मम हत्या, साम्प्रदायिक द्वेष-भावना, पूँजीपति, उद्योग-धंधों के विकास के कारण सामाजिक शोषण मे वृद्धि और फलस्वरूप मुनाफाखोरी, रिश्वतखोरी, चोरबाजारी आदि कुवृत्तियाँ जिन्होंने भारतीय समाज के नैतिक आधारों को खोखला कर लोगों में मानसिक विक्षोभ और अनिश्चितता की भावना को जन्म दिया, आदि कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्य है जिन्होंने प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं और नीतियों का पोषण कर जनता के विवेक, वास्तवबोध और संवेदना सभी को कुण्ठित कर डाला। फलत: अनास्था और कुंठा का जन्म हुआ और राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण के उत्साह का स्थान स्वार्थजन्य व्यक्तिवाद और आपाधापी ने ले लिया। साहित्य के भीतर ऐसी विषम स्थिति का चित्र उभरना अनिवार्य बात थी। भारतीय मानस जिस आस्था का संबल त्याग कर रुग्णता का शिकार हो चुका था उसे किसी भी प्रकार की प्राणवान अभिव्यक्ति देना सम्भव नहीं था।

विघटन, विशृंखलता और वचन और कर्म में विसंगति के इस दुखदायी वातावरण में हमारे बुद्धिजीवी वर्ग को युद्धोत्तर जगत के एक वात्याचक्र ने चारों ओर से घेर लिया। एक ऐसी मानसिक अराजकता और बौद्धिक स्तब्धता का वातावरण पैदा हुआ कि केन्द्रीय प्रश्नों पर से बुद्धिवादी समाज की पकड़ ही शिथिल हो गई। मार्क्स और फ्रायड, लारेन्स और काफ्का, कामू और सार्त्र नये युग के मानदण्ड बने। सार्त्र का अस्तित्ववादी दर्शन पश्चिमी यूरोप की विशिष्ट जीवन-परिस्थितियों की उपज था। उसे एक प्रकार से पीड़ा का दर्शन कहा जा सकता है। नवोदित भारत राष्ट्र के लिए उसकी कोई अनिवार्यता नहीं थी क्योंकि फ्रांस और पश्चिमी यूरोप द्वितीय महायुद्ध की जिस विभीषिका के भीतर से गुजरे थे, उसका उसे कोई अनुभव नही था। परन्तु नये औद्योगिक विकास ने पूँजी को विशेष वर्गों में केन्द्रित कर संवेदनशील तरुण मध्यवर्गीय

---

१. 'आलोचना' ३३, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक, सम्पादकीय, पृ० ४

लेखकों में यह पीड़ाजनक और नैराश्यपूर्ण अनुभूति जगा दी कि मनुष्य मशीन का एक पुर्जा बन गया है और उसका व्यक्तित्व खंडित और विघटित होता जा रहा है। अकेलेपन की जिस प्राणघातक अनुभूति से यूरोप पीड़ित था वह उधार के रूप में भारत में भी पनपने लगी। इस अकेलेपन और बेगानेपन को ही मनुष्य की नियति मानकर अस्तित्व-वादी दर्शन के निराशावाद को स्वीकार कर लेना आश्चर्यजनक बात नहीं थी। फलस्वरूप प्रतिवाद और विद्रोह साहित्य के मूल धर्म बन गये और कला तथा साहित्य में निरर्थक प्रयोगों की बाढ़ आ गई। प्रगतिवाद यदि रूस की ओर देखता है तो यह प्रयोगवाद पश्चिमी यूरोप और अमरीका की विघटनशील पूँजीवादी सभ्यता की ओर। परम्परा के प्रति उग्र प्रतिवाद और राष्ट्रीय नियति के प्रति अविश्वास नये पीढ़ी की चेतना के ऐसे अंग हैं जो हमें पूर्ववर्ती साहित्य से एकदम अलग कर देते हैं।

परिस्थितियों और विचारों की यह संक्रांति पीड़ाजनक होने पर भी नयी पीढ़ी को पूर्णतः स्वीकार है, यह आश्चर्य का विषय नहीं है। नयी पीढ़ी के ही एक संवेदनशील युवा-लेखक के ही शब्दों में—इन नयी चुनौतियों को स्वीकारना हमारे लिये मजबूरी थी क्योंकि सवाल महज हमारे अस्तित्व का नहीं, हमारे बोध और संचेतना का भी था। नयी संक्रांति संकट-बोध बन गई, जिसे सही अर्थ देना दायित्व ही नहीं, प्रतिबद्धता से जुड़ा हुआ सवाल भी था। यह सवाल निष्ठा का ही नहीं, हमारी प्रतिश्रुति का भी है। प्रश्न तथाकथित निर्माण का भी नहीं है क्योंकि हम न मसीहा हैं, न राजनीति के देवता और न धर्म के लिए विवेकानन्द। हम नितांत साधारण लोग हैं—बेबसी से भरे हुए, हमारे पास दावे नहीं हैं, केवल यथार्थ और सच्चाई को अभिव्यक्त करने की प्रयत्नशीलता है। अपने भीतर पक रहे व्यक्ति को पहचानने की बेचैनी है और सामाजिक सम्बन्धों के बदलाव को पहचानने की अकुलाहट है। नयी पीढ़ी की असमंजसशील स्थिति और उसकी हताशा का अत्यन्त मार्मिक चित्र इसी लेखक के शब्दों में इस प्रकार है—हम हतभागे हैं, यह मानता हूँ। लेकिन इसलिए लिए कि हमारे सम्भोग, चुम्बन, रेपिंग और कुण्ठा आदि को चित्रित करना एकमात्र नियति रह गई है। बल्कि हमारी पीढ़ी हतभागी है इसलिए कि हमें सब कुछ सहना पड़ रहा है। विरासत शून्य है और आगत अन्धकार है। पीछे देखने का तो कोई सवाल ही पैदा नहीं होता, आगे गहरे अँधेरे को चीरना है। सामर्थ्य उत्पन्न करने की यह प्रक्रिया ही हमारी सृजनशीलता है और हमारी दृष्टि, अगर कहना चाहें तो कह सकते हैं, यहीं निर्माण से सम्बद्ध होती है। यह निर्माण तथाकथित आदर्शवाद या युटोपियावाद से असंपृक्त युग-बोध का अनिवार्य परिणाम है, जो अन्वेषण से सम्बद्ध है। आज जीवन जितना क्रूर हो गया है, व्यक्ति में जितनी निर्ममताएँ आई हैं हम जितने भावविपन्न या मोहशून्य होकर जड़ हो गये हैं उसे झुठला कैसे सकते हैं यही हमारा सन्दर्भ है, जिसे हमें

चित्रित करना पड़ता है और इन्हीं के प्रति हमारी प्रतिबद्धता है।[1] इस धरातल से देखने पर आलोच्य युग के साहित्यिक की भावस्थिति अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। उसमें परिवेशजन्य प्रतिक्रिया के अनेक स्वरूप प्रतिबिंबित है, कहीं आक्रोशमूलक, कही हताशा के साथ। पिछले दो दशकों के सम्पूर्ण सर्जनात्मक साहित्य में, विशेषतः कविता और कथा-साहित्य में नयी पीढ़ी की इन्हीं मनोवृत्तियों का प्रकाशन है और नया विचारात्मक गद्य भी इस पीड़ा और विद्रोह से मुक्ति नही पा सका है। साहित्य यदि समाज का दर्पण है तो नये स्वातंत्र्योत्तर साहित्य की इस नियति से इन्कार ही नहीं किया जा सकता था

हिन्दी के समीक्षकों और पाठकों के दो वर्ग हैं। उनमें से एक आलोच्य युग की नयी पीढ़ी के साहित्य को नितांत अराष्ट्रीय, कुण्ठाग्रस्त और पलायनशील मानता है और उसे स्वदेशीय परिस्थिति तथा परिवेश से असंपृक्त समझता है। उसके विचार में यह सारा साहित्य व्यक्तिवादी, वैचित्र्यकमूलक और अराजक है, उसमें पश्चिम का उधार ही अधिक है। परन्तु इसके विपरीत नयी पीढ़ी के लेखकों का समर्थन उन्हीं की पीढ़ी के आलोचकों और पाठकों के द्वारा ही नहीं होता, बीच की पीढ़ी के मध्यवयी समीक्षक भी नये साहित्य का अभिनन्दन करते हैं और उसके रचयिताओं की ईमानदारी के कायल हैं। इस सम्बन्ध में 'आलोचना' ३३ की यह सम्पादकीय पंक्तियाँ महत्वपूर्ण मानी जा सकती हैं : अभिनन्दनीय बात यह है कि विचारधाराओं के संघर्ष की तीव्रता बहुत दिन तक नहीं टिकी, क्योंकि हिन्दी के संवेदनशील रचनाकार, प्रगतिवादी हो या कला के लिए कलावादी, आजादी के ही बाद कुछ दिनों में यह महसूस करने लगे कि आजादी के पहले की सरल दुनिया का अन्त हो गया। जीवन भी जटिल और उसकी समस्याएँ भी जटिल हो गईं और अब प्रश्न राजनीतिक उद्देश्यों और आंदोलनो से सम्बद्ध या असम्बद्ध होने का नहीं, बल्कि लेखक के नाते प्रश्न अपनी अनुभूति की गहराई में जीवन के यथार्थ को पाने और उसे अभिव्यक्ति देकर सत्य का उद्‌घाटन करने का है। समाज के प्रति उसकी प्रतिबद्धता का यही एकमात्र रूप और दायित्व है। रूढ़ि और परम्परा से लेखकों का विद्रोह साहित्य में नये सत्यों को उजागर करने के उद्देश्यो से ही था। प्रयोगवाद, नई कविता, नई कहानी, सचेतन कहानी आदि नामों से इस बीच जो आन्दोलन चले हैं, उनके उद्देश्यों को चाहे जिस शब्दावली में परिभाषित क्यों न किया गया हो और उनकी सैद्धान्तिक स्थापनाओं में चाहे कभी शीतयुद्धीय समाजवाद-प्रगति विरोध की ध्वनि क्यों न रही हो, लेकिन इस दौर में रचे गये नये काव्य और नये कथा-साहित्य के टिकाऊ और श्रेष्ठ भाग का जायज़ा लें तो यह निर्विवाद है कि उसमें युग की

---

१ डॉ सुरेश सिन्हा धर्मयुग २३ जुलाई १९६७

वास्तविकता को ही गहरी कलात्मक अभिव्यक्ति मिली है, जो यद्यपि शिल्प और वस्तु की नवीनता और संश्लिष्टता के कारण सहज संप्रेषणीय नहीं है और किंचित दुरूह और अपरिचित-सी लगती है, लेकिन प्रयोगों, नये चौंकाने वाले बिम्ब-विधानों, पुरानी मान्यताओं और थोथे आदर्शों के प्रति अनास्था और द्रोह के भीतर उनमें गहरा मानव-प्रेम और जीवनाकांक्षा ध्वनित है।[1]

परम्परा और प्रयोग

आलोच्य युग के साहित्य विशेषत: सर्जनात्मक साहित्य को लेकर परम्परा और प्रयोग का प्रश्न उठा है। प्रयोग का तो एक 'वाद' ही चल पड़ा है--'प्रयोगवाद'। प्रश्न यह है कि परम्परा कहाँ वांछनीय है और प्रयोगों का अन्त कहाँ हो? कहा जाता है कि परम्परा समाजोन्मुखी होती है और प्रयोग व्यक्तिवादी। यह भी कहा जाता है कि परम्परा रूढ़िवादी वस्तु है, बन्धन है, जबकि प्रयोग में प्रगतिशीलता है, उन्मुक्ति है। पिछले बीस वर्षों से हिन्दी साहित्य में परम्परा और प्रयोग के औचित्य-अनौचित्य तथा उनकी सीमाओं पर विचार होता रहा है। इस सम्बन्ध में अमृतराय का यह समाधान उचित ठहरता है कि परम्परा साहसपूर्ण प्रयोग से ही आरम्भ होती है, अतः वह उपेक्षणीय वस्तु नहीं है, परन्तु उसके उतने अंश को हमें छोड़ देना है जो आज अनुपयोगी और मृत हो चुके हैं।[2] परम्परा को हमें सजीव रूप में ही ग्रहण करना है।[3] परन्तु प्रयोग की स्थिति क्या है? क्या वह प्रयोग के ही लिए है जैसे कला कला के लिए, या उसकी कोई निजी सार्थकता है? अमृतराय प्रयोग को बाहरी वस्तु न मानकर भीतरी चीज मानते हैं। प्रयोग युगधर्म का सूचक है। वह नितांत आत्माभिव्यक्ति होता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध युग की नई संवेदना से होता है, जो कलाकार की अनुभूति बनकर और उसके व्यक्तित्व के भीतर से अभिव्यक्ति पाती है। वस्तुत: प्रयोग युग की अनिवार्यता है और वे शैली मात्र नहीं हैं। 'रचना से अलग करके उसको (प्रयोग को) नहीं देखा जा सकता, जैसे किसी अंग की स्फूर्ति को उस अंग से अलग करके नहीं देखा जा सकता।[4] परम्परा का ज्ञान और युगबोध दोनों को कृति का आवश्यक अंग होना चाहिए. यह समाधान परम्परा और प्रयोग के द्वन्द्व का सुन्दर समाधान प्रस्तुत करना है। आलोच्य युग में

---

१. 'आलोचना' ३३—सम्पादकीय।
२. वही, ३३, पृष्ठ २५।
३. वही. ३३. पृष्ठ २६।
४ वही, पृष्ठ २६

परम्परा का विरोध इसलिए रहा है कि कवियों और साहित्यकारों की तरुण पीढ़ी पुरानी पीढ़ी को अपदस्थ कर गौरवान्वित होना चाहती है और प्रयोगों के पीछे किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति है। ये प्रयोग शिल्प तक ही सीमित हैं, उनके पीछे किसी नये युग-धर्म की चेतना नहीं है। फलस्वरूप नयी पीढ़ी का विद्रोह पीड़ा बन गया है और उसका कर्तव्य अपने सांस्कृतिक दाय की उपेक्षा करने के कारण साहित्यिक मूल्यों से भी रिक्त है।

आधुनिकता का प्रश्न

एक दूसरा प्रश्न भी है–आधुनिकता का प्रश्न। युग की माँग है कि कवि और साहित्यकार 'आधुनिक' बनें। परन्तु यह आधुनिकता क्या है ? क्या वह पश्चिम का अनुकरण मात्र है या पश्चिमी संस्कृति की सभ्यता के संघात से उत्पन्न नई भारतीयता है ? कहाँ प्राचीनता समाप्त होती है और आधुनिकता का आरम्भ होता है ? आधुनिकता के ऐतिहासिक क्रम-विकास में 'आज' की क्या स्थिति है ? स्वातंत्र्योत्तर भारत की 'आधुनिकता' या समसामयिकता के क्या अर्थ होते हैं ? 'आधुनिकता' किस अनुपात मे वांछनीय है ? क्या 'शाश्वत' और 'आधुनिक मूल्यों में कोई अनिवार्य विरोध है—इस प्रकार के अनेक प्रश्न आधुनिकता के प्रश्न के साथ जुड़े हुए हैं। डा० नगेन्द्र ने अपने एक निबन्ध आधुनिकता का प्रश्न-साहित्य के सन्दर्भ, में[1] में इन प्रश्नों को विस्तारपूर्वक विवेचित किया है और 'आधुनिकता' के कई अर्थों पर प्रकाश डाला है। उनके विचार में 'आधुनिक' का अर्थ व्यापक और गत्यात्मक ही मानना चाहिए। युगबोध, परम्परा का संशोधन, जीवन के वैविध्य की स्पृहा–अपने पर्यावरण के माध्यम से आत्मसिद्धि–विकास की आकांक्षा, आदि ही उसके सही लक्षण हैं–विघटन और अगति या निराशा और अवसाद आदि तक ही आज की या किसी युग की आधुनिकता को सीमित कर देना यथार्थ-बोध नहीं है। जो जीवन का ही लक्षण नहीं है वह आधुनिकता का लक्षण कैसे हो सकता है ?'—इस व्याख्या को ही अपने सामने रखकर उन्होंने कहा है—'उसके (आधुनिकता के) आधार पर ही साहित्य के स्वरूप और गुणों का निर्णय करना उचित नहीं है। प्रबल अनुभूति की सफल अभिव्यक्ति के आधार पर ही साहित्य-गुण के तारतम्य का आकलन किया जा सकता है।'

कुछ अन्य लेखकों ने इस समस्या पर तात्विक दृष्टि को पीछे डालकर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है और पिछले १५० वर्षों के काल-खंड में रिनेसाँ से लेकर आर्थिक क्रान्ति तक का परिपूर्ण विस्तार देखा है। उनके विचार से १९४७ के बाद

---

१ २४

हमारा देश विश्व के समसामयिक युग में प्रवेश करता है और हमें एक आद्य टेक्नो-औद्योगिक क्रान्ति की साधना में लगना पड़ता है, जिससे हम विशाल जन की श्रम-उत्पादकता को काम में ला सकें और फलतः जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठा सकें। इस दृष्टिकोण के अनुसार भारत की आधुनिकता राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक परिवर्तन का एक भाग हो गई है। डॉ० रमेश कुन्तल मेघ[1] के विचार में भारत का समसामयिक काल (१९४७-) एक विश्व-आर्थिक क्रान्ति और राष्ट्रीय-सामाजिक आन्दोलन का काल है जिससे शताब्दियों से निम्नतर जीवन गुजारने वाली जनता का जीवन खुशहाल हो, सामाजिक व्यवस्था में समाजवाद के विश्वजनीन आधार आ सकें, अवकाश उपलब्ध होने पर सृजनात्मकता की प्रचुरता हो। उन्होंने भारत की 'आधुनिकता' को 'विश्व-आधुनिकता' का ही अंग माना है और पश्चिम के आधुनिक-बोध से राममोहनराय के समय से आरम्भ होने वाली भारतीय आधुनिकता के पुष्ट करने की बात उठाई है। गद्य-साहित्य में इस आधुनिकता की चेतना का प्रमुख माध्यम उपन्यास है परन्तु उसका विवेचात्मक तथा बौद्धिक उत्कर्ष हमें विचारात्मक निबन्ध साहित्य में भी मिलता है।

प्रतिबद्धता का प्रश्न

प्रतिबद्धता का प्रश्न आधुनिकता के प्रश्न से भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उसका सम्बन्ध राज्य अथवा वर्गीय राजनीति के नियंत्रण से है। व्यक्तिवादी कलाकार जहाँ अपनी व्यक्तिमत्ता की रक्षा के लिए अपने कृतित्व को किसी भी राजनीतिक दबाव या विचार से मुक्त रखना चाहते हैं और पूँजीवाद अथवा साम्यवाद में से किसी भी खेमे में प्रवेश करने को तैयार नहीं हैं वहाँ एक वर्ग साहित्य और कला की सोद्देश्यता तथा वर्गबद्धता का ही पक्षपाती है और साहित्य तथा कला की निरुद्देश्यता को नितांत असामाजिक वृत्ति मानता है। उसके मत में 'व्यक्तिवादी विघटनशील प्रवृत्ति इस युग की सबसे खतरनाक प्रवृत्ति है क्योंकि यह प्रवृत्ति जीवन के प्रति अनास्थावादी और नकारात्मक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति मानव की समस्त उपलब्धियों को अस्वीकार कर उनके प्रति उपेक्षापूर्ण नकारात्मक दृष्टिकोण को प्रश्रय देती है।[2]

कवि और कलाकार की प्रतिबद्धता मूलतः अपने ही प्रति हो सकती है, अथवा कुछ दूर आगे बढ़कर अपने ही प्रति, यद्यपि दोनों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि उसका

---

१. 'आलोचना', ३४।

२ 'आलोचना' ३४ में डॉ० रामगोपाल चौहान का निबन्ध—'जीवन यथार्थ और युग के केन्द्रीय प्रश्नों का रूपायन' पृष्ठ ३४

कर्म आत्म-अभिव्यक्ति मात्र है। किसी राजनैतिकवाद, संस्था, दल अथवा कृति से बाहर की वस्तु के प्रति रचनाकार की उन्मुखता उसके अपने प्रति आस्था का संकट ही उत्पन्न करेगी। स्वातंत्र्योत्तर युग में राष्ट्रीय सरकार ने कुछ साहित्यकारों को आजीविका की सुविधा देकर अपने प्रचार-प्रसार का अंग बनाना चाहा था। आकाशवाणी, प्रचार-विभाग, भाषा और कोश विभाग, साहित्य समितियों की सदस्यता तथा प्रतिबद्धता देकर साहित्य पर अंकुश रखने का प्रयत्न किया। स्वतन्त्र कलाकारों और साहित्य-स्रष्टाओं ने इसका विरोध किया। उनके विचार से 'राष्ट्रीयता' साहित्य से अलग कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। उसे सत्ताधारी राजनैतिक दल में क्यों सीमित माना जाये? तात्पर्य यह है कि साहित्य की स्वाधीनता और अपरिबद्धता का प्रश्न नई पीढ़ी के कवियों और लेखकों के लिए आत्मस्वातंत्र्य का प्रश्न बन गया।

समकालीन लेखन में प्रतिबद्धता के प्रश्न पर विचार करते हुए एक लेखक ने आज की स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'प्रतिबद्धता अपने-आप में सम्पूर्ण नहीं है क्योंकि वह किसी-न-किसी के प्रति होती है। भक्ति-काल में प्रतिबद्धता धर्म या ईश्वर के प्रति थी, रीतिकाल में राजाश्रय (दरबारी संस्कृति) के प्रति। यह प्रतिबद्धता समर्पण ही थी। आधुनिक काल में प्रतिबद्धता राष्ट्रीय स्वाधीनता की माँग के प्रति थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के कुछ वर्षों में कुछेक लेखकों के मस्तिष्क या लेखन में ही सही, वह भारतीय लोकतंत्र के प्रति उन्मुख रही है। भारतीय राजनीति एवं सत्ता की विसंगतियों के कारण वह टूटती गई है क्योंकि समकालीन परिस्थितियों के विघटन के बीच उसकी दिशा इतनी स्पष्ट नहीं रह गई है। देखते-देखते दुनिया के तमाम देशों की समस्याएँ एक-दूसरे से इस तरह घुल-मिल गई हैं कि सृजनकर्ता सबसे पहले अपने को व्यापक मानवीय नियति के प्रति ही प्रतिबद्ध अनुभव करता है। समकालीन सृजन-प्रक्रिया में यह प्रश्न जटिलतर हो गया है। स्थितियों की अनिश्चयता निर्मम चुनौती के रूप में समकालीन लेखक के सामने है जिसे बदलना आसान नहीं है। लेकिन सिर्फ इसलिए उसकी प्रतिबद्धता की चेतना घटती नहीं, पहले की तुलना में बढ़ ही जाती है। अब लेखक सहज प्रतिबद्ध नहीं है, प्रतिबद्ध होने के लिए अभिशप्त है, उस पूरी नियति के प्रति, जिसे आज की कला और साहित्य में प्रतिबिम्बित होने वाले भयानक अमानवीकरण का ही अनुभव कराया गया है।'[१]

'अलगाव' (एलाईनेशन) की समस्या

प्रतिबद्धता का प्रश्न 'अलगाव' की समस्या से जुड़ा हुआ है। यदि कवि या साहित्यकार किसी के भी प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, तो वह सभी संपर्कों से छिन्न-भिन्न हो

---

१ आलोचना ३७ पृष्ठ १०

जाता है और युग की माँग उसे व्यर्थ कर डालती है। वह अकेला पड़ जाता है। 'अकेलेपन' का बोध आज की साहित्यकर्मी पीढ़ी के लिए 'पीड़ा' बन गया है। फलस्वरूप साहित्य में कुंठा, आत्म-प्रताड़ना, विद्रोह और निराशा-भाव की प्रधानता हो गई। मनुष्य की नियति के प्रति अविश्वास अन्ततः कलाकार को अपने समस्त परिवेश के प्रति अनास्थावादी और संशयग्रस्त बना देता है। उसके अन्तर्तम के आनन्द के स्रोत सूख जाते हैं। 'कलाकार और कवि का व्यक्तित्व इस हद तक खण्डित हो गया है कि वह सृजन के क्षणों में भी सम्पूर्ण नहीं हो पाता, विभाजित और बेगाना बना रहता है, जिसका मार्मिक वेदन उसकी रचना में ध्वनित होता है। आज कलाकार सृजन के स्फूर्तिदायी क्षणों में भी अगर अपने व्यक्तित्व को सीमित और विभाजित करने वाली अलगाव की भावना से आक्रान्त करने वाली स्थितियों से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र से एकात्म महसूस नहीं कर सकता और पूरे समाज के भाग्य में रुचि लेकर विश्व-मानव होने की अखण्डित अनुभूति नहीं कर सकता है और स्रष्टा के गौरव से वंचित होने की इस स्थिति को ही 'आधुनिक भाव-बोध' या 'भोगा हुआ सत्य' कहकर मन को सन्तोष देता है, तो कहना होगा कि पूँजीवाद में सृजनात्मक कार्य भी अब 'स्वान्तः सुखाय' नहीं रहा। टोटल अलगाव (एलाइनेशन) की यह स्थिति चाहे तथ्य हो लेकिन सत्य और अनित्य और दुर्निवाद भी है, यह समझना जीवन को बेमानी और फालतू मान लेना है और उन सामाजिक कारणों से आँख मींच लेना है, जिन्होंने यह स्थिति पैदा की है।'[1] निश्चय ही प्रतिबद्धता का प्रश्न सरल नहीं है क्योंकि आज मानव-जीवन अत्यन्त संश्लिष्ट हो गया है और व्यक्तियों, समाजों तथा राष्ट्रों के स्वार्थ परस्पर एक-दूसरे को काटते हैं। ऐसी स्थिति मे किसी एक समाधान के प्रति समर्पित होना असम्भव है। जीवन की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं मे आज मानवात्मा का सादा सत्य बँध ही नहीं पाता।

ऊपर हमने स्वातंत्र्योत्तर युग के साहित्य की जिन द्विविधाओं और कठिनाइयों का विवरण प्रस्तुत किया गया है वे इस युग के विचारात्मक गद्य पर भी पूरी तरह लागू होती हैं। अन्तर यह है कि सर्जनात्मक साहित्य (काव्य, नाटक, कथा-साहित्य) में इन प्रश्नो का समाधान घटनाओं, पात्रों, जीवन-संघर्षों अथवा विचार-संघातों के माध्यम से रसात्मक भूमिका के साथ उद्घाटित होता है। विचारात्मक साहित्य में अनुभूति और संवेदन का स्थान बौद्धिकता ले लेती है। तब ये प्रश्न वाद-विवाद का रूप धारण कर लेते हैं और हम तर्क-पद्धति का आश्रय लेकर जीवन और जगत से उलझते हैं। नये साहित्य का रचनात्मक लक्ष्य आज उतना स्पष्ट नहीं है जितना गांधीयुग का नवजागरण युग (उन्नीसवी

---

१. 'आलोचना' ३७, सम्पादकीय।

शताब्दी) के साहित्य का । परन्तु जीवन और साहित्य में चिन्तन की रूपरेखा धीरे-धीरे अधिकाधिक स्पष्ट और मुखर होती गई है ।

'कहा जाता है कि आज के अधिकांश साहित्य का लक्ष्य कुंठाओं की अभिव्यक्ति, अनास्था का प्रदर्शन, विकृत रुचियों का प्रचार और क्षणिक मनोरंजन है । आधुनिक साहित्य का ऐतिहासिक मूल्य और चिरन्तन पक्ष कुछ ही नहीं । इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि जिस मध्यवर्गीय समाज से साहित्यकार सृजन की प्रेरणा प्राप्त करता है उसकी वस्तुस्थिति (दशा) में दैन्य, अतृप्ति, अस्थैर्य, अनास्था, आशंकाएँ और विकृतियाँ व्याप्त है । बेरोजगारी, मँहगाई, शोषण, घूसखोरी, निरक्षरता, भ्रष्टाचार आदि ऐसे समाज-विरोधी तत्व हैं जिनसे वर्तमान सामाजिक जीवन जर्जरित, पीड़ित एवं दीन हो रहा है । सम्पूर्ण सामाजिक संगठन में विघटनकारी स्वार्थमूलक शक्तियाँ परम्परा-स्थापित मूल्यो के मूलोच्छेदन में रत हैं । आज के विश्वजीवन में मानव मात्र की संकटापन्न स्थिति, कुंठित आत्मचेतना और भयावह वातावरण के कारण मानवीय चिंतन बोध के स्तरों मे व्यतिक्रम और अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गया है । भौतिकवादी जीवन-मूल्यों की पराकाष्ठा के कारण मनुष्य एकमत से आध्यात्मिक आस्थाओं को भी एकांगी स्वीकृति नहीं दे सकता । ऐसी स्थिति में साहित्यकार का एक दायित्व कटु जीवन-सत्यों को यथार्थ रूप मे चित्रित करके सजगता और जागरूकता का वातावरण निर्मित करना है । इस दृष्टि से नया साहित्य अपने अस्तित्व की पूर्ण सार्थकता सिद्ध कर रहा है क्योंकि उसी के माध्यम से ऐसे प्रयास हो रहे है ।'[1]

विचारात्मक गद्य के अनेक रूप हमें स्वातंत्र्योत्तर युग में मिलते है--निबन्ध, समीक्षा, जीवनी, संस्मरण, आत्मकथा, स्केच (रेखा-चित्र), रिपोर्ताज, लेख, टिप्पणियाँ, सपादकीय, यात्रा-साहित्य आदि । विषय के अनुसार इस साहित्य का विभाजन राजनीति, धर्म, दर्शन, साहित्य, समाज-शास्त्र आदि-आदि अनेक विभागों में किया जा सकता है । कविता अपेक्षाकृत अधिक सरल युगों की चीज है । उपन्यास को औद्योगिक क्रांति की उपज माना गया है । कहानी और एकांकी जैसी विधाएँ उपन्यास और नाटक से ही फूट कर निकली हैं और उन पर आज के व्यस्तप्राण युग की पूरी छाप है । स्वातंत्र्योत्तर युग में इन सभी विधाओं के लघु-संस्करण भी हमें मिलने लगे हैं क्योंकि दौड़-धूप भर नये जीवन और व्यक्ति की विखण्डित चेतना के अनुरूप साहित्य की मुद्रा भी बदल गई है । जीवन के भव्य और विराट्, आदर्श और महिमामय रूप का चित्र आज साहित्यकार की अभीप्सा नहं है । वह दैनंदिन सामाजिक समस्याओं और अन्तश्चेतना की छोटी-छोटी

---

१ 'आलोचना' ३६--देवीप्रसाद गुप्त : 'मानवतावादी चिन्तनधारा और नया साहित्य' पृष्ठ २७-२८

भंगिमाओं को पकड़ना चाहता है। फलस्वरूप उसमें विवरण अथवा वर्णन का आग्रह नहीं है। नये विज्ञानवादी-भौतिकवादी जीवन की हलचलों को रसात्मक और विचारात्मक रूप देने के लिए आज विस्तार की अपेक्षा गहनता और निगूढ़ता की ही अधिक आवश्यकता है। यह ठीक है कि प्रचलित ढंग का साहित्य भी लिखा जा रहा है और क्लासिक साहित्य आज भी हमारी प्रेरणा का विषय है परन्तु नये साहित्य का नयापन' ही स्वातंत्र्योत्तर युग की साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

यह सम्भव नहीं है कि अपने विवेचन की सीमाओं के भीतर हम आलोच्य युग के सारे साहित्य का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर सकें। अनेक दिशाओं की ओर मुख करके चलने वाली अनेक विधाएँ अपने प्रचुर साहित्य के द्वारा इस प्रकार के प्रयत्न को रद्द कर सकती हैं, परन्तु अगले पृष्ठों में हम कुछ प्रमुख विधाओं के अन्तर्गत आलोच्य युग मे प्रकाशित विचारात्मक साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहेंगे। यहाँ हमें यह भी बता देना होगा कि बहुत-सा साहित्य ऐसा भी है जो एक प्रकार से 'सीमांती साहित्य' कहा जा सकता है और संपूर्णतया विचारात्मक साहित्य के भीतर नहीं आता। यात्रा, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, जीवनी, आत्मकथा आदि इसी प्रकार के सीमांती साहित्य का निर्माण करते हैं। विशुद्ध रूप से विचारात्मक गद्य, निबन्ध, लेख, सम्पादकीय, शास्त्रीय रचना तथा भाषण-अभिभाषण का रूप धारण करता है। मानवीय ज्ञान-विज्ञान, विचार और तर्क-वितर्क का सारा विस्तार इन अभिव्यंजना-शैलियों की अपेक्षा रखता है। इस 'विहंगम दृष्टि' में हमने इस सीमांती साहित्य पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया है।

जीवनी और आत्मकथा

जीवनी और आत्मकथा के रूप में पिछले दो दशकों में प्रचुर साहित्य प्राप्त हुआ है परन्तु अधिकांश सामान्य ढंग की रचनाओं पर ही समाप्त हो जाता है। बहुत-सी रचनाएँ बालकों और किशोरों के लिए लिखी गई हैं और उनमें वह अध्यवसाय और परिश्रम नहीं दिखलाई पड़ते जो जीवन-लेखन के लिए आवश्यक हैं। साहित्यकारों द्वारा लिखी कुछ आत्मकथाएँ अवश्य महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनमें हमें ऐसी बहुत सी सामग्री मिलती है जो उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों और रचनाओं पर प्रकाश डालती है। ऐसी आत्मकथाओं में राहुल जी की तीन भागों में लिखी आत्मकथा का नाम लिया जा सकता है जिसका आधार उनकी दैनंदिनियाँ हैं। इस स्तूपाकार रचना में अपनी सूक्ष्म तथा व्यापक चित्रकारी द्वारा बीसवीं शताब्दी के पहले २०-२५ वर्षों की जो मीनाकारी की गई है वह भारतीय इतिहास में भी अपूर्व है। लेखक की स्मृति ने छोटी-सी घटना का इतने अधिक ब्यौरे देकर प्रस्तुत किया है कि सम्पूर्ण रचना मध्यदेशीय भारतीय जीवन का

भंगिमाओं को पकड़ना चाहता है। फलस्वरूप उसमें विवरण अथवा वर्णन का आग्रह नहीं है। नये विज्ञानवादी-भौतिकवादी जीवन की हलचलों को रसात्मक और विचारात्मक रूप देने के लिए आज विस्तार की अपेक्षा गहनता और निगूढ़ता की ही अधिक आवश्यकता है। यह ठीक है कि प्रथित ढग का साहित्य भी लिखा जा रहा है और क्लासिक साहित्य आज भी हमारी प्रेरणा का विषय है परन्तु नये साहित्य का नयापन' ही स्वातंत्र्योत्तर युग की साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

यह सम्भव नहीं है कि अपने विवेचन की सीमाओं के भीतर हम आलोच्य युग के सारे साहित्य का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर सकें। अनेक दिशाओं की ओर मुख करके चलने वाली अनेक विधाएँ अपने प्रचुर साहित्य के द्वारा इस प्रकार के प्रयत्न को रद्द कर सकती हैं, परन्तु अगले पृष्ठों में हम कुछ प्रमुख विधाओं के अन्तर्गत आलोच्य युग मे प्रकाशित विचारात्मक साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहेंगे। यहाँ हमें यह भी बता देना होगा कि बहुत-सा साहित्य ऐसा भी है जो एक प्रकार से 'सीमांती साहित्य' कहा जा सकता है और संपूर्णतया विचारात्मक साहित्य के भीतर नहीं आता। यात्रा, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, जीवनी, आत्मकथा आदि इसी प्रकार के सीमांती साहित्य का निर्माण करते हैं। विशुद्ध रूप से विचारात्मक गद्य, निबन्ध, लेख, सम्पादकीय, शास्त्रीय रचना तथा भाषण-अभिभाषण का रूप धारण करता है। मानवीय ज्ञान-विज्ञान, विचार और तर्क-वितर्क का सारा विस्तार इन अभिव्यंजना-शैलियों की अपेक्षा रखता है। इस 'विहंगम दृष्टि' में हमने इस सीमांती साहित्य पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया है।

जीवनी और आत्मकथा

जीवनी और आत्मकथा के रूप में पिछले दो दशकों में प्रचुर साहित्य प्राप्त हुआ है परन्तु अधिकांश सामान्य ढंग की रचनाओं पर ही समाप्त हो जाता है। बहुत-सी रचनाएँ बालकों और किशोरों के लिए लिखी गई हैं और उनमें वह अध्यवसाय और परिश्रम नहीं दिखलाई पड़ते जो जीवन-लेखन के लिए आवश्यक हैं। साहित्यकारों द्वारा लिखी कुछ आत्मकथाएँ अवश्य महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनमें हमें ऐसी बहुत सी सामग्री मिलती है जो उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों और रचनाओं पर प्रकाश डालती है। ऐसी आत्मकथाओं में राहुल जी की तीन भागों में लिखी आत्मकथा का नाम लिया जा सकता है जिसका आधार उनकी दैनंदिनियाँ हैं। इस स्तूपाकार रचना में अपनी सूक्ष्म तथा व्यापक चित्रकारी द्वारा बीसवीं शताब्दी के पहले २०-२५ वर्षों की जो मीनाकारी की गई है वह भारतीय इतिहास में भी अपूर्व है। लेखक की स्मृति ने छोटी-सी घटना का इतने अधिक ब्यौरे देकर प्रस्तुत किया है कि सम्पूर्ण रचना मध्यदेशीय भारतीय जीवन का

महाकार चित्र बन गई है इस परम्परा की एक अन्य कड़ी बाबू श्यामसुन्दर दास की 'आत्मकथा' है जिसमें उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन की अनेक समस्याओं का निराकरण किया है।

जीवनी-साहित्य में इधर की सबसे महत्वपूर्ण रचना अमृतराय द्वारा रचित प्रेमचन्द की जीवनी 'कलम का सिपाही' है। इस रचना में प्रेमचन्द के पत्रों, उनके प्रशंसकों और मित्रों के संस्मरणों, माता शिवरानीदेवी के स्केचों 'प्रेमचन्द : घर में' के अतिरिक्त स्वयं प्रेमचन्द के निबन्धों, लेखों और कथा-साहित्य से पर्याप्त सहारा लिया गया है। शैली प्रेमचन्दी है और सम्पूर्ण जीवन-वृत्तांत एक उत्कृष्ट चलचित्र के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। साथ में समानान्तर सूत्र चलते रहते हैं जो प्रेमचन्द के पात्रो के अन्तश्चेतनामूलक चिन्तन अथवा घटना-प्रसंगों से सम्बद्ध रहते हैं। सहस्राधिक पृष्ठो मे आधुनिक युग के एक एकांतजीवी तथा आत्मसंकोची कलाकार का ऐसा विस्तृत विवरण हमे किसी भारतीय भाषा में नहीं मिलेगा। परन्तु इस सम्पूर्ण प्रयास में लेखक अपने उपन्यासकार पिता के बाह्य जीवन को ही झलका सका है, उसके अन्तर्जीवन के संघर्षों और द्विविधाओं के चित्रण में वह असफल ही रहा है। प्रेमचन्द के अन्तर्जीवन और उनके कथा-साहित्य में जैसा आन्तरिक गुम्फन सम्भव था, वह हमें नहीं मिलता। जीवनी-लेखन को जब तक बौद्धिक धरातल तक नहीं उठाया जाता तब तक वह केवल वर्णना-त्मक प्रक्रिया बना रहता है। 'आत्मकथा' के रूप में जो सामग्री पिछले दिनों प्राप्त हुई है उसमें 'साहित्यिक जीवन के संस्मरण' (पण्डित किशोरीदास वाजपेयी), 'अपनी बात' (छविनाथ पाण्डेय), 'चाँद-सूरज के बीरन' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'अपनी खबर' (बेचनशर्मा पाण्डेय 'उग्र') आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं। ऊपर की रचनाओं में 'उग्र' जी की कृति 'अपनी खबर' और शान्तिप्रिय द्विवेदी की आत्मकथा 'परिव्राजक की प्रजा' विशेष महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध गांधीयुग के दो नवयुवक गद्यशिल्पियों से है। 'उग्र' मूर्तिभंजक रहे हैं, अतः उन्होंने अपनी आत्मकथा में साहित्यिक और राजनैतिक जगत की बहुत-सी प्रतिमाएँ तोड़ी हैं। काशी के जीवन की अपूर्व झाँकी उनके ग्रंथ की विशेषता है। शांतिप्रिय जी भावुक कवि और समीक्षक हैं, 'उग्र जी' उनके परिचित रहे हैं और उनके चित्र में निखरे भी हैं, परन्तु उनकी आत्मकथा का केन्द्र है मूर्तिमती श्रद्धा उनकी बड़ी बहिन जिनके तप और बलिदान को उन्होंने शरच्चन्द की करुणा-वलित लेखनी से अँकोरा है। इन रचनाओं के दूसरे छोर पर हमें राहुल जी और राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथाएँ मिलेगीं जिन्हें सांस्कृतिक और राजनैतिक वृत्तान्तों का कोश कहा जा सकता है।

'जीवनी' और 'आत्मकथा' के साथ हम 'इन्टरव्यू' को भी ले सकते हैं क्योंकि उसका उद्देश्य भी एक प्रकार से किसी विशिष्ट नेता, साहित्यकार, कलाकार अथवा

प्रतिष्ठित व्यक्ति के जीवन के विशेष प्रसंगों एवं विचारों का उद्घाटन ही होता है। 'इन्टरव्यू' की कला हिन्दी के लिए नई ही वस्तु है और उसका अधिक प्रचलन नही हो सका है। हिन्दी में पत्रकारिता को वह महत्व प्राप्त नही है जो दूसरी भाषाओं मे। अभी भी अधिकांश शिक्षित समाज अंग्रेजी समाचारपत्रों पर ही आश्रित रहता है। फलत: जो विधाएँ नितान्त समाचार-पत्रों, साप्ताहिक पत्रों और मासिक पत्रों तक सीमित हैं, वे विशेष पनप नहीं पातीं। आलोच्य युग में यदि किसी ने विशेष रूप मे 'इन्टरव्यू' की कला की साधना की है और इस क्षेत्र में हमें प्रचुर साहित्यिक सामग्री दी है तो डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने, जिनके इन्टरव्यू 'मैं इनसे मिला' नामक तीन संकलनों में प्रकाशित हुए हैं। इन तीनों भागों में ६० से अधिक व्यक्तियों के जीवन और विचारों से हम परिचित होते हैं और उनका कर्तव्य केवल साहित्य तक ही सीमित नहीं रहता। सामान्यत: 'इन्टरव्यू' साहित्य कोटि से कुछ नीचे ही रह जाते हैं, परन्तु इनमें हमें लेखक की विचारशीलता तथा अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता के पुष्ट आयाम मिलते हैं।

निबन्ध-साहित्य

'निबन्ध' के दो रूप विषयगत और व्यक्तिगत अथवा 'ललित' आलोच्य युग के गद्य-साहित्य में भी मिलते हैं। वस्तुत: निबन्ध, चाहे वह विषयगत हो या व्यक्तिगत, आधुनिक चेतना का सप्राण प्रतिनिधि है। उसमें बौद्धिकता और भावुकता दोनो के दर्शन होते हैं। विषयगत निबन्ध में बौद्धिकता का उत्कर्ष रहता है और भावुकतापूर्ण निबन्ध मूलत: व्यक्तिगत निबन्ध होते हैं। परन्तु सच तो यह है कि निबन्ध को किसी भी सीमा या परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता। उसका वैविध्य ही उसकी विशेषता भी बन गया है। विषयगत निबन्धों को ही लें तो उनके भीतर विषय की ही दृष्टि से सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनेक विभाजन मिलते हैं। साहित्यिक निबन्ध भी विषयगत निबन्धों के ही अन्तर्गत आते हैं परन्तु उनके भी कई वर्ग किये जा सकते हैं, जैसे समीक्षात्मक, विवेचनात्मक आदि। समीक्षात्मक निबन्धों की दो कोटियाँ तो स्पष्ट ही हैं—सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक। अभिव्यंजना या शैली की दृष्टि से हम निबन्ध को वर्णनात्मक, आख्यात्मक, व्याख्यात्मक एवं विचारात्मक कोटियों में रख सकते हैं। निबन्धकार का लक्ष्य विचारोत्तेजन, भावोत्तेजन अथवा प्रचार हो सकता है और इन तीन उपलब्धियों के आधार पर उसकी तीन श्रेणियाँ की जा सकती हैं। ऊपर के विभाजन से यह स्पष्ट है कि निबन्ध का विषयगत रूप वस्तु और शिल्प दोनों की दृष्टि से कितना विकसित है।

यही बात ललित या व्यक्तिगत निबन्ध के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

इस कोटि के निबन्धों के विषय का साथन विषयी ले लेता है। विषयगत निबन्ध आत्मपरक, आत्माभिव्यंजक, संश्लेषणात्मक और व्यंगविनोद-प्रधान होते हैं। उनमें लेखक का व्यक्तित्व ही सर्वोपरि रहता है। गीति-काव्यात्मक तथा भावप्रधान कल्पनाभिचित्रित रचनाएँ व्यक्तित्व का आग्रह लेकर ही चलती हैं। इस कोटि के निबन्ध अनुभव की अपेक्षा अनुभूति को अधिक महत्व देते हैं और संवेगात्मकता उनकी विशेषता रहती है।

आलोच्य युग में गद्यशिल्पियों का ध्यान निबन्ध की ओर विशेष रूप से गया है। उन्होंने अनेक शैलियों के प्रयोग किये हैं। वैयक्तिक निबन्ध के साथ कथात्मक निबन्ध, वार्तामूलक निबन्ध, आन्तरिक एकालाप, स्वगत-भाषण आदि विधियों और रूपों का उपयोग समसामयिक निबन्ध की विशेषता है। कहीं-कहीं निबन्ध में विविध शैलियों और भंगिमाओं का ऐसा मिश्रण हो गया है कि उसे किसा विशेष कोटि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। कुछ विद्वान संस्मरण, रेखाचित्र और रिपोर्ताज को भी निबन्ध की ही शैली मानते हैं परन्तु अब ये सब स्वतन्त्र गद्य-विधाएँ हैं जिनका पर्याप्त साहित्य हमें उपलब्ध है।

यदि हम समीक्षात्मक निबन्धों और शास्त्रीय विषयों पर लिखे निबन्धों को छोड़ दें, तो शेष रह जाते हैं साहित्यिक और सांस्कृतिक निबन्ध ; वस्तुतः विषयगत निबन्धों में विचार की प्रौढ़ता, गम्भीरता और व्यापकता की दृष्टि से इन्हीं का महत्व सर्वाधिक है। इस कोटि के लेखकों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम सर्वोपरि है। वे जहाँ एक ओर सांस्कृतिक भूमिका के आलोचक हैं वहाँ दूसरी ओर साहित्य और संस्कृति पर लेखनी उठाने वाले श्रेष्ठतम निबन्धकार। संस्कृत साहित्य और प्राच्य विद्या, मध्ययुगीन समाज और धर्म, भारतीय आचार-विचार और जातीय चेतना को आधार बनाकर उन्होंने निबन्धों के रूप में जो लिखा है वह उनकी कलाकारिता का परिचायक है। सांस्कृतिक विषयों पर लिखनेवाले निबन्धकारों में डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल, भगवतशरण उपाध्याय, 'दिनकर' आदि के निबन्ध विशेष महत्वपूर्ण हैं। गांधीवादी विचारधारा के प्रतिनिधि निबन्धकार जैनेन्द्र हैं जिन्होंने भारतीय अध्यात्म और राजनीति में अन्तर्सूत्रों की स्थापना की है। 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' तथा 'समय और हम' जैसी कृतियों में उनका गम्भीर चिन्तक-रूप ही जैसे मुखर है। 'सोच-विचार' और 'मन्थन' निबन्ध-संग्रहों में जैनेन्द्र की निबन्ध-शैली का कथात्मक रूप भी मिलता है जो 'ललित' की कोटि में आता है, परन्तु निबन्ध की शैली चाहे कुछ हो, जैनेन्द्र का मूलबद्ध चिन्तना और उनके तटस्थ तथा आत्मव्यंजक व्यक्तित्व का प्रसाद हमें सब कहीं समान रूप से दिखलाई देता है।

उपर्युक्त विवेचन से विषयगत और विवेचनात्मक निबन्धों की विशिष्टताओं और उपलब्धियों पर आंशिक रूप से ही प्रकाश पड़ता है। वास्तव में आज का अधिकांश गद्य

निबन्ध का ही रूप ग्रहण करता है। लेख, सम्पादकीय, टिप्पणी आदि भी निबन्ध के ही विकसित रूप हैं। इनके अतिरिक्त संस्मरणों ,पत्रों, डायरी के पृष्ठों आदि के रूप में जो सामग्री हमें मिलती है वह भी निबन्ध का ही रूपान्तर है। वैचारिक गद्य की जो स्वतन्त्र केन्द्रीय और उत्कृष्ट स्थिति यूरोपीय भाषाओं में है, अभी हम उसके बहुत दूर हैं। 'हिन्दी क्षेत्रों में दुर्भाग्य से किसी प्रौढ़ चिंतक और निश्छल विचारक ने हिन्दी के माध्यम से वैसा कुछ नहीं दिया जिसे दार्शनिक अनुबन्ध में स्वीकार किया जा सके। आज का दर्शन विज्ञान की अन्तःसलिला चेतना से समन्वित और समृद्ध होगा, किन्तु भारत में विज्ञान के अध्यापक और छात्र हैं, वैज्ञानिक नहीं, उनमें वैज्ञानिक संचरण के युग-संस्कार नही। विश्वविद्यालय फैक्टरियाँ हैं, प्रयोगशाला तक नहीं। अन्ततोगत्वा जीवन-दर्शन का अन्वेषण उपाधिकामी परीक्षार्थियों और शोधकर्ताओं के लिए लोकप्रिय विषय बन गया है परन्तु उसमें अपेक्षित गम्भीरता का अभाव है।[1]

ललित निबन्धों के लेखकों में कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', गुलाबराय, रामबृक्ष शर्मा बेनीपुरी, विद्यानिवास मिश्र, ससारचंद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रभाकर माचवे आदि प्रमुख हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल' और 'कल्प-लता' के अनेक ललित निबन्ध ऐतिहासिक-सांस्कृतिक भूमिका को समेट कर भी लेखक की कल्पनाशक्ति, विनोदप्रियता, अनासक्ति तथा मानवता के प्रतीक हैं। उनकी रागात्म-कता असन्दिग्ध है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के निबन्धों में रमणीयता, रोचकता, संस्मरणमूलकता तथा चित्रात्मक का समावेश रहता है। कहाँ कल्पना समाप्त होती है और यथार्थ का आरम्भ होता है, यह कहना कठिन हो जाता है। विद्यानिवास के ललित निबन्धों में शब्द-क्रीड़ा, नवीन अर्थ-बोध, कथात्मकता, आत्मविन्यास आदि तत्वों की प्रधा-नता है। 'छितवन की छाँह', 'कदम्ब की फूली डाल', 'तुम चन्दन हम पानी' संकलनों मे वे उत्कृष्ट कलाकार के रूप में सामने आते हैं। कथात्मक निबन्ध-शैली के लिए शिवप्रसाद सिंह का निबन्ध-संग्रह 'शिखरों के सेतु' द्रष्टव्य हैं। उन्होंने निर्बलता के भीतर भी अपने चिन्तन को सजग बनाये रखा है। 'कुट्टिचातन' ('अज्ञेय' का छद्म नाम) के निबन्ध-सकलन 'सब-रंग' में व्यक्तिनिष्ठा की साधना के साथ आन्तरिक एकालाप, अचेतन चेतनाप्रवाह, भावुकतामूलक कल्पना, अनुभूतिजन्य संदर्पण आदि अनेक सुन्दर उपकरण मिलते हैं जो लेखक की विलक्षण प्रतिभा के प्रमाण हैं। विश्वनाथ मुकर्जी का संकलन 'बना रहे बनारस' आत्मीय चित्रों तथा व्यक्तिगत अनुभूतियों का भंडार है।

स्वस्थ परिहास और विनोद की भूमिका भी ललित निबन्धों में चलती है। इस

---

१. 'आलोचना', २६ : डॉ० रामखेलावन पाण्डेय, हिन्दी निबन्ध : प्रेरणा, प्रयोग और उपलब्धि

शैली के निबन्धकारों में बाबू गुलाबराय अग्रगण्य थे। उन्होंने 'मेरी असफलताएँ' नामक निबन्ध-संग्रह में अपनी स्वाभाविक गम्भीरता छोड़कर 'आफत का मारा दार्शनिक', मधुमेही आत्मकथा', 'कुछ उथले कुछ गहरे' आदि निबन्धों में विनोदात्मक आत्माभिव्यंजन का एक मानदंड ही स्थापित कर दिया है।

स्वातंत्र्योत्तर निबन्ध-साहित्य हमें पिछले बीस वर्षों के साहित्यिक मानस की अपूर्व झाँकी प्रदान करता है। आरम्भ में जो स्वच्छन्द उल्लास, मादक उन्मुक्तता तथा निश्छलता हमें ललित निबन्धों के क्षेत्र में दिखलाई देती थी वह बाद में चिन्ता-संकुलता में बदल गई। अतीत का वातावरण वर्तमान के अभावात्मक परिवेश से विच्छिन्न हो उठा। बौद्धिक चेतना ने कल्पना को असमर्थ और भावना को पंगु बना डाला। वर्तमान की आशंका और अनिश्चितता की छाप निबन्धों पर पड़ने लगी और वे विचार-बोझिल बन गये। उनमें समस्या और समाधान की परिबद्धता ही प्रमुख तत्व बन गई।

समीक्षा

समीक्षा स्वातंत्र्योत्तर युग के साहित्यिक कृतित्व का शीर्षमणि है। विचारात्मक गद्य का सबसे सुन्दर और प्रौढ़ रूप यहीं देखा जा सकता है। उसमें आलोच्य युग के साहित्यस्रष्टाओं और पाठकों का बौद्धिक वैभव पूर्णतः परिलक्षित होता है। आधुनिक जीवन को देखने की जितनी भी दृष्टियाँ सम्भव हैं, वे सब पिछले बीस वर्षों के आलोचना-साहित्य में पल्लवित हैं। समाज की चेतना का सूक्ष्मतम और प्रौढ़तम रूप साहित्य-समीक्षा में दिखलाई देता है क्योंकि साहित्य समाज की गतिविधियों को जिन सुदृढ़ सूत्रों में बाँधता है उनमें कितना स्थायित्व है, इसकी परीक्षा समीक्षा के ही द्वारा होती है। वह साहित्यकार और पाठक के बीच में सेतु है—'आलोचना केवल पाठकों को साहित्य की कृतियों के रूप-सौन्दर्य-मूल्य तथा चेतना-विकासी मानव-संवेदन प्राप्त करने में ही सहायता नहीं देती, बल्कि साहित्यकारों को भी नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करके उनके आगे रचना के नये क्षेत्र और सीमान्त खोल देती है। आलोचना एक सक्रिय शक्ति है जो साहित्य और कला की धाराओं का आवश्यकतानुसार नियंत्रण करती है तो साहित्य और कला में नई प्रवृत्तियों और धाराओं को भी विकास के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा प्रदान करती है।'[1] समीक्षा की यह नई भूमिका सामयिक साहित्य की अन्तरंगी जागरूकता और उसकी समग्रगत दृष्टि का प्रमाण है।

यद्यपि आलोच्य-युग में पत्र-पत्रिकाओं में विशेष स्तम्भों और स्वतन्त्र लेखों के रूप में सैद्धान्तिक समीक्षा बराबर अपना मार्ग प्रशस्त करती रही है। समीक्षा का सैद्धां-

---

१. श्री शिवदानसिंह चौहान : हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृष्ठ २०८।

न्तिक पक्ष उसके व्यावहारिक पक्ष का और स्तम्भ है, अतः व्यावहारिक समीक्षा भी उसका थोड़ा-बहुत उपयोग आवश्यक होता है। सिद्धान्तों को शून्य में खड़ा नहीं किया जा सकता उनके लिए उदाहरणस्वरूप कृति-विशेष को सामने लाना आवश्यक बात है। पिछले वर्षों मे शास्त्रीय प्रणाली के अन्तर्गत सैद्धान्तिक समीक्षा की प्रमुखता रही है, किन्तु परीक्षण-प्रणाली के अन्तर्गत व्याख्यात्मक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक, निर्णयात्मक आदि समीक्षाओं का विशेष प्रचार रहा है। व्याख्या और विश्लेषण समीक्षा के दो ध्रुव है और श्रेष्ठ समीक्षक इन दो ध्रुवों को अपनी अन्तर्दृष्टि के बिन्दु पर लाकर एक ऐसे संगम का निर्माण करता है जिसमें कृतित्व का प्राण है।

मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, मार्क्सवादी और प्रयोगवादी समीक्षाएं आलोच्य युग में अपने स्वतंत्र खेमे लेकर उपस्थित होती हैं। इनमें से कुछ का आग्रह आन्तरिक सस्कारों की ओर है और अन्य का बाह्य संस्कारों की ओर। जहाँ मनोवैज्ञानिक समीक्षा उपचेतन मन के सस्कारों के आधार पर मन की प्रक्रिया का विश्लेषण प्रस्तुत करती है वहाँ मार्क्सवादी विचारधारा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर जीवन और समाज की व्याख्या करती हुई जीवन की तरह साहित्य में भी प्रगतिशील तत्वों की स्थापना चाहती है। तुलनात्मक और निर्णयात्मक समीक्षाएँ विशिष्ट सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों की अपेक्षा समीक्षक की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को प्रमुखता देती हैं और उनकी भी आलोच्य काल में अपनी निश्चित परम्परा रही है।

परन्तु आलोच्य युग में कतिपय नवीन दिशाओं में भी समीक्षा का विकास हुआ है। यह नवीन दिशाएँ वाद-विनिर्मुक्त समीक्षा (अप्रतिबद्ध समीक्षा), सांस्कृतिक समीक्षा, प्रयोगवादी समीक्षा तथा 'नव्य समीक्षा' (नई समीक्षा) के नाम से अभिहित की जा सकती हैं। अपरिबद्ध समीक्षकों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी प्रमुख हैं। १९४७ से पहले का उनका समीक्षा-साहित्य स्वच्छंदतावादी समीक्षा की कोटि में आता है परन्तु पिछले दो दशकों में उन्होंने अपने दृष्टिकोण का विस्तार किया है और संस्थानिक अथवा नव्य-शास्त्रीय समीक्षा के प्रमुख पुरस्कर्ता के रूप में वे सामने आये हैं। वे मार्क्सवाद प्रयोगवाद, गांधीवाद—सभी प्रकार के सिद्धान्तों को साहित्य समीक्षा के लिए अनुपयुक्त समझते हैं। उनकी दृष्टि में कृति के भीतर ही कृतित्व के श्रेष्ठतम मूल्य अन्तर्निहित रहते हैं और उनका उद्घाटन ही श्रेष्ठ समीक्षा-धर्म है। सांस्कृतिक समीक्षा का विशेष आग्रह हमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डाक्टर देवराज की रचनाओं में मिलता है। अन्तर यह है कि जहाँ द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति और प्राचीन संस्कृत-साहित्य को अपनी सांस्कृतिक दृष्टि का आधारफलक बनाते हैं, वहाँ डा० देवराज पश्चिमी संस्कृति और क्लासिक रचनाओं से भी सहायता लेते हैं। फलस्वरूप जहाँ द्विवेदी जी

मुख्यत: मध्यकालीन हिन्दी साहित्य तक ही सीमित रहते हैं वहाँ डॉ० देवराज विशेष रूप से आधुनिक साहित्य के ही समीक्षक हैं।

प्राचीन परिपाटी की समीक्षा-दृष्टि अब भी 'रस' को केन्द्र में रखकर चल रही है। शुक्लोत्तर समीक्षा में रस-मीमांसा का आग्रह विशेष रूप से दिखलाई देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस-मीमांसा' लिखकर आधुनिक साहित्य-चिन्तन को रस की ओर मोड़ने का जो प्रयत्न किया वह आज तक ऐसी परम्परा बन गया है जिसका उल्लंघन कठिन है। फलस्वरूप आचार्य वाजपेयी जैसे अभिनव सौन्दर्यबोध से अनुप्राणित आलोचक भी अन्त में रसवाद के नूतन व्याख्याता के रूप में ही सामने आते हैं। डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, 'सुधांशु' –सभी रस की अपने-अपने ढंग पर व्याख्या करते हैं। इस क्षेत्र में शोध की प्रक्रिया से स्वतंत्र जो मौलिक रचनाएँ हमें प्राप्त हुई हैं उनमें प्रमुख हैं, 'सुधांशु' जी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', डॉ० नगेन्द्र का 'रस-सिद्धान्त' तथा डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी का 'रस-विमर्श'। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक नये-पुराने समीक्षक हैं जिन्होंने काव्यशास्त्रीय आधारों से स्वतन्त्र रह कर अपनी सूक्ष्म सौन्दर्यदृष्टि और साहित्य-संवेदना के आधार पर काव्यानन्द के सम्बन्ध में अपना गहन चिन्तन प्रस्तुत किया है। रसशास्त्र की इस नवीन मीमांसा में जहाँ पर्याप्त प्रबुद्धता और ताज़गी है, वहाँ थोड़ा अतिवाद भी है क्योंकि उसमें पश्चिम के मानववाद जैसे साहित्येतर सिद्धान्तों का आरोप किया जा रहा है। जहाँ तक कवि और कलाकार की वैयक्तिक संवेदनाओं और मनोभूमियों को रसवाद में समाहित करने की बात है वहाँ तक तो ठीक है परन्तु मुक्तछन्द और प्रयोगवाद से लेकर नई कहानी तक की सारी सामग्री रसबोध के आधार पर व्याख्यायित नहीं हो सकेगी।

नई समीक्षा

'नई समीक्षा' से हमारा तात्पर्य उस समीक्षा से है जो प्रयोगवाद के साथ आरम्भ होती है। कुछ लोगों ने 'नयी समीक्षा' का आरम्भ 'तार सप्तक' और उसकी भूमिका के प्रकाशन से माना है और कुछ ने 'अज्ञेय' की कृति 'त्रिशंकु' से, परन्तु दोनों का प्रकाशन-काल एक ही है, अर्थात् १९४३। 'प्रतीक' (१९४६) और 'नयी कविता' (१९५४) पत्रों में नयी समीक्षा की धारा बड़ी तीव्रता से अग्रसर होती है, परन्तु उसका अधिक प्रौढ़ रूप हमें पिछले दस वर्षों में ही प्राप्त होता है। इन दस वर्षों की रचनाओं में 'नयी कविता के प्रतिमान' (लक्ष्मीकांत वर्मा, १९५७), 'आत्मनेपद' (सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', १९६०), 'मानव-मूल्य और साहित्य' (धर्मवीर भारती

१९६०), 'हिन्दी नवलेखन' (रामस्वरूप चतुर्वेदी, १९६०), और साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' (रघुवंश १९६३) प्रमुख हैं। अभी इस वर्ष इस शृखला की अन्तिम कड़ी अज्ञेय की कृति 'आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक परिदृश्य' प्रकाशित हुई है। इन नये समीक्षकों मे 'अज्ञेय' ही सबसे समर्थ हैं और 'नयी समीक्षा' के प्रतिनिधि लेखक के रूप में हमने अपने शोध प्रबन्ध में उनकी समीक्षा दृष्टि की विशद विवेचना की है; परन्तु अन्य समीक्षक भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, विशेषतः इसलिए कि उनमें रसवाद की परिपूर्णता का आग्रह नहीं है और वे नये साहित्य की तरह नयी समीक्षा को भी नये मूल्यों से मण्डित करना चाहते हैं। उन्होंने व्यक्तित्व की खोज, 'आधुनिकता', 'अर्थ की लय' अथवा सह-अनुभूति' जैसे नये शीर्षकों के भीतर काव्यानन्द की नई व्याख्या का नया प्रयत्न किया है। इस 'नयी समीक्षा' की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार बतलाई गई हैं—

(१) प्रगतिवादी अथवा साम्यवादी विचारधारा और काव्य-दृष्टि का विरोध,

(२) पूर्ववर्ती प्राचीन और आधुनिक काव्य तथा समीक्षा के प्रति उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि,

(३) फ्रायड के सिद्धान्तों की विशेष मान्यता,

(४) व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि,

(५ 'आधुनिकता', 'बौद्धिकता' अथवा 'बौद्धिक रस', 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' और क्षणवाद' जैसे नये मानदण्डों का साहित्य-समीक्षा में उपयोग। आयाम, परिप्रेक्ष्य, सन्दर्भ, भाव-बोध, असंपृक्त और प्रतिमान, जैसे अनेक विशिष्ट रूप से अर्थवान शब्दो का उपयोग इस समीक्षा में मिलेगा।

(६) साधारणीकरण के सिद्धांत के प्रति ये नए समीक्षक अनास्थावान है। वस्तुतः यह 'नयी समीक्षा' डी० एच० लारेन्स, इलियट और अमरीकी नव्य समीक्षकों की एकांततः ऋणी है।

यात्रा-साहित्य

हिन्दी में व्यवस्थित ढंग से यात्रा-साहित्य का निर्माण महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के द्वारा आरम्भ होता है जिनकी एक दर्जन से अधिक यात्रा-पुस्तकें हमें प्राप्त हैं। वे विश्वपर्यटक के रूप में भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने साहित्यकार और पंडित के रूप में। तिब्बत, लंका, चीन, ईरान और रूस उनके पर्यटन के क्षेत्र रहे हैं और इनके सम्बन्ध में हमें पर्याप्त जानकारी उनकी रचनाओं में मिलती है। राहुल जी के यात्रा-वृत्तांतों में तथ्य और सूचना की ही प्रधानता अधिक है, उनमें चिन्तन और मनन की प्रक्रिया का वह रूप नहीं दिखाई देता जो 'अज्ञेय' के 'अरे यायावर रहेगा याद' के

यात्राचित्रों को तलस्पर्शी गम्भीरता प्रदान करता है। राहुल जी ने 'घुमक्कड़-शास्त्र' लिखकर यात्रा विषयक शास्त्र-निर्माण का भी प्रयत्न किया है और उसमें उनके समस्त जीवन के अनुभवो का निचोड़ आ गया है। उनके चित्रों और प्रशंसकों में भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भगवतशरण उपाध्याय का नाम लिया जा सकता है जो उन्हीं की तरह हिन्दी क्षेत्र के प्रसिद्ध पर्यटक हैं और प्रचुर मात्रा में यात्रा-साहित्य रचने में सफल हुए है।

आलोच्य युग में जिन लेखको ने यात्रा-साहित्य में विशेष योगदान दिया है वे है अमृतराय ('सुबह के रंग'), अक्षयकुमार जैन ('दूसरी दुनिया'), सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ('अरे यायावर, रहेगा याद' और 'एक बूंद सहसा उछली') जगदीश-शरण वर्मा ('ज्ञान की खोज में'), धर्मवीर भारती ('ठेले पर हिमालय'), बिट्ठलदास मोदी (कश्मीर में पन्द्रह दिन'), ब्रजकिशोर नारायण 'नंदन से लंदन'), भगवतशरण उपाध्याय (सागर की लहरों पर'), मोहन राकेश ('आखिरी चट्टान तक'), यशपाल जैन (रूस में छियालिस दिन'), रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी ('पैरों में पंख बांध कर') और डा० रघुवंश ('हरी घाटी')। धर्मवीर भारती के 'ठेले पर हिमालय' के कुछ चित्र भी इस प्रसग में उल्लेखनीय हैं जिनमें उन्होंने कूर्मांचल का अत्यन्त मनोरम और काव्यात्मक विवरण प्रस्तुत किया है।

जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र आदि की भाँति अधिकांश यात्रा-साहित्य भी सीमांती साहित्य है और विशुद्ध विचारात्मक साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता। परन्तु वह सीमांती इसलिए है कि संवेदनशील यात्री के मन में कहीं-न-कहीं भाव अथवा विचार का कोई गुंफ ऐसा रहता अवश्य है, जो अनायास ही कुछ शब्दों या पंक्तियों मे प्रगट होकर रचना को वर्णन या विवरण मात्र से ऊपर उठा देता है। ऐसे क्षणों में यात्रा-वृतान्त गद्यकाव्य से लेकर वैचारिक अनुबंध तक की गरिमा प्राप्त कर लेता है। उदाहरण के लिए हम यहाँ 'भारती' से दो अवतरण प्रस्तुत कर सकते हैं, जिनमें एक मे उनकी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया और दूसरे में उनकी विचारात्मक अनुभूति की शक्ति और गहराई का पता चलता है। 'ठेले पर हिमालय' के अन्त में लेखक हिमालय की भेंट का दद इस प्रकार सँजोता है—'आज भी उसकी याद आती है तो मन पिरा उठता है। कल ठेले के बर्फ को देखकर वे मेरे मित्र उपन्यासकार जिस तरह स्मृतियों में डूब गये, उस दर्द को समझता हूँ और जब ठेले पर हिमालय की बात कहकर हँसता हूँ तो वह उस दर्द को भुलाने का बहाना है। वे बर्फ की ऊँचाइयाँ बार-बार बुलाती हैं, और हम हैं कि चौराहों पर खड़े, ठेले पर लदकर निकलने वाली बर्फ को ही देखकर मन बहला लेते हैं। किसी ऐसे ही क्षण में ऐसे ही ठेले पर लदे हिमालयों से घिर कर ही तो तुलसी ने नही कहा था........ कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो..........मैं क्या कभी ऐसे भी रह सकूंगा वास्तविक हिम शिखरो की ऊंचाइयों पर ? और तब मन में आता है कि फिर

हिमालय को किसी के हाथ सन्देसा भेज दूँ.......नहीं बन्धु.......आऊँगा। मैं फिर लौट-लौट कर वहीं आऊँगा। उन्हीं ऊँचाइयों पर तो मेरा आवास है। वहीं मन रमता है..... मैं करूं तो क्या करूं।' 'कूर्माचल' में कुछ दिन' में हिमालय की बर्फीली चोटियों की अनुभूति को बौद्धिकता में टाला गया है—'लगा जैसे हमारी चेतना का कोई अंश ऐसा जरूर है जो धरती के कठोर यथार्थ से हमें ऊपर की ओर उठा रहा है वहाँ जहाँ अनन्त-काल से शुभ्र श्वेत हिम जमा हुआ है। उन्हीं शिखरों को शंकराचार्य ने देखा था, इन्ही मे कालिदास भटके थे, इन्हीं में विवेकानन्द ने आत्म-साक्षात्कार किया था। क्या यह सब केवल भ्रम था ? फिर मैं इस समय यह क्या महसूस कर रहा हूँ। एक अलौकिक शान्ति, और एक दूर से आती हुई पुकार जो इन हिम-शिखरों के रहस्यमय वातावरण मे मुझे बुला रही है। उस एक क्षण में मुझे जैसे असीम और अनन्त में आस्था होने लगी। लगा जैसे मेरे अस्तित्व का चरम साफल्य हिमालय की उँचाइयों से जरूर मेल खाता है। मुझे लगा जैसे मेरा वास्तविक व्यक्तित्व वही है, यहाँ तो जैसे मैं छद्मवेश धारण कर आपद्धर्म का जीवन बिता रहा हूँ। एक दिन वह सब छोड़कर उन्ही ऊँचे शिखरों पर जाना है। यह जो मैं आजकल जी रहा हूँ, यह तो उस यात्रा की तैयारी मात्र है। कब वह वेला आयेगी जब मैं पूछूंगा, जुहो जाऊँ ? और फिर उस समय कोई भी मेरी यात्रा कल के लिए स्थगित न कर सकेगा, मैं अपने नन्हें पंख खोल कर आकाश नापता हुआ इन्हीं ऊँचाइयों की ओर उड़ूंगा।

नितांत नवीन रचनाओं में हमें दो विशिष्ट कृतियाँ प्राप्त है—'अज्ञेय' के यूरोपीय यात्राओं के वृत्त और संस्मरण जो 'एक बूँद सहसा उछली' (१९६०) के नाम से प्रकाशित हुए है और डॉ० रघुवंश की कृति 'हरी घाटी' (१९६१) जो यात्रा-डायरी-संस्मरण का योगायोग है और जिसे एक प्रकार का शैलीगत प्रयोग कहा जा सकता है। दोनो ही कृतिकार उत्कृष्ट शैलीकार और साहित्य तथा संस्कृति के विचारक हैं। परन्तु 'अज्ञेय' में कवि होने के बावजूद भी विचार बाहरी जीवन और यूरोपीय धर्म तथा संस्कृति के सस्थात्मक उपकरणों को लेकर चलता है जब कि डॉ० रघुवंश अपने यात्रा-वृतात में अपने बचपन और किशोर जीवन से लेकर साहित्यिक प्रौढ़ता तक आयाम एक रेखाचित्र मे ढाल देते हैं और अपने विचारों के माध्यम से आत्मसाक्षात् और आत्ममन्थन की गहरी सवेदनाप्राप्त करते हैं। 'हरी घाटी' उनके अन्तर्मन का अपूर्व विश्लेषण है जो नितान आत्मीय होने के साथ ही एकदम विचारोत्तेजक भी है।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज

रेखाचित्र और रिपोर्ताज हिन्दी की अपेक्षाकृत कम प्रचलित विधाएँ हैं। इनका प्रचलन थोड़े समय पहले ही हुआ है। रेखाचित्र का आरम्भ ३०-३५ वर्ष पहले माना

जा सकता है, परन्तु रिपोर्ताज द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) की उपज है और इसका श्रेय इलिया एलेनबर्ग जैसे रूसी लेखकों को है जो सैनिकों के साथ मोर्चे पर गये और वहाँ से आँखों-देखे वृतांत के आधार पर आशु-निबन्ध पत्रों में प्रकाशित कराते रहे। इन्हें ही 'रिपोर्ताज' नाम दे दिया गया। वस्तुतः संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रा-साहित्य आदि विधाएँ हमारे साहित्य में अभी उतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं कर सकी हैं जितना पश्चिम में। हम 'रस'-सिद्धांत से बँधे रहना चाहते हैं और हमारी संवेदना अधिकतः काव्य, कथा और नाटक तक ही सीमित है। नये यंत्र-युग की आवश्यकताओं ने जिस त्वरा और लघुता की सृष्टि की है वह साहित्य के रस-धर्म के विपरीत पड़ती है। इन विधाओं में ठीक-ठीक अन्तर करना भी कठिन बात है, जैसे 'संस्मरण' में भावात्मकता अधिक रहती है और लेखक का व्यक्तित्व भी पाठक के सामने रहता है। इसके विपरीत बहुत कुछ तटस्थ वृत्ति को लेकर चलते हैं—'रेखाचित्र' शब्द से लगता है कि इस विधा में केवल व्यक्ति या वस्तु या स्थान का शब्द चित्र रहता है। मूलतः यह चित्रकला के क्षेत्र की प्रवृत्ति है जहाँ रेखाओं द्वारा व्यक्ति या वस्तु का आभास प्रस्तुत किया जाता है। रेखाओं के चित्र में रंग अनावश्यक हैं, इसी तरह शब्द के माध्यम से अंकित चित्रों में भाव की ऊष्मा अनावश्यक है। किन्तु रेखाओं से चित्र बनाते समय व्यक्ति या वस्तु के प्रति एक उन्मुखता आवश्यक है, उसी प्रकार साहित्यिक रेखाचित्र में व्यक्ति या वस्तु के प्रति एक राग-उन्मुखता अनिवार्य तत्व है। वाह्याकृति अंकन के लिए वर्ण्य-व्यक्ति या वस्तु में कोई विशिष्टता लेखक को आकर्षित करती है। यह विशिष्टता आकृतिगत ही नहीं, आचरणगत, अभ्यासगत, स्वभावगत और पद्धतिगत भी हो सकती है, अतः प्रायः जीवन में प्रचलित और स्वीकृत प्रणालियों से भिन्न जब किसी व्यक्ति में कुछ विलक्षणता दिखाई पड़ती है तब वह रेखाचित्र के योग्य बनता है।[1] रिपोर्ताज वस्तु या घटना की तात्कालिक प्रतिक्रिया पर आधारित होता है और उसमें प्रत्यक्ष साक्षात्कार की अनुभूति रहती है। वह प्रमुखतः वर्णनात्मक है परन्तु उसमें हासोल्लास, करुणा तथा अवसाद जैसे संवेदनों की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त स्थान रहता है। घटना का यथावत् वर्णन और तद्विषयक लेखक का उत्साह, ये दोनों तत्व मिलकर ही रिपोर्ताज का निर्माण करते हैं। 'रिपोर्ताज वस्तुगत सत्य को प्रभावशाली बनाता है, उसका सम्बन्ध सिर्फ वर्तमान से होता है किन्तु उसका लेखक वर्तमान के उस बिन्दु पर होता है, जिसमें भूतकालीन मूल्य और भावनाएँ रहती हैं और भविष्य के प्रति उत्कट लालसा भी। अतः रिपोर्ताज में सर्वत्र एकहरा वर्णन नहीं होता। इनमें लेखक की गूढ़ चेतना के उलझते हुए भी और अपने में चिन्तन

---

१. आलोचना ३६—डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० ७६।

और अनुभव से संवलित शब्द और वाक्य अनायास ही सम्मिलित होते चलते हैं और साथ ही आमूलचूल स्पन्दित भावकण क्षण-प्रति-क्षण घटने वाली वास्तविकता का मानवीय सन्दर्भ देते चलते हैं।[1]

जिन रेखाचित्रकारों ने समसामयिक पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया है वे हैं कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (कृति-'माटी हो गई सोना'), कृष्णदेवप्रसाद गौड (कृति-'उपहार'), सेठ गोविन्ददास (कृति-'स्मृति के कण'), बनारसीप्रसाद चतुर्वेदी (कृति-'रेखाचित्र'), भगवतशरण उपाध्याय (कृति-'दो दुनिया'), रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी (कृति-'गेहूँ और गुलाब'), रासबिहारीलाल (कृति-'खण्डहर बोलते हैं') और विष्णुप्रभाकर (कृति 'जाने-अनजाने')। वस्तुतः हिन्दी रेखाचित्र का क्रमिक विकास १९३६-३७ से आरम्भ होता है और सन् १९४१ में महादेवी वर्मा के "अतीत के चलचित्र' द्वारा इस विधा को स्थायित्व प्राप्त है। उनकी 'स्मृति की रेखाएं" (१९४७) और 'पथ के साथी' (१९५६) को हम रेखाचित्र की नई मंजिलें मान सकते हैं। पिछले दस वर्षों में 'रेखाचित्र' और 'स्केच' के नामों से जो गद्य साहित्य प्रकाशित हुआ है वह अत्यन्त श्रेयस्कर कहा जा सकता है। रेखाचित्र का शिल्प-विधान इस छोटे-से काल में भी पर्याप्त प्रौढ़ता प्राप्त कर सका है। कथात्मक, निबन्ध, तरल, वर्णनात्मक, संवाद, सूक्ति, डायरी, सम्बोधन तथा आत्मकथात्मक शैलियों में प्रकृति, व्यक्ति, भावना अथवा सवेदना के असंख्य चित्र इस साहित्य में बिखरे मिलेंगे। भाव और संवेदना की जागृति रेखाचित्र की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। अतः उसे हम रसात्मक काव्य जैसा मनोरम पाते हैं। उदाहरण के रूप में महादेवी के उन रेखाचित्रों को प्रस्तुत किया जा सकता है जिनमें करुणा की मन्दाकिनी बहती है और वात्सल्य तथा स्नेह के साथ व्यंग और हास का भी पुट रहता है। इस कला में बेनीपुरी और भी अधिक सिद्धहस्त हैं। 'अभी इसका आरम्भिक काल है, इसलिए इसके भविष्य के सम्बन्ध में कुछ भी अधिकारपूर्वक कहना असंगत और असामयिक बात होगी, किन्तु सद्यः उपलब्ध सामग्री के आधार पर भी मैं इसके भविष्य के सम्बन्ध में काफी आश्वस्त हूँ। मानव और मानव-प्रकृति की उदारता एवं सहजता का जो बोधगम्य स्वरूप इस विधा के माध्यम से चित्रित हो रहा है वह निश्चय ही उसके उज्ज्वल भविष्य का संकेत है। मानव-जीवन के प्रस्तार के साथ-साथ उसकी जटिलता और गम्भीरता भी बढ़ती जा रही है। निदान, रेखाचित्रों का क्षेत्र स्वयंमेव निर्मित होता जा रहा है।[2]–ऐसा 'रेखाचित्रों' के एक सुधी

---

१. 'आलोचना' ३९—डॉ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० ७९।

२ सिंह हिन्दी रेखाचित्र उद्भव और विकास पृ० १०९ ११०।

इतिहासकार का मत है। निश्चय ही यह नवीन साहित्यविधा आलोच्य-काल को महत्वपूर्ण देन है।

संस्मरण

पिछले दो दशकों में संस्मरणों के रूप में जो सामग्री आई है वह अल्प ही है। उसमें माखनलाल चतुर्वेदी का 'समय के पाँव' महावीर त्यागी की रचना 'मेरी कौन सुनेगा', जगदीशचन्द्र माथुर की 'दस तसवीरें' और दिनकर के द्वारा प्रस्तुत नेहरू के संस्मरणात्मक चित्र ही कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। संस्मरणों के लिए आत्मीयता और निकटवर्तिता का समावेश आवश्यक है। वह न पूजात्मक हो सकता, न आत्म-हीनतामूलक। संस्मरणीय व्यक्ति की महत्ता को अक्षुण्ण रखते हुए ही संस्मरण-लेखक अपना बिम्ब प्रक्षेपित करता है। जहाँ आत्मीयता-बोध के साथ काव्यात्मकता का भी समावेश हो जाता है वहाँ संस्मरण विशेष कलाकृति बन जाता है। इस दृष्टि से माखन-लाल चतुर्वेदी के 'अमीर इरादे' गरीब इरादे', संकलन के संस्मरण विशेष महत्वपूर्ण हैं। परन्तु संस्मरण और कहानी का गुंफन हमें बेनीपुरी की रचना 'माटी की मूरत' में ही मिलेगा। इसमें उन्होंने सामान्य को विशेषीकृत कर संस्मरणात्मक रेखाचित्र की जो रूपरेखा प्रस्तुत की है वह साधारणतः उपलब्ध नहीं है। महादेवी के संस्मरणात्मक रेखाचित्रों का भी नाम लिया जा सकता है जो संवेदनशीलता और चित्रमयता में अप्रतिम है। उनके अतीत के चलचित्र में जहाँ सामान्यों की चित्रपटी है वहाँ 'पथ के साथी' में साहित्यिक बन्धुओं की दिव्य छटा है।

इन लेखकों के अतिरिक्त और भी अनेक लेखक हैं जिन्होंने 'संस्मरण' लिखने में सिद्धहस्तता प्राप्त की है। इनमें 'जिन्दगी मुस्कराई' के लेखक कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', 'साहित्यिक जीवन के संस्मरण' के लेखक पण्डित किशोरीदास वाजपेयी, 'ज्यादा अपनी, कम पराई' के लेखक श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', 'वातायन' के लेखक स्वर्गीय चतुर-सेन शास्त्री, 'स्मृतियों की छाँह में' के लेखक पण्डित देवदत्त शास्त्री आदि महत्वपूर्ण हैं। श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने 'साहित्यिकों के संस्मरण' नाम से 'संस्मरण-माला' लिखकर साहित्यकारों की एक चित्रपटी ही तैयार कर दी है। श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी के आत्मकथात्मक संस्मरणों में 'जंजीरें और दीवार' का भी नाम लिया जा सकता है। इन संस्मरणों को हम महादेवी जी के 'पथ के साथी' के संस्मरणों के साथ ही रख सकते हैं यद्यपि इनमें वह विचारात्मकता और काव्यात्मक संस्पर्श नहीं है जो महादेवी के संस्मरणों को रसात्मक साहित्य की उच्चतम कोटि प्रदान कर देते हैं।

अनुवाद

स्वातंत्र्योत्तर युग में हमने जहाँ साहित्य-सृजन में एक नई लीक की स्थापना की

है वहाँ अनुवादों के द्वारा अपने साहित्य को पश्चिमी कृतिकारों की रचनाओं से सपृक्त करना भी चाहा है। समस्या आदान-प्रदान की है। सामान्यतः यह माना जाता है कि विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के क्षेत्रों में हमें पश्चिम से उधार लेना है क्योंकि वह इन क्षेत्रों में हमसे आगे हैं परन्तु धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हम अपने अतीत के साहित्य-भंडार से उसे बहुत कुछ दे सकते हैं। ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य, चिन्तन-मनन, राजनीति-कूटनीति, आचरण नैतिकता, शिक्षा-पत्रकारिता आदि अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें हम पिछड़े हैं और यह आवश्यक है कि इन क्षेत्रों में हम अनुवादों के द्वारा अपने साहित्य-कोश को पुष्ट करें और धीरे-धीरे स्वतन्त्र सर्जन की स्थिति में आएँ। इसमें हीन भावना के प्रदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल यह स्वीकृति है कि ज्ञान-विज्ञान में जो नए क्षेत्र पश्चिम ने अपनी कर्म-क्षमता और साहित्यिक-सांस्कृतिक जागरूकता के द्वारा उद्घाटित किये हैं उनमें हमारा प्रवेश देर से हुआ। हमें जहाँ संस्कृत के प्राचीन साहित्य और आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य को अनूदित कर अपने अतीत को समुपयोजित करना है, उसी प्रकार पश्चिम में सर्जनात्मक और उपयोगी साहित्य का भी अनुवाद द्वारा हम समुपयोग कर सकते हैं।

'पश्चिम की सर्जनात्मक प्रतिमा और प्रक्रिया से सम्पर्क स्थापित करने के लिए अपनी ओर से हमारे प्रयत्न अवश्य अनिवार्य हैं और उसके लिए उनकी कृतियों के उत्कृष्ट अनुवाद अपनी भाषाओं में प्रस्तुत करना सबसे अधिक महत्व का है। उनकी भाषाओं के माध्यम से उनके साहित्य से परिचय प्राप्त करना इस दृष्टि से काफी नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का परिचय हमारी रचनात्मक प्रक्रिया में अधिक दूर तक सहायक नहीं हो सकता। परिचय पर मात्र इस रूप में निर्भर रहने से हमारी दृष्टि और हमारा अनुभव बँधता है और हम अपनी भाषा की सर्जनात्मक क्षमता के विकास में भी कोई सहायता नहीं पाते। पर गम्भीर स्तर पर सर्जनात्मक कोटि के अनुवादों में संलग्न होने से हम न केवल पश्चिम की सर्जनात्मक प्रतिभा का अपने ढंग से सही अन्वेषण और अनुभव कर सकते हैं, वरन् अपनी भाषा तथा अनुभूति के सर्जनात्मक प्रयोग का रास्ता भी खोज सकते हैं अथवा उनकी क्षमता का विकास कर सकते हैं।'[1]

अनुवाद की समस्या का दूसरा पहलू भारतीय भाषाओं के साहित्य का विदेशी भाषाओं में अनुवाद है। वस्तुतः यह समस्या हमारी समस्या नहीं है। पश्चिम में भारतीय

---

१. 'आलोचना ३२—डॉ० रघुवंश : 'विश्व-साहित्य में भारतीय साहित्य का स्थान—अनुवाद की समस्या', पृ० ३८।

भाषाओं से अनुवाद की एक परम्परा स्थापित हो गई है और विभिन्न भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों के अनुवाद हुए हैं। जैसे-जैसे विदेशी राष्ट्र भारतवर्ष की मध्ययुगीन तथा आधुनिक साहित्य-सम्पत्ति के प्रति जागरूक होंगे, वैसे-वैसे वे अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार भारतीय कृतिकारों की श्रेष्ठतम और संस्कृतिसम्पन्न रचनाओं का अनुवाद करेंगे। जब हम अपने देश का, अपनी संस्कृति का मार्ग पा सकेंगे, तभी हमारा अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा, हमारी अभिव्यक्ति का वह स्वरूप स्वतः सामने आ सकेगा, जिसके प्रति पश्चिम के समुन्नत देशों का ध्यान जाय। तब हमको अपने साहित्य के विदेशी भाषाओं में अनुवाद की चिन्ता नहीं होगी, वहाँ के साहित्यकार स्वयं इस कार्य की ओर प्रवृत्त होंगे, कुछ सार्थक, कुछ विशिष्ट, महत्वपूर्ण पाने के लिए, उससे प्रतिक्रियाशील होने के लिए। हमारा काम आज भी उनके महत्वपूर्ण, सार्थक, विशिष्ट का अनुवाद प्रस्तुत करना अपने सर्जन के मार्ग की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और रहेगा। यह हमारा अपना दायित्व है।[1]

साहित्यिक भूमिका पर अनुवाद की समस्या यह नहीं कि हमारे पास आधुनिक भाषाओं का ऐसा साहित्य नहीं है जो पश्चिम की दृष्टि से भी उत्कृष्ट हो। उसी प्रकार पश्चिम के समृद्ध साहित्य में से हमें उन्हीं कृतियों का अनुवाद करना है जो नवोदित राष्ट्र की उत्थानमूलक प्रगतिशील भावनाओं का सम्बर्द्धन कर सकें। प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने इस दोतरफा आदान-प्रदान की स्थिति पर इन शब्दों में उचित रूप से प्रकाश डाला है—भारत के लिए विश्व-साहित्य में प्रवेश की समस्या मूलतः भाषा के व्यवधान को दूर करने और सन्तोषप्रद अनुवाद की समस्या है, उन्नत दृष्टि से सम्पन्न साहित्य-सृष्टि की समस्या नहीं। हमारे श्रेष्ठ साहित्य में दृष्टि की संकीर्णता, जातिगत और सम्प्रदायगत पूर्वग्रहों, मध्यकालीन मान्यताओं और अन्धविश्वासों की पूर्ण रूप से अनुपस्थिति है। वास्तव में हमारा समाज अग्रगामी भावनाओं और विचारों को अपनाकर इतिहास-पथ पर बढ़ रहा है। यह नहीं कि हमारे देश में पिछड़ी मान्यताओं और संस्कारों का सर्वथा अभाव है, किन्तु साहित्य में अभी उन्हें अभिव्यक्ति नहीं मिली है। वास्तव में हमारे सामने संकट दूसरी तरह का है। पाश्चात्य साहित्य के माध्यम से अनेक ह्रासमूलक प्रवृत्तियाँ हमारे साहित्य में प्रवेश कर रही हैं और आधुनिकता के भ्रमवश कुछ लेखक उन्हें अपना रहे हैं। भाषा के विश्वव्यापी प्रसार के आधार पर ये प्रवृत्तियाँ हमारे साहित्य में स्थान पा सकी हैं। ऐसी प्रवृत्तियों को प्रश्रय देकर कोई साहित्य विश्व-साहित्य की श्रेणी में स्थान नहीं

---

१. 'आलोचना ३३—डॉ० रघुवंश : 'विश्व-साहित्य में भारतीय साहित्य का स्थान—अनुवाद की समस्या', पृ० ३८।

पा सकता। ये ह्रासमूलक प्रवृत्तियाँ साहित्य के स्वरूप और प्राणतत्व पर अपना विनाश-कारी प्रभाव छोड़ रही हैं।[१]

विचारात्मक और उपयोगी साहित्य के क्षेत्रों में पिछले दो दशकों में हमने अंग्रेजी के ग्रन्थों का प्रचुर संख्या में हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसमें अधिकांश साहित्य विश्व-विद्यालयीन शिक्षा के स्तर का है। शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो जाने के कारण पाठ्य-पुस्तकों और सहायक पुस्तकों के रूप में ऐसी सामग्री की माँग तीव्र गति से बढ़ रही है जो ज्ञान-विज्ञान के पश्चिम भाण्डार का हिन्दी में प्रस्तुत करे।

---

१. 'आलोचना' ३३—डॉ० रघुवंश : 'विश्व-साहित्य का स्थान' : अनुवाद की समस्या' पृ० ४३

पंचम अध्याय

साहित्यिक चिन्तन

स्वातंत्र्योत्तर विचारात्मक गद्य का सबसे सुन्दर और पुष्ट स्वरूप हमें साहित्यिक चिंतन के क्षेत्र में मिलता है। साहित्यिक चिंतन के अंतर्गत हम सैद्धांतिक समीक्षा, साहित्य के विभिन्न पक्षों और विधाओं संबंधी मूलगत चिंतन और व्यावहारिक समीक्षा के उन विभिन्न स्वरूपों को रख सकते है जो साप्ताहिक और मासिक पत्रों को पुस्तक-समीक्षा से आरम्भ होकर स्वतन्त्र पुस्तकों और लेखों तक चलते हैं। वास्तव में साहित्य-चिन्तन का क्षेत्र बड़ा विस्तृत क्षेत्र है और उसकी एक दीर्घकालीन परम्परा हमारे देश में रही है। आधुनिक युग में इस परम्परा ने विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक गद्य के माध्यम से एक नितान्त अभिनव रूप प्राप्त किया है। परन्तु यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि हमारा नया साहित्यिक चिन्तन प्राचीन भारतीय परम्परा से उतना अनुप्राणित नहीं है जितना आधुनिक पश्चिमी साहित्यिक चिन्तन की परम्परा से। पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के संघात ने हमारे यहाँ जिस आधुनिक जीवन का आरम्भ किया वह अपने साथ पश्चिमी साहित्य भी लाया। इस साहित्य के अनुकरण और अनुसरण में हमारे यहाँ जो नवीन रचनाएँ सामने आयीं वे पुरानी परिपाटी की समीक्षा-पद्धति के द्वारा मूल्यांकित नहीं हो सकती थीं। एक तो उनका आधार ही नया जीवन था जो हमारे पूर्वजों के जीवन से एकदम भिन्न था दूसरे हमारे लेखकों के सामने जिस साहित्य का आदर्श था, उसके पीछे अपनी कुछ एकदम स्वतंत्र और मौलिक उद्‌भावनाएं थीं। इन सब कारणों से आधुनिक काल में अन्य भारतीय भाषाओं के समान हिन्दी में भी नये साहित्यिक चिन्तन का आरम्भ हुआ।

डॉ० गोकाक ने अपने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निबन्ध में उन्नीसवीं शताब्दी की भारतीय साहित्यिक चेतना पर अंग्रेजी भाषा और साहित्य एवं उसके माध्यम से यूरोपीय साहित्य-चिन्तन के सुदीर्घ, सूक्ष्म और सुविस्तर प्रभाव का उल्लेख किया है, जिसने हमारे साहित्य की समस्त प्रकृति में ही परिवर्तन कर दिया। इस शताब्दी में अंग्रेजी शिक्षित वर्ग के द्वारा जो साहित्य भारतवर्ष में रचा गया, वह मुख्यत: अंग्रेजी भाषा में था। आरम्भ में पश्चिमी विद्वानों और पंडितों ने भारतीय साहित्य का मौलिक अध्ययन प्रस्तुत किया और उसकी समीक्षा में पश्चिम के साहित्यिक सिद्धान्तों को उद्‌घाटित किया। सन् १७ ४ में 'सर विलियम जान्स' के शकुन्तला नाटक के अनुवाद की भूमिका

मे जो परम्परा आरम्भ होती है, वह मोनियर विलियम्स, मेक्डानल्ड और कीथ जैसे सहृदय पंडितों के द्वारा विकसित होती हुई अनेक दिशाओं में आगे बढ़ती है और बाद में हिन्दी साहित्य की ओर मुड़कर डा० सर जार्ज ग्रियर्सन (१८६१-१९४१) पर समाप्त होती है, जिन्हें हिन्दी का पहला भाषाविद्, इतिहासकार और समीक्षक कहा जा सकता है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा इस साहित्यिक चिन्तन की परम्परा मे अनेक अंग्रेजी और यूरोपीय विद्वानों के साथ धीरे-धीरे भारतीय विद्वानों का नाम भी सम्पृक्त होने लगता है और बाद में भारतीय विद्वान केवल भारतीय साहित्य और साहित्यिक चिन्तन के ही समीक्षक नही बन गये, उन्होंने पश्चिमी साहित्य और साहित्यिक चिन्तन पर भी साहस और विश्वासपूर्वक अपने विचार प्रकट करने आरंभ किये। लगभग एक शताब्दी के इस प्रशिक्षण काल में भारतीय विद्वानो ने पश्चिमी समीक्षा से गहरा परिचय प्राप्त किया और वे पीछे मुड़कर भारतीय परंपरा के आचार्यों और पंडितों की विशाल संपत्ति के प्रति उत्सुकता और गर्व के साथ देखने लगे। उन्होंने भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र और बाद के विभिन्न सम्प्रदायों के साहित्य-चिन्तन की नयी शोध-पद्धति से परीक्षा की। इस परीक्षा के फलस्वरूप वे एक प्रकार के समन्वय की ओर अग्रसर हुए। इस समन्वय में भारतवर्ष की विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि और पश्चिम की जीवनमूलक साहित्यिक चेतना का अद्भुत सम्मिश्रण दिखाई देता है।

भारतीय साहित्यिक चिन्तन पहली शताब्दी के लगभग भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से आरम्भ होता है, परन्तु इसके बाद अग्नि-पुराण के अलंकार-विषयक अध्यायो के अतिरिक्त हमें कोई विकास दिखाई नहीं देता। पाँचवीं शताब्दी के बाद साहित्यिक चिन्तन की सुनिश्चित परम्परा स्थापित होती है और चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दियों तक चलती है। आरम्भ में यह परम्परा अत्यन्त प्राणवान और मौलिक है। हमारे आचार्यों ने सौन्दर्य-चिन्तन की एक नयी लीक स्थापित की है और साहित्य-शास्त्रीय स्थापनाओं के क्षेत्र में भी वे अभिनन्दनीय रहे हैं। उन्होंने रसवाद के साथ अलंकारवाद, रीतिवाद और ध्वनिवाद जैसे सशक्त सम्प्रदायों को जन्म दिया। अलंकारों की चमत्कृति को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के रूप में एक नया सम्प्रदाय भी चलाया। साहित्य के गुण-दोष विस्तृत रूप से विवेचित हुए। इस परम्परा में उद्भावको के रूप में भरत मुनि के साथ भामह, रुद्रट, दण्डी, वामन और आनन्दवर्धन का नाम लिया जा सकता है। दसवीं शताब्दी तक काव्य और साहित्य को देखनेवाली ये सभी दृष्टियाँ पुष्ट हो चुकी थीं। प्रत्येक आचार्य ने अन्य सम्प्रदायों की मान्यताओं को आंशिक रूप से स्वीकार कर लिया है, यद्यपि अपने विशेष मतवाद पर उसका सर्वाधिक आग्रह था। इस समय के लगभग आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा औचित्यवाद का जन्म हुआ, जो एक प्रकार का सम [illegible] दृष्टिकोण कहा जा सकता है बारहवीं शताब्दी तक इन

विभिन्न विचारों के क्षेत्रों में हमारी मौलिकता बनी रही। परन्तु धीरे-धीरे रस-सिद्धांत की प्रधानता हो गयी। परन्तु यह रस-सिद्धांत भरत मुनि के रस-सिद्धांत से भिन्न था, क्योंकि उसकी व्याख्या ध्वनिवादी आनन्दवर्धन के अनुसार हुई थी जो रस को अभिधा-मूलक न मानकर उसकी व्यंजना-शक्ति पर बल देते हैं। इस सम्पूर्ण साहित्य-चिन्तन पर विभिन्न दर्शन-शास्त्रों की छाप दिखलाई पड़ती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि ग्रीक-साहित्य-चिन्तन की भाँति संस्कृत-साहित्य-चिन्तन की भी अपनी दीर्घ और निश्चित परम्परा थी। मध्ययुग में हिन्दी भाषा के माध्यम से साहित्य सम्बन्धी जो विवेचन हुआ, वह केवल अलंकारों के भेद-प्रभेद एवं नायिका-भेद तक ही सीमित रहा। उसमें हमें संस्कृत आचार्यों का पिष्टपेषण ही मिलता है।

इसके बाद हम आधुनिक युग में आते हैं और अंग्रेजी तथा यूरोपीय साहित्य-चिन्तन के द्वारा एक नयी परम्परा में दीक्षित होते हैं। योगी अरविन्द ने अपने एक निबन्ध में समीक्षात्मक दृष्टि को पश्चिमी बुद्धिवाद की भारतवर्ष को सबसे बड़ी देन माना है। इतिहास-दृष्टि और समीक्षा-दृष्टि दोनों पश्चिम की देनें हैं। यदि उन्नीसवीं शताब्दी के विदेशी पण्डितों एवं शोधकर्ताओं ने साहित्य के विभिन्न रूपों को अलग नहीं किया होता और प्राचीन कवियों एवं पण्डितों का ऐतिहासिक विवेचन कर कालक्रम की स्थापना नहीं की होती तो हम अपनी नयी साहित्यिक चेतना को विकसित ही नहीं कर पाते। नवजागरण-काल के साहित्योन्मेष के पीछे जो प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं उनका स्पष्ट निर्देश डॉ० रामरतन भटनागर के एक निबन्ध से मिल जाता है। उनके अनुसार 'अंग्रेजी साहित्य और उसके माध्यम से यूरोपीय साहित्य-चिन्तन का संघात चमत्कार से कम नहीं था। उसने बँधे-सधे सूत्रों की अनुपयोगिता सिद्ध कर दी और साहित्य को सामाजिक जीवन-प्रक्रिया, इतिहास एवं राष्ट्रीय चेतना से सम्बद्ध किया। जान्सन, कॉलेरिज, अर्नाल्ड और पेटर जैसे समीक्षक नये मानदण्ड बन गये। ऐतिहासिक चेतना पश्चिम की ही देन है। साहित्य समग्र और सर्वकालीन होता है, हम यह मानकर चल रहे थे, परन्तु पश्चिम ने उसमें कालों और युगों की स्थापना की। उनके स्वतंत्र और सीमित व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का भी प्रयत्न किया। विभिन्न भाषाओं और राष्ट्रों के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से साहित्य के राष्ट्रीय स्वरूप की मान्यता भी विकसित हुई और लेसिंग तथा हीगल के सिद्धान्तों के अनुसार माध्यम के अनुरूप कलाओं का वर्गीकरण भी स्वीकृत सिद्धान्त बना। माना गया कि माध्यम की आवश्यकताओं तथा सीमाओं के अनुसार कलागत अभिव्यंजना भी बदल जाती है और स्वयं विभिन्न साहित्यिक विधाएँ विषयगत अथवा वस्तुगत भेद के कारण फलीभूत होती हैं। ये विचार भारतीय शास्त्र-परम्परा से भिन्न स्तर के विचार थे। नये साहित्य ने पश्चिम से उपन्यास, निबन्ध, आत्मकथा, जीवनी आदि नूतन विधाएँ ग्रहण कीं जिनके लिए

उनके पास कोई मानदंड नहीं थे। काव्य और नाटक के क्षेत्र में भारतीय परम्परा अवश्य सम्पन्न थी परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते अलंकार-विवेचन मात्र ही शेष रह गया था। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक, तुलनात्मक, भाषाशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक समीक्षण पश्चिम के ही चलते सिक्के थे और उनके लिए हम उनके ऋणी रहेंगे। यह सच है कि भारतीय समीक्षा-शास्त्र के अन्तर्गत रस-दृष्टि के रूप में अनुभूति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप का उद्‌घाटन बड़े विस्तार से तथा बड़ी सूक्ष्मता से हुआ है परन्तु कालरिज, वर्डसवर्थ और कीट्स की आत्मानुभूतियाँ भी रसानुभूति के आभ्यांतरिक स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये कम आकर्षक नहीं थी। इन नई आवश्यकताओं के सवात से हमारी अन्तर्दृष्टि पुनः जागृत हुई और आलंकारिक ऊहापोह तथा औपचारिक क्षुद्रता को पीछे छोड़कर हम साहित्य के सुन्दर तथा उदात्त सन्दर्भों के पारखी बने।[1]

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत आधुनिक साहित्य-चिन्तन का जन्म भारतेन्दु युग मे हुआ। आचार्य वाजपेयी जी के विचार में साहित्य-शास्त्र का ह्रास उन्नीसवीं शताब्दी तक पूरा हो चुका था तथा उसका नया जन्म भारतेन्दु-युग में हुआ। वे समीक्षा का व्यवस्थित विकास बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में द्विवेदी युग में ही मानते हैं।[2]

परन्तु अन्य स्थान पर वे भारतेन्दु के 'नाटक' नाम के ग्रन्थ को प्रथम महत्वपूर्ण समीक्षा ग्रन्थ बतलाते है और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों की पुस्तक-समीक्षाओं को भी पर्याप्त महत्व देते है। उनके विचार में आलोचना का विकास साहित्यिक उत्कर्ष के युग में ही होता है। इसलिए जब भारतेन्दु-युग में समुन्नत साहित्य का जन्म हुआ तो उसके साथ नयी समीक्षा की भी एक पद्धति विकसित हुई। उन्होंने भारतेन्दु युग के ऋण को स्वीकार करते हुए पश्चिम के प्रकाश को भी महत्वपूर्ण माना। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक हिन्दी समालोचना अपने नये रूप में अवतरित नहीं हुई थी। तब तक वह लक्षण ग्रन्थों में रसों, अलंकारों, नायकों और विशेषकर नायिकाओं की सूची मात्र बनी हुई थी। वैसे रस और अलंकार, नायक और नायिका साहित्यिक समालोचना के आधार-भूत तत्व ये ही है, पर जिन लक्षण-ग्रंथों की बात मैं कह रहा हूँ, उनमें इन तत्वों की मीमांसा बहुत ही स्थूल दृष्टि से की गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्यिक शास्त्र अथवा साहित्य-अनुशासन का कार्य इन लक्षण-ग्रंथों से नहीं सध

---

१. डॉ० रामरतन भटनागर के 'मूल्य और मूल्यांकन' (१९६२) ग्रन्थ में 'भारतीय समीक्षण को आचार्य शुक्ल की देन' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ २२४।

२ आधुनिक साहित्य पृष्ठ ३२५ देखिए 'नयी समीक्षा निबन्ध में

सका। अनुशासन तो दूर, साहित्य का साधारण मार्ग-निर्देश अथवा अच्छे-बुरे की पह-चान तक ये नहीं करा सके। इन्हें साहित्य-समीक्षा की सृष्टि किस अर्थ में समझा जाय, यह भी एक समस्या है।

साहित्यिक ह्रास के युग में आलोचना का भी ह्रास हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व जो दशा साहित्य की थी, वह इन लक्षण-ग्रंथों की भी। दोनों ही संस्कारहीन, परम्पराबद्ध और अन्तर्दृष्टि-रहित हो रहे थे। जिस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ हिन्दी में उस समय प्रस्तुत किये गये, उन्हें देखकर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन लक्षण-ग्रन्थों का प्रस्तुत किया जाना, किसी भी समुन्नत साहित्यिक युग मे सम्भव न था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति मे परिवर्तन हो चला। आँखें खुलीं और यह आभासित हुआ कि रस किसी छंद-विशेष में नहीं है, वह तो मानव-संवेदना के विस्तार में है। नायक-नायिका कवि की कल्पना में निर्मित होने केलिये नहीं हैं, वे तो प्रगतिशील संसार की नानाविध परिस्थितियों और सुख-दुख की तरंगों मे डूबने-उतराने और घुलकर निखरने के लिये हैं और काव्य-कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्द-कोश के पन्ने उलटने मे नहीं।[1] उन्होने भारतेन्दु-युग की हिन्दी समीक्षा को प्रयोग-कालिक समीक्षा माना है और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीनिवासदास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि को इस युग की समीक्षा का प्रवर्तक कहा है।[2]

साहित्य-चिन्तन के नये युग का आरम्भ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश होता है। वस्तुतः आचार्य द्विवेदी से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक एक ही विकास-परम्परा मिलती है और उसमें बीसवीं शताब्दी के पहले चालीस वर्ष समाहित हो जाते हैं। परन्तु सामान्यत: पहले बीस वर्षों को द्विवेदी युग के अन्तर्गत गिना जाता है और अगले बीस वर्ष छाया-युग के अन्तर्गत आते हैं। सन् १९२८ में प्रकाशित 'पल्लव' की भूमिका से हम छायावादी साहित्य-चिन्तन मान सकते हैं। सन् १९३०-३२ में आचार्य वाजपेयी जी के समीक्षात्मक निबन्ध भी पत्रों में प्रकाशित होकर नये काव्यरसिकों के सामने आने लगे थे। परन्तु साहित्य-जगत पर सन् १९४० तक आचार्य शुक्ल की धाक रही है। इसीलिये हम इस समस्त काल-विस्तार को एक इकाइ

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के 'आधुनिक साहित्य' में 'नवीन समीक्षा की प्रगति' नामक निबन्ध से, पृष्ठ ३४५।

२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : 'नया साहित्य : नया प्रश्न' (१९५५), पृष्ठ २३-२४—देखिए 'हिन्दी समीक्षा का विकास' शीर्षक निबन्ध।

ही मान सकते हैं। सच तो यह है कि आचार्य द्विवेदी और आचार्य शुक्ल एक ही समीक्षा-परम्परा के दो छोर हैं और दोनों के साहित्यिक दृष्टिकोण में समान रूप से नैतिकता, लोकमंगल और रसवाद की प्रतिष्ठा है। वैसे द्विवेदी-युग का समीक्षा-साहित्य भाषा-शैली तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से प्रारम्भिक ही माना जायगा।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की पुस्तक-समीक्षाओं मे हमें अन्तर्दृष्टि का तो पता लगता है परन्तु व्यवस्थित रूप से पूर्वी अथवा पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र को लागू करने का कोई आग्रह दिखलाई नहीं देता। पश्चिमी समीक्षा-साहित्य से इस युग के लेखकों का अधिक परिचय नहीं था। इसीलिये भारतेन्दु-युग के साहित्यकार समीक्षा के क्षेत्र में कोई मौलिक योगदान देने में असमर्थ रहे। स्वयं उनके युग के सर्जनात्मक साहित्य में नये युग की प्रेरणाएँ तो यथेष्ठ हैं, परन्तु उनके साहित्य की अभिव्यंजना समर्थ नहीं कही जा सकती। नवीन साहित्य का साँचा द्विवेदी-युग मे ही तैयार हुआ। उसके मूल में नवयुग की भावना थी। इस भावना को हम आदर्शवाद एवं राष्ट्रीयवाद कह सकते हैं। आदर्शवाद के भीतर नैतिकता का भी पर्याप्त समावेश था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बोलचाल की भाषा तथा सरल एवं प्रासादिक शैली में काव्य-रचना का एक नया आदर्श लोगों के सामने रखा और 'सरस्वती' मे प्रकाशित अपने निबन्धों के द्वारा काव्य और साहित्य के उपकरणों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया, जो पश्चिमी काव्य और साहित्य मे प्राप्त थे। उन्होंने शृंगारिक कवियों की अपेक्षा भक्त कवियों को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया तथा स्वदेश-प्रेम को काव्य का प्रमुख विषय माना। कालिदास और अन्य प्राचीन कवियों पर लिखे हुए उनके निबन्ध उनकी साहित्यिक चेतना का एक सुन्दर चित्र हमें देते हैं। सब मिलाकर उनके साहित्य से समीक्षा की एक सुन्दर रूपरेखा तैयार होती है। बाद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उनकी मान्यताओं को शास्त्रीय मर्यादा मिली और समीक्षा का मार्ग प्रशस्त हुआ। द्विवेदी युग के अन्य समीक्षक हैं—मिश्रबन्धु, पण्डित पद्मसिंह शर्मा, पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को हम उनके साथ नहीं रख सकते, क्योंकि उनका समीक्षा-शास्त्र सन् १९३२ के बाद ही हमारे सामने आता है और उसका पूर्ण विकास छायावादी युग के अन्तर्गत बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में होता है, यद्यपि उन्हें ही हम द्विवेदी-युग की नैतिकता तथा आदर्शवादी साहित्यकारिता का प्रतिनिधि समीक्षक कह सकते हैं। द्विवेदी-युग के जिन समीक्षकों का हमने नाम लिया है, उनमें मिश्र बन्धुओं को छोड़कर शेष तीनों प्राचीन पद्धति के ही समीक्षक हैं। उनकी समीक्षा का विषय भी प्राचीन साहित्य ही है। तीनों पर रीति-पद्धति की पूरी छाप है। द्विवेदी जी की समीक्षा-शैली से इनकी समीक्षा-शैली इस बात में भी भिन्न है कि जहाँ द्विवेदी जी अपनी समीक्षा में काव्य-विषय को महत्व

देते थे, वहाँ ये काव्य-शैली को ही मुख्य रूप से अपना विवेच्य विषय बनाते हैं। पंडित पद्मसिंह शर्मा को यह श्रेय अवश्य है कि उन्होंने प्राचीन रीति-पद्धति के निर्वाह के साथ तुलनात्मक समीक्षा की भी एक नयी पद्धति निकाली तथा देव और बिहारी को लेकर इस क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण रचना का निर्माण किया। शर्मा जी की तुलनात्मक पद्धति की भी अपनी सीमा है, क्योंकि वे भाषा, पद-प्रयोग, उक्ति-चमत्कार और चित्रण-कौशल पर ही अपनी विवेचना समाप्त करते हैं और काव्य की आत्मा तक पहुँच नहीं पाते। इन तीनों ही समीक्षकों को हम प्राचीन परिपाटी का सहृदय मान सकते हैं। इनकी रचनाओं से यह प्रमाणित हो जाता है कि द्विवेदी युग में साहित्यिक समीक्षा के दो छोर थे। एक छोर पर ये प्राचीन परिपाटी के समीक्षक थे और दूसरे छोर पर आचार्य द्विवेदी और मिश्रबन्धु। इन दोनों का सामंजस्य अथवा संतुलन हमें बाद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सहृदय परन्तु पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व में मिलता है, जिन्होंने अध्यवसायपूर्वक भारतीय और पश्चिमी समीक्षा-सिद्धान्तों और आंदोलनों का अध्ययन किया और अपने साहित्य में एक बीच की लीक निकाली यद्यपि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दो दशकों में भारतीय साहित्यकार और पाठक अत्यन्त उन्नत बंगला-साहित्य का आस्वादन करने लगे थे। उनके अनुकरण पर हिन्दी में भी नयी रचनाएँ लिखी जाने लगी थीं। परन्तु युग की साहित्यिक चेतना में बहुत-सा अंश पुराना ही रह गया था। काव्य के क्षेत्र में कवित्त और सवैयों की कारीगरी की अब भी प्रशंसा होती थी और उस युग का सहृदय रसिक अलङ्कारों की विशिष्टता पर झूम जाता था। नयी काव्य-रचना मुख्यतः खड़ी बोली में होती थी तथा उसमें सामाजिक, राष्ट्रीय एवं जातीय विषयों को ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। एक छोटा-सा पाठक वर्ग इन नयी शैलियों की रचनाओं के आस्वादन के लिए भी तैयार हो रहा था। आचार्य द्विवेदी और मिश्र-बन्धुओं को श्रेय मिलना चाहिए कि उन्होंने हमारी साहित्य-चिन्ता और रसानुभूति को प्राचीनता के गर्त से निकाला और उसे आधुनिक जीवन का नया उन्मेष दिया। मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी नवरत्न (१९११) लिखकर पश्चिमी परिपाटी की समीक्षा को पहली बार लोकप्रिय बनाया और साहित्यकारों में तारतम्य बिठाकर तुलनात्मक समीक्षा में अन्तर्दृष्टि और मूल्यांकन की प्रौढ़ता को विशेष महत्व दिया। 'मिश्रबन्धु-विनोद' (१९१३) में उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास की विशुद्ध रूपरेखा प्रस्तुत की। इस महत्वपूर्ण रचना में उनकी समीक्षा-दृष्टि का व्यापक रूप से उपयोग हुआ है।

चौथे दशक में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को ही केन्द्रीय महत्व प्राप्त है, यद्यपि इनके साथ हम आचार्य श्यामसुन्दरदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का नाम ले सकते हैं। बाबू साहब की पुस्तक 'साहित्यालोचन' आधुनिक युग की पहली पुस्तक है जिसमें विविध साहित्यांगों की विस्तारपूर्वक व्याख्या की गई है। ३०-३५ वर्ष बीत

जाने पर भी आज यह पुस्तक उसी प्रकार महत्वपूर्ण बनी हुई है। वे हिन्दी के संस्थापक और प्राचीन साहित्य के सम्पादक के रूप में ही विशेष प्रशंसनीय रहेंगे। निबन्ध, लेख और साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में उनकी रचनाएँ अधिक नहीं है, परन्तु जो हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी समीक्षा-दृष्टि आचार्य शुक्ल के समान नैतिक और व्यवहारवादी नहीं है। वे रचना के साहित्यिक गुणों को अधिक महत्व देते हैं। अपनी अन्य प्रशंसित रचना 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में उन्होंने जहाँ एक ओर हिन्दी भाषा के उद्भव और विकास पर पहली बार विस्तारपूर्वक विचार किया, वहाँ हिन्दी साहित्य के इतिहास में साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विशेष बल दिया। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के क्षेत्र में शुक्ल जी की रचना अधिक गम्भीर और प्रामाणिक मानी जाती है। परन्तु इससे आचार्य श्यामसुन्दरदास की रचना का ऐतिहासिक महत्व कम नहीं होता। बख्शी जी का 'विश्व-साहित्य' हमारी साहित्य-चिन्ता को भारतीय साहित्य-परिवेश से बाहर निकालकर यूरोपीय और विशेषतः अंग्रेजी साहित्य की ओर ले जाता है। बख्शी जी आचार्य शुक्ल के बाद कुछ वर्षों तक 'सरस्वती' के सम्पादक भी रहे और उन वर्षों में उन्होंने ऐसी रचनाओं को प्रोत्साहन दिया, जो पश्चिमी शैली के अधिक निकट थी अथवा जिनमें पश्चिमी साहित्य और समाज का परिचय था। जहाँ द्विवेदी जी नयी काव्यधारा अथवा छायावाद के विरोधी थे, वहाँ ये उसके प्रशंसक। उन्होंने ही पन्त जी की रचनाओं को पहली बार 'सरस्वती' के मुखपृष्ठ पर छापा। इसी से उनकी रसानुभूति की नवीनता और पश्चिमी साहित्य के अध्ययन से विकसित अन्तर्दृष्टि का पता चलता है।

१९३० के बाद हिन्दी-समीक्षा का प्रौढ़ स्तर स्पष्ट होता है, जहाँ एक ओर क्लासिकल रचनाओं के प्रशंसक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सूर, तुलसी और जायसी की काव्य-रचनाओं को आधार बनाकर इतिहास और संस्कृति के परिवेश में भक्ति युग के साहित्यकारों को नये ढंग से रखने का प्रयत्न करते हैं और अपनी साहित्यिक संवेदना को लोक-मंगल और नैतिकता के द्वारा परिमार्जित करते हैं, वहाँ दूसरी ओर नयी पीढ़ी के समीक्षकों का उदय होता है जो नीति-निरपेक्ष स्वच्छन्दतावादी रस-संवेदना से परिचालित हैं और जिनकी सौन्दर्य-दृष्टि पिछले खेवे के समीक्षकों से भिन्न ही नहीं, विपरीत भी है। १९३० तक हिन्दी में अंग्रेजी शिक्षित समाज का एक नया पाठक-वर्ग तैयार हो गया था जो अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों और उनके आलोचकों की रचनाओं से पूर्णतः परिचित था। यह मध्यवर्गीय पाठक-वर्ग राष्ट्रीय वातावरण से भी प्रभावित था। उसने सामाजिक बन्धनों से विद्रोह आरम्भ कर दिया था। वह अतीत की ओर उतना ही देखता था जितना भविष्य की ओर। उसने साहित्य में शैली के स्थान पर विषय को महत्व दिया, भावना और कल्पना की परिपूर्ण मुक्ति उसके लिए साहित्य का सबसे बड़ा

आदर्श थी। इसलिए इस वर्ग के समीक्षकों ने शुक्ल जी की नीतिवादी एवं व्यवहारवादी समीक्षाओं तथा मूल्यों का विरोध किया और अपनी नयी साहित्यिक दृष्टि को बड़े आत्म-दर्प के साथ जनता के सामने रखा। यहीं से स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का आरम्भ होता है जिसके प्रमुख उन्नायक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हैं।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह काव्य-चेतना के मूल स्रोत के रूप में कवि-व्यक्तित्व और उसकी सौन्दर्य-दृष्टि को प्रधानता देती है। यह सौन्दर्य-दृष्टि विषय-वस्तु और अभिव्यंजना दोनों में पल्लवित होती है। सौन्दर्यवादी समीक्षक काव्य और कला को अभिव्यंजना के ही स्वरूप मानते हैं। उनके विचार में कला संवेदना की भाषा है। पश्चिम में रिनेसाँ युग में जिस नवीन व्यक्तिवाद का आरम्भ हुआ था, उसने काव्य और कला में व्यक्तित्व की खोज को प्रमुखता प्रदान की। स्वच्छन्दतावादी कवि और कलाकार अपनी रचनाओं में अपने अन्तरंगी जीवन को ही प्रधानता देते हैं और उसकी व्यक्तिमत्ता अथवा विशिष्टता ही काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि करती है। आरम्भ में स्वच्छन्दतावादी विचारधारा का जन्म जर्मनी में हुआ तथा गेटे और शिलर की रचनाओं में हम उसकी प्रारम्भिक अभिव्यक्ति पाते हैं। बाद में अंग्रेजी साहित्य के रोमांटिक कवियों के द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के पचीस वर्षों में स्वच्छन्दतावादी काव्य, कला और समीक्षा का एक नया संस्करण तैयार हुआ, जिससे हमारा देश उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के अन्तिम वर्षों में परिचित हुआ। सन् १८८० के बाद हमारे भारतीय साहित्य में महाकवि रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में पहली बार स्वच्छन्दतावाद के दर्शन होते हैं और इसी समय के लगभग फ्रांस में स्वच्छन्दतावाद का स्वरूप शुरू होता है जो 'प्रतीकवाद' (सिम्बोलिज्म) नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दी काव्य-विकास के अन्तर्गत स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ 'छायावाद' के नाम से अभिहित होती हैं और सन् १९१६ के बाद ही उनका सुनिश्चित स्वरूप सामने आता है। सन् १९२८-३० तक पहुँचते पहुँचते इस काव्य-धारा का काफी साहित्य हमें उपलब्ध हो जाता है और यह आवश्यकता हो जाती है कि इस धारा का समुचित मूल्यांकन हो तथा इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाये। नयी पीढ़ी की इस काव्य में बड़ी अभिरुचि थी किन्तु भारतीय परिपाटी के रक्षक उसे कोई भी महत्व प्रदान करने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसे समय में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का समीक्षा क्षेत्र में अवतरण हुआ। उन्होंने अपने द्वारा सम्पादित प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'भारत' में 'निराला', पन्त एवं 'प्रसाद' पर एक लेखमाला प्रकाशित करायी और उनके द्वारा इन तीनों कवियों की रचनाओं की सम्यक समीक्षा करते हुए इस काव्य-धारा के ऐतिहासिक महत्व का प्रतिपादन किया। यद्यपि इससे पहले भी मासिक 'इन्दु' के सम्पादकीयों में जयशंकर 'प्रसाद' रोमांटिक काव्य का यह आदर्श प्रस्तुत कर चुके थे कि 'काव्य का कोई विषय नहीं होता।' रोमांटिक अथवा

स्वच्छन्दतावादी चेतना विषय की अपेक्षा व्यक्तित्व को अधिक महत्व देती है और उसके अनुसार काव्य-साधना मुख्यतः व्यक्तित्व की साधना है। किन्तु यह साधना भावना और कल्पना के संस्कार के द्वारा की जाती है। स्वच्छन्दतावादी कवि एक विशेष भावाभिनिवेश में लिपटा रहता है, जिस प्रकार कवि शेली का स्काई लार्क उन्नताकाश में ज्योतिर्वलय में लिपटा हुआ अपना गीत गाता है। अंग्रेजी के रोमांटिक समीक्षकों में वर्ड्सवर्थ और कालेरिज भी हैं जो इस धारा की विशेषता की ओर अंग्रेजी काव्य-रसिकों का ध्यान पहली बार आकर्षित करते हैं। परन्तु जहाँ वर्ड्सवर्थ सरल भाषा, प्राकृतिक जीवन और प्रकृति-सौन्दर्य की परिष्कार-क्षमता के कायल है, वहाँ कालरिज अतिप्राकृत एवं अलौकिक वस्तुओं तथा कल्पनाओं को महत्व देते हैं। उन्होंने काव्य के कल्पनातत्व के उपयोग पर विस्तारपूर्वक विचार किया है और कल्पना को काव्य-सौन्दर्य का संस्थापक तत्व माना है। वाजपेयी जी ने छायावादी कवियों के भाव-सौन्दर्य के उद्घाटन में इन कवियों और समीक्षकों की मान्यताओं से सहारा लिया और अपने स्वतंत्र मानदंड निश्चित किये। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' और जयशंकर प्रसाद नामक ग्रन्थों में उनकी स्वछंदतावादी साहित्यिक दृष्टि का पूरा आभास हमें मिलता है। वे पहले समीक्षक हैं जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आदर्शवादी और नैतिक समीक्षा-पद्धति का विरोध करते है एवं साहित्य को इतर शास्त्रों से स्वतन्त्र सत्ता देते हैं। उनके विचार में साहित्य जीवन से अनुप्राणित अवश्य होता है, परन्तु वह जीवन के यथार्थ तक सीमित नहीं रहता। हमारी आकांक्षाएँ और हमारे स्वप्न भी जीवन के अंग हैं यथा साहित्य में उन्हें भी उचित स्थान मिलना चाहिए। इसीलिए वाजपेयी जी साहित्य-समीक्षा पर वादों का आरोप नहीं चाहते। उनके अनुसार सौन्दर्य ही काव्य का मानदंड है। कवि की सौन्दर्य-चेतना ही काव्य-विषय को सुषमा से मंडित करती है और इस काम में कल्पना ही उसकी सहायिका है। काव्यालोचन में कल्पना, सम्वेदना और व्यक्तित्व को महत्व देकर आचार्य वाजपेयी ने रसास्वादन की एक नयी भूमिका तैयार की। यह स्वच्छन्तावादी समीक्षक के रूप में उनका अत्यन्त श्रेयस्कर कार्य था।

परन्तु अपने बाद की रचनाओं में स्वातंत्र्योत्तर युग में वाजपेयी जी ने अपनी भूमिका का विस्तार किया, जैसा—'बीसवीं शताब्दी' की प्रस्तावना से स्पष्ट है। यहाँ उन्होंने समीक्षक के लिए सात सूत्र निश्चित किये हैं। यहाँ वे रचनाकार के परिवेश, युग-धर्म और मनोविज्ञान को भी उतना महत्व देते हैं, जितना कवि के व्यक्तित्व और विषय-वस्तु एवं अभिव्यंजना को। इसे हम सांस्थानिक (ऐकेडेमिकल) समीक्षा कह सकते है, जो विभिन्न सिद्धान्तों का समन्वय लेकर चलती है। इसी नये समीक्षात्मक दृष्टिकोण के बल पर वाजपेयी जी को 'सौष्ठववादी' समीक्षक कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि वे रचना के विभिन्न अंगों के औचित्य पर ध्यान देते हैं और अपने सौन्दर्य-बोध

को ऐतिहासिक दृष्टि और मनोविज्ञान के द्वारा पुष्ट करते हैं। इसे जहाँ एक ओर उनकी नयी सीमा माना जा सकता है, वहाँ दूसरी ओर इसे उनकी स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-दृष्टि का परिपाक अथवा विकास भी कहा जा सकता है। इसके साथ ही उन्होंने अपनी कुछ रचनाओं में भारतीयता और राष्ट्रीयता को भी साहित्यिक कृति के सौन्दर्य-बोध से जोड़ा है। उनके विचार में रसात्मक संवेदना सार्वभौमिक होते हुए भी देश और काल पर आधारित रहती है। भारतीय संस्कृति जहाँ भारतीय कवियों तथा कलाकारों के सौन्दर्य बोध को विशिष्टता देती है, वहाँ राष्ट्रीयता के रूप में नया युग-धर्म उनकी रचनाओं को आधुनिकता और सप्राणता प्रदान करता है। यह रचना के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय मूल्यों की स्वीकृति है। पिछले वर्षों में उन्होंने रसवाद का भी समर्थन किया है, परन्तु उनकी रस की धारणा सामान्य धारणा से कहीं अधिक सूक्ष्म और गहन है, क्योंकि वे रस को संवेदन तक ही सीमित नहीं करते। वह संवेदन के भीतर मनोवैज्ञानिक प्रांजलता, पुष्टता और गहराई देखना चाहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वाजपेयी जी की समीक्षात्मक चेतना विकासशील ही है। वे रचना में अनुभूति की तीव्रता और मार्मिकता के साथ कलात्मक सौष्ठव को भी समान रूप से महत्व देते हैं। उनकी चेतना 'वादों' से ऊपर उठकर साहित्य को स्वतंत्र और मौलिक परिपाटी के रूप में देखना चाहती है। यद्यपि उनकी अधिकांश रचनाएँ व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत आती हैं परन्तु उनके बीच में जो सिद्धांत-सूत्र हमें मिलते हैं वे अत्यन्त चमत्कारक हैं और उन्हें आधार बनाकर स्वतंत्र रूप से हम उनकी समीक्षा-चेतना के सर्वांगीण स्वरूप का निर्माण कर सकते हैं।

स्वच्छंदतावादी समीक्षा के युग में ही ३५-३६ के लगभग कुछ ऐसे समीक्षक भी आये जिन्हें इम्प्रेशनिस्ट अथवा 'भाववादी' समीक्षक कहा जा सकता है— जैसे मोहनलाल महतो 'वियोगी', रामनाथ 'सुमन' और शांतिप्रिय द्विवेदी। इनमें द्विवेदी ही प्रमुख हैं। अब तक उनकी एक दर्जन से अधिक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं और इन रचनाओं में उन्होंने अपने युग के साहित्यकारों में सौन्दर्य-बोध और रसानुभूति से पूर्णता समरसता स्थापित की है। कुछ लोगों के विचार में वे प्रभाववादी समीक्षक हैं। वह रचना का आस्वादन करता है और फिर अपनी अनुभूति को शब्दों के द्वारा पाठक तक पहुँचाना चाहता है। उसका उद्देश्य अपने पाठकों को संवेदित करना रहता है। उसकी समीक्षा में प्रशंसात्मकता की ही झलक अधिक रहती है। उनकी समीक्षा उसके अपने रसास्वादन और सहानुभूति से अलग नहीं हो पाती। समीक्षक के लिए रचना के प्रति जिस अनासक्ति की आवश्यकता है, वह उसमें बहुत कम मात्रा में रहती है अथवा रहती ही नहीं। सच तो यह है कि प्रभाववादी समीक्षक स्वयं कलाकार होता है और उसकी समीक्षा एक स्वतंत्र कलाकृति मानी जा सकती है।[1]

---

१. Harold Osborne : Aesthetics and Critics· B 319

सामान्यतः हिन्दी के इतिहासकार और समीक्षक शांतिप्रिय द्विवेदी के नामोल्लेख मात्र से ही सन्तोष कर लेते हैं और उन्हे युग के समीक्षकों में विशेष स्थान नहीं देते। परन्तु यदि समीक्षा का काम अपने युग के पाठकों की रुचि का संस्कार है तो यह कार्य द्विवेदी जी की रचनाओं के द्वारा पर्याप्त मात्रा में हुआ है। वे अपनी समीक्षा में पन्तजी के विशेष प्रशंसक रहे हैं और कवि होने के कारण उनकी भाषा में भी काव्य-बोध की मात्रा अधिक आ गयी है। जो लोग अपनी समीक्षा को एकमात्र बौद्धिक रचना मानते है और जो समीक्षक के व्यक्तित्व से आतंकित रहते हैं, वे भले ही द्विवेदीजी की रचनाओ को उपेक्षणीय मानें, परन्तु आलोचनात्मक निबन्धों का अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक स्वरूप हमें द्विवेदी जी की रचनाओं से मिलता है। उन्होंने समसामयिक युग, काव्य, समाज और चिन्तन को गम्भीरतापूर्वक देखा है और अपनी लालित्यपूर्ण भाषा-शैली से विचार एवं भावना के अत्यन्त आकर्षक स्तूप निर्मित किये हैं। प्रभाववादी समीक्षा की सीमाओं में इनकी रचनाएँ निश्चय ही महत्वपूर्ण हैं।

वाजपेयी जी के ही समकालीन दूसरे प्रसिद्ध आलोचक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। उनकी समीक्षा का प्रारम्भिक स्वरूप हमें 'सूर-साहित्य' नाम की उनकी रचना में दिखलाई देता है, जो एक प्रकार से 'इम्प्रेशनिस्ट' या प्रभाववादी संस्थान के अन्तर्गत आती हैं। लेखक ने इस कृति की रचना शांति-निकेतन के भावुक वातावरण मे बंगाली और विदेशी पण्डितों के बीच से रहते हुए की है तथा उस पर उनके तारुण्य की स्पष्ट छाप है। बाद में द्विवेदी जी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक ऐतिहासिक व्याख्यानमाला के साथ हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समीक्षक के रूप मे सामने आते हैं। उनका भारतीय इतिहास और संस्कृति का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर है और उन्होंने उसको आधार बनाकर रचनाकारों एवं रचनाओं के परिवेश का विशेष रूप से उद्‌घाटन किया है। ऐतिहासिक समीक्षा के अन्तर्गत अनेक प्रकार की सामग्री आती है। पहले तो यह आवश्यक होता है कि समीक्षक की इतिहास-चेतना रचना के पारस्परिक स्रोतों को पकड़ने में समर्थ हो और साहित्य की भाषात्मक एवं अभिव्यंजना-मूलक विकासात्मकता को स्पष्ट कर सकें। दूसरी चीज यह आवश्यक है कि रचनाकार

"Impressionist criticism is impossible unless the critic is an artist, and if he is an artist it is doubtful whether this form of criticism is properly classed as criticism at all. However, you think of a work of art, there is presumably only one correct way of actualizing it, of seeing it as it is and making it your own. And the work of art is identical with the set of impressions embodied or recorded in the physical medium which perpetuates it"

की सांस्कृतिक स्थिति और उसकी रचना में अन्तर्हित सांस्कृतिक मूल्यों को भी वह ध्यान में रखे। परन्तु एक तीसरी और कदाचित् अधिक महत्वपूर्ण भूमिका यह है कि समीक्षक का समाजशास्त्रीय बोध विकसित हो और वह रचना में समकालीन सामाजिक द्वन्द्वों को परिलक्षित करने में समर्थ हो। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समीक्षा रचना के उद्-गम की ओर ही संकेत नहीं करती, व्यक्ति और समाज पर उसके प्रभाव को भी निरूपित करती है। किन्तु यह काम उतना सरल नहीं है। आज के युग में हमें ऐसे साधन उपलब्ध हैं जिनके आधार पर हम पाठक-समाज पर रचना के अच्छे-बुरे प्रभावों का मूल्यांकन कर सकते हैं। परन्तु प्राचीन युग की रचनाओं के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई सुविधा हमें प्राप्त नहीं है। ऐतिहासिक समीक्षा के सम्बन्ध में एक धारणा यह भी है कि इस वर्ग के समीक्षक को रचना के मूल स्रोतों की खोज और उनकी व्याख्या ही नहीं करना है, उसे युग की अभिरुचि का भी स्पष्ट चित्र देना है। इस प्रकार रचना को युग-सत्य और युग-धर्म से संबन्धित कर समाजशास्त्रीय-ऐतिहासिक समीक्षक अपने कर्तव्य का ही निर्वाह करता है।[1]

आचार्य द्विवेदी जी की ऐतिहासिक समीक्षा में ये तीनों अन्तर-धाराएँ साथ-साथ चलती हैं। परन्तु वे सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और रचना के सांस्कृतिक स्वर को ही अधिक महत्व देते हैं। एक ही युग में एक ही आन्दोलन के फलस्वरूप यदि दो साहित्यकार हमें मिलते हैं, जैसे भक्ति युग में कबीर और तुलसी, तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन्हें समाज और संस्कृति के भिन्न-भिन्न धरातलों से सम्बन्धित करें और यह स्थापित करें कि सांस्कृतिक दृष्टि से इनमें कौन अधिक प्रगतिशील है ? इस भूमिका पर हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य द्विवेदी का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आचार्य शुक्ल का हृदय गोस्वामी तुलसीदास के साथ है जो सनातन हिन्दू धर्म की वर्णाश्रमधर्मी मान्यताओं को महत्व देते हैं और अपनी रचनाओं के द्वारा उच्चवर्गीय हिन्दू समाज को पुन: संगठित करने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत आचार्य द्विवेदी संत कवियों को अधिक महत्व देते हैं जो तुलसी जैसे महाकवि और साहित्य-नेता न होने पर भी भारत-वर्ष के विराट मानवसमूह के साथ हैं, जो वर्षों तक उच्च वर्णों के द्वारा शोषित रहा है। इस उपेक्षित मानव-समाज ने ही मध्य-युग में पहली बार विभिन्न धर्मों और तत्ववादों के समन्वय से एक मूल मानव-धर्म की स्थापना की, जो निर्गुण-मत अथवा संत-मत नाम से प्रसिद्ध है। शुक्ल जी के ब्राह्मण-धर्मी संस्कार कबीर की इस सांस्कृतिक प्रगतिशीलता को नहीं देख सके, परन्तु महाप्रभु चैतन्य की जन्मभूमि और बाउलों के देश बंगाल में रहने के कारण आचार्य द्विवेदी संतों की प्रगतिशील चेतना के मर्म में प्रवेश करने में

---

१. 'ऐतिहासिक समीक्षा' शीर्षक सामग्री, पृ० ३१४-३१५।

समर्थ हुए। वस्तुतः द्विवेदी जी समीक्षक की अपेक्षा इतिहासकार अधिक हैं तथा उनकी समीक्षा भी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सूत्रों को ही लेकर चलती है। आचार्य वाजपेयी जी की तरह वे भी रसवादी समीक्षक हैं, परन्तु वे रचना की जीवनधर्मी उपयोगिता को भी बराबर ध्यान में रखते हैं। रसवाद भारतीय साहित्य-चिन्तन की भूमिका है और जीवनवाद पश्चिमी साहित्य-चिन्तन की। आधुनिक भारतीय समीक्षा में इन दोनों का ही समावेश हुआ है। आचार्य द्विवेदी जी ने समीक्षा में रस को ही अन्तिम तत्व माना है, परन्तु रचना यदि व्यक्ति एवं समाज के चरित्र का उन्नयन करती है तो रसपुष्ट न होने पर भी उसका अपना महत्व है

आचार्य द्विवेदी को 'मानवतावादी' समीक्षक भी कहा गया है। वस्तुतः अधिक अच्छा शब्द 'मानववादी' समीक्षक होगा। द्विवेदी जी मनुष्य के नाते ही साहित्य को बड़ा मानते हैं। उनके विचार में यह आवश्यक है कि साहित्य में मनुष्य की मनुष्यता पूर्ण रूप से चरितार्थ हो। उन्होंने संयम, तप, औदार्य और त्याग को ही मनुष्यता माना है तथा विवेक एवं कल्पना को वहीं तक सार्थक समझा है, जहाँ तक इनके द्वारा उन तत्वों की पुष्टि होती है।[1] यह साहित्य-समीक्षा का आदर्शवादी दृष्टिकोण भी है। इसके आधार पर हम आचार्य द्विवेदी जी को आचार्य शुक्ल जी की साहित्यिक चेतना का ही विकास मान सकते हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ आचार्य शुक्ल नैतिक मूल्यों को प्रधानता देते हैं, वहाँ आचार्य द्विवेदी नीति और अनीति का प्रश्न ही नहीं उठाते और साहित्य को मनुष्य की सांस्कृतिक भूमिकाओं से सम्बन्धित करते हैं। इतिहासकार होने के नाते आचार्य द्विवेदी अपनी समीक्षा में वैज्ञानिक का अनासक्त दृष्टिकोण लेकर चलते है। परन्तु उनकी समीक्षा उद्देश्यहीन न होकर सोद्देश्य है, क्योंकि उसमें मनुष्य की

---

१. साहित्य का मर्म, पृष्ठ ३८— "जो जैसा है उसे वैसा ही मान लना, मनुष्य पूर्व-जीवों का लक्षण था, पर जो जैसा है वैसा नहीं, बल्कि जैसा होना चाहिए, वैसा करने का प्रयत्न करना मनुष्य की अपनी विशेषता है। इसमें प्रयत्न की आवश्यकता होती है, प्रयत्न मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है...लोभ सहजात मनोवृत्ति है, वह पशु और मनुष्य में समान है। पर औदार्य, परदुःख-संवेदन उसमें नहीं होते, यह मनुष्य की अपनी विशेषता है। ...इसी प्रकार आहार, निद्रा आदि पशु-सामान्य धरातल से जो ऊपर की चीजें हैं, जो संयम से, तप से, औदार्य से और त्याग से प्राप्त होती है, वह मनुष्य की अपनी विशेषता है, यही मनुष्य की मनुष्यता है। फिर मनुष्य प्रकृति के नियमों का विश्लेषण करता है और इस प्रकार उनका उपयोग करता है कि जिससे वह नयी सृष्टि कर सके। विवेक, कल्पना, औदार्य और संयम मनुष्यता है और इसके विरुद्ध जाने वाले मनोभाव मनुष्यता नहीं हैं।"

समुन्नत सांस्कृतिक चेतना और उसके आत्मिक उन्नयन की ओर स्पष्ट रूप से संकेत मिलते हैं। आचार्य द्विवेदी जी के विचार में साहित्य सामाजिक मंगल का विधायक है। साहित्य में व्यक्ति और समाज द्वन्द्वात्मक न होकर एक दूसरे के पूरक होते हैं, क्योंकि साहित्यकार व्यक्ति को अनुप्राणित करके उसे वैयक्तिक चुद्र संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर, एक अति उन्नत समष्टि बोध को जन्म देता है और इस प्रकार अपने सामाजिक कर्तव्य का भी निर्वाह करता है। उनके विचार में भाषा सामाजिक सम्बन्धों की ही प्रतीक है और शब्दों के पीछे एक परिपूर्ण ऐतिहासिक परिपाटी निहित रहती है। कवि अथवा साहित्यकार अपने शब्दों का इस प्रकार उपयोग करते हैं कि वे उनकी व्यक्तिगत चेतना के प्रतीक होने के साथ हमारे अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के भी प्रतीक बन जाते हैं। आलोचक के रूप में आचार्य द्विवेदी का सबसे बड़ा प्रदेय यह है कि उन्होंने हमें मध्ययुगीन साहित्य की प्राणशक्ति से परिचित कराया और उन सांस्कृतिक और साहित्यिक मूल्यों की ओर इंगित किया, जो नये-पुराने साहित्य में समान रूप से मिलते हैं।

चौथे दशक के लगभग ही हमारे साहित्यिक चिन्तन में मनोविज्ञान का समावेश हुआ। यहाँ मनोविज्ञान से हमारा तात्पर्य मनोविश्लेषण-शास्त्र से है, जिसके प्रतिष्ठाता फ्रायड, एडलर और युंग हैं। वैसे साहित्य-रचना और साहित्य-समीक्षा में आरम्भ से ही मनोविज्ञान का उपयोग होता रहा है और शुक्ल जी ने 'चिन्तामणि' के अपने निबन्धो मे मनोविकारों पर विस्तृत लेख लिखकर साहित्य में उनके अध्ययन की आवश्यकता की ओर इंगित किया था। समीक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक पद्धति का उपयोग दो रूपों से हो सकता है। या तो हम रचनाकार के व्यक्तित्व अथवा रचना के समय उसकी मनःस्थिति को अपने अध्ययन का विषय बनायें या रचना के अन्तर्गत घटनाओं, पात्रों अथवा शब्द-प्रयोगों में रचनाकार की जीवन-भूमिका को उभारें। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रत्येक रचना के भीतर रचनाकार स्वयं प्रतिष्ठित रहता है तथा वह प्रत्यक्ष या परोक्ष (प्रच्छन्न) रूप से अपने अवचेतन का उसमें व्यापक रूप से उपयोग करता है। फ्रायड ने ही पहली बार अवचेतन के सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया। उनके विचार मे मानव-मन चेतन, अर्द्धचेतन और अवचेतन मानस की संहृति है। परन्तु व्यावहारिक रूप से उन्होंने साहित्य और कला में अवचेतन तत्व को ही प्रधानता दी है। वे साहित्य के वैशिष्ट्य को अर्द्धचेतन और अवचेतन मानस से ही सम्बन्धित करते हैं। उनकी मान्यता है कि साहित्य और कला भी स्वप्न की तरह ही दमित इच्छाओं और विरोधों में जन्म लेते हैं। इसीलिए समीक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह रचना के मूल मे सन्निहित दमित इच्छाओं और निरोधों को सामने लायें और उन्हें बौद्धिक विश्लेषण का विषय बनायें। फ्रायड की स्थापनाएँ रुग्ण मानस सम्बन्धी शोधों से प्रादुर्भूत हुई हैं और उन पर अस्पताली वातावरण की छाप है। जिन साहित्यकारों ने अपनी सर्जना में फ्रायड

की मान्यताओं को महत्व दिया है, उनके पात्र रुग्ण मानस का ही प्रतिनिधित्व करते हैं और जहां तक ऐसी रचनाओं का सम्बन्ध है, मनोवैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति लाभदायक सिद्ध होती है। परन्तु उसे साहित्यिक समीक्षा का स्थानापन्न नहीं बनाया जा सकता।

फ्रायड ने अपनी मान्यताओं में यौन-भावना को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। उन्होंने साहित्य और कला के मूल में यौन-विकृतियों को ही स्थान दिया है। वस्तुतः उनका यह दृष्टिकोण प्राचीन ग्रीक नाटकों के अध्ययन पर आधारित है, जिनसे उन्होंने अपने प्रयोगशाली निष्कर्षों को पुष्ट करना चाहा है। मनोविश्लेषक-समीक्षक जहाँ जीवन और साहित्य की प्रत्येक स्थिति पर यौनवाद का आरोप कर देते हैं, वहा वे एक प्रकार के अतिवाद की ही सृष्टि करते हैं। यह माना जा सकता है कि मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण स्वतन्त्र शास्त्र तथा साहित्यिक मूल्यांकन के क्षेत्र में उनका उपयोग सीमित रूप में ही वांछनीय है। मनोवैज्ञानिक समीक्षक इस प्रकार की कोई सीमा स्वीकार नहीं कर सकते। वे साहित्य और कला को या तो आकांक्षापूर्ति समझते हैं या क्षतिपूर्ति अथवा उस पर 'कैथार्सिस' (रेचन-भाव) का आरोप करते हैं। परन्तु साहित्य की वास्तविकता इन तीनों से बड़ी चीज़ है। कला और साहित्य को यथार्थ की भूमिका पर लेकर चलने वाले साहित्यकार स्वस्थ जीवन के ही चित्रकार होते हैं और उनकी रचनाओं में मानव-हृदय के परिष्कार के लिए यथेष्ट सामग्री होती है। फलतः यह स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक समीक्षा साहित्य के साथ पूर्ण रूप से न्याय करने में असमर्थ है। परन्तु पिछले तीस वर्षों में पूर्व-पश्चिम में हमें ऐसे अनेक समीक्षक मिलेंगे, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक शास्त्र एव मनोविश्लेषण-शास्त्र की स्थापनाओं का अपने मूल्यांकन में एकान्तिक रूप से उपयोग किया है। हिन्दी में इस कोटि के आलोचकों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण डॉ० नगेन्द्र हैं।

डॉ० नगेन्द्र यद्यपि मनोविज्ञान से अपने समीक्षा-सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं और फ्रायड के काम-सिद्धान्त को साहित्य का मूल मानते हैं, परन्तु उन्हें विशुद्ध मनोवैज्ञानिक समीक्षक नहीं कहा जा सकता, विशेषतः उन अर्थों में जिन अर्थों में हम इलाचन्द्र जोशी और 'अज्ञेय' को फ्रायडीय समीक्षक कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि डॉ० नगेन्द्र ने मनोविज्ञान को अपनी रसवादी-साहित्यिक दृष्टि का साधन ही बनाया है। वह स्वतंत्र रूप से साध्य नहीं है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने रस की पुनर्व्याख्या की है और मनोविज्ञान से उसको पुष्ट किया है। वे यह नहीं मानते कि भारतीय दृष्टिकोण एकांगी है और रस-सिद्धान्त में जीवन से सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया है। उनके विचार में साहित्य का सौन्दर्य जीवन के स्थायी भावों पर ही निर्भर रहता है और यही स्थायी भाव रस के मूलाधार हैं। फलतः रस जीवन से सम्पृक्त नहीं है। वह उसी से निष्पन्न है इसी प्रकार उन्होंने इस आरोप का भी खण्डन किया है कि रस नीति

निरपेक्ष है । उनके विचारानुसार रस-सिद्धान्त नीति-विरोधी नहीं है । उनकी रसवादी समीक्षा-दृष्टि साहित्य में जीवन के उदात्त स्वरूप ही देखना चाहती है । जीवन के उदात्त रूपों में स्वस्थ नैतिकता का समावेश स्वतः ही हो जाता है । इस प्रकार रस को जीवन और नैतिकता से सम्बन्धित कर डॉक्टर नगेन्द्र उसे व्यापकता ही प्रदान करते हैं । सच तो यह है कि उन्होंने रस को ही काव्य का सर्वप्रमुख मानदण्ड माना है और उसी में सारे साहित्यिक और असाहित्यिक मानों का समावेश किया है, जो साहित्य के मूल्यांकन में काम में आते हैं । उन्हीं के शब्दों में साहित्य का चरम मान 'रस' ही है, जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि, सौन्दर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अन्तर मिट जाता है । अन्य कथित मान या तो रस की एकांगी व्याख्या हैं या फिर असाहित्यिक मान हैं जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है ।[1]

परन्तु मनोवैज्ञानिक समीक्षा फ्रायड पर ही समाप्त नहीं हो जाती । एडलर ने हीन भावना को मानवीय व्यवहार का मूल उत्स माना है । इलाचन्द्र जोशी अपने साहित्य और समीक्षा में कुण्ठा एवं हीन भावना को ही महत्वाकांक्षा का मूल मानते हैं और पात्रों के मनोविकारों तथा व्यवहारों की विवेचना इन्हीं के आधार पर करते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों और समीक्षकों को युग में भी आस्था है, जो अवचेतन को व्यक्तिगत और समष्टिगत अथवा जातीय—दो विभागों में बाँटते हैं और जिनके विचार में जातीय अवचेतन हमारे सामाजिक व्यवहारों और सांस्कृतिक मूल्यों का मूल स्रोत है । इन्होंने जिजीविषा को मूल चेतना माना है और मनोविज्ञान के उस रूप की प्रतिष्ठा की है जो प्रबुद्ध और स्वस्थ सांस्कृतिक चेतना से सम्बन्ध रखता है ।

चौथे दशक में हमें प्रगतिवादी अथवा मार्क्सवादी समीक्षा का प्रारम्भिक स्वरूप दिखलाई देता है । इसे हम समाजवादी समीक्षा के अन्तर्गत भी रख सकते हैं । वास्तव में साहित्यिक मूल्यांकन में सामाजिक मूलाधार की महत्ता आचार्य शुक्ल द्वारा ही स्थापित हो चुकी थी । परन्तु उसे विशेष 'वाद' अथवा सिद्धांत के रूप में मार्क्सवादी समीक्षकों ने ही प्रस्तुत किया । मार्क्सवादी समीक्षा का आधार मार्क्स और एंजिल्स के सिद्धांत हैं जो वर्गवाद को महत्ता देते हैं तथा साहित्य और कला की आर्थिक भूमिका को सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु मानते हैं । मार्क्स के विचारानुसार समाज का विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से होता है और प्रत्येक युग में प्रगतिशील एवं अप्रगतिशील सामाजिक तत्व बराबर रहते हैं । उत्पत्ति के साधनों पर जिस वर्ग का अधिकार होता है वही समाज का नेता बनता है, परन्तु वह अपनी शक्ति का उपयोग उत्पादक वर्ग के दमन में ही अधिक करता है । फलस्वरूप समाज शोषक और शोषित वर्ग में बँट जाता है । प्रत्येक

१. विचार और विश्लेषण, पृ० ३ ।

युग की साहित्यिक दृष्टि का निर्माण उस युग के सामाजिक मूल्य के द्वारा ही होता है। यह आवश्यक है कि साहित्यकार सामाजिक दर्शन से पूर्णतः परिचित हो और समाज में अपना स्थान सुनिश्चित कर ले। उसे निर्भ्रान्त रूप से जानना होगा कि वह समाज के प्रगतिशील तत्वों के साथ है अथवा रूढ़िवादी तत्वों के साथ है। साथ-साथ यह भी देखना चाहिए कि यह प्रगतिशीलता नैतिकता और ईश्वर-विश्वास के विरुद्ध है या नहीं ? अगर विरुद्ध है तो उस प्रगतिशीलता से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। ऐसी प्रगतिशीलता का न होना ही मनुष्य मात्र के लिए लाभकारी है। ईश्वर ही एक सार-तत्व है, शेष पदार्थ नाश के पात्र हैं। पर मार्क्सवादी ईश्वर में विश्वास नहीं करते और न आत्मा को मानते हैं। वे पदार्थ को ही सृष्टि का अन्तिम तत्व मानते हैं। उनकी दृष्टि भौतिकवादी है और सब प्रकार की आध्यात्मिकता से उनका विरोध है। इन मार्क्सवादी समीक्षकों ने आदर्शवादी कहकर प्रेमचन्द की निन्दा की, किन्तु उनकी रचनाओं के सामाजिक तत्व के वे प्रशंसक रहे। उन्होंने छायावादी काव्य को पलायनवादी काव्य माना और उनकी सौन्दर्य-चेतना को असार्थक बतलाया। उनकी जीवन-दृष्टि रूसी और पाश्चात्य साम्यवादी विचारकों में बँधी हुई है। उन्होंने साहित्य में मजदूरों और किसानों का पक्ष लिया और भारतीय साहित्य की उस जनवादी परम्परा की प्रशंसा की, जो सन्त-काव्यों, लोक-गीतों और लोकवार्ताओं में विकसित हुई है। उन्होंने साहित्य की सोद्देश्यता का नारा लगाया। वास्तव में 'प्रगतिवाद' नाम से प्रचलित मार्क्सवादी विचारधारा सार्वभौमिक विचारधारा है और यूरोप के अनेक देशों में सन् १९३० के लगभग इस विचारधारा का प्रभाव पड़ना आरम्भ हुआ था। सन् १९३५ में लन्दन में प्रगतिवादी साहित्यकारों के प्रथम सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसके सभापति गाल्सवर्दी थे। अगले वर्ष अखिल-भारतीय-साहित्यकार-संघ का पहला अधिवेशन लखनऊ में प्रेमचन्द के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ और इस प्रकार सन् १९३६ में प्रगतिवादी आन्दोलन की नींव पड़ी। अगले दस वर्षों में प्रगतिवादी साहित्य और समीक्षा के नाम पर बहुत-सा साहित्य तैयार हो गया। इस क्षेत्र के समीक्षकों में डॉ० रामविलास शर्मा और शिवदानसिंह चौहान मुख्य थे। इधर के नवयुवक समीक्षकों में अमृतराय और डॉ० नामवरसिंह का भी नाम लिया जा सकता है। १९५० तक प्रगतिवादी आन्दोलन विकासशील रहा। परन्तु बाद में उसका संगठित स्वरूप शिथिल हो गया, यद्यपि यशपाल जैसे कथाकार व्यक्तिगत रूप से अपनी रचनाओं में साम्यवादी विचारधारा के पोषक रहे हैं।

प्रगतिवादी समीक्षकों में डॉ० रामविलास शर्मा को ही मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। उनकी विशिष्टता यह है कि उन्होंने भारतीय साहित्य-परम्परा के स्वाभाविक विकास को भी अपनी चेतना में महत्वपूर्ण स्थान दिया और रचना के कला-तत्व को भी वे उस प्रकार उपेक्षणीय नहीं मानते जिस प्रकार अन्य प्रगतिवादी समीक्षक। उन्होंने हिन्दी

साहित्य-परम्परा के भीतर लोक-जीवन की एक अविच्छिन्न धारा का अन्वेषण किया है। उन्होंने जन-शक्ति को मूल स्रोत मानते हुए तुलसीदास, भारतेन्दु और निराला के साहित्य में साहित्य की उन प्राणवान प्रेरणाओं को भी उद्घाटित किया है, जो लोक-जीवन से रस प्राप्त करती हैं। अन्य प्रगतिवादी समीक्षक, समस्त प्राचीन साहित्य को सामन्ती अथवा 'बूर्जुआ साहित्य' कहकर उपेक्षणीय मान लेते हैं। परन्तु डॉ० शर्मा के विचार में साहित्य की अपनी परम्परा रहती है और उस पर सिद्धान्तों का आरोप करना असम्भव बात है। प्रगतिवादी समीक्षकों ने अपने युग के साहित्य को कल्पना और भावुकता से अवश्य मुक्त कर दिया, परन्तु उन्होंने वर्ग-संघर्ष, जनवादी परम्परा और साहित्य की सोद्देश्यता जैसे सिद्धान्तों को अपने चिन्तन पर इतना आरोपित कर दिया कि रचना के प्राणवान तत्व फीके पड़ गये। बौद्धिकता का अतिवादी आरोप और सिद्धान्तवादिता प्रगतिवादी समीक्षक की दो सीमाएँ हैं। परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन समीक्षकों ने साहित्य का जीवन से निकट सम्बन्ध स्थापित किया और साहित्य के भीतर व्याप्त सामाजिक शक्तियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। यह अवश्य है कि वे मानव-हृदय की सूक्ष्म प्रेरणाओं और कला-सौन्दर्य के नैसर्गिक प्रभाव को बहुत दूर तक स्वीकार नहीं करते। फलस्वरूप बहुत-सा प्रगतिवादी साहित्य नीरस प्रचार मात्र है और उसकी समीक्षा और भी अधिक नीरस बन गयी है। किन्तु जहाँ सिद्धान्तवादिता से बाहर निकलकर समीक्षक साहित्य और कला को अपनी हार्दिक सहानुभूति दे सका है, वहाँ उसकी रचना को लेकर न्याय में समर्थ हुआ है। प्रगतिवादी समीक्षा ने अपनी प्रचण्ड शक्ति के द्वारा साहित्य और राजनीति सम्बन्धी अनेक वाद-विवादों को जन्म दिया और साहित्य-समीक्षा को सामाजिक क्रांति का एक प्रमुख अस्त्र बना दिया। उसमें बौद्धिक चेतना अत्यन्त प्रखर रूप में प्रकाशित हुई है।

१९५० के बाद कुछ ऐसे समीक्षक भी सामने आये हैं, जिन्होंने वादीय भूमिकाओं से अलग रहकर साहित्य और कला पर विचार किया है। उनमें से कुछ—जैसे 'अज्ञेय' व्यक्तिवादी आलोचक माने जाते हैं। उन्हें प्रयोगवादी समीक्षक भी कहा गया है, क्योंकि वे प्रयोगवादी काव्य-धारा के अग्रगण्य कवि और व्याख्याता हैं। 'अज्ञेय' के दो समीक्षात्मक निबन्ध-संकलन 'त्रिशंकु' और 'आत्मनेपद' हमें उपलब्ध हैं और उनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्तों का व्यापक रूप से उपयोग किया है, यद्यपि वे इस वाद की सीमाओं से भी पूर्णतः परिचित हैं और उनकी विचारधारा पर सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन एवं डी० एच० लारेन्स के क्षणवाद की भी व्यापक छाया है। वस्तुतः अज्ञेय के समीक्षा-दर्शन के निर्माण में अनेक तत्वों का उपयोग हुआ है और उनकी सांस्कारिक साहित्य-चेतना ने अपना मौलिक स्वरूप बराबर अक्षुण्ण रखा है। समसामयिक यूरोपीय चिन्तन का

जितना व्यापक, गम्भीर और सूक्ष्म प्रभाव हमें मिलता है, उतना किसी अन्य समसामयिक समीक्षक में नहीं है। नयी समीक्षा-दृष्टि और समीक्षा-शैली के विकास में उनका स्थान अग्रणी माना जायगा। अज्ञेय के साथ ही हम एक अन्य समर्थ समीक्षक डॉ० देवराज का भी नाम ले सकते हैं, जिनकी समीक्षा-दृष्टि पर उनके संस्कृत-पांडित्य और दर्शन शास्त्रों के अध्ययन का गम्भीर प्रभाव हुआ है। वे पूर्वी और पश्चिमी साहित्य और समीक्षा के अध्येता ही नहीं हैं, वे साहित्य के सहृदय पाठक और मर्मज्ञ व्याख्याता भी है। विभिन्न भाषाओं के साहित्यों के अध्ययन से उनकी रसात्मक चेतना अनेक दिशाओं मे पुष्ट हुई है। अपने समीक्षात्मक साहित्य मे वे किसी 'वाद' या व्यक्तिविशेष के अनुवर्ती नहीं हैं और स्वय अपना ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

ऊपर हमने हिन्दी समीक्षा के विकास की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए आलोच्य युग की प्रमुख समीक्षा-धाराओं और मुख्य प्रतिनिधि समीक्षकों पर विचार किया है। यह अवश्य है कि समीक्षा की सभी शैलियाँ इस विवेचन मे विशेष नहीं हो जाती। आधुनिक इतिहासकारों ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के दो पुष्ट वर्ग अनुमानित किये हैं। परन्तु इस वर्गीकरण का आधार विषय-वस्तु मात्र है और हमारे लिए किसी रचना के सम्बन्ध में यह कहना सम्भव नहीं है कि वह एकान्ततः सैद्धान्तिक है या व्यावहारिक। जहाँ समीक्षा अथवा समीक्षा-सिद्धान्तों का इतिहास प्रस्तुत किया गया है अथवा सूक्ष्म विवेचन है वहाँ समीक्षा को मुख्यतः सैद्धान्तिक माना जा सकता है। परन्तु जहाँ समीक्षक किसी विशेष रचना को आधार बनाकर उसके सौन्दर्योद्घाटन अथवा मूल्यांकन के लिए संकल्पबद्ध होता है, वहाँ समीक्षा को व्यावहारिक कहा जा सकता है। इन दोनों के बीच में ऐसे समीक्षकों की भी कल्पना की जा सकती है, जिनमें विभिन्न अनुपातों में सिद्धांत और व्यवहार का उपयोग है। आलोच्य युग का अधिकांश समीक्षात्मक निबन्ध-साहित्य सिद्धांत और व्यवहार को साथ लेकर चलता है। उसमें कहीं रचना पर से सिद्धान्तों की स्थापना है और कहीं सिद्धान्तों को उदाहृत करने के लिए रचनाओं का सहारा लिया गया है। इस प्रकार यह विभाजन बहुत कुछ औपचारिक हो जाता है। समीक्षक के साधनों और उसके उद्देश्यों को लेकर भी समीक्षा का विभाजन किया गया है तथा प्रभावात्मक समीक्षा, व्याख्यात्मक समीक्षा, शास्त्रीय समीक्षा, मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा, ऐतिहासिक समीक्षा और मार्क्सवादी समीक्षा जैसे विभाजन मिलते हैं। कुछ विद्वानों ने चरित्रमूलक समीक्षा और निर्णयात्मक समीक्षा के रूप में दो अन्य विभाग भी प्रस्तुत किये हैं। परन्तु इनमें से पहला विभाग आलोच्य कवि अथवा साहित्यकार के व्यक्तित्व, मनस्तत्व और जीवन के विश्लेषण को ही अपना लक्ष्य समझता है और स्वतंत्र रूप से किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता। इस प्रकार की समीक्षा में हम इतिहास- जीवनी और साहित्यिक

समीक्षा का समन्वय ही पाते हैं। इस समन्वय को कोई नई इकाई नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार निर्णयात्मक समीक्षा पिछले युग की चीज है, जिसमें समीक्षक कुछ अकाट्य मूल्यों की स्थापना करता है अथवा कुछ विशिष्ट रचनाकारों अथवा उनकी रचनाओं की तुलना करता हुआ किसी एक निश्चय पर पहुँचता है। ऐसी अधिकांश समीक्षा व्यक्तिगत रुचि पर आधारित होती है और उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। साहित्य का मूल्यांकन सूक्ष्म चिन्तन और रसास्वादन की अपेक्षा रखता है। यह आवश्यक नहीं है कि समीक्षक असंदिग्ध रूप से किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचे। अधिक महत्व की बात यह है कि वह अपनी अभिरुचि को कहाँ तक मर्यादित रखता है और आलोच्य कवि की विवेचना में सूक्ष्म विश्लेषण एवं मार्मिक अन्तर्दृष्टि का कहाँ तक उपयोग करता है।

पिछले चालीस वर्ष के हिन्दी साहित्य के उच्च स्तरीय अध्ययन-अध्यापन से समीक्षा के क्षेत्र में विशेष कार्य सम्पादित हुआ है। विश्वविद्यालयों के पंडित और आचार्य अपने अध्यापन में समीक्षा की सभी शैलियों का आवश्यकतानुसार उपयोग करते हैं। उनके विचार में 'वादीय' समीक्षाएँ अपूर्ण है और उनसे आलोच्य कृति के सम्पूर्ण सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं होता। वे अपनी सुविधा के अनुसार समीक्षा की ऐसी शैली का निर्माण करते हैं, जो विभिन्न सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए भी रचना के प्रति वास्तविक न्याय कर सकें। आचार्य वाजपेयी जी ने 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' की भूमिका में उन सात सूत्रों का उल्लेख किया है, जो पिछले अनेक वर्षों से विश्वविद्यालयीन क्षेत्रों में अध्ययन-अध्यापन में सहायक रहे हैं। स्वतन्त्र रूप से अध्यापकीय समीक्षा में भी उनका उपयोग हुआ है। इसे हम 'सांस्थानिक' (ऐकेडेमिकल) समीक्षा भी कह सकते हैं। विश्वविद्यालयों और उच्चस्तरीय संस्थाओं में रसास्वादन का स्थान पाण्डित्यपूर्ण विवेचना ने ले लिया है। धीरे-धीरे एक नये प्रकार के वैदुष्य का जन्म हुआ है, जो रचना के मौलिक पाठ की ऐतिहासिक चर्चा को प्रधानता देता है और आलोच्य कृति के पाठ-भेदों का निर्धारण कर मूल रचना तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है। इसे हम 'पाठालोचन' भी कह सकते हैं। इस पाठालोचन को आधार बनाकर रचना के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अंगों पर भी विचार करना सम्भव है। विभिन्न पांडुलिपियों की वंशावलियाँ स्थापित कर पाठ-शोधी एक ऐसी आदर्श प्रतिलिपि हमें देना चाहता है जो लेखक और उसके युग की प्रवृत्तियों से पूर्णतः न्याय कर सके। इस क्षेत्र में डाक्टर माताप्रसाद गुप्त का नाम विशेष महत्वपूर्ण है, जिन्होंने पाठालोचन को विज्ञान के रूप में स्वीकार किया है और अपने द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में अध्यवसाय और अन्तर्दृष्टि के संतुलित उपयोग से इस क्षेत्र में मानदंड का निर्माण किया है।

सामयिक समीक्षा विशुद्ध साहित्यालोचन तक ही सीमित नहीं है। वह ज्ञान-

विज्ञान सम्बन्धी अनेक शास्त्रों को भी स्पर्श करती है। अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र आदि अनेक शास्त्र उस समय तक समीक्षक के लिए उपयोगी हैं, जब तक वे उसके सौन्दर्य-बोध की पुष्टि और रचना में अन्तर्निहित रचनाकार एवं उसके युग के मर्म तक पहुँचने में समर्थ हैं। यदि समीक्षक आवश्यकता से अधिक शास्त्रीय ज्ञान का उपयोग करता है तो वह अनावश्यक रूप से समीक्षा को बोझिल बना देता है। समीक्षकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो विशुद्ध साहित्य का दावेदार है और शास्त्र-ज्ञान को महत्व नहीं देता। परन्तु प्रत्येक महान रचना युग और जीवन के अनेक पक्षों को अपने भीतर समेटकर चलती है और इसकी इस व्यापकता के प्रति आँख मूँदकर हम रचना की संवेदना को ही संकीर्ण बनाते हैं। समकालीन समीक्षक व्यक्ति और रचनाकार के प्रति अपने उत्तर-दायित्व के सम्बन्ध में पूर्णतः जागरूक है। वह विश्वविद्यालयीन समीक्षा के स्तर से ऊपर उठकर सम्पूर्ण समाज के लिए अपनी रचना प्रस्तुत करता है। उसका लक्ष्य युग की अभिरुचि का संस्कार एवं स्वयं अपनी संवेदना का उन्नयन है। इस प्रकार उसकी कृति समष्टि के साथ व्यष्टि को भी समेट लेती है और वह केवल बौद्धिकअनुशीलन की ही वस्तु न रहकर हार्दिक आस्वादन की वस्तु बन जाती है। पिछले कुछ दिनों से हमारी समीक्षा पर बौद्धिकता का अधिक आग्रह है और उसकी रस-संवेदना पारिभाषिक शब्दा-वली के भार से कुण्ठित होती जान पड़ती है। यह आवश्यक समीक्षा हमें रचना की ओर उद्‌बुद्ध करे और उसके द्वारा हमारे सौन्दर्य-बोध में वृद्धि हो। 'नयी समीक्षा' के रूप में जो आन्दोलन अमरीकी क्षेत्रों में पिछले बीस वर्षों से विकसित हो रहा है, वह पारिभाषिक शब्दावलियों से बाहर जाकर रचना के स्वतंत्र और समग्र आस्वादन पर बल देता है। उसमें हमारी प्राचीन पंडित-परिपाटी की भाँति शब्द योजना और अर्थ-ध्वनि पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाता है, जिससे हम रचना के सौन्दर्य के नव मनोनिर्माण में समर्थ हों। अभी हिन्दी समीक्षा के अन्तर्गत इस प्रकार की कोई नई चेतना विकसित दिखाई नहीं देती जो सहृदयतापूर्ण रसास्वादन और वैज्ञानिक अनुशीलन के बीच की किसी नयी लीक की कल्पना करे।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को विद्वानों ने 'स्वच्छन्दतावादी' समीक्षा के पुरस्कर्ता के रूप में रखा है।[1] यह भी कहा गया है कि 'वाजपेयी जी रसवादी आचार्य हैं।' 'रस' ही उनका काव्य-सिद्धान्त कहा जा सकता है, परन्तु उनका रसवाद प्राचीन रूढ़ियों से मुक्त और एक उदात्त तथा व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है।'[2] वस्तुतः वाजपेयी जी

१. देखिये, डॉ० रामाधार शर्मा : हिन्दी की सैद्धांतिक समीक्षा, तृतीय खंड, 'स्वच्छन्दतावादी समीक्षा, पृ० १६१-२३६। २. वही, पृ० १६१।

की 'रस' की परिभाषा में ऐसे तत्वों का समावेश है, जो पश्चिम के स्वच्छन्दतावाद या रोमैंटिसिज्म के अनिवार्य तत्व हैं। ये तत्व हैं कल्पना, भावोच्छ्वास तथा सौन्दर्य-संवेदन। इसीलिए उन्होंने कहा है—'काव्य तो प्रकृत मानव-अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य-संवेदन क. भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस कहते हैं।[1] परन्तु प्राचीन परम्परा रस को जिस प्रकार अलौकिक मानती है, उस प्रकार आचार्य वाजपेयी नहीं मानते। वे उसे मानव-जीवन और मानवीय अनुभूतियों से ही सम्बन्धित करते हैं। उनके शब्दों में 'जब हम कहते हैं कि रस काव्य की आत्मा है तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में, यदि वह वस्तुतः काव्य है, मानव-समाज के लिए आह्लादवादी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। 'रस' शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इसी मानवतावादी सत्ता से ही है।'[2] 'साहित्य और समाज' शीर्षक अपने सुप्रसिद्ध निबन्ध में उन्होंने साहित्य (अन्ततः काव्य) की समाजोन्मुखता की ओर ही आग्रह किया है। उनके मत में 'विकासशील मानव-जीवन के महत्वपूर्ण या मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति, यही साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है।[3]

परन्तु साहित्य और जीवन के भेद पर भी आचार्य की दृष्टि टिकी है। उनके विचार में साहित्य जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है—'साहित्य की अतिशयोक्तियाँ भी इन्द्रधनुष-सी, जीवन के स्थूल, अकाल्पनिक और रूखे अस्तित्व को मनोरम बना देती हैं। साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नहीं, जीवन की वे कामनाएं जो अनन्त जीवन में भी पूरी नहीं हो सकतीं, निहित रहती हैं। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है, तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की आशा-उत्कंठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है, तभी तो उसका नाम साहित्य है, तभी तो साहित्य जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्गद्रष्टा भी रहता है।[4] आगे चलकर उन्होंने अपने इस वक्तव्य को और भी स्पष्ट किया है—'साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, यद्यपि वह सत्ता जीवन-सापेक्ष है। जीवन-निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रांति है, जीवन-सापेक्ष कला के लिए कला सिद्धांत है।'[5]

---

१. आधुनिक साहित्य, पृ० ४०७। २. आलोचना, अंक २२, पृ० ५। ३. नया साहित्य : नये प्रश्न (निष्कर्ष), पृ० ३। ४. आधुनिक साहित्य, पृ० ४०४। ५. वही, पृ० ४०७।

साहित्य और समाज के बीच के स्थिर और गत्यात्मक सम्बन्धों का विवेचन करते हुए बाजपेयी जी भावात्मकता, नैतिकता तथा बौद्धिकता को तीन प्रमुख तत्वो के रूप में मानते हैं—'श्रेष्ठ काव्य का नैसर्गिक या प्रतिभा-तत्व भावात्मक होता है। उसका स्थायी तत्व है समाज की नैतिक चेतना और उसका गतिमान तत्व है कवि की दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक अथवा बौद्धिक अभिज्ञता। कहने की आवश्यकता नहीं, ये तीनो तत्व गहरे अनुभवों और अनुभूतियों पर आश्रित हैं और हम गहरे अनुभवों का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के स्थितिशील और गतिशील तत्वों के दुहरे रूपों से हैं। ऊपर से न दिखाई देने पर भी कवि की निगूढ़ चेतना में इन तीनों तत्वों का समावेश रहता है।'[1] इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि वाजपेयी जी रसवाद को मानव-जीवन की व्यापकतम भूमिका दे देते हैं और उनका स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण कल्पनाजन्य सौन्दर्यनिष्ठा और अनुभूतिजन्य भावुकता तक ही सीमित नहीं है, उसमें पर्याप्त बौद्धिकता है और उसका आधार जीवन की वास्तविक स्थितियाँ ही हैं।

अपनी इस समीक्षा-दृष्टि को आचार्य वाजपेयी ने अनेक उपकरणों से पुष्ट किया है। फलत: वह सब प्रकार की कृतियों तथा आन्दोलनों के मूल्यांकन में समर्थ है। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' की भूमिका में उन्होंने जिन सप्त सूत्रों की योजना की है, वे उनकी प्रौढ़ और सर्वग्राही साहित्यिक मनीषा के ही प्रतीक हैं। ये सूत्र इस प्रकार हैं :

(१) (Analysis of the Poetic Spirit) : कृति में कवि की अन्तर्वृत्तियो का अध्ययन।

(२) (Aesthetic appreciation) : कृति में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता, विशालता, कला-सौष्ठव का अध्ययन।

(३) (Study of technique) : रीति, शैली और कृति के बाह्य अंगो का अध्ययन।

(४) समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।

(५) कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (Analysis of the mind)

(६) कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनैतिक, संस्कृति और कला सम्बन्धी विचारों का अध्ययन।

(७) काव्य के जीवन सम्बन्धी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन।

इन सात सूत्रों में हमें आधुनिक समीक्षा की वह अत्यन्त व्यापक भूमिका मिल

---

१. 'आलोचना', अंक २२, पृ० ४।

जाती है, जो अपने भीतर पूर्वी-पश्चिमी सारे साहित्य-सिद्धान्तों को समेट लेती है। इसे 'एकेडेमिक' अथवा विश्वविद्यालयीन समीक्षा भले ही कहा जाये, यह स्पष्ट है कि इसका क्षेत्र स्वच्छन्दतावादी समीक्षा से कहीं बड़ा है और इसमें नई काव्य-सृष्टियों के मूल्यांकन की भी पर्याप्त क्षमता है। यह दूसरी बात है कि इसमें समीक्षक के व्यक्तित्व तथा रुचि को कोई भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। वह शास्त्रीय कोटि की वस्तु बन गई है। स्वयं वाजपेयी की समीक्षा में इन सभी सूत्रों का उपयोग नहीं हो पाया है, विशेषतः निबन्धों में जो उनकी अन्तर्दृष्टि तथा सूक्ष्म विश्लेषण के लिए प्रसिद्ध हैं।

काव्य-रचना में वाजपेयी जी अनुभूति और अभिव्यक्ति को समान रूप से महत्व देते हैं। अनुभूति की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है–'वह वस्तु जो कल्पना के विविध अंगों और मानस-छवियों का नियमन और एकान्वयन करती है, अनुभूति कहलाती है। अतएव अनुभूति काव्य का निर्णायक और केन्द्रीय तत्व है, जिसका क्षरण और विन्यास काव्य-कल्पना तथा काव्यात्मक अभिव्यक्ति के रूपों में होता है। इस भावात्मक अनुभूति में मानव-व्यक्तित्व और मानवता के ऐसे श्रेष्ठ उपादान होते हैं, जिनसे काव्य में मूल्य और महत्व की प्रतिष्ठा होती है।'[1] ये श्रेष्ठ उपादान देशकालमूलक होते हुए भी गतिशील रहते हैं, ऐसा उनका विचार है—'उसमें (अनुभूति में) देश और काल के अनुसार गतिशीलता का तत्व भी होता है और मानवात्मा की विकासावस्था के अनुकूल उसमें व्यापकता और वैशिष्ट्य की भी मात्राएँ रहती हैं।'[2] अनुभूति और कल्पना का सम्बन्ध वाजपेयी जी ने इस प्रकार बतलाया है—'मोटे तौर पर कल्पना और अनुभूति का काव्य में कार्यकारण-संबन्ध माना जाता है। अनुभूति या भावना काव्य का प्रेरक तत्व है, उसकी मूलभूत सत्ता है। कल्पना अनुभूति का क्रियाशील रूप है। कल्पना और अनुभूति में यह व्यावहारिक भेद स्वीकार किया जाता है, परन्तु तत्वतः दोनों की एकरूपता भी सिद्ध हो जाती है। कला-दर्शन में कल्पना शब्द उस सम्पूर्ण प्रक्रिया का द्योतक है जो काव्य-सृष्टि में आदि से अन्त तक व्याप्त रहती है। कल्पना का मूल स्रोत अनुभूति है और उसकी परिणति है काव्य की रूपात्मक अभिव्यंजना। इस प्रक्रिया में गतिमान तत्व अनुभूति है और इस प्रकार कल्पना अनुभूति से अभिव्यंजना तक विस्तृत है।'[3]

वाजपेयी जी का रसवादी दृष्टिकोण उनकी इस मान्यता से भी स्पष्ट है जिसमें उन्होंने काव्यानुभूति की उद्दाम शक्ति का बड़े मार्मिक शब्दों में वर्णन किया है–'कविता जिस स्तर पर पहुँच कर अलंकारविहीन हो जाती है, वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति

---

१. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृष्ठ १४७। २. आधुनिक साहित्य, पृ० ४१६।
३. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृष्ठ १४६-१४७।

हाहाकार करती हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि न जाने कहाँ बह जाते हैं और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।[1] इसीलिए उन्होंने कविता को भावों की क्रीड़ाभूमि कहा है—'काव्य का क्षेत्र भावों की क्रीड़ाभूमि है, कविता के इस मूल स्वरूप को हम सभी स्वीकार करते हैं। यह तो काव्य और कलाओं की पहली कोटि है, जिसके अभाव मे उनका अस्तित्व ही असंभव है. किन्तु इसके अतिरिक्त किसी दूसरे कोटि-क्रम की आवश्यकता नहीं है। भावों का उद्रेक कविता द्वारा होना चाहिए, यह अनिवार्य है, किन्तु और कुछ अनिवार्य नहीं। भावों की व्यंजना, ध्वनन, अभिव्यक्ति यही कविता और कला का व्यक्तित्व है।[2] तात्पर्य यह है कि अनुभूति के द्वारा उत्प्रेरित कल्पना कवि-मानस में जिस भावलोक की सृष्टि करती है, वही भाषा के माध्यम से काव्य का रूप धारण करता है।

साहित्य-चिन्तन के रूप में आचार्य वाजपेयी मूर्धन्य दिखलाई पड़ते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म परन्तु सशक्त भाषा-शैली में उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में स्थान स्थान पर गम्भीर सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की है और सैद्धांतिक निबन्धों में वे विशेष रूप से अपने चिन्तन की सूक्ष्मता तथा मार्मिकता के सम्बन्ध में जागरूक हैं। यह कहना कठिन है कि वे व्यावहारिक समीक्षक के रूप में अधिक सफल हैं या सैद्धांतिक समीक्षक के रूप मे। इनके साहित्य में दोनों धरातल मिले-जुले चलते हैं और उनका अलग करना कठिन हो जाता है। उनकी चेतना विशुद्ध साहित्यिक है, यद्यपि उसमें जीवन और जगत के सभी उपकरण आत्मसात हो गये हैं।

आचार्य वाजपेयी छायावाद के समर्थक और प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद काव्य-धाराओं के विरोधी माने जाते हैं। 'नयी कविता' को उन्होंने बैठे-ठालों का धंधा कहा है। इन वादों के सम्बन्ध में उनकी अनुदारता की निन्दा भी हुई है और अनेक विद्वानों ने उनकी ईमानदारी के विषय में भी प्रश्न उठाये हैं। उदाहरण के लिए, प्रगतिवाद सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण की एक तीव्र समीक्षा इस प्रकार है—'वास्तव में वाजपेयी जी प्रगतिवाद को सहृदयता प्रदान नहीं कर पाये और यही कारण है कि प्रगतिवाद की मूल चेतना और चिन्ताधारा को परखने के स्थान पर वे उसका मज़ाक उड़ाते हैं। यह वाजपेयी जी का दोष नहीं, उनकी उम्र का दोष है। ठीक भी है, एक बार छायावादी काव्य का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन कर देने के बाद अन्य किसी काव्यधारा को कैसे उच्चादर्श से समन्वित माना जा सकता है। मेरे मत से तो यह संकुचित मनोवृत्ति का प्रदर्शन

---

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ६८। २. महाकवि सूरदास, पृष्ठ ८२

मात्र है। जिस उदार एवं समन्वयशील साहित्यिक व्यक्तित्व की अपेक्षा आलोचक में की जाती है, वाजपेयी जी में उसका अभाव नहीं, परन्तु जो उदारता उन्होंने प्रसाद, पंत, महादेवी वर्मा, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण के विवेचन में प्रदर्शित की, उसका शतांश भी यदि उन्होंने प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता को प्रदान किया होता तो उनका आलोचक व्यक्तित्व कहीं अधिक उदात्त और महत्त्वपूर्ण हो जाता, ऐसा मेरा अपना मत है। प्रगतिवाद के विषय में अपना मत प्रगट कर उन्होंने अपनी संकोची मनोवृत्ति और अपना अज्ञान ही प्रकट किया। मैं तो इसे व्यक्ति की कमजोरी मानूँगी, विशेषकर वाजपेयी जैसे व्यक्ति से यह न तो अपेक्षित था और न आवश्यक ही।'[१] इसमें सन्देह नहीं कि इस आरोप में थोड़ी-सी सच्चाई अवश्य है, परन्तु लेखिका ने वाजपेयी जी के उस विशुद्ध साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण और सौन्दर्यबोध वाले मानदण्ड को अपने परिप्रेक्ष्य से बाहर रखा है, जो 'वादों' को पीछे छोड़ जाता है और सीधे कृति से अपना सम्बन्ध जोड़ता है। उनके विचार में 'काव्य और कला की मुखर वर्णमयता में समस्त वर्गभेद और वादभेद तिरोहित हो जाते हैं। मानव-कल्पना का यह अनुभूति-लोक नित्य और शाश्वत है। चिरन्तन विकास की सरिता इसे चिरकाल से सींचती आ रही है और चिरकाल तक सींचती रहेगी।'[२] साहित्य-चिन्तन की इस सर्वोच्च भूमिका पर खड़े रहने के कारण वाजपेयी यदि साधारण जनों की पहुँच से बाहर हो गये हैं तो आश्चर्य ही क्या है!

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी केवल समीक्षक ही नहीं हैं, वे इतिहासकार, संस्कृतिवेत्ता, निबन्धकार और कथाकार भी हैं। उनके व्यक्तित्व के प्रसार के ये विभिन्न आयाम हैं, परन्तु मूल रूप में वे आदर्शवादी, कल्पनाप्रवण तथा रस-मर्मज्ञ कलाकार हैं। उनकी समीक्षा बौद्धिक न होकर हृदय से उद्भूत है, फलतः उसमें कहीं भी जटिलता नहीं। यद्यपि उनकी समीक्षा का क्षेत्र प्राचीन और मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य ही अधिक रहा है, जिसमें उन्हें शोध का भी पर्याप्त श्रेय प्राप्त है, परन्तु नये साहित्य की बदलती हुए भंगिमाओं में भी उन्होंने रस लिया और नये लेखकों को अनेक प्रकार से प्रोत्साहित किया है। साहित्य-चिन्तन और विचारक निबन्धकार के रूप में उनका स्थान निस्सन्देह शीर्षस्थान पर रहेगा।

आचार्य द्विवेदी के विचार से मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य ही है। उसमें जाति का सौन्दर्य-प्रेम अभिव्यंजना पाता है। वह मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु-

---

१. कुमारी प्रतिभा विलियम्स : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, (एक अध्ययन) पृष्ठ १०५। २. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४१६।

सामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठाता है, उसे देवता बनाता है।[1] वे कहते हैं–'मनुष्य को देवता बनाना ही छंद-साधना का चरम लक्ष्य है। जिस कवि को सचमुच ही छन्द-रूपी रत्न का साक्षात्कार हुआ है, उसे ऐसा ही विषय खोजना चाहिए, जिससे मनुष्य देवता बने, लोभ-मोह की मार से ऊपर, आहार-निद्रा के धरातल से ऊपर, संकीर्ण स्वार्थ के पंजों से मुक्त। साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि जो कुछ घटता है, वह सत्य ही नहीं होता, सभी तथ्य सत्य नहीं होते।'[2] सत्य है मनोभूमि। सुन्दरता और सामंजस्य ही सत्य है। साहित्य में इन्हीं की साधना पल्लवित होती है। मनुष्य की मनुष्यता की परिपूर्ण चरितार्थता साहित्य का विषय है। अतः 'मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य है और उसे मनुष्य-पद का अधिकारी बने रहने के लिए साहित्य ही एक-मात्र सहारा है। यहाँ साहित्य से हमारा मतलब सब तरह की उसकी सात्विक चिन्ता-धारा है।'[3] साहित्य का सम्बन्ध सात्विकता से जोड़कर आचार्य द्विवेदी रस को संस्कार का अंग बना देते हैं। कोरा मनोरंजन, कोरा उद्वेलन या संवेदन साहित्य नहीं है।' जो साहित्य अपने युग के मनुष्य को, उसकी सभी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ, उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओं के साथ, हमारे सामने प्रत्यक्ष लाकर खड़ा कर देता है, वह निस्संदेह महान साहित्य है। मनुष्य ही मुख्य है, बाकी सब बातें गौण हैं। अलंकार, छंद, रस का अध्ययन इस मनुष्य को समझने का ही साधन है, ये अपने आप में कोई स्वतंत्र-चरम मान नहीं हैं। पशु-सुलभ वासनाओं से ऊपर उठने के लिए प्रयत्न-शील उस प्राणी को जो त्याग, प्रेम, संयम और श्रद्धा को छीना-झपटी, मारा-मारी, लोलुपता और घृणा-द्वेष से बड़ा मानता है–उसके लक्ष्य की ओर ले जाना ही साहित्य का मुख्य उद्देश्य है।'[4]

भारतीय परम्परा साहित्य को रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, औचित्य, वक्रोक्ति के माध्यम से देखती रही है। तात्पर्य है विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि की हमारे यहाँ प्रधानता है। परन्तु पश्चिम जीवन को प्रधानता देता है। वह साहित्य में जीवन देखता है और जीवन में साहित्य। परन्तु जीवन क्या है? क्या वह मनुष्य से इतर कुछ है? आचार्य द्विवेदी मानववादी आलोचक हैं। उनका उद्देश्य है–'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता, परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।' प्राचीन साहित्य कल्पना-विलासी थी। आज का साहित्य समाजोन्मुख है। उत्तम साहित्य की सृष्टि करना और बात है परन्तु उत्तम रचना को जीवन में उतारना

---

१. 'कल्पलता', पृ० १४०-१४१। २. वही, पृ० १४२। ३. वही, पृ० १४५। ४. 'अशोक के फूल' पृ० १८१।

दूसरी बात है। प्रश्न है कि साहित्य आनन्द के लिए है, या जीवन के लिए ? आचार्य द्विवेदी का उत्तर स्पष्ट है–'साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एकमात्र कसौटी यही है कि वह मनुष्य का हित-साधन करता है या नहीं।'[1] हित-साधन का कार्य साहित्य तभी सम्पादित कर सकता है जब उसमें जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा न हो।

साहित्यकार जीवन की कुरूपता से समझौता नहीं करता, वह उसे सुन्दर में बदलने का प्रयत्न करता है। यह उपयोगितावादी दृष्टि है, परन्तु साहित्य यदि संस्कृति का वाहन है तो उसे यह दृष्टि लेकर ही चलना होगा। द्विवेदी जी के शब्दों में—'साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत का असुन्दर छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। सुन्दरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश-पाताल का अन्तर हो, वह दुनिया सामंजस्यमय नहीं कही जा सकती और इसीलिए वह सुन्दर भी नहीं है। इस बाह्य असुन्दरता के ढूह पर खड़े होकर आन्तरिक सौन्दर्य की उपासना नहीं हो सकती। हमें बाह्य असौन्दर्य को देखना ही पड़ेगा। दरिद्र, निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौन्दर्य-लोक की कल्पना नहीं कर सकते। साहित्य सुन्दर का उपासक है, इसीलिए साहित्यिक को असामंजस्य के दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा, अशिक्षा और कुशिक्षा से लड़ना होगा, भय और ग्लानि से लड़ना होगा। सौन्दर्य और असौन्दर्य में कोई समझौता नहीं हो सकता।'[3] जीवन और जगत के प्रति अपने इसी उत्तरदायित्व के कारण साहित्य को बोधगम्य और प्रभावशाली होना आवश्यक है। क्रोचे की भाँति डॉ० द्विवेदी साहित्य को मानसी सौन्दर्य-बोध को मात्र अभिव्यंजना नहीं मान सकते। वे उसी लोकमंगल में प्रतिफलित देखना चाहते हैं। उनके शब्दों में–'साहित्य की साधना तब तक वन्ध्या रहेगी, जब तक हम पाठकों में ऐसी अदमनीय आकांक्षा जाग्रत न कर दें, जो सारे मानव-समाज को भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान-योग्य देखने के लिए सदा व्याकुल रहे।'[3] यह दृष्टि-कोण ही साहित्य-रचना को दायित्वपूर्ण कर्म बनाता है और उसे अनर्गलता और व्यक्ति-वादी विमूढ़ताओं से बचाता है। 'रस-लोक की अनिर्वचनीयता' को पीछे छोड़कर जब साहित्य-चिन्तक साहित्य को साधन के रूप में ग्रहण करता है और युग की समस्याओं से उलझता है तो वह उसी प्रकार अपने दायित्व का निर्वाह करता है, जिस पर कवि या लेखक। इस प्रकार साहित्य-सर्जन की भाँति समीक्षा भी मनुष्य के चिरन्तन हितों से संबद्ध हो जाती है।

---

१. 'अशोक के फूल', पृ० १८१। २. वही पृ०, १८६। ३. वही, १९०।

साहित्य की जिस चरित्रनिर्मात्री, आत्मनिष्ठ, संकल्पी धारणा को लेकर आचार्य द्विवेदी चले हैं, उसमें मार्क्सवाद की अर्थप्रधान जीवन-व्याख्या तथा मनोविश्लेषण-शास्त्र की आत्मरति तथा यौनमूलक चेतना का स्वयं बोध हो जाता है। उन्होंने इन दोनों पश्चिमी शास्त्रों की सीमाओं को अपने पाठकों के सामने रखा है। उनका कहना है कि हमारा नवीन साहित्यकार इन विचारों के मायाजाल को आसानी से काट नहीं पाता। अतः वह भ्रम में पड़ता है और आत्महीनता, क्षतिपूर्ति आदि सिद्धान्तों के फेर में पड़कर जीवन की वास्तविकता से हाथ धो बैठता है। उन्होंने चेतावनी दी है कि पश्चिम के आदान को स्वीकार करते हुए हमें पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता है। 'इन विचारों का बड़ा घातक असर हमारे साहित्य पर हो रहा है, जिसे देखो, वही कुछ मनोविश्लेषण के प्रयोग कर रहा है। कुछ लिबिडो, कुछ प्रसुप्त वासना, कुछ अवदमित कामना किस रूप में चेतन दिमाग में रूप-परिग्रह कर रही है, यह बताने के उद्देश्य से जो साहित्य लिखा जायगा, उसमें वह चरित्रगत दृढ़ता आ ही नहीं सकती, जो आज के संकट-काल में हमें धीर और कर्मठ बना सके। यदि मनुष्य कुछ पूर्ववर्ती अज्ञात वासनाओं का मूर्त रूप है, यदि अनजान में बँधी हुई हीनता की गाँठ ही हमारे चरित्र का निर्माण कर रही है तो फिर दृढ़चित्तता और आत्मनिर्माण का स्थान कहाँ है ?'[1]

उन्होंने प्रगतिवादी साहित्य की मानस-विपथगामिता की निंदा की है और यह बतलाया है कि हमारे 'रसात्मक साहित्य की रचना किसी खण्ड सत्य के लिए नहीं होनी चाहिए। समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित न हो, इस महान् उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए।'[2] इसी महोद्देश्यता को उन्होंने साहित्य का मूल धर्म माना है। परन्तु यह चीज़ सोद्देश्यता नहीं है। इसे रस-सृष्टि के भीतर से ही सार्थक होना होगा। स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी साहित्य के महत् उद्देश्यों को स्वीकृति देते हुए भी उसे प्रयोजनशीलता तक सीमित रखना नहीं चाहते। उनके विचार में 'समूचे भारतीय काव्य में—नितान्त आधुनिक काल को छोड़ कर-कवि ने अपने को सदा निर्लिप्त द्रष्टा बनाये रखा है, वह चीज़ जिसे वैयक्तिक स्वाधीनता कहते हैं, जिसमें कवि हर द्रष्टव्य को अपने अनुराग-विराग में डुबोकर देखता है, आधुनिक युग की उपज है।'[3] वे साहित्य में प्रयोजन के अतीत पदार्थ को चाहते हैं जिसका नाम सौन्दर्य है, प्रेम है, भक्ति है,—मनुष्यता है।[4] साहित्य की सर्वोच्च भूमिका काव्य है। प्रयोजन गद्य तक सीमित रहता है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—'गद्य

१. 'अशोक के फूल', पृ० ४०-४१। २. वही, पृ० ४५। ३. 'विचार प्रवाह' पृ० १४९। ४. वही, पृ० १५६।

हमारे प्रयोजनों की भाषा है। काव्य हमारे प्रयोजनातीत आनन्द का प्रेरक है। समस्या-समाधान गद्य का काम है, जीवन की चरितार्थता काव्य का अभिप्रेत है। जब तक काव्य जीवन का अंग नहीं बन जाता, तब तक मनुष्य दीन होता है, प्रकाशहीन होता है, पर काव्य का रस जब उसे मिलता है, जब वह केवल प्रयोजनों की दुनिया से ऊपर उठता है तब उसे उस वस्तु का अनुभव होता है जो 'मनुष्यता' है, जो उसके हृदय को संवेदनशील और उदार बनाती है। यह मनुष्य-जीवन का ऐश्वर्य है। जीवन का यही काव्य नाना भाव से अपने को प्रकाशित करता है। काव्य में, शिल्प में, नृत्य में, गीत में, धर्म में, भक्ति में मनुष्य उस अपार भूमा का रस पाता है, जो उसे प्रयोजनों की संकीर्ण दुनिया से उठाकर असीम में प्रतिष्ठित करता है। तभी वह उपनिषद् की उक्ति के भाष्य में कह उठता है—'भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति।'[1]

साहित्य की नयी मान्यताओं का आचार्य द्विवेदी स्वागत करते हैं, परन्तु उनकी मान्यता है कि इन नयी मान्यताओं का जन्म जीवन की आवश्यकताओं से ही होना चाहिए। आधुनिक साहित्य नये जीवन-बोध का ही प्रतिफल है।—'नयी परिस्थितियों में जब मनुष्य नये अनुभव प्राप्त करता है तो जागतिक व्यापारों और मानवीय आचारों तथा विश्वासों के मूल्य उसके मन में घट या बढ़ जाते हैं। सभी मानों के मूल में कुछ पुराने संस्कार और नये अनुभव रहते हैं। यह समझना गलत है कि किसी देश के मनुष्य सदा-सर्वदा किसी व्यापार या आचार को एक ही समान मूल्य देते आये हैं। पिछली शताब्दी में हमारे देशवासियों ने अपने अनेक पुराने संस्कारों को भुला दिया है और बचे संस्कारों के साथ नये अनुभवों को मिलाकर नवीन मूल्यों की कल्पना की है।'[2] वे अंग्रेज जाति और अंग्रेजी साहित्य के घनिष्ठ योग से उद्भूत नयी चेतना का स्वागत करते हैं और उसे भारतवर्ष की प्राणवत्ता मानते हैं कि उसने इस नवीन संक्रमण या पाश्चात्य प्रभाव को आत्मसात कर नयी साहित्य-चेतना को जन्म दिया।[3] उनका विचार है कि हमें इस पाश्चात्य प्रभाव की ठीक-ठीक जानकारी आवश्यक है। तभी हम इस प्रभाव को गर्हित न मानकर उसे आधुनिक चेतना का महार्घ अंग समझेंगे। विकासवाद, मानवतावाद, मार्क्सवाद और फ्रायडवाद नये पश्चिमी अभिमत हैं, जिनसे हम प्रभावित हैं। राष्ट्रीयता भी उसी की देन है। परन्तु जहाँ यह विचार मनुष्य में भेद स्थापित कर मानव-चेतना को खण्डित कर देते हैं, वहाँ उन्हें विकृति ही माना जा सकता है। आचार्य द्विवेदी के मत में वह मानवतावाद निकृष्ट है, जो मनुष्य को शोषक-शोषित, देवता-पशु की दो श्रेणियों में विभक्त कर देता है। इससे मनुष्यता की महिमा का नाश हो जाता है। वे मानव-चित्त की गम्भीरतम भूमिका के पक्षपाती हैं, उस चित्तगत उन्मु-

---

१. 'विचार-प्रवाह', पृ० १५६-१५७। २. वही, पृ० १७५। ३. वही, पृ० १४६।

कता के नहीं, जिसे 'व्यक्तिवाद' कहा जाता है। उन्होंने प्रश्न और समाधान के रूप में अपनी मानवतावादी मान्यता को इस प्रकार रखा है—'मानवतावाद ठीक है। पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति-मानव की? नहीं। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को, व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि मनुष्य को, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा।'[१]

आचार्य द्विवेदी सांस्कृतिक मानस को ही साहित्य-चेतना के मूल में रखते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'चित्तगत उन्मुक्तता का अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य अपने पूर्वजों की विशाल अनुभव-सम्पदा की उपेक्षा करे।'[२] उनकी मान्यता में नवीन और प्राचीन आदर्शों तथा अनुभवों का सहज समन्वय ही साहित्य के लिए कल्याणकर है। 'जहाँ कहीं भी नये साहित्कार ने नवीन आदर्श को अपनाया है, वहीं उसने प्राचीन मानवीय प्रयत्नों को मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति माना है। नवीन आदर्शों का महत्व तब तक ठीक-ठीक समझा ही नहीं जा सकता, जब तक उसके प्राचीन का निष्पक्ष अध्ययन न किया जाय। (यह आदर्श) जिस दिन स्वीकृत होगा, उस दिन समस्त जगत के प्राचीन कृतित्व का अध्ययन अधिक गम्भीर, अधिक व्यापक और अधिक निष्पक्ष हो सकेगा।'[३] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 'काल में प्रव्याप्त मनुष्य' को ही साहित्य का लक्ष्य माना है। इस मन्तव्य में पश्चिमी व्यक्तिवाद का विरोध और मनुष्य की सामाजिक तथा सास्कृतिकता की पूर्ण स्वीकृति है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी का साहित्य-चिन्तन राष्ट्रीयता तथा भारतीय संस्कृति की प्राणवान चेतनाओं से ओत-प्रोत है। वह 'विशुद्धता' का आग्रह नहीं करता, परन्तु साहित्यिक माने जाने वाले तत्वों की उपेक्षा भी नहीं करता। हाँ, वह साहित्य-धर्म को मनुष्यता से अलग या बड़ा तत्व नहीं मानता। उसका मत इस उद्धरण से स्पष्ट हो जायेगा, जिसमें उन्होंने मानव-सत्य की अपनी व्याख्या को परिणति दी है—'साहित्य के अध्ययन के लिए नाना प्रकार के बाह्य आकार-प्रकारों का,—छन्द का, शैली का, व्यंगार्थ का, अलंकार का, रचना-कौशल का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। वस्तुत: ये सभी बातें मनुष्य-बुद्धि की उपज हैं और इसीलिए अनुपेक्षणीय है। लेकिन इनकी कोई सीमा नहीं है। जिस व्यक्ति के दिल में मानवता के स्वाभाविक धर्म की उपलब्धि का आनन्द उच्छल हो गया होता है, जिसमें कहने योग्य बात कहलाने की बेचैनी पैदा कर दी गयी होती है, वह नया छन्द बना लेता है, नये अलंकार की योजना कर लेता है, नयी शैली बना लेता है, परन्तु जिसे इन मूल बातों का स्पर्श नहीं, वह साहित्यकार नहीं हो सकता।[४]

---

१. 'विचार-प्रवाह', पृष्ठ १९१। २. वही। ३. वही, पृ० १९१ ४. वही पृ० २१३-२१४।

ऊपर के अवतरण से यह स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी शास्त्र से सुपरिचित होते हुए भी शास्त्रीय शैली के समीक्षक नहीं हैं। वे साहित्य में जीवन की उदात्त वृत्तियों का पोषण चाहते हैं। उसके लिए साहित्य एक साथ साधन और साध्य है। मनुष्य को परि-पूर्णतया आध्यात्मिक और नैतिकता के साथ साहित्य के केन्द्र में रख उन्होंने आलोचना को नये आयाम दिये हैं। वे सांस्कृतिक मनुष्य का जय-गान करते हैं, जो निर्दलित द्राक्षा की भाँति अतीत का सारा रस वर्तमान के पात्र में निचोड़ लेता है और उसमें युग-सत्य की तिक्तता को डुबोकर नये मधु की सृष्टि करता है।

डॉ० नगेन्द्र

डॉ० नगेन्द्र हिन्दी के मनोवैज्ञानिक समीक्षक माने जाते हैं, परन्तु वे सिद्धान्तो को उतना महत्व नहीं देते, जितना साहित्य-धर्म (रस) को। रस की व्यक्तिपरक व्याख्या कर और उसे आत्माभिव्यक्ति के पश्चिमी सिद्धान्त के अनुकूल बैठाकर उन्होंने भारतीय साहित्य-समीक्षा में एक नया अध्याय जोड़ा है। 'नगेन्द्र जी का महत्व इस बात में है कि उन्होंने रस-सिद्धान्त के मनोवैज्ञानिक आधार का, उसकी मूलभूत प्रेरणाओं का सम्यक् उद्‌घाटन किया और रस-मत को मनोविज्ञान की विशेष भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया को, उसके वैयक्तिक पक्ष को नगेन्द्र जी ने विशेष रूप से उद्‌घाटित किया है। भारतीय और यूरोपीय साहित्य-शास्त्र का विस्तृत और गम्भीर अध्ययन कर नगेन्द्र जी ने दोनों के साम्य एवं वैषम्य का विद्वत्तापूर्ण स्पष्टीकरण कर दोनों के समन्वय का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। मनोविज्ञान के आधार पर नगेन्द्र जी ने रसानुभूति के स्वरूप का बड़ा प्रौढ़ निरूपण किया है। नगेन्द्र जी की समीक्षाओ में अधिकांशतः भारतीय साहित्य-शास्त्र की नवप्रतिष्ठा का, उसके संशोधन और संस्कार का प्रयत्न लक्षित होता है। अपने मनोवैज्ञानिक विवेचन में उन्होंने अधिकतर समन्वय का ही प्रयत्न किया है, वे मध्यमार्ग पर ही चलते रहे हैं, इसलिए वैयक्तिक अभिरुचियो के होते हुए भी उनका मत संतुलित है।'[१] ऊपर के वक्तव्य में डॉ० नगेन्द्र की समीक्षा-दृष्टि का सार आ गया है। उनका विशेष सिद्धान्त आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त है, जिसे उन्होंने इन शब्दों में प्रगट किया है—'आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है, जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन जाती है।'[२] आत्माभि-व्यक्ति क्यों? डॉ० नगेन्द्र के विचार में इससे लेखक को आत्म-परितोष और सृजन-सुख मिलता है। यही उसकी लेखक के लिए सार्थकता है। व्यक्ति और वातावरण, आत्म और अनात्म अभिव्यक्ति के लिए ही संघर्षशील रहते हैं। आत्म-अनात्म के

१. डॉ० रामाधार शर्मा : हिन्दी की सैद्धांतिक समीक्षा, पृ० ३२६।

२. विचार और विवेचन, पृ० ५२।

द्वारा अपने को व्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता है। उसकी अभिव्यक्ति के अनेक रूप हो सकते हैं, जिसमें एक 'साहित्य' भी है, जिसमें आत्म की शब्दार्थ द्वारा अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार साहित्य व्यक्तिपरक बन जाता है। उसमें सामाजिक-नैतिक मूल्यों का वह महत्व डॉ० नगेन्द्र नहीं मानते, जो अन्य स्वच्छन्दतावादी समीक्षक मानते हैं। उन्होंने साहित्यकार के व्यक्तित्व की महत्ता को उसकी चेतना की विस्तृति और गम्भीरता तक ही सीमित रखा है। तात्पर्य यह है कि साहित्यकार के भाव-जगत के विस्तार, गाम्भीर्य, सम्पन्नता के अनुरूप ही उसका साहित्य होगा और उसकी व्यापकता का प्रमाण होगा परस्पर विरोधी पक्षों का समन्वय। साहित्य को मूलतः हृदय-व्यापार और अनुभूति को उसका माध्यम मानकर डॉ० नगेन्द्र विशुद्ध रागात्मकता के कायल हो जाते हैं। उन्होंने साधारणीकरण के सिद्धांत द्वारा साहित्य के मानवीय धरातल की ही सहज प्रतिष्ठा की है।

एक ओर फ्रायड का कामसिद्धांत और दूसरी ओर भारतीय आचार्यों का रस-वाद, –ये डॉ० नगेन्द्र की सीमाएँ हैं। इन्हें इन्होंने समझौते के रूप में भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है–'मैं कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा मानता हूँ और चूँकि आत्म के निर्माण में काम-वृत्ति का और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ।'[1] अभुक्त काम ही हमारे अवचेतन का निर्माण करता है और अचेतन स्वप्नावस्था या काव्य-सृजन में उसी की परितृप्त होती है। मानव का सौन्दर्य-प्रेम उसकी कामवृत्ति का प्रकाशन है। वैसे फ्रायड की कामवृत्ति के साथ डॉ० नगेन्द्र, एडलर के आत्महीनता वाले सिद्धांत और युग की जीवनेच्छा वाली धारणा को भी मान्यता देते हैं और साहित्य के मूल में इन तीनों प्रवृत्तियों को रखते हैं, परन्तु उनका विशेष आग्रह फ्रायड की ही ओर है। उन्होंने राग द्वेषों का अधिकांशतः काम-चेतना के प्रोद्भास का संश्लिष्ट समूह माना है।[2] राग-द्वेषों को प्रगट करने की उत्कट लालसा से ही कृति का जन्म होता है क्योंकि उसमें ही अभाव की पूर्ति, परितृप्ति एवं शांति रहती है।

परन्तु यहाँ तक पश्चिम को आत्मसात करने के बाद भी डॉ० नगेन्द्र रसवाद के आग्रही बने रहते हैं। उन्होंने लिखा है–'मेरा विनम्र मत है–साहित्य का चरम मान रस ही है, जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि, सौन्दर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अन्तर मिट जाता है: अन्य कथित मान या तो रस के एकांगी व्याख्यायान है या फिर असाहित्यिक मान हैं जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है।'[3]

---

१. विचार और अनुभूति, पृ० ७०। २. वही, पृ० ११। ३. विचार और विश्लेषण, पृ० ३।

इस अवतरण से लेखक की सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। 'अन्य कथित मानों में वह केवल मनोवैज्ञानिक मानदण्डों को ही स्वीकार करता है, मार्क्सवाद अथवा साहित्य की समाज-मूलकता अथवा वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त उसे मान्य नहीं हैं। परन्तु उन्होंने समाज की एकदम उपेक्षा नहीं की है और रस-दृष्टि में नैतिक मूल्यों का समाहार माना है। 'निस्सन्देह रस को विस्तृति देकर और उसे जीवन से सम्पृक्त कर उन्होंने आज के युग की माँग को ही स्वीकार किया है। उनके शब्दों में—"रस की कल्पना वस्तुत: अत्यन्त व्यापक आधार पर की गयी है। आज की शब्दावली में उसका पुनराख्यान कर आधुनिक काव्यालोचन के सभी मान उसकी परिधि में आ जाते हैं। यूरोप के आधुनिक सौन्दर्यवादियों की भाँति वह जीवन से असम्पृक्त नहीं है—वह तो जीवन के स्थायी भावों पर ही मूलत: निर्भर है। नैतिक मूल्य भी अपने उदात्त रूप में रस में अन्तर्भूत हैं, क्योंकि रस-सिद्धान्त नीति-विरोधी नहीं है—नीति-विरोधी तत्त्वों को रसाभास रूप में अभिशंसित कर जीवन के स्वस्थ-नैतिक दृष्टिकोण का पोषण करता है।"[1] अपने 'रस-सिद्धान्त' ग्रन्थ के शक्ति और सीमा' अध्याय में उन्होंने रस सिद्धान्त की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता की स्थापना के लिए जो तर्क दिये हैं और जो विचार प्रगट किये हैं, वे उनकी इस मान्यता के अनुरूप ही हैं।

शुक्लोत्तर समीक्षा में डॉ० नगेन्द्र का विशेष स्थान रहेगा, क्योंकि उन्होंने व्यवस्थित रूप से शास्त्र-चर्चा की है और अपने अध्ययन एवं विश्लेषण से प्राचीन रस-दृष्टि को अतीव आधुनिकता प्रदान करने में सफलता प्राप्त की है। 'एक शास्त्रनिष्ठ आचार्य, समर्थ चिन्तक और रससिद्ध समीक्षक के रूप में आधुनिकों के बीच नगेन्द्र की कुछ उपलब्धियाँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, आचार्य शुक्ल से लेकर अपनी पीढ़ी तक के आलोचकों के बीच उन्होंने क्रोचे को सबसे अधिक अच्छी तरह समझा है और क्रोचे के मंतव्यों को सर्वाधिक संतुलित एवं सुलझे हुए ढंग से उपस्थित किया है। इसी तरह छायावाद के मूल्यांकन को उचित दिशा देने वाले आलोचकों में नन्ददुलारे वाजपेयी की तरह इनका भी महत्वपूर्ण स्थान है। तदनन्तर, नगेन्द्र ने सर्वप्रथम रस-सिद्धान्त की व्याख्या में आधुनिक मनोविज्ञान को अपेक्षित महत्व दिया है और कुछ दूर तक रसवाद का मनोवैज्ञानिक अर्थापन भी किया है। इस प्रकार आधुनिक काव्यालोचन की सिद्धान्त-संहिता को गढ़ने में इनका उल्लेखनीय योग है। इस दृष्टि से उनकी उपलब्धि का प्रकर्ष है—संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का उन्नयन। एक ओर इन्होंने हिन्दी काव्य-शास्त्र और हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के काव्य-शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन तथा गवेषणात्मक अनुशीलन की एक नयी दिशा का निर्देश कर भारतीय वैदुष्य के क्षेत्र में भावनात्मक

---

१. विचार और विश्लेषण, पृ० ३।

ऐक्य को स्थापित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है और दूसरी ओर अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन का लाभ उठाते हुए इन्होंने वैभवशाली संस्कृत साहित्यशास्त्र के रिक्थ का पूरा उपयोग किया है। अतः ये पौरस्त्य और पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र के प्रबुद्ध समवाय के रूप में आधुनिक हिन्दी आलोचना के समर्थ उन्नायक हैं।'[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में डॉ० नगेन्द्र के जिस कृतित्व की ओर ध्यान आकर्षित किया गया, वह निस्सन्देह ऐतिहासिक महत्व की वस्तु है। रसवाद की स्वदेशीयता में पश्चिम के आत्माभिव्यक्तिवाद, फ्रायडवाद, मानववाद, स्वच्छन्दतावाद, अभिव्यंजनावाद आदि सिद्धान्तों का आधुनिक समीक्षकों की चेतना में इतना संगम हो गया है कि ब्रह्मवाद की तरह उसने सब कुछ अपने भीतर समेट कर अद्वैत की स्थिति प्राप्त कर ली है। यह कहा जा सकता है कि आधुनिकों का यह प्रयत्न उसी प्रकार अतिवाद है, जिस प्रकार प्राचीन आचार्यों का किसी एक साहित्यिक अभिमत में सब कुछ समेट लेने का प्रयत्न। परन्तु इस प्रयत्न में ही आधुनिक साहित्यिक चिन्तन की प्रौढ़ता का भी परिचय मिलता है। इस प्रकार के प्रयत्न को सुरक्षात्मक भी कहा जा सकता है और आत्म-प्रसार का साधन भी। जो हो, यह स्पष्ट है कि आधुनिक चेतना को साहित्य और कला के जिस समन्वयी शीर्ष-बिन्दु से देखा जाता है, उसके निर्माण में डॉ नगेन्द्र का काम अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। वे स्वयं अपनी इस महत्ता से पूर्ण परिचित हैं। मानववाद के आधार पर रसवाद की व्याप्ति डॉ० नगेन्द्र की समीक्षात्मक चेतना का शीर्ष-बिन्दु है। 'रस-सिद्धान्त मानव-वाद के दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित है: यह मानव को उसकी देह और आत्मा, शक्ति और सीमा तथा समस्त राग-द्वेष के साथ स्वीकार करता है, इसलिए मानव के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के साथ इसका अभिन्न संबन्ध है। जिस प्रकार मानववाद मानव को अंतिम सत्य मानकर जीवन के विकास के साथ निरन्तर विकासशील है, उसी प्रकार मानव-संवेदना को चरम सत्य मान कर रस-सिद्धान्त भी निरन्तर विकासशील है। जैसे-जैसे जीवन की गतिविधि बदलती जाती है, वैसे-वैसे मानववाद की प्रकल्पना में संशोधन होता जाता है, ठीक इसी प्रकार जैसे-जैसे साहित्य की गतिविधि में परिवर्तन होता जाता है, वैसे-वैसे रस का स्वरूप भी व्यापक होता जाता है। जीवन की निरन्तर विकासशील धारणाओं और आवश्यकताओं का आकलन जिस प्रकार मानववाद में ही हो सकता है, इसी प्रकार साहित्य की विकासशील चेतना का परितोष भी रस-सिद्धान्त के द्वारा ही हो सकता है। जीवन की भूमिका में जब तक मानव-संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्भावना नहीं होती, तब तक रस-सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की प्रकल्पना

---

१ प्रो० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल एवं डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त (सं०) : 'हिन्दी आलोचना के आधार-स्तम्भ पृ० २०३४

भी नहीं की जा सकती।' यहाँ मानववाद को जिस व्यापक संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। उससे सम्भवतः सभी सहमत नहीं होंगे परन्तु उससे रसवाद के प्रति लेखक का आग्रह स्पष्ट हो जाता है।

डॉ० रामविलास शर्मा

डॉ० रामविलास शर्मा प्रगतिवादी आलोचक माने जाते हैं। उन्होंने अपनी सशक्त लेखनी से अनेक वाद-विवादों को जन्म दिया है और विरोधियों से डटकर मोर्चा लेते हुए अनेक भ्रांतियों का निराकरण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि वे मार्क्सवाद के पण्डित हैं और साहित्य में उसके वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को पल्लवित पाते हैं, परन्तु फिर भी वे साहित्य को राजनीति से स्वतंत्र एक परिपूर्ण सत्ता मानते हैं और उसके विकास-क्रम को जातीय इतिहास एवं संस्कृति के माध्यम से देखते हैं। उनकी इतिहास-दृष्टि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मान्यताओं से स्वतन्त्र भी हो सकती है। वे कृति और कृतिकार की अनन्यता और एकरूपता को अपना विवेच्य विषय मानते हैं और साहित्यिक शैलियों, भाषा के स्वरूपों तथा जातीय बोधों की परम्परा को अपने मूल्यांकन में प्रमुख स्थान देते हैं। भारतेन्दु, प्रेमचन्द, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और निराला उनकी समीक्षा के चार प्रमुख स्तम्भ हैं। ये ही उनके लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य के मानदण्ड हैं। प्राचीनों में उन्होंने तुलसीदास को केन्द्र में रखकर अपनी प्रगतिवादी विचारधारा को स्पष्ट किया है। यह कहा जा सकता है कि भाषा और साहित्य में जहाँ भी शक्ति, प्रेरणा, मौलिकता और सहृदयता के तत्व हैं, वहीं डॉ० शर्मा का श्रेष्ठतम प्रदेय भी है। वादीय भूमिका को स्वीकार करते हुए भी वे अपने व्यक्तित्व और सुरुचि के ही साथ है।

'भाषा और समाज' (१९६१) डॉ० शर्मा की सबसे महत्वपूर्ण कृति समझी जायेगी, जिसे उन्होंने बड़ी भावुकता से हिन्दी भाषा और साहित्य की अपराजेय शक्ति 'निराला' को ही समर्पित किया है। वस्तुतः यह कृति प्रथित ढंग की भाषा-विज्ञान की पुस्तक न होकर भारतीय सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का अन्तरंगी इतिहास प्रस्तुत करती है। लेखक की मान्यता है कि 'भाषा भी संस्कृति का अंग है। उसके विकास का अध्ययन उसे संस्कृति का अंग मानकर ही किया जा सकता है। कुछ लोग परिवर्तन को विकास का पर्याय मानते हैं, जो सही नहीं है। सामाजिक विकास बाह्य-अन्तर्विरोधों से होता है या समाज के अन्तर्विरोधों से। ये दोनों तरह के अन्तर्विरोध परस्पर मिलकर भी काम करते हैं। भाषा के रूप और उसकी विषय-वस्तु पर इनका प्रभाव पड़ता है।'[1] भाषा के सामाजिक विकास का जो खाका लेखक के मन में है, वह उसके वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है--'भाषा का अध्ययन उसकी ध्वनि-प्रकृति, भाव-प्रकृति और मूल शब्द-भण्डार

---

१ भाषा और समाज' भूमिका पृ० ११

को दृष्टि में रखकर करना चाहिए। आदिम साम्यवादी व्यवस्था से लेकर आधुनिक जातियों के निर्माण तक समाज के संगठन में, उसके ढाँचे में, वर्गों के परस्पर सम्बन्धों में, अन्य समाजों के संघर्ष या हेलमेल में जो परिवर्तन हुए, वे सब भाषा में प्रतिबिंबित होते हैं और उनका विकास निर्धारित करते है। प्राचीन जनों से लघुजातियाँ बनीं, लघु जातियों से महाजातियाँ बनीं। वितरण ने उत्पादन से कम महत्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं की। जनपदों पर परस्पर विनिमय की आवश्यकताओं से भाषाओं ने परिनिष्ठित रूप ग्रहण किया। आधुनिक जातियों के निर्माण-काल में नवीन सामाजिक आवश्यकताओं के साथ नये व्यापार-केन्द्रों से नयी भाषाएँ फैलीं और वे क्रमशः परिनिष्ठित हुईं।'[1] उनके विचारों की क्रांतिकारिता उनके इस वक्तव्य से स्पष्ट है-'आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाएँ संस्कृत के समानान्तर बोली जाने वाली भाषाओं से उत्पन्न हुई हैं, न कि वे संस्कृत का विकृत रूप हैं। इन भाषाओं के बोलने वालों का जातीय निर्माण भारत में ब्रिटिश राज्य कायम होने से पहले हुआ था। अपने प्रदेशों में इनका राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में व्यवहार होने पर भारत की अन्तर्जातीय भाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा होगी। हिन्दी-उर्दू, हिन्दी-भोजपुरी, हिन्दी-राजस्थानी आदि समस्याएँ जातीय निर्माण की प्रक्रिया समझने पर ही ठीक से हल की जा सकती हैं।'[2]

इन ग्रन्थ में विद्वान समीक्षक ने भाषा सम्बन्धी अनेक मूलबद्ध भ्रांतियों का निवारण किया है, जैसे—'भाषा के बारे में एक भ्रांति यह है कि वह केवल विचार प्रगट करती है। यह धारणा उतनी ही भ्रांति है, जितनी यह कि कलात्मक साहित्य केवल विचार-धारा को व्यंजित करने का साधन है। विचार का आधार क्या है? मनुष्य का इन्द्रिय-बोध, यह मूर्त भौतिक संसार जिसे मनुष्य अपनी इन्द्रियों से पहचानता है। जब तक मनुष्य संसार के मूर्त पदार्थों, क्रियाओं को नाम देता है, तब तक उसे विचार-क्रिया के लिए आधारभूत सामग्री ही प्राप्त नहीं होती। तुलसीदास के शब्दों में 'देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नामविहीना।' रूप नाम के अधीन होता है, नाम के बिना रूप का 'ज्ञान' होता है। यह रूप का ज्ञान सूक्ष्म चिन्तन नहीं है, वरन् वह गोचर आधार है, जिससे सूक्ष्म-चिन्तन सम्भव है।'[3] इसी प्रकार वह उन मार्क्सवादियों से भी सहमत नहीं हैं, जो भाषा और साहित्य को एकदम अर्थतंत्र से जोड़ते हैं। उन्होंने कहा है–'यह धारणा भ्रांत सिद्ध होती है कि समस्त संस्कृति अर्थ-तंत्र के आधार पर बनी हुई ऊपरी इमारत है, जो आधार के बदलने पर मूलतः बदल जाती है। उसके कुछ तत्व तेजी से बदलते हैं, जैसे मनुष्य का सौन्दर्य-बोध। इसलिए व्यवस्था बदलने पर

---

१. 'भाषा और समाज', भूमिका, पृ० ११-१२। २. वही, पृ० १२। ३. वही, पृ० ७ (भूमिका)।

भाषा में आमूल परिवर्तन न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्स-वादी राजनीति के विद्वान होते हुए भी डॉ० शर्मा एकदम सिद्धान्तवादी नहीं है।[1] उनके साहित्यिक परम्परा के प्रकाण्ड ज्ञान और परिष्कृत सौन्दर्य-बोध ने अपने लिए स्वतन्त्र मार्ग निकाल लिया है। तभी तो उनकी मान्यता है कि 'सामाजिक परिस्थितियाँ चिन्तन की सीमाएँ निश्चित करती हैं, लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परि-स्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता।'[2]

अपने विवेचन का आरम्भ 'भाषा और समाज' से इसलिए किया है कि वहाँ डॉ० शर्मा को अपने स्वतंत्र विचारों के आरोप को इतनी गुञ्जाइश नहीं थी, जितनी साहित्य-समीक्षा में। उनकी मौलिक चिन्तना-शक्ति का सर्वश्रेष्ठ प्रतिमान हमें यहीं मिलेगा। परन्तु 'संस्कृति और साहित्य', प्रगति और परम्परा', 'लोक-जीवन और साहित्य', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', 'भाषा, साहित्य और संस्कृति', 'स्वाधी-नता और राष्ट्रीय साहित्य' नामक उनके ग्रंथों में सब मिलाकर ३०० से अधिक निबन्धों और लेखों का संकलन है, जो उनके समर्थ समीक्षक व्यक्तित्व के प्रमाण हैं। इन निबन्धों के अध्ययन से हमें लेखक के सशक्त और प्राणवान व्यक्तित्व का पता चलता है।

'भारतेन्दु', 'निराला', प्रेमचन्द और शुक्ल जी पर लिखी विस्तृत समीक्षात्मक पुस्तकों को यदि हम छोड़ भी दें, जो व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्ध रखती हैं तो भी हमें निबन्धों के आधार पर ही डॉ० शर्मा की व्यावहारिक समीक्षा-दृष्टि और समर्थ अभिव्यंजना-शैली के मूल्यांकन में कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी। अपने निबन्ध-साहित्य के द्वारा उन्होंने पूँजीवाद-विरोधी मोर्चा खड़ा कर वर्ग-संघर्षमूलक साहित्यिक चेतना की ओर हमारे चिन्तन को मोड़ा और उस जनशक्ति से समसामयिकों को परिचित कराया, जो कला और साहित्य में अनेक रूपों में प्रतिफलित होती हैं। सामाजिक विकास-क्रम को द्वन्द्वमूलक प्रक्रिया मानकर यह साहित्य में जागरूक प्रगतिशील परम्परा की बात उठाते हैं।

'अज्ञेय'

'अज्ञेय' की समीक्षात्मक विचारधारा का पहला सुश्रृंखलित रूप हमें 'त्रिशंकु' (१६५५) के निबन्धों में मिलता है। इस संग्रह की पाण्डुलिपि १६४१ में ही तैयार हो चुकी थी और सम्भवतः निबन्धों का लेखन-काल ३६-४१ के लगभग रखा जा सकता है। इस संकलन में हमें नए समीक्षात्मक मानदण्डों के निर्माण की चेष्टा जान पड़ती है और इसमें टी० एस० इलियट के काव्य-सिद्धांतों का प्रमुख हाथ है। संग्रह का एक

---

१. 'भाषा और समाज', पृ० ४७०-४७१। २. वही, पृ० ५१५।

निबन्ध इलियट के 'ट्रेडीशन एण्ड द इंडिवीजुअल टेलेन्ट' (१६१६) निबन्ध का हिन्दी छायानुवाद है। एक अन्य निबन्ध अथवा वार्ता 'केशव की कविताई' में केशव की कविता के प्रति और 'वागर्थप्रतिपत्तये' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने इलियट की भावधारा का ही प्रतिनिधित्व किया है।

सबसे पहले जो बात स्पष्ट रूप से सामने आती है वह यह कि अज्ञेय साहित्य या काव्य को सांस्कृतिक और सामाजिक परिपार्श्व में रखकर देखना चाहते हैं और छायावादियों अथवा रोमांटिकों की भाँति उसे कवि के व्यक्तित्व मात्र तक सीमित नहीं करते। वे पूछते हैं—'क्या मैं स्वांतःसुखाय लिखता हूँ?' और उत्तर देते हैं—'कोई भी कवि केवल मात्र स्वांतःसुखाय लिखता है, या लिख सकता है, यह स्वीकार करने में मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है। अन्य मानवों की भाँति अहं मुझमें भी मुखर है, और आत्माभिव्यक्ति का महत्व मेरे लिए भी किसी से कम नहीं है। पर क्या आत्माभिव्यक्ति अपने आपमें सम्पूर्ण है। अपनी अभिव्यक्ति, किन्तु किस पर अभिव्यक्ति। इसीलिए अभिव्यक्ति में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ और इसके परिणाम-स्वरूप जो दायित्व लेखक या कवि या कलाकार पर आता है, उससे कोई निस्तार मुझे नहीं दीखा?...जिन्हें बाल की खाल निकालने की रुचि हो, वे कह सकते हैं कि यह ग्राहक या पाठक कवि के बाहर क्यों हो? क्यों न उसी के व्यक्तित्व का एक अंश दूसरे अंश के लिए लिखे? अहं का ऐसा विभागीकरण अनर्थहेतुक हो सकता है, किन्तु यदि इस तर्क को मान भी लिया जाय तो भी यह स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति किसी के प्रति है और किसी की ग्राहक (या आलोचक) बुद्धि के आगे उत्तरदायी है। जो व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड लिख रहा है और जो व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड सुख पा रहा है, वे हैं फिर भी पृथक्। भाषा उनके व्यवहार का माध्यम है, और उसकी माध्यमिकता इसी में है कि वह एक से अधिक को बोधगम्य हो, अन्यथा वह भाषा नहीं है।'[1]

जहाँ कवि अपने से बाहर निकल कर अन्य व्यक्ति (पाठक) के प्रति बोधमय होना चाहता है, वहाँ भाषा की समस्या अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। छायावादी कवियों के लिए यह समस्या थी ही नहीं, वे भाव में डूबना ही प्रभाव की सार्थकता मानते थे। पाठक चाहे तो उनसे छिपकर उनके भावों का रसास्वादन कर ले,- वह संपूर्णतः उसका आस्वादन नहीं कर सकेगा,—उसे अधिकारी बनना पड़ेगा। उसके लिए अनुभूति की साधना आवश्यक है जिसे अंग्रेजी में 'ट्रेनिंग ऑफ़ सेन्सिबिलटी' कहा जाता है: परन्तु नये कवि को पाठक के प्रति अपने उत्तर-दायित्व को पहचानना होगा और अपनी सांस्कारिकता एवं अनुभूति के प्रति भी सच्चा होना होगा। अज्ञेय के शब्दों में

---

१. वागर्थप्रतिपत्तये, पृ० १९५-१६।

'जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी पूर्णता में पहुँचाया जाय, यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।'[1]

परन्तु आज कठिनाई यह है कि पाठक के सम्बन्ध में एक निश्चित इकाई की भावना करना कठिन है। 'एक समय था जब कि काव्य एक छोटे से समाज की थाती था। उस समाज के सभी सदस्यों का जीवन एकरूप होता था, अतः उनकी विचार-सयोजनाओं के सूत्र भी बहुत कुछ मिलते-जुलते थे। कोई एक शब्द उनके मन में प्राय. समान चित्र या विचार या भाव उत्पन्न करता था। इसका एक सकेत इसी बात मे मिलता है कि आचार्यों ने काव्यविषय का वर्गीकरण संभव पाया और कवि को मार्ग-दशन करने के लिए बता सके कि अमुक प्रसंग में अमुक-अमुक वस्तुओं का वर्णन या चित्रण करने से सफलता मिल सकेगी। आज यह बात सच नहीं रही। आज काव्य के पाठकों की जीवन-परिपाटियों में घोर वैषम्य हो सकता है। एक ही सामाजिक स्तर के दो पाठकों की जीवन-परिपाटियाँ इतनी भिन्न हो सकती हैं कि उनकी विचार-संयोजनाओ मे समानता हो ही नहीं सकती, ऐसे शब्द बहुत कम हों जिनसे दोनों के मन में एक ही चित्र या भाव उदित हों। यह आज के कवि की सबसे बड़ी समस्या है। यों समस्याएँ अनेक है—काव्य-विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, संवेदना के पुनः संस्कार की, आदि—किन्तु उन सबका स्थान इसके पीछे है, क्योंकि यह कवि-कर्म की ही मौलिक समस्या हैं, साधारणीकरण और निवेदन की समस्या है। और कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करनेवाली सबसे बड़ी शक्ति यही है। कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है, शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते है, परन्तु उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है, या कुछ भिन्न पाता है।'[2]

ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि अज्ञेय भाषा को नये काव्य-संस्कार का बहुत बड़ा तत्व समझते हैं और उनके 'प्रयोग' केवल मात्र प्रयोग के लिए नहीं हैं। वह नये समाज और नई बनती हुई संस्कृति को वाणी देना चाहते हैं। वह अवश्य जानते है कि यह संस्कृति समस्त देश की संस्कृति न होकर एकवर्गीय संस्कृति बन गई है। नए संवेदनों की अभिव्यक्ति के लिए नई भाषा, नए प्रतीक, नई शैली चाहिए। स्वय अज्ञेय के काव्य-प्रयोग और काव्य-चिन्तन को हमें इसी पृष्ठभूमि में देखना होगा। 'सस्कृति और परिस्थिति' निबंध में लेखक कहता है—'पुराने सामाजिक संगठन के टूटने से उसकी सजीव संस्कृति और परम्परा मिट गई है। हमारे जीवन में से लोक-गीत, लोकनृत्य, फूस के छप्पर और दस्तकारियाँ क्रमशः निकल गई हैं और निक-

---

१ वागयप्रतिनसये पृ० ११५ २ वही पृ० ११४ १५

लती जा रही हैं और उनके साथ ही निकलती जा रही है। वह चीज जिसके ये केवल एक चिन्ह मात्र हैं: जीवन की कला, जीने का एक व्यवस्थित ढंग जिसके अपने रीति-व्यवहार और अपनी ऋतुचर्या थी। ऐसी ऋतुचर्या, जिसकी बुनियाद जाति के चिर-संचित अनुभव पर कायम हो। बात केवल इतनी नहीं है कि हमारा जीवन देहाती न रह कर शहरी हो गया है, अब उसका संगठन ही नष्ट हो गया है। उसे ऐक्य में बाँधने वाला कोई सूत्र नहीं है।'[1] इस निबन्ध के अन्त में लेखक ने त्राण का उपाय भी सुझाया है जिससे साहित्य और कला का निष्प्राण होता हुआ चमत्कार पुनर्जीवित हो सकता है और पतन और निराशा से बच कर हम उससे मुकाबले की शक्ति उत्पन्न कर सकते हैं। यह त्राण है शिक्षा : शिक्षा जो निरी साक्षरता नहीं, निरी जानकारी नहीं, जो व्यक्ति की प्रसुप्त मानसिक शक्तियों का स्फुरण है।... . जरूरत है रुचि-संस्कार की, परख की, ट्रेनिंग की। बिना गहरी और विस्तृत अनुभूति के संस्कृति नहीं है, और बिना वैज्ञानिक, आलोचनामूलक ट्रेनिंग की सी अनुभूति नहीं है। महान ट्रेजेडी के दिव्य और शोधक प्रभाव के आस्वादन के लिए, वीर काव्य के गरुड़ की उड़ान की चपेट सहने के लिए, लय और सौन्दर्य में डूबने के लिए, अपने भीतर नीर-क्षीर-विवेचन की प्रतिमा पैदा करने के लिए, मानसिक शिक्षण नितांत आवश्यक बल्कि अनिवार्य है। इसके लिए अथक परिश्रम, विचार और एकाग्रता की जरूरत है।'[2] 'चेतना का संसार' निबन्ध में लेखक ने अपने इस दृष्टिकोण को विशदता से स्पष्ट किया है। इस निबन्ध के अन्त में लेखक की स्थापना है—'विकास की अगली सीढ़ी मानवीय चेतना का ही नूतन संस्कार है। यदि यह स्थापना ठीक है तो तात्कालिक समस्या है संस्कृति की, जीवन के मानों के पुनःमापन की, क्योंकि चेतना का संसार इसी मार्ग से हो सकता है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि अज्ञेय ने साहित्य और काव्य के प्रश्नों को संस्कृति से अविच्छिन्न रूप से जोड़ दिया है।

काव्य के सम्बन्ध में लेखक ने कुछ विस्तार से विचार किया है:—

(१) कविता ही कवि का परम वक्तव्य है।[3]

(२) कवि का काव्य ही उसकी आत्मा का सत्य है। यह भी कहना ठीक होगा कि वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है, और जितना ही व्यापक है, उतना ही काव्योत्कर्ष-कारी है। किन्तु यदि हम यह मान लेते हैं, तब हम 'व्यक्ति-सत्य' की दो पराकाष्ठाओं के बीच में कई स्तरों की उद्भावना करते हैं, और कवि इन स्तरों में से किसी पर भी हो सकता है।[4]

---

१. संस्कृति और परिस्थिति, पृ० १३-१४। २. वही, पृ० २२। ३. वाग-र्थप्रतिपत्तये, पृ० ११४। ४. वही।

(३) Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality.—T.S.Eliot.

(कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, बल्कि भावों की मुक्ति है। वह व्यक्तित्व की अभि-व्यंजना नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से छुटकारा पाने का प्रयास है)

(४) कवि-मानस (भी) किन्हीं विभिन्न अनुभूतियों पर असर डाल कर उसके मिश्रण और संगम का माध्यम बनता है। उस संगम से एक कलावस्तु निर्मित होती है, जो विभिन्न तत्वो का जोड़ भर नहीं, उससे कुछ अधिक है, एक आत्यतिक एकता रखती है, जो बिना कवि-मानस के अस्तित्व नहीं प्राप्त कर सकती थी। ध्यान रहे कि यद्यपि कवि-मानस ही इस संयोग से चमत्कार उत्पन्न करता है, और इस क्रिया में भाग लेने वाले तत्व कुछ अनुभूतियाँ हैं, जो कवि के अपने जीवन के घटित से भी अपनी हो सकती है, तथापि कला-वस्तु का निर्माण निरी निजी अनुभूति से नहीं होता। कलावस्तु बनती है उन अनुभूतियों से, उन अनुभूतियों और भावों के संगम से, जिन पर उसका मन काम कर रहा हो।[1] कलाकार जितना बड़ा होगा, उतना ही व्यक्ति-जीवन और रचनाशील मन का यह अलगाव भी आत्यंतिक होगा। उतना ही रचना करनेवाला कवि-मानस अनुभव करने वाले मानस से दूर होगा, जो कविता-रूपी प्रतिमा की मिट्टी है, फिर चाहे ये अनु-भूतियाँ और भाव कवि के निजी अनुभव के, व्यक्तिगत जीवन के फल क्यों न हों। यों कहे कि जितना ही महान कलाकार होगा, उतनी ही उसकी माध्यमिकता परिष्कृत होगी।[2]

(५) जिस मिट्टी से काव्यरूपी प्रतिमा बनती है, जिन तत्वों द्वारा कवि-मानस का असर एक चमत्कारिक योग उत्पन्न करता है, वे तत्व क्या हैं। उन्हें दो श्रेणियो में बाँटा जा सकता है: स्थायी भाव और संचारी भाव। कवि इनसे जो चमत्कार उत्पन्न करता है, पाठक के मन पर जो प्रभाव डालता है, वह कला के क्षेत्र से बाहर कहीं किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकता। कला का 'रस' कला में ही प्राप्तव्य है। उस अनुभूति की कला के बाहर की किसी अनुभूति से तुलना नहीं की जा सकती। यह अनुभूति एक ही भाव के द्वारा उत्पन्न हो सकती है या अनेक भावों के सम्मिश्रण से या भावों और अनुभूतियों के संयोग से, और यह अनुभूति उत्पन्न करने के लिए कवि कई प्रकार के साधन काम में ला सकता है, कई प्रकार के चित्र खड़े कर सकता है। इस सृष्टि के साधन अनेक और उलझे हुए होते हैं, पर उन साधनों द्वारा उत्पन्न होने वाले चमत्कार मे एक आत्यंतिक एकता रहती है। वास्तव में कलाकार का मन एक भंडार है, जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ, शब्द, विचार, चित्र इकट्ठे होते रहते हैं, उस क्षण की

१. रूढ़ि और मौलिकता, पृ० ३६-३७। २. वही, पृ० ३८।

प्रतीक्षा में जब कि कवि-प्रतिभा के ताप से एक नया रसायन, एक चमत्कारिक योग उत्पन्न नहीं हो जायगा।[1]

(६) कविता की, कलावस्तु की श्रेष्ठता उसमें वर्णित विषय की या भाव की श्रेष्ठता या 'भव्यता' में नहीं है, और लेखक के लिए उन विषयों या भावों के महत्व में, या उसके जीवन में उनकी व्यक्तिगत अनुभूति में तो बिल्कुल नहीं है। कविता का, कलावस्तु का, गौरव उसकी 'भव्यता' है उस रासायनिक क्रिया की तीव्रता में, जिसके द्वारा ये विभिन्न भाव एक होते हैं और चमत्कार उत्पन्न करते हैं। कविता की,—काव्यानुभूति की,—तीव्रता और कविता में वर्णित अनुभूति की तीव्रता, परस्पर न केवल भिन्न हो सकती है, बल्कि अनिवार्य रूप से होती है। कला के भावों और व्यक्तिगत भावों का पार्थक्य अनिवार्य है। पाठक के लिए कवि या साहित्यकार का महत्व उसकी निजी भावनाओं के कारण, उसके अपने जीवन के अनुभवों से पैदा हुए भावों के कारण नहीं है। यह दूसरी बात है कि काव्य-रचना की क्रिया में अन्य भावों और अनुभूतियों के साथ, उसके अपने भाव और अनुभूतियाँ भी एक इकाई में ढल जाएँ,—या कि केवल अपने भाव और अनुभूतियाँ ही उस क्रिया में उपकरण बनें। रचयिता का महत्व रचना करने की क्रिया की तीव्रता में है।...वास्तव में काव्य में कवि का व्यक्तित्व नहीं, वह माध्यम प्रकाशित होता है जिसमें विभिन्न अनुभूतियाँ और भावनाएँ चमत्कारित योग में युक्त होती हैं। काव्य एक व्यक्तित्व की नहीं, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है।' स्पष्ट ही यह काव्य की निर्वैयक्तिक परिभाषा है।[2]

(७) कवि का कार्य नये अनुभवों की, नये भावों की खोज नहीं है, प्रत्युत पुराने और परिचित भावों के उपकरण से ही ऐसी नूतन अनुभूतियों की सृष्टि करना जो उन भावों से पहले प्राप्त नहीं की जा चुकी हैं। वह नई वस्तुओं का शोधक नहीं है, हमारी जानी हुई धातुओं से ही नया योग ढालने में और उससे नया चमत्कार उत्पन्न करने में उसकी सफलता और महानता है।[3]

(८) इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कलावस्तु के निर्माण में चेष्टित अथवा आयाससिद्ध कुछ भी नहीं है। निःसन्देह कवि का बहुत बड़ा अंश चेष्टित है, आयाससिद्ध होने वाला है, किन्तु वह अंश उपर्युक्त क्रिया की तीव्रता से सम्बन्ध नहीं रखता।[4]

(९) काव्य के लिए महत्व रखने वाले भावों का अस्तित्व कवि के जीवन या व्यक्तित्व में नहीं, स्वयं कवि में होता है। व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति प्रत्येक पाठक समझ सकता है, 'टेकनीक' की खूबियाँ भी अनेक पहचान सकते है, जब कि काव्य के

---

१. रूढ़ि और मौलिकता, पृ० ३८। २. वही, पृ० ३९। ३. वहीं, पृ० ३९। ४. वहीं, पृ० ३९।

निर्वैयक्तिक भाव परखने वाले व्यक्ति थोड़े ही होंगे,—यह कहने से उपर्युक्त स्थापना खण्डित नहीं होती है। कला के भाव व्यक्तित्व से परे होते हैं, निर्वैयक्तिक होते हैं और कवि इन निर्वैयक्तिक भावों का ग्रहण और आयासहीन अभिव्यंजन तभी कर सकता है जब वह व्यक्तित्व की परिधि से निकलकर एक महानतर अस्तित्व के प्रति अपने को समर्पित कर सके, अर्थात् जब उसका जीवन वर्तमान क्षण ही में परिमित न रहकर अतीत की परम्परा के वर्तमान क्षण में भी स्पन्दित हो, जब उसकी अभिव्यक्ति केवल उसी की अभिव्यक्ति में न हो, जो जी रहा है, बल्कि उसकी भी जो पहले में जीवित है। कवि का जीवन आज में बद्ध नहीं है, वह त्रिकालजीवी है।[1]

(१०) काव्य का 'रस' कवि में या कवि के जीवन में या वर्ण्य विषय अथवा अनुभूति में या किसी शब्द-विशेष में नहीं है, वह काव्य-रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है।[2]

ऊपर काव्य के सम्बन्ध में लेखक के जो विचार उद्धृत किए गए हैं उनसे हमें निम्नलिखित धारणाओं की प्राप्ति होती है :

(१) कविता भावोन्मुक्ति नहीं, भावोच्छ्वास मात्र नहीं, भावसंयम है। कवि प्रबुद्ध प्राणी है। इसलिए वह भावों के संस्कार के द्वारा अपने वक्तव्य को और भी प्रभावशाली बना लेता है।

(२) कविता निर्वैयक्तिक है। 'रूढ़ि और परम्परा' लेख के आरंभ में उद्धृत टी० एस० इलियट की इन पंक्तियों से अज्ञेय के दृष्टिकोण की तुलना की जा सकती है : The more perfect the artist, the more completely seperate in him will be the man who suffers and the mind which creates. (T: S. Eliot).

(३) काव्यानुभूति की मौलिकता नहीं, उसकी तीव्रता ही लेखक का लक्ष्य है। फलतः काव्य-विषय और कवि की व्यक्तिगत अनुभूति के तत्व उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं, जितने अभिव्यक्ति के तत्व जो काव्यानुभूति की तीव्रता की व्यंजना करते हैं। इसीलिए काव्य में 'टेकनीक' का महत्व है। 'वागर्थप्रतिपत्तये' शीर्षक अपने लेख के पृष्ठ ११५ पर लेखक ने आधुनिक काव्य के शैलीगत प्रयोगों पर विचार किया है।

(४) कवि काव्य में विषय, अनुभूति और अभिव्यंजना की परंपरा का भी निर्वाह करता है। 'चार नाटक' शीर्षक टिप्पणी में अज्ञेय टी० एस० इलिएट के ऐतिहासिक चेतना के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप में उल्लिखित करते हैं।

---

१. रूढ़ि और मौलिकता, पृ० ४०। २. वही, पृ० ४१।

The poet must live in what is not merely the present, but the present moment of the past; be conscious, not of what is dead, but of what is already living. पुराने और परिचित भावों के उपकरण (स्थायी भावो और संचारी भावों) में ही वह नूतन अनुभूतियों के योगायोग से अपनी अभिनव सृष्टि का निर्माण करता है।

(५) काव्य का जो अंश आयाससिद्ध है, वह अनुभूति की तीव्रता से सम्बन्ध नहीं रखता। काव्य-विवेचन में यह अंश गौण रूप से ही महत्वपूर्ण है। इससे उपचेतन की प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि उसी के द्वारा कवि को भावों की तीव्रता प्राप्त होती है और उसकी अनुभूति को अपनापन मिलता है।

(६) काव्य-संवेदना का कवि के जीवन, व्यक्तित्व और अनुभूति से स्वतन्त्र और निजी स्थान है और इस संवेदन की सत्यता और तीव्रता में ही काव्य की मार्मिकता अन्तर्हित रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काव्य-दृष्टि में छायावादी काव्य-दृष्टि का पर्याप्त विरोध है। यह काव्य-दृष्टि असंदिग्ध रूप से बौद्धिक है और कविता को निर्वैय-क्तिक मानकर अभिव्यंजना के तत्वों (साधारणीकरण) और निवेदन (कम्यूनिकेशन) पर अधिक बल दिया गया है। यहीं से 'टेकनिक' (प्रयोग) की प्रधानता हो जाती है। यद्यपि ये प्रयोग केवल मात्र प्रयोग के लिए नहीं हैं, अनुभूति की तीव्रता और सच्चाई की दृष्टि से ही प्रयोग वांछनीय हैं, परन्तु यही तत्व पाठकों के दृष्टिक्षेत्र में पहले आता है। फलत: नये काव्य के एक बड़े अंश को 'प्रयोगवादी काव्य' कह दिया गया है। बुद्धिवादी होने के नाते अज्ञेय काव्य में एक बड़े अंश तक चेष्टा या आयास को स्वीकार तो कर लेते है, परन्तु अंतश्चेतनावादी और प्रतीकवादी होने के कारण वे यह स्पष्ट कह देते हैं कि यह आयाससिद्ध या चेष्टित अंश अनुभूति की तीव्रता से सम्बन्ध नहीं रखता। अनुभूति की तीव्रता को वे काव्य में जितना महत्व देते हैं, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्य में बौद्धिक तत्वों से अधिक महत्व उन तत्वों को देते है जो बौद्धिक नहीं हैं। स्पष्टत: ये तत्व उपचेतन तत्वों से अथवा मन की उपचेतन क्रिया से सम्बन्धित हैं। छायावादी काव्य-दृष्टि में कवि के जीवन, व्यक्तित्व और अनुभूति की प्रधानता थी। प्रतिक्रियामूलक होने के कारण प्रयोगवादी काव्य-दृष्टि उन्हें अस्वीकार कर देती है, यद्यपि प्रतीकवाद और अवचेतनवाद का समर्थन जीवन, व्यक्तित्व और अनुभूति की विशिष्टता से ही सम्भव है। यहाँ प्रयोगवाद छायावाद की प्रतीक-परम्परा का समर्थन करता हुआ उसे अपनी काव्य-दृष्टि का एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक अंग बना लेता है।

अज्ञेय के काव्य को 'प्रयोगवादी' कहकर उन्हें लांछित किया गया है और 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में उन्होंने इस 'लेबिल' के प्रति आक्रोश भी प्रगट किया है।

उनका कहना है : 'प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं, यद्यपि किसी काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी छुआ नहीं गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है। भाषा को अपर्याप्त पा कर विराम-संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से, –सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके। पूरी सफलता उसे नहीं मिली, –जहाँ वह पाठक के विचार-संयोजक-सूत्रों को नहीं छू सका, वहाँ उसे पागल-प्रलापी समझा गया या अर्थ का अनर्थ पा लिया गया। बहुत से लोग इस बात को भूल गये कि कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है,— भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है, -और अहंकार के कारण नहीं, इसी-लिए कि भीतर उसकी इतनी गहरी माँग स्पन्दित है,–इसलिए कि वह 'व्यक्ति-सत्य' को 'व्यापक सत्य' बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है, पर देखता है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन के ज्वालामुखी से बह कर आते हुए लावे से ही भर कर और जम कर रुद्ध हो गई हैं, प्राण-संचार का मार्ग उनमे नहीं है।'[1]

परन्तु प्रयोगवादियों का प्रयोग केवल छन्द-विधान और भाषा-शैली-गत प्रयोगों तक ही नहीं पाया जाता, वह संस्कृति और साहित्य से भी अपने प्रयोगवादी सूत्र ग्रहण कर लेता है। ऐतिहासिक चेतना के आग्रह के कारण नया कवि प्राचीन काव्यसम्पदा को आत्मसात करके ही आगे बढ़ता है और उसके काव्य में पूर्ववर्ती काव्य की ध्वनियाँ-प्रतिध्वनियाँ इतनी अधिक (कहीं प्रच्छन्न, कहीं अप्रगट) होती हैं कि काव्य पांडित्य की वस्तु हो जाता है, उसके लिए रुचि-संस्कार और विस्तृत काव्यज्ञान की आवश्यकता होती है। इसी ऐतिहासिक दृष्टिकोण के कारण पुराण और संस्कृति उसकी काव्य-संवेदना के अनिवार्य अंग बन जाते हैं। 'पुराण और संस्कृति' लेख के अन्त में अज्ञेय का कथन है : 'आज के भारतीयों को तो उपर्युक्त दृष्टिकोण का औचित्य और भी आसानी से स्वीकार कर सकना चाहिए, क्योंकि आज वे पुरातत्व, नृतत्व, समाज-शास्त्र और मनो-विज्ञान के नये आविष्कारों से भी लाभ उठा सकते हैं। उन्हें तो आसानी से यह समझ सकना चाहिए कि किसी भी देश के जीवन के रहस्य तक पहुँचने के लिए उसका पुराण-

१. वागर्थप्रतिपत्तये, पृ० ११५।

साहित्य ही सबसे अच्छी कुन्जी है, कि उसी में समष्टिगत आदर्शों और जातिगत आकांक्षाओं के वे स्वप्नचित्र मिल सकते हैं, जिनका विभिन्न व्यक्ति अपनी रुचि, दीक्षा, योग्यता और संस्कारों के आधार पर परिष्कार करते हैं। पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिसमें से जीवन की बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है।'[1]

: २ :

प्रगतिवादियों की भाँति अज्ञेय राजनैतिक चेतना को अधिक महत्व नहीं देते। वह यह अवश्य मानते हैं कि 'साहित्य और राजनीति का असर एक दूसरे पर होने से रोका भी नहीं जा सकता,—चाहे राजनीति का युग हो, चाहे साहित्य का।'[2] परन्तु वह राजनीति से, साहित्य से, अभिव्यंजना के बीसियों प्रकारों से, अधिक स्थायी चीज मानते हैं सृजन करने की शक्ति को।[3] इस प्रकार राजनीति का कोई 'वाद' नहीं बनाया जा सकता। उसे सृजनशक्ति की प्रेरणा या सहायक शक्ति के रूप में ही देखा जा सकता है।

'प्रगति' शब्द से भी अज्ञेय का विरोध है। उनका कहना है कि 'कला' संघर्ष है। अतः कलाकार अनिवार्य रूप से गति-प्राण है, उसमें एक बलवती प्रेरणा काम कर रही है जो उसे स्थिर नहीं होने देती और जिसके दबाव के कारण वह किसी प्रकार के सामंजस्य की ओर बढ़ता है।'[4] अज्ञेय प्रगति के प्रश्न और मौलिक दृष्टि से देखते हुए उसके दो रूपों पर विचार करते हैं—

१—जिस साहित्य से प्रगति पैदा हो।

२—जो स्वयं प्रगतिशील साहित्य होने के नाते प्रगति पैदा करेगा। पहले में निर्माता की धारणा साथ है, वह सोद्देश्य है। दूसरे में लक्ष्य साहित्य है, प्रगति अनिवार्य रूप से उसके साथ आनी लाज़िमी है। दूसरे प्रकार के साहित्य से उनका कोई विरोध नहीं है। परन्तु क्रांति का दावेदार साहित्य (जैसा 'प्रगतिवादी' मानते हैं) उन्हें मान्य नहीं है। वे साहित्य को हँसिए-हथौड़े की तरह उपयोग में लाने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि 'साहित्यकार के लिए प्रगतिशीलता का कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि वह अनुभूति और परिस्थिति में कार्य-कारण-परम्परा जोड़ने की वृत्ति लेकर चले।'[5]

प्रगतिवादियों का आग्रह है कि साहित्य जनता के लिए होना चाहिए। वे कलाकार को जीवन के प्रति उत्तरदायी बनाना चाहते हैं। प्रगतिशील साहित्य वही है

१. त्रिशंकु, पृ० ४५। २. संक्रांति-काल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ, पृ० ७४। ३. संक्रांति-काल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ, पृ० ७५। ४. वही, पृ० ७६। ५. वही, पृ० ७८।

जो उत्पीड़ितों का साहित्य है और उन्हें उठाने की शक्ति देता है। अज्ञेय का कहना है कि इस दृष्टिकोण से साहित्य का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। 'संसार की अनुभूतियाँ और घटनाएँ साहित्यकार के लिए मिट्टी हैं जिनसे वह प्रतिमा बनाता है। वह निरी सामग्री है, उपकरण है। वह कलाकार को बाँध नहीं सकती, कलाकार उसका मनमाना उपयोग कर सकता है। कलाकार को अमीर और गरीब, सुखी और दुखी, पीड़ित और पीड़क दोनों के बारे में लिखने का समान अधिकार है, यदि वह अपनी कला को अक्षुण्ण रखता है फिर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि दुःखी और सुखी की कोई आत्यंतिक श्रेणियाँ तो जीवन में हैं ही नहीं। दुःख अपूर्णता, पीड़ा-ये सर्वव्यापी हैं। गरीबों ने इनका ठेका नहीं लिया है, इसे वे भी मानेंगे जो स्वयं गरीब हैं और सुख और सन्तोष भी वर्गभेद नहीं देखते। तब कैसे एक वर्ग का सुख-दुःख दूसरे वर्ग के सुख-दुख से अधिक वर्णनीय माना जाय। क्यों न हम दोनों वर्गों से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानवता के गान गाएँ। माना कि आज संसार का अधिकांश प्रपीड़ित और निर्धन है, किन्तु क्या इसीलिए उनसे सहानुभूति करते समय हम अवश्यमेव और सब तरफ से अपनी सहानुभूति खींच लें। क्या कलाकार की अनुभूति इतनी व्यापक, और साथ ही इतनी असंलग्न, अनासक्त, आब्जेक्टिव नहीं हो सकती कि दोनों पक्षों को उनका उचित स्थान दे सके।[1] यह दृष्टिकोण प्रगतिवादी माने जाने वाले कलाकारों के दृष्टिकोण से भिन्न है जो वर्ग-संघर्ष को अपने साहित्य का आधार मानते हैं और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को काव्य-साहित्य में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। उनके लिए सुविधाप्राप्त वर्गों का साहित्य बुर्जुआ-साहित्य है और वह मनुष्य (जनता) की जीवन-शक्ति को कुंठित करता है। अपने विवेचन में लेखक तीन स्थापनाओं को सामने लाता है :

(१) कला की सामग्री को सीमित करना अनधिकार चेष्टा है। (२) परिस्थितियों को ध्यान में रखकर हम जैसी प्रेरणा चाहते हैं, वह यदि साहित्यकार में स्वभावतया नहीं है, तो हम बलात् उसे पैदा नहीं कर सकते। (३) साहित्य में प्रेरक शक्ति हो सकती है, किन्तु वह साहित्यकार की आंतरिकक्षमता का स्वयंभूत फल है।[2]

क्यों हमारा साहित्य जनता का साहित्य नहीं कहा जा सकता, इस सम्बन्ध में अज्ञेय का कहना है : 'हमारे प्रायः सभी लेखक एक छोटे-से प्रबुद्ध वर्ग के प्राणी हैं जो जनता से अपना कोई सम्बन्ध नहीं जानता, जिसके विचार, मनोगतियाँ, संस्कार, सभी प्रतिकूल हैं। जनता के लिए 'वह लिखेगा जो उससे भावसाम्य का अनुभव करे, जो जाने कि उसकी जड़ें भी उस विराट् जनता-जनार्दन की पीठिका से ही निकली हैं,

१. त्रिशंकु, पृ० ६८-६९। २. वहीं, पृ० ७०

जो उन जड़ों में जन-जीवन के रस का स्पन्दन अनुभव करे। ऐसे लेखक हममें हैं कितने, और आएं कहाँ से, जब तक यह वर्णभेद, यह शिक्षा-भेद, यह परिस्थिति-भेद और इन सबसे उत्पन्न हुई मानसिक रूढ़ियाँ नहीं हटती।[1]

: ३ :

छायावाद काव्य को अज्ञेय अधिकांश में अतृप्ति का, लालसा का, इच्छित विश्वास (विशफुल थिंकिंग) का साहित्य मानते हैं। (परिस्थिति और साहित्यकार, पृष्ठ ४७) आधुनिक साहित्य में जो एक अतृप्ति, एक भूख, एक अस्पष्ट, अशक्त भावना भर रही है, जो उसे कुण्ठा बना रही है, वह ठीक 'घर की याद' (वापस लौटने का दर्द अथवा नास्टालोजिया) जैसी है। उनका विश्लेषण इस प्रकार है : 'हमारा युग संक्रांति का युग है। सब ओर परिवर्तन एक नियति सा हमें खींचे लिये जा रहा है। '''समाज के संगठन में, राज्य-व्यवस्था मे, नीति और आचार में,—साहित्य की ओर आएँ तो पाप और पुण्य और ऊँच-नीच की व्याख्या में, वस्तु, वस्तु और शैली मे, तुक और छन्द में, सर्वत्र घोर परिवर्तन हो रहा है। अतएव जीवन का दबाव व्यक्ति के मन पर बहुत बढ़ गया है। भौतिक जीवन पर यांत्रिक संगठन का और आंतरिक जीवन पर इस तीव्र परिवर्तन का। इस दुहरे दबाव के नीचे आज के व्यक्ति की स्थिति शांतिजनक नहीं है (विशेषतया साहित्यकार की)। भारतीय साहित्यकार पाता है कि उसके आसपास सब कुछ बदल रहा है' जो मान्यताएँ ध्रुव सी अटल मानी जाती रही थी, वे सब सहसा सदिग्ध हो उठी हैं। इस डगमग स्थिति में, आमूल परिवर्तन की लहर से सहसा हतबुद्धि होकर वह किसी आश्रय की, किसी आड़ की, 'घर' की खोज मे विह्वल हो उठा है। या फिर कभी ऐसा भी हुआ है कि वह स्वयं अपने को ही अपने समवर्तियों से भिन्न पाता है,—अनुभव करता है कि वही बदल गया है, तीव्र जीवनानुभव के दबाव ने उसे तो गति दी है, पर उसके आसपास का समाज अचल है, गतिहीन खड़ा है। दोनों स्थितियों में असर एक-सा होता है, क्योंकि व्यक्ति बिना पानी-की मछली-सा महसूस करता है, अनुकूलता के लिए छटपटाता है, 'सन्तोषजनक सामाजिक दल की माँग करता है,—'घर लौटना चाहता है।'[2]

लेखक असन्तोष और अतृप्ति को साहित्यिक प्रेरणा का मूल मानता हुआ भी साहित्यकार से स्वस्थ दृष्टिकोण की आशा करता है। यह स्वास्थ्य उसने सियारामशरण गुप्त की कविता में देखा है, प्रसाद की पलायनशील कविता में नहीं, प्रेमचन्द मे बहुत दूर तक पाया है, जैनेन्द्र में नहीं।[3] युटोपिया, विशफुल थिंकिंग, रोमांस, पलायन,

---

१. त्रिशंकु, पृ० ७०। २. वही, पृ० ५०। ३. वही, पृ० ५८-६२।

माँ के अंचल में दुबकने की चेष्टा, कुण्ठा और यौनविकृति—ये स्वस्थ साहित्य के लक्षण नहीं हैं। लेखक की केन्द्रीय स्थापना यही है कि 'यद्यपि अतृप्ति का अनुभव प्रत्येक आधुनिक लेखक में होना चाहिए, यद्यपि उनकी रचनाओं का महत्व आँकने के लिए यह देखना चाहिए कि अन्ततोगत्वा अपनी इस अनुभूति के प्रति उसकी स्थिति क्या है। यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचना-बुद्धि जाग्रत है, यदि उसने धैर्यपूर्वक अपनी आन्तरिक माँग का सामना किया है और उसे समझा है, यदि उसके उद्वेग ने प्रतिरोध और युयुत्सा की भावनाएँ जगाई हैं, उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है, तभी उनकी रचनाएँ महान साहित्य बन सकेंगी। यदि उसकी आलोचक-बुद्धि क्षीण हो गई है, यदि वह अपनी आन्तरिक माँग को न समझता हुआ केवल उसमें कहा है, यदि उसके उद्वेग ने केवल अनिश्चय, घबराहट और पलायन की भावनाएँ जगायी हैं, तब उसकी रचनाएँ मधुर होकर भी घटिया रहेंगी।[1]

लेखक ने यह प्रौढ़ प्रतिक्रिया छायावाद में नहीं पाई है। फलतः छायावाद ने मधुर स्वप्न और कल्पनालोक खड़े किये हैं, जो एक शैशवोचित चेष्टा है। महादेवी के काव्य की रहस्यमय इष्टपुरुष के प्रति अलौकिक विरह-वेदना और बच्चन के काव्य की अकारण व्यथा से लेकर (जिसमें परिवार से छूटा हुआ होने की भावना से ओतप्रोत विषण्ण हृदय का आर्तनाद है), यह भावना धीरे-धीरे सामाजिक असन्तोष का अस्पष्ट रूप धारण करती गई है। कवि अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ा है। कल्पित देश की शोभा-माधुरी को छोड़कर वह सामाजिक जीवन में स्वर्ग लाने के लिए सचेष्ट हो उठा है। फलतः साहित्य में बौद्धिकता (या बुद्धिवाद) की वृद्धि हुई है। प्रसाद के काव्य में जिस कोलाहल की अवनी को तज कर दूर जाने की बात थी, उसी कोलाहल की ओर आज का कवि दौड़ा है।

: ४ :

अज्ञेय ने 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' शीर्षक निबन्ध (त्रिशंकु, २३-२९) में कला की मौलिक संवेदना और उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में भी विचार किया है। ये कुछ तात्विक प्रश्न हैं। उनकी स्थापनाएँ है :

(१) 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न (अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह) है। कलाकार को अपनी सामाजिक अपर्याप्तता का ज्ञान रहता है। फलतः वह कला के द्वारा अपने अस्तित्व को सिद्ध

१. त्रिशंकु, पृ० ५३।

करने को चेष्टा करता है। यह प्रतिक्रिया स्वस्थ (रचनात्मक अथवा पाज़िटिव) और अस्वस्थ (आत्मनाशक अथवा नेगेटिव) दोनों प्रकार की हो सकती है। इस प्रकार साहित्य व्यक्ति (कलाकार) के अहं का विस्तार है।

(२) 'अहंसिद्धि की कलाकार की यह चेष्टा चेतन एवं तर्कसिद्ध नहीं, उसका मौलिक स्वभाव है। तर्कना के तल पर आने पर (अथवा बुद्धिमूलक होने पर), यह कमजोर नहीं होती, दुर्निवार बन जाती है। इस प्रकार बौद्धिकता का विरोध नहीं है।'

(३) 'कला सम्पूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है। अर्थात् वह अन्ततः एक प्रकार का आत्मदान है, जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को अक्षुण्ण रखना चाहता है, सामाजिक उपादेयता अर्थात् भौतिक उपादेयता का अनुभव करना चाहता है। अतएव अपनी सृष्टि के प्रति कलाकार मे एक दायित्व भाव रहता है। अपनी चेतना के गूढ़तम स्वर में वह स्वयं अपना आलोचक बनकर जाँचता रहता है कि जो उसके विद्रोह का फल है, जो समाज को उसकी देन है, वह क्या सचमुच इतना आत्यंतिक मूल्य रखती है कि उसे प्रमाणित कर सके, सिद्ध कर सके। इस क्रिया को हम यों भी कह सकते हैं कि सच्ची कला कभी भी अनैतिक नहीं हो सकती और यों भी कह सकते हैं कि प्रत्येक शुद्ध कलाचेष्टा में अनिवार्य रूप से एक नैतिक उद्देश्य निहित है अथवा सच्ची कला-वस्तु अन्ततः एक नैतिक मान्यता (एथिकल वेल्यू) पर आश्रित है, एक नैतिक मूल्य रखती है। हाँ, यह ध्यान दिला देना आवश्यक होगा कि हम एक श्रेष्ठतर नीति (एथिक) की बात कह रहे है, निरी नैतिकता (मारेलिटी की) नही।'[1]

संक्षेप में—

(क) कला कलाकार का आत्मदान है। (ख) कला के द्वारा व्यक्ति (कलाकार) का अहं अपने को प्रमाणित करना चाहता है। (ग) आत्मदान अहं को पुष्ट करने के लिए है, क्योंकि अहं को छोटा करके व्यक्ति सम्पूर्ण नहीं रह सकता, बल्कि जी ही नही सकता। (घ) इस आत्मदान में ही कलाकार को 'स्वांत:सुखाय' की प्राप्ति होती है, और वह सुख अपनी सिद्धि पा लेने का, समाज को उसके बीच रहे होने का प्रतिदान दे देने का सुख है। (इस प्रकार) 'कला के लिए कला' झूठ नहीं है, लेकिन एक विशेष अर्थ में। लेखक का कहना है कि 'निरे सौन्दर्य' की खोज कलाकार को कोई भी सुख नही दे सकती,—ऐसी सौन्दर्यान्वेषिणी कला आत्मदान का सुख दे सकती है, न आत्मबोध का। वह बन्ध्या है।

लेखक की इन स्थापनाओं के पीछे यह भावना है कि कलाकार समाज के लिए

---

१ त्रिशंकु, पृ० २८

भौतिक या व्यावहारिक दृष्टि से अपनी उपयोगिता न पाकर 'कलाकार' बन जाता है और उसका सौन्दर्यबोध उसकी आत्महीनता की उपज है। अपने अहं की व्यर्थता को जानकर वह उसे सिद्ध करने की चेष्टा में निर्माणशील होता है और इसमें सफलता पाने पर उसे जो आत्मसुख मिलता है, वही उसकी मूल प्रेरणा है। यह निश्चय ही 'व्यक्तिवादी' दृष्टिकोण है और छायावादी कलादृष्टि में उसमें तत्व का अन्तर नहीं, बल (एम्फेसिस) का अन्तर है। 'छायावादी' कलाकार समाज के प्रति अपने को असमर्थ पाकर पलायन करता है और अपने अहं की सिद्धि के लिए एक नव्य कल्पनालोक का निर्माण करता है। 'व्यक्तिवादी' कलाकार इसी परिस्थिति में आत्मसिद्धि के लिए ललकारता है—वह समाज को बतला देना चाहता है कि वह नगण्य नहीं है। फलतः वह कल्पनालोक का निर्माण न कर इस धरती की चीज ही देता है। परन्तु आत्मदानी दोनों हैं। दोनों के पीछे हीन मानस के अनिवार्य तत्व हैं जो उनकी रचनाओं को विकृत बना देते हैं या एक हद तक सीमित कर देते हैं। यह अवश्य है कि लेखक व्यक्तिवादी कलाकार में बौद्धिकता का आग्रह देखता है, परन्तु यह बुद्धिवाद बहुधा अहं की पुष्टि में लगा रहता है।

• यह स्पष्ट है कि कला के जन्म और उद्देश्य की यह व्याख्या कला को हीन, दमित, रुद्ध मन की अपेक्षा विद्रोह के तत्वों को ही विशिष्ट प्रेरणा मात्र बना देती है और सहकार की अपेक्षा विद्रोह के तत्वों को ही प्रधानता देती है। वह निश्चय ही एकांगी और असम्पूर्ण है।

: ५ :

'अभिज्ञान' (विन्ध्य प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का द्वितीय वार्षिक चयन, चैत्र शुक्ल २०११ विक्रमाब्द) में 'प्रयोग, प्रयोगवाद नहीं' शीर्षक से अज्ञेय के हस्ताक्षर से एक प्रश्नोत्तरी प्रकाशित हुई है। उत्तरदाता अज्ञेय हैं। फलतः, उनकी विचारधारा का एक सुस्पष्ट रूप हमें यहाँ मिल जाता है। यह विचारधारा इस प्रकार है :

(१) निर्वैयक्तिकता का आग्रह

'अज्ञेय मेरा अपना चुना नाम नहीं है, खामखाह मेरे मत्थे पड़ गया था। फिर भी एक दृष्टि से मुझे अच्छा लगता है क्योंकि जहाँ तक हो सकता है मैं स्वयं छिपकर रहना चाहता हूँ और (अभी जो बात मेरे सम्बन्ध में कही गई है कि व्यक्तित्व को समझकर कृतित्व को समझने में मदद मिली है तो इस बात को पूर्णतया मानता नहीं हूँ क्योंकि ऐसा हो सकना चाहिए। यदि ऐसा है तब तो मेरे लिए बचने का मार्ग और भी कम रह जाता है। मेरी तो शुरू से यही धारणा रही है और अब भी है कि हालाँकि जो कुछ भी कोई लिखता है व्यक्तित्व का प्रभाव उसमें होता है और जितनी उसके व्यक्तित्व में शक्ति है, उसी के आधार पर वह लिखता है। लेकिन जो वह लिखता है

उसको समझने के लिए, उससे रस ग्रहण करने के लिए व्यक्ति के व्यक्तित्व का कोई महत्व नहीं होना चाहिए। इसलिए मैंने कहा भी है, यह मेरी मौलिक खोज नहीं है। बहुत से लोग ऐसा मानते भी हैं। साहित्य का महत्व वहीं तक है, जहाँ तक व्यक्ति का व्यक्तित्व उसमें विलीन हो जाता है। साधारणतया पश्चिम की प्रवृत्ति है कि साहित्य की कोई भी कृति व्यक्ति की देन है और उसमें व्यक्ति को उभरकर आना चाहिए। इस हद तक तो यह ठीक है कि व्यक्ति की प्रतिभा से साहित्य को देन मिलती है। व्यक्ति की जो कृतियाँ हैं, वैचित्र्य हैं, उन्हीं को हम व्यक्तित्व मान लेते है और साहित्य में इस ढग का जो अनोखापन है, उसीको हम महत्व देते हैं। इसको मैं गलत समझता हूँ और इस तरह माने बिना ही साहित्यकार की सफलता है। यह नहीं कह सकता कि मैं सफल हुआ हूँ, लेकिन कोशिश मेरी बराबर यही रही है कि जिस चीज़ को इस लायक समझता हूँ कि यह मेरी ओर से दी गई है, मुझको बिना अहङ्कार किये इस चीज का गर्व करना चाहिए कि इसे मैं दे रहा हूँ, बेच नहीं रहा हूँ, इसी भावना को लेकर काम करना चाहिए। इस तरह की जो कुछ भी चीजें हैं, उनमें जहाँ तक हो सके, मेरा व्यक्तित्व न हो। वह चीज़ हो,–हो सके तो अद्वितीय भी हो। दूसरे भले ही कहें कि यह अमुक व्यक्ति की उपज है।[1]

प्रयोगवाद क्या ?

'जबसे इस सम्बन्ध में चर्चा चली है, मैं इस बात का विरोध कर रहा हूँ कि जिस चीज़ की बात हो रही है, उसे प्रयोगवाद कहा जाय। मेरा जहाँ तक प्रयोग है, मैं वादी बनकर नहीं आया हूँ। मैं समझता हूँ कि यह अनुमान उतना ही गलत है जितना कि किसी समय छायावाद गलत था। यद्यपि वह नाम बिल्कुल गलत है और अर्थहीन था जो दिया गया, फिर भी वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में आ गया है और छाया-वाद जब हम कहते हैं तो भले ही उसका अर्थ कुछ न समझें, लेकिन कुछ-न-कुछ तो समझते ही हैं। जहाँ तक अन्य हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है, उसके बारे में मैं ज़रूर कुछ कहना चाहता हूँ। पहली बात जो मैंने कही है, वह फिर दुहराई जा सकती है। वह यह कि प्रयोग कोई ऐसी अनहोनी या अवांछित चीज़ नहीं है। बल्कि कहा जा सकता है कि कोई भी अच्छा कवि ऐसा नहीं हुआ जिसने प्रयोग न किया हो। काव्य में आदि कवि कैसे आदि कवि हुआ, इसके बारे में जो कहानी है, वह शायद ऐतिहासिक सत्य नहीं है। लेकि अगर उसको मान लें तो वहीं से यह चीज निकलती है कि यदि प्रयोग नहीं है तो काव्य नहीं है। मेरे प्रयोग वाद की परिभाषा में तो नहीं, लेकिन और जगह मैंने तथ्य और सत्य में भेद किया है। काव्य में यदि कृति की चोज आती है तो

---

१. त्रिशंकु, पृ० २३।

उसमें तथ्य का आँकड़ों का महत्व नहीं होता, सत्य का होता है। व्यक्ति से छनकर जो कृति आती है, उसी से कृति 'कृति' होती है। तो ये दो हैं, लेकिन इनका सम्बन्ध है। ······अगर यह बात ठीक है तो प्रश्न यह उठता है कि किसी चीज को जान लेना या तथ्य को समझ लेना रागात्मक सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा नहीं है तो किसी चीज को बतला देना ही रचना, काव्य या कला नहीं है। उसको ऐसे रूप में बताना कि उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध हो जाय, यह चीज अधिक महत्व की है। इसलिए किसी चीज की आवृत्ति काफी नहीं है। काव्य या किन्हीं ऐसे लक्षण-ग्रंथों में आप बसन्त का वर्णन करें तो अमुक ही चीज का वर्णन करें। बसन्त की उन चीजों का वर्णन कर देने से ही काव्य हो जाता है, यह ठीक है। क्या चीज है जो उन चीजों की अनुपस्थिति में भी ऐसी हो सकती है जो इस प्रसंग के न रहने से भी उसको काव्य बना दे। कृति जो है, वह सत्य की अभिव्यक्ति है, जिसके साथ मैंने रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है, उसको ऐसे रूप में रखना जिससे उसका नया सम्बन्ध हो। इधर के जो नये कवि हैं वे समझते हैं कि यहीं पर प्रयोग का महत्व है, क्योंकि अगर हम देखें कि भाषा कैसे बनती है तो भाषा के विषय में बात यह है कि जो लाक्षणिक प्रयोग होता है वह जब धीरे-धीरे पुराना पड़ जाता है तो वह अभिधा बन जाता है। अभिधा बन जाता है तो उसमें चमत्कार नहीं रहता। काव्य की भाषा दूसरी होनी चाहिए, लेकिन उसका प्रयोग दूसरे ढंग से होता है। इसलिए काव्य में जो चमत्कार आता है, उसमें यही होता है कि हम शब्द तो वही लेंगे लेकिन उनमें अर्थ नया भरते हैं। यह हो सकता है कि आप अपनी एक अन्य भाषा बनाना चाहते हैं। नयी भाषा एक हद तक हम बनाना चाहते हैं, लेकिन उसका उद्देश्य यह बिल्कुल नहीं है कि हमारी कोई अलग सांकेतिक भाषा हो। उद्देश्य यह है कि हम कुछ अपनी ही बात कहना चाहते हैं, उन्हीं शब्दो में कहना चाहते हैं जो कुछ जाने हुए हैं। इसलिए उन्हीं शब्दों में हम दूसरा अर्थ भरते हैं। ऐसा करें तो एक सांकेतिक भाषा, बल्कि उसे भाषा कहना भी नहीं चाहिए, इस तरह का कुछ संकेत देती है। जिनको कोई नहीं समझता। दूसरी चीज यह हो सकती है कि जो दूसरों के जाने हुए शब्द हैं, उनमें थोड़ा सा और तनाव पैदा करें जिससे वह थोड़ी सी कष्टग्राही हो जाये, उतनी आसानी से समझ में न आ सके, लेकिन एक नया अर्थ वह दे सकती है। यदि मैं आज यह कहूँ तो यह नहीं समझना चाहिए कि मैं एक नये मत का प्रचार कर रहा हूँ। पुराने जमाने में कला के जो ग्राहक या रसिक सामाजिक थे, उनका क्षेत्र आज की अपेक्षा सीमित था और आज समाज में वर्ग ज्यादा हो गये हैं और इसलिए वह हो गये हैं कि पहले वर्गगत जीवन होता था, एक पेशे के लोग होते थे, वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी वही काम करते थे, इसलिए वे अपनी शब्दावली से परिचित रहते थे। उसका नतीजा यह हुआ है कि हालांकि हम यह मानते हैं कि भाषा जो हो उसको सार्वदेशिक

और सार्वभौमिक होना चाहिए। भाषा एक-दूसरे ही से मिलती होती थी, इसे हम मानते हैं, लेकिन व्यवहार में ठीक इससे उल्टी चीज होती जा रही है। अलग-अलग वर्गों की अलग-अलग भाषाएँ हैं और सिद्धान्त हम जो मानते रहें कि चीज हो गई है कि हिन्दी बोलने वाले भी कई तरह की हिन्दी बोलते हैं, अंग्रेजी बोलने वालों की अंग्रेजी कई तरह की होती है। कहीं का ले लीजिए। जो लोग बजट बनाते हैं और उसके सम्बन्ध में चर्चा करते हैं, यह कहना तो बड़ा मुश्किल है कि ये अंग्रेजी बोलते हैं, लेकिन साधारण लिखे-पढ़े लोग भी उसे नहीं समझ सकते। उन्होंने अपने संकेत गढ़े हैं, यह तो मैं नहीं कह सकता। वह भाषा है यह तो मानना ही होगा। सार्वजनिक होते हुए भी यह इतनी सार्वजनिक नहीं है। दसवीं-बारहवीं तक पढ़े हुए लोग उसे समझ सकते हैं। हर क्षेत्र में हम पाते हैं कि हमारा जीवन जटिल होता जा रहा है और सबमें इतना विशेष ज्ञान होता रहा है जो सब लोग नहीं समझ सकते। तो कह लीजिए कि यह यंत्र की देन है। हम यंत्र को पसन्द करते हों या नहीं, यह यंत्र-युग की देन है और उसे हम पसंद करें या नहीं करें लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा। प्रश्न यह उठता है कि वे क्या करें। वे कहीं नहीं या कि तब तक न कहें जब तक ऐसी भाषा न हो जाय जो सब लोग समझ सकते हों। नये मुहावरों की खोज हमेशा से थी और अब उसकी तीव्रता बढ़ती जा रही है। यह एक और चीज है कि कृतिकार को कवि बाध्य करता है कि वह नया प्रयोग करे, यह एक पक्ष है। दूसरा यह दावा करना कि मेरी कविता इसलिए अच्छी है कि मैंने प्रयोग किये हैं, यह बहुत बड़ी मूर्खता है। बहुत से लोग हैं जो अपनी कविता को इस रूप में लेने की मूर्खता करते हैं। मैंने बार-बार यह कहा है कि प्रयोग आवश्यक तो है, अनिवार्य है, यह अगर आप करते हैं, लेकिन प्रयोग न तो कविता को अच्छी बना सकता है और न तो कोई प्रमाण देता है। अगर वह कह सके कि मैंने प्रयोग करके अमुक चीज पायी तब तो वह आपके सामने आने का अधिकारी है, लेकिन कम से कम अगर वह कह सके, उसे विश्वास है कि उसने प्रयोग के द्वारा ऐसा सत्य पाया है, तब तो वह आपके सामने आने का अधिकारी है। उसके बाद आप उसकी चीज को परखें चाहे स्वीकार करें, चाहे अस्वीकार करें। लेकिन अगर वह ऐसा नहीं कह सकता तब तक उसको आपके सामने आने का अधिकार ही नहीं है। किसी भी कला में प्रयोग का महत्व उसके लिए तो चरम कोटि का है, लेकिन ग्राहक के लिए उसका कोई मूल्य नहीं ., जब तक उसको कोई उपलब्धि न हो। साधना वह लेखक के लिए है, लेकिन पढ़ने वाले के लिए जब तक वह कुछ पा न जाय उसे कोई मतलब उससे नहीं है। जो कुछ समें विद्वत्ता हो, उससे वह कोई ऐसी चीज सामने ला सके, जिससे पाठक को रस मिल सके, इस चीज पर मेरा आग्रह है और मैं समझता हूँ कि हर किसी लेखक का होना चाहिए मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि सब लेखकों का इतना आग्रह नहीं है इस

चीज पर और मुझे इस बात का दुःख है।[1]

(३) भाषा की समस्या

प्राय: सुनता हूँ कि तुलसी की भाषा सब समझते हैं, मानता तो नहीं हूँ। अन-पढे लोग जिन पदों को पसंद करते हैं, पढ़े-लिखे लोग उन्हें नहीं पसंद करते। अत: सार्वदेशिक भाषा भी एक भ्रम है और प्रयोग का उद्देश्य बाद को प्रसार देना न होकर रस-ग्रहण की क्षमता का विस्तार मात्र होना चाहिए, यह मैं मानता हूँ।[2]

डॉ० देवराज

नई पीढ़ी के समीक्षकों में डॉ० देवराज को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उन्हें हम अपरिबद्ध आलोचक कह सकते हैं क्योंकि वे किसी 'वाद' विशेष के समर्थक नहीं हैं। उन्होंने अपने समीक्षात्मक निबन्धों के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—'प्रस्तुत लेखक ने जब-जब साहित्य के सम्बन्ध में किसी महत्वपूर्ण तथ्य का साक्षात्कार किया है, तब-तब वह उसे सुश्वत रूप में प्रकट कर बैठ गया है। इस प्रकार ये निबन्ध किसी निश्चित योजना के अनुरूप नहीं लिखे गये। उनमें उन्हें अधिक रस मिलेगा, जो प्राप्ति की अपेक्षा प्रयत्न में और निष्कर्ष की अपेक्षा चिन्तन-प्रक्रिया में अधिक रुचि लेते हैं।'[3] उन्होंने व्यावहारिक आलोचना की अपेक्षा सैद्धान्तिक आलोचना को ही अधिक महत्व दिया और साम्प्रतिक आलोचना की उलझी या डाँवाडोल स्थिति के कारण ही वे इस क्षेत्र में अवतीर्ण हुए है।[4] उन्होंने अपने समीक्षात्मक चिन्तन पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, टी० एस० इलियट और इविंग बैबिट का प्रभाव माना है।[5]

डॉ० देवराज 'वाद-ग्रस्त' समीक्षक नहीं है क्योंकि वे सिद्धान्त की अपेक्षा कृति के रस-संवेदन तथा उसके सांस्कृतिक बोध को अधिक महत्व देते हैं। इसीलिए उन्होने नये-पुराने साहित्य को एक ही प्रतिमान से आँकने की बात कही है—'मैं इलियट के वक्तव्य से दूर तक सहमत हूँ कि एक महत्वपूर्ण अर्थ में, नये-पुराने समस्त बड़े साहित्य-कार समकालीन या एक-कालीन हैं। जिस सीमा तक यह बात सच है, वहाँ तक यह मानना पड़ेगा कि नये-पुराने किसी भी साहित्य को आँकने के पैमाने बहुत कुछ वही है। यदि नया विचारक-समीक्षक आज के साथ ही परख करके, कतिपय नये व्याख्या-सूत्रो

---

१. त्रिशंकु, पृ० २५-२६। २. वही, पृ० २७।

एक मार्च उन्नीस सौ तिरपन को 'जिज्ञासा' द्वारा आयोजित सम्मान-गोष्ठी की चर्चा।

३: डॉ० देवराज : साहित्य-चिन्तन (१६५०), 'निवेदन' में। ४. वही।
५ वही

मान्यता को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"प्रतिमान के रूप में संस्कृति-बोध को, इस समय में उतना ही महत्व देता हूँ, जितना कि क्लासिकी विचारक, काव्य के प्राण-तत्व के रूप में, रस को देते रहे हैं। कथा-साहित्य के मार्क्सवादी समीक्षकों ने तथाकथित प्रकृतिवाद पर सामाजिक यथार्थवाद को तरजीह दी है। हम उक्त यथार्थवाद के स्थान पर ऐतिहासिक यथार्थ और सांस्कृतिक बोध को (जिसमें सौन्दर्यबोध, नीतिबोध, दार्शनिक-आध्यात्मिक संवेदना व अवबोध सबका समावेश है) प्रतिष्ठित देखना चाहेंगे। श्रेष्ठ लेखक भावना या राग-विरागों के धरातल पर ही अधिक जीवन्त व प्रतिक्रियालु नहीं होता, उसकी चेतना और दृष्टि भी अधिक समृद्ध व यथार्थदर्शी होती है।"[1]

ऊपर के विचारों से डॉ० देवराज के समीक्षात्मक कृतित्व की विशेषता स्पष्ट हो जाती है। वे रचना में अन्तर्निहित उन मूल्यों को महत्व देते हैं जो नितांत अन्तरंग, सार्वभौमिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक हैं तथा जिनसे हमारी वैचारिक भूमिका भी पुष्ट होती है।

'साहित्य के मानदण्ड, शीर्षक निबन्ध में डॉ० देवराज ने रसवादी दृष्टि से बाहर जाकर अपनी इस मान्यता को स्पष्ट रूप से रखना चाहा है कि उसमें अतीत का बोध आवश्यक है—' मूल्यांकन के लिए केवल अपने युग पर दृष्टि रखना पर्याप्त नहीं होता, अपितु मानवता के उपलब्ध अतीत को भी सांस्कृतिक आवेष्टन (कल्चरल एनह्वारनमेन्ट) का भाग मान लेना पड़ता है।'[2] उनकी यह विचारधारा इलियट की इतिहास-बोध वाली विचारधारा से मिलती है। इलियट परम्परा के सूक्ष्म बोध को रचना का अनिवार्य अंग मानते हैं, जिस तरह डॉ० देवराज अतीत की संस्कृति को। वे काव्य की अन्तरंग परीक्षा और युगापेक्षी समीक्षा दोनों दृष्टिकोणों का आंशिक सत्य मानते हैं, वे उन्हें पर्याप्त नहीं समझते।[3] जिसे नवीनता या मौलिकता कहा जाता है, वह श्रेष्ठ कलाकार का दृष्टि-वैशिष्ट्य होता है, परन्तु उसमें अतीत की महत्वपूर्ण दृष्टियों का संश्लेषण रहता है, ऐसा आलोचक का विश्वास है। उसके अपने शब्दों में—"बड़े कलाकारों की कापी में एक और विशेषता होती है, नवीनता या मौलिकता। श्रेष्ठ कलाकार विश्व को अपनी दृष्टि से देखता है और साक्षात् जीवन से प्रेरणा लेता है, इसलिए उसकी दृष्टि अतीत कलाकारों की आवृत्ति नहीं जान पड़ती। हो सकता है कि वह अतीत की महत्वपूर्ण दृष्टियों का, ज्ञात या अज्ञात भाव से, सन्निवेश कर ले, किन्तु उसकी सृष्टि में वे दृष्टियां अपनी दृष्टियों से नितांत नये ढंग से सम्बद्ध होकर निराली अनुभव-समष्टियों को उत्सृष्ट कर देती हैं और इस प्रकार स्वयं भी एक नूतन रूप धारण

---

१. डॉ० देवराज : 'प्रतिक्रियाएं' पृ० ७। २. डॉ० देवराज : 'साहित्य-चिन्ता' पृ० २३। ३. वही, पृ० २५।

कर लेती हैं।[1] प्राचीन युग के समीक्षात्मक मानदण्डों को स्वीकार करते हुए भी लेखक यह आवश्यक समझता है कि अपने युग के महत् साहित्य का विश्लेषण कर हम युग के अनुरूप नये मानदण्डों का निर्माण करें। 'कहा जा सकता है कि साहित्य-समीक्षा के समस्त सिद्धान्त (रसवाद, अलंकारवाद, ध्वनिवाद) श्रेष्ठ साहित्य के विश्लेषण द्वारा उपलब्ध हुए हैं—अतः हमारे वक्तव्य में कोई नवीनता नहीं है। हम इसे स्वीकार करते हैं। हमारा अभिप्राय यह है, कि महत् साहित्य का (अथवा उसकी महत्ता के उपादानों का) विश्लेषण एक ऐसा व्यापार है, जो प्रत्येक युग में नई-पुरानी महनीय कृतियों के आलोक में, नये सिरे से अनुष्ठित होना चाहिए[2]।' परन्तु जहाँ एक ओर डॉ० देवराज अनुभूति की गहराई, व्यापकता और नूतनता को मूल्यांकन की कसौटी मानते हैं, वहाँ दूसरी ओर कलागत सौन्दर्य को भी प्रथम कोटि की महत्ता देते हैं[3]। साहित्य में रागतत्व की महत्ता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'श्रेष्ठ कलाकार की कृतियों में क्रमशः तीव्रता से गहराई की दिशा में विकास होता है, श्रेष्ठ आलोचक की दृष्टि में भी क्रमशः आवेगात्मक तीव्रता का पक्षपात संवेदनात्मक गहराई की माँग में परिणत होता है[4]।'

सामयिक युग में एक माँग यह की गई है कि साहित्य बौद्धिक हो। परन्तु प्रश्न यह है कि बौद्धिकता से तात्पर्य क्या है, बुद्धि-तत्व क्या है? क्या विवरणात्मक पर्यवेक्षण बौद्धिक है? या विमर्शात्मक उक्ति-भंगी? कुछ लोगों ने बाह्य यथार्थ के विशद विवरणात्मक उल्लेख को बौद्धिकता माना है, कुछ अन्य ने ऐसी कविता या साहित्य को जिसमें विचारों या दृष्टि का समावेश होता है जो हार्दिकता के साथ सम्वेदित हुई है। डॉ० देवराज ने अपने एक निबन्ध में इस विषय पर विशद रूप से प्रकाश डाला है। उनके विचार में बौद्धिकता के कई आयाम इस प्रकार हैं : (१) वाणी-विदग्धता, वचन-वक्रता तथा एक नितांत सुगठित कथानक के ढाँचे को अक्षुण्ण रखते हुए मनोभावों तथा आवगों के तीव्रतम एवं गहनतम उतार-चढ़ाव की अभिव्यक्ति, (२) यथार्थ के रुक्ष एवं कठोर पक्षों को देखने की क्षमता, (३) जीवन के विरोधी तत्वों को एक साथ देखने की चमत्कृति और (४) जीवन-चेतना को समृद्ध करने वाली प्रयोजनशीलता[5]। परन्तु अन्त में लेखक इस निष्कर्ष पर भी पहुँचा है कि 'जहाँ बुद्धितत्व का आलोक साहित्य को अधिक रुचिकर एवं उदात्त बनाता है, वहाँ यह मानना भी जरूरी है कि रस-तत्व के अभाव में, केवल बुद्धि-वैभव के प्रदर्शन द्वारा, ऊँचा साहित्य नहीं रचा जा सकता[6]।'

---

१. डॉ० देवराज : 'साहित्य-चिंता', पृ० २८। २. वही, पृ० ३१।

३. देखिए, 'कलागत सौन्दर्य और महत्ता' शीर्षक निबन्ध ('साहित्य-चिन्ता') पृ० ३२-३५। ४. वही, पृ० १३६।

५. डॉ० देवराज : 'प्रतिक्रियाएँ' पृ० १८७-१९१। ६. वही, पृ० १९२।

उसने 'बुद्धि की दीप्ति से असंयुक्त केवल रस-सिक्त काव्य' को भी श्रेय दिया है। और 'मेघदूत' को उसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।'[1] परन्तु उसकी यह दृढ़ मान्यता है कि बुद्धितत्व का संस्कृति से गहरा संबंध है और बौद्धिक स्तर पर श्रेष्ठ काव्य सांस्कृतिक बोध या मूल्य-बोध को ही प्रकाशित करता है।'[2] उन्होंने सांस्कृतिक बोध या मूल्य-बोध को प्रकाशित करना साहित्य का एक महत्वपूर्ण कार्य माना है और कहा है कि उच्च कोटि के सौन्दर्य एवं नीति-बोध को प्रकाशित करने के लिए जिस बुद्धि या प्रज्ञा की आवश्यकता होती है, वह अपने गठन में प्रधानतया वितर्कात्मक न होकर सौन्दर्य-मूलक होता है; वह खिलवाड़ या मनोविनोद के लिए न होकर जातीय सांस्कृतिक चेतना की प्रगति या विकास का उपकरण होती है।[3] प्रश्न यह है कि यह संस्कृति-बोध क्या है? डॉ० देवराज के विचार में संस्कृति-बोध का अर्थ है उन प्रत्ययों से घना परिचय जो जातीय चेतना के महत्वपूर्ण सन्दर्भों का वहन करते रहे हैं—'उस (कवि) के शब्द-प्रयोग को पग-पग पर नयी कांति, शक्तिसम्पन्न सांकेतिकता, अतिरिक्त गरिमा तथा गहराई से मण्डित करना।[4] अन्त में, 'एक क्रियाशील सांस्कृतिक नेता होने के नाते साहित्यकार एक या अनेक संस्कृतियों से सम्बद्ध प्रत्ययों का अपनी स्वतंत्र अनुचिन्तन-क्रिया द्वारा जीवन्त साक्षात्कार करता है।[5] संस्कृति-बोध को कवि की साधना का प्रमुख अंग मानकर डॉ० देवराज ने काव्य-रचना और काव्य-चिन्तन को एक नया आयाम दिया है।

काव्यभाषा के संबंध में डॉ० देवराज का चिन्तन गम्भीर और सार्थक है। उनके विचार में 'रचना में निवेशित विभिन्न उपादानों-शब्दों, अर्थ-ध्वनियों, चित्रों आदि की उपयुक्तता एवं सार्थकता की एकमात्र कसौटी रचना की समग्र अंवित चेतना या अनुभूति, यानी उसकी शक्ति व प्रभाविष्णुता में निहित होती है।'[6] यहाँ उन्होंने कवि के व्यक्तित्व को ही महत्वपूर्ण माना है—'अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण अर्थ-संहिति का निर्माण एक संस्कृत, परिष्कृत एवं बौद्धिक दृष्टि से, सशक्त व्यक्तित्व की अपेक्षा रखता है।...यहाँ संस्कार, परिष्कार तथा शक्ति पदों के वही अर्थ अभिप्रेत हैं, जिनका संबंध साहित्यिक रचना की शक्ति व श्रेष्ठता से होता है। अतः परिष्कार व शक्ति संवेदना के धर्म हैं, और यह संवेदना विशिष्ट व्यक्तित्व की विशेषता है।'[7]

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है डॉ० देवराज साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में पर्याप्त मौलिकता लेकर चले हैं और उन्होंने रसवादी और परम्परावादी आलोचकों के विपरीत काव्य को संस्कृतिमूलक मानकर तथा व्यक्ति-चेतना की अपेक्षा जातीय चेतना को

---

१. डॉ० देवराज : 'प्रतिक्रियाएँ' पृ० १६७-१६८। २. वही, पृ० १६८। ३. वही, पृ० १७६। ४. वही, पृ० १६७-१६८। ५. वही, पृ० १६८। ६. वही, पृ० १७६। ७. वही, पृष्ठ १७७।

अधिक सम्पन्न बतलाकर काव्य तथा कला के मूल्यांकन में नई दृष्टियों की सृष्टि की है। उनका साहित्य-चिन्तन तलस्पर्शी, गम्भीर और तुलनात्मक है।

डॉ० देवराज ने अपनी समीक्षा-दृष्टि के आलोक में प्राचीन कवियों और साहित्यकारों को ही नहीं देखा है, उन्होंने आधुनिक कृतिकारों और साहित्यान्दोलन पर भी दृढ़तापूर्वक अपने विचार प्रगट किये हैं। उन्होंने 'छायावाद का पतन' ग्रन्थ में छायावाद की कुछ दुर्बलताओं पर उस समय प्रकाश डाला था, जब अधिकांश समीक्षक उसके प्रशंसक ही थे। उनका कहना था कि 'कल्पना की अतिशयता के कारण छायावादी सौन्दर्याभिव्यक्ति पुष्ट एवं प्रौढ़ नहीं हो सकी है।'[1] इसी तरह 'रामचरितमानस : पुनर्मूल्यांकन' मे उन्होंने कहा है कि 'गोस्वामी जी की वैराग्यनिष्ठ भक्ति-भावना उनके काव्य की सरसता और जीवनानुकारिता मे बाधक हुई है।'[2] परन्तु उन्होंने इन सीमाओं के रहते हुए भी यह माना है कि 'मानस' हमारी वृत्तियों का उन्नयन और परिशोधन करता है।[3] जहाँ उन्होंने तुलसी की संवेदनाओं को उनके युग से संबंधित कर उनकी नितांत आध्यात्मिक वृत्ति पर राजनैतिक पराजय और अवसाद को आरोपित करना चाहा है, वहाँ सुधी पाठक के लिए उनके साथ चलना कठिन हो जाता है—'विनयपत्रिका' में तथा अन्यत्र भी तुलसी ने जगह-जगह अपनी हीनता, अधमता आदि का बखान किया है। प्रकारान्तर से यह हीनता-भावना उस समय की हिन्दू जनता की अवनत अवस्था को प्रगट करती है। उस जनता में सम्भवतः आत्मविश्वास का इतना ह्रास हो गया था कि वह भगवान के अवलंबन के अतिरिक्त कोई सहारा देखती ही न थी।'[4] इसी प्रकार जब वे कहते हैं कि 'तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित ईश्वर-भक्ति, ईश्वर-निर्भरता आदि के आदर्श आज हमारे लिए अग्राह्य ही नहीं, हानिकर भी है।' तो वे काव्य के रस-संवेदन के बाहर चले जाते हैं और साहित्यिक मानदण्डों को तिलांजलि दे डालते हैं। सच तो यह है कि यहाँ समीक्षक संस्कृति-पाण्डित्य और बाल्मीकि तथा कालिदास संबंधी अपनी मान्यताओं और अभिरुचियों से ही अधिक प्रभावित हैं और इस परिप्रेक्ष में तुलसी को अनिवार्यतः छोटा पाता है। 'प्रगतिवाद' की सीमाओं को भी समर्थ आलोचक ने अपने लेखों और निबन्धों में विवेचित किया है-'अब यदि आप मुझसे पूछें कि क्या आज के लेखकों को मार्क्सवाद या तथाकथित प्रगतिवाद का आश्रय लेना चाहिए, तो मेरा उत्तर स्पष्ट है। जहाँ तक मार्क्सवाद कतिपय महत्वपूर्ण वास्तविकताओं की ओर हमारा ध्यान ले जाता है, वहाँ तक, दृष्टिप्रसारक होने के कारण, वह ग्राह्य है। इसके अतिरिक्त वाद के रूप

---

१. डॉ० देवराज : 'साहित्य-चिन्ता', पृ० ४१।

२. डॉ० देवराज 'प्रतिक्रियाएँ' पृ० ८८। ३. वही, पृ० ८९। ४. वही, पृष्ठ ९८।

मे वह कलाकार की दृष्टि को सीमित या बद्ध करेगा, ऐसी आशंका है।'[1] 'युग और साहित्य' शीर्षक निबन्ध में उसने साहित्य से सामयिक सामाजिक या राजनैतिक बोध के अतिरिक्त उन चेतनाओं के आत्मसात करने का भी आग्रह किया है, जो मार्क्सवादियों को स्वीकार नहीं है। डॉ॰ देवराज का यह कथन प्रगतिवादी साहित्य-चेतना की एकांगिता का ही परिहार करेगा कि 'क्रान्ति-युग का साहित्य भी केवल क्रांति की भावना पर खड़ा न होगा—उसमें हँसी और उच्छ्वास, ममता और आसक्ति, क्रीड़ा और प्रेम सभी के लिए स्थान होगा। उसके विस्तृत क्रोड़ से धर्म और परलोक, आस्तिकता और नास्तिकता, मृत्यु और अमरता आदि का भी बहिष्कार न किया जा सकेगा। विशाल जीवन की पीठिका पर प्रतिष्ठित होकर वह मनुष्य को विविध मूल्यों की संबद्धता और सापेक्षता का परिचय करा सकेगा।'[2] इसी प्रकार 'कल्पना और वास्तविकता' शीर्षक निबन्ध मे डा॰ देवराज यथार्थ की अपूर्णता के कारण उत्पन्न असन्तोष की पूर्ति के रूप में कल्पना का आग्रह करते हैं, जिसे प्रगतिवादी 'पलायन' कहेगा—'कल्पना द्वारा मनोज्ञ सृष्टि खड़ी करना, ऐसी सृष्टि जिसमें से कुरूपता को यथाशक्ति बहिष्कृत या गौण कर दिया गया हो, मनुष्य को प्रिय है। शायद यह पलायन की भावना मानव-स्वभाव का अनिवार्य तत्व है जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में होती है, अर्थात् यथार्थ की अपूर्णता और उससे उत्पन्न मानव असन्तोष की।'[3]

प्रश्न 'वादों' का है। डॉ॰ देवराज की मान्यता है कि सभी वाद एकांगी हैं और उनसे समग्र साहित्य-बोध खंडित ही होता है। उनके शब्दों में—'वाद-विशेष जीवन के कुछ चुने हुए पहलुओं को देख या दिखला सकता है, इसके विपरीत श्रेष्ठ कलाकार जीवन को समग्रता में देखना चाहता है। अनिवार्य रूप से जीवन की अनगिनत छवियों का वह स्वयं अपना समन्वय प्रस्तुत करता है। अतः स्पष्ट है कि कोई भी प्रतिभाशाली लेखक वाद-विशेष से आबद्ध नहीं होता।'[4] प्रगतिशीलता के समान प्रयोग-शीलता भी साहित्य का धर्म है परन्तु जब वह 'वाद' के कठघरे में बंदी हो जाती है तो शैलीगत भिन्नता तथा निरालापन ही साध्य बन जाता है। डॉ॰ देवराज के विचार मे—'साध्य है कवि-विशेष की विशिष्ट दृष्टि से युग-जीवन का प्रकाशन। अंततः शैली की नवीनता में कवि के व्यक्तित्व या दृष्टि का निरालापन प्रतिफलित होना चाहिए।'[5] स्वतंत्र जीवन-दृष्टि विकसित न होने के कारण रचना-शिल्प पर अटक कर रह जाती है और कथ्य क्षीण हो जाता है। इस सार्थक दृष्टि के विकसित न होने का मूल कारण है युग के सुख-दुख, मानव-व्यक्तित्व की ऊर्ध्व अथवा निम्न गति के प्रति जिम्मेदारी की

---

१. डा॰ देवराज : 'साहित्य-चिन्ता', पृष्ठ ६४। २. वही, पृ॰ ७३। ३. वही, पृ॰ ८८। ४. वही, पृ॰ १११। ५. वही, पृ॰ १२५।

भावना की न्यूनता। हमें इसका विशेष संकेत नहीं मिलता कि हमारे प्रयोगशील कवियों में युग या मानवता के प्रति ममत्व की भावना है—वह भावना जो कलाकार को युग-चेतना के मर्मस्थलों पर दृष्टिपात करने को विवश करती है।'[1]

इन 'वादों' को लेखक ने साहित्य की सम्पूर्णता से विच्छिन्न मान कर ही उनका विरोध किया है। वह रचना को कृतित्व के धरातल पर महत्व देना चाहते हैं, वाद की अपेक्षा में उसे रखना नहीं चाहता। निश्चय ही यह दृष्टि प्रौढ़ता की सूचक है, क्योंकि रहस्यवादिता, प्रगतिशीलता, प्रयोगशीलता अथवा नयापन साहित्यिक महत्व के एकमात्र उपादान नहीं हो सकते। उसके भीतर जो गंभीरतम और श्रेष्ठतम है, वही आलोचक के लिए विवेच्य होगा। इसीलिए डॉ० देवराज का यह कथन बड़ा सार्थक है कि 'कृतिगत प्रौढ़ता के अनेक आयाम होते हैं, और ये आयाम एक-दूसरे से जटिल रूपों में गुंथे होते हैं।'[2]

साहित्य-समीक्षा को नई दिशा देने के प्रयास में डॉ० देवराज ने कहीं-कहीं मूर्ति-भजक का कार्य भी किया है, जैसे वे 'प्रसाद' के काव्य और उनकी 'कामायनी' के प्रति आवश्यकता से अधिक कठोर हो गये हैं, अथवा उनकी यह उक्ति कि 'प्रसाद' में ही नहीं, रवीन्द्र में भी कालिदास से तुलना करने लायक सामग्री बहुत कम है।'[3] तुलसी-साहित्य के सम्बन्ध में उनकी प्रतिक्रिया को हम पिछले पृष्ठों में व्यक्त ही कर चुके हैं। ऐसे प्रसंगों में आलोचक की अभिरुचिमूलक सीमाओं का पता अवश्य लगता है, परन्तु हम उसकी ईमानदारी से इन्कार नहीं कर सकते। इलियट ने ठीक ही कहा है कि प्रत्येक पीढ़ी के आलोचक को प्राचीन कृतिकारों और कृतियों में नया तारतम्य बैठाना पड़ता है और युग की अभिरुचि के संस्कार के साथ स्वयं अपनी चेतना की निरन्तर परिष्कृति तथा उन्नमित करना होता है। डॉ० देवराज की समीक्षा में इन दोनों ही उत्तरदायित्वों को दृढ़तापूर्वक निभाया गया है। वे आचार्य शुक्ल और जैनेन्द्र के प्रशंसक हैं, परन्तु अन्य समीक्षकों से उनका दृष्टिकोण भिन्न है।'[4] इस भिन्नता को उन्होंने जगह-जगह पर स्पष्ट भी किया है। उनका विचार है कि हिन्दी की समीक्षा में कमाया हुआ सत्य अधिक है, 'आत्मसात किया हुआ सत्य कम।'[5] फलतः समीक्षा में सिद्धान्तों अथवा 'वादों' की प्रधानता है और कृति के रसास्वादन से उद्भूत चिन्ता का अभाव है। उनकी यह मान्यता वस्तु-स्थिति से बहुत दूर नहीं है कि 'हिन्दी साहित्य की वर्तमान घटिया स्थिति

---

१. डॉ० देवराज : 'साहित्य-चिन्ता', पृ० १२५-२६। २. वही, पृ० १२५-१२६। ३. 'प्रतिक्रियाएं' पृ० १८। ४. साहित्य-चिन्ता', पृ० २१८।

५. देखिए, 'साहित्य-चिन्ता' के निबन्ध 'पण्डित रामचन्द्र शुक्ल : एक मूल्यांकन' और 'जैनेन्द्र की उपन्यास-कला'।

का सबसे बड़ा कारण यह है कि उसके अधिकांश लेखक उस साधना से वंचित हैं जो निजी सत्य को प्राप्त व प्रकट करने के लिए जरूरी है।'[1]

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

निबन्धकार और आलोचक के रूप में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी का महत्व भी कम नहीं है। छायावाद युग के कवि और समीक्षक के रूप में उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया परन्तु आलोच्य युग में उनकी कृतियाँ अधिक व्यापक परिप्रेक्ष को लेकर सामने आई हैं। उनमें उनकी रसज्ञता और मार्मिकता का सुन्दर परिचय मिलता है। 'साहित्यिकी', 'कवि और काव्य,' 'संचारिणी,' 'युग और साहित्य,' 'सामयिकी,' 'धरातल,' 'ज्योतिविहग,' 'पद्मनाभिका,' 'आधान', और 'वृन्त और विकास,' उनके निबंध-संग्रह हैं जिनमें व्यावहारिक और सैद्धान्तिक समीक्षा के सुन्दर प्रतिमान दिखलाई देते हैं। उन्हें 'प्रभाववादी समीक्षक' कहा गया है, परन्तु साहित्य का रसास्वादन यदि आलोचना की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग है तो उससे उस भाव-बोध को हटाया नहीं जा सकता जो समीक्षा को प्रभावमयी और मार्मिक बनाता है। युग की अभिरुचि को तैयार करने के लिए ऐसे आलोचक की भी आवश्यकता होती है जो कृति के समानान्तर चल सके और जिसकी हार्दिकता रचना के निगूढ़ तत्वों को प्रकाश की तरह उद्भासित कर दे। आरम्भिक समीक्षाओं में द्विवेदी जी कवि अधिक हैं, समीक्षक कम। उनकी भाषा और शैली पर उनकी भावुकता और उनके कवि-हृदय की ही छाप है। परन्तु बाद में धीरे-धीरे उनका चिन्तन प्रौढ़ होता गया है और उन्होंने साहित्य को जीवन के यथार्थ के परिप्रेक्ष में देखने का प्रयत्न किया। युग की श्रेष्ठतम कृतियों और मूर्धन्य कृतिकारों से अपनी संवेदना को समर्थ और मार्मिक बनाकर श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी अपनी प्रौढ़ रचनाओं में हमें युग-सत्य का साक्षात्कार कराने में पूर्णतः सफल हो जाते हैं। प्रकीर्णक होते हुए भी उनकी रचनाओं में सूत्रबद्ध एक विचारधारा अन्तर्निहित रहती है। यह कहा जा सकता है कि समीक्षा में बौद्धिकता से भी अधिक हृदय-धर्म का निर्वाह करने के कारण प्रथित समीक्षकों में उन्हें वह गौरवपूर्ण स्थान नहीं मिल सका है, जो अपेक्षित था। फिर भी उनका ऐतिहासिक और तात्विक महत्व कम नहीं है।

द्विवेदी जी ने स्वयं प्रभाववादी समीक्षा पर कुछ विचार प्रगट किये हैं। उनके शब्दों में—'प्रभाववादी समीक्षा को किसी उपयुक्त शब्द के अभाव में हम रोमैंटिक समीक्षा कह सकते हैं। वह समीक्षा केवल भावात्मक ही नहीं है, कलात्मक भी है। 'पल्लव' के 'प्रवेश' में पंत ने शब्द, छन्द, संगीत, चित्र को जिस मार्मिकता से परखा है

---

१. 'प्रतिक्रियाएँ' पृ० ११।

उस सूक्ष्म दृष्टि से कोई अकादमिक समीक्षक नहीं परख सका। अंग्रेजी के रोमैंटिक कवियों की भाँति ही छायावाद के कवियों को भी अपनी रचनाओं के भाव और कला का उद्‌घाटन करना पड़ा। आरम्भ में प्रतिक्रियावादियों ने उनका विरोध किया, बाद में छायावाद को स्वीकार किया, किन्तु रोमैंटिक समीक्षा को प्रभाववादी कहकर बट्टे-खाते में डाल दिया। छायावाद को अनेक कवियों से बल मिला, किन्तु प्रभाववादी समीक्षक एकाकी पड़ गया। अकादमिक समीक्षकों ने अपने बहुमत से उसकी उसी तरह उपेक्षा की, जैसे कभी छायावाद की उपेक्षा की थी। वास्तव में तथाकथित प्रभाववादी समीक्षा ही रचनात्मक है, अकादमिक समीक्षा केवल सैद्धान्तिक। भाव और कला की विवेचना में प्रभाववादी समीक्षा स्वयं भी अपने में वैसे ही मौलिक कृति है जैसे कोई स्वतंत्र रचना। रोमैंटिक समीक्षा रचनात्मक समीक्षा है। इस रूप में इसके महत्व को जो आँक सकेंगे वे ही अकादमिक सिद्धान्तों का विकास कर सकेंगे।'[1] ऊपर के अवतरण में प्रभाववादी समीक्षा को रचनात्मक समीक्षा कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें आलोचक अपनी रसज्ञता और भावुकता को शब्दों में बाँधकर एक प्रकार का पुनर्निर्माण पाठक के मन में करता है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्रभाववादी समीक्षक की विवेचना में कोई कमी रहती है या वह अपने अन्तर्ज्ञान को आधार बनाकर कोई नई स्थापनाएँ नहीं करता है। उदाहरण के लिए द्विवेदी जी की ये पंक्तियाँ ले सकते हैं, जिनमें उन्होंने क्लासिक' और रोमैंटिक की सापेक्षता को विवेचित किया है--'प्रत्येक युग परिवर्तनशील है, परिवर्तनशीलता ही उसकी सजीवता है। परिवर्तन के द्वारा युग फालतू चीजों की छँटनी करता है और काम की चीजों को जीवन और साहित्य में सँजो जाता है। रोमैंटिक में से जो कुछ क्लासिक (काल-सिद्ध) हो जाता है, वही युग पर युग बीत जाने पर भी स्थायी रह जाता है। चाहे भक्ति और शृंगारिक युग हो, चाहे सुधारवादी द्विवेदी-युग हो, चाहे रस-स्रष्टा और स्वप्नद्रष्टा छायावाद युग हो, ये सभी अपने किसी न किसी सजीव तत्व से कालसिद्ध हो चुके हैं। साहित्य में इनका केवल ऐतिहासिक महत्व नहीं है, बल्कि जीवन और कला की दृष्टि से भी इनका स्थायी महत्व रहेगा। जीवन ज्यों ज्यों जटिल और कृत्रिम होता जायेगा, त्यों-त्यों वह क्लासिक साहित्य में से ही संजीवनी-शक्ति ग्रहण करेगा।'[2] श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी मुख्यतः छायावाद के आलोचक हैं, परन्तु उन्होंने आलोच्य युग के साहित्य पर भी सहृदयतापूर्वक विचार किया है। किन्तु मूलतः समीक्षक युद्धोत्तर पीढ़ी के प्रति कठोर हैं। सम्भवतः यह इसलिए है कि

---

१. 'वृन्त और विकास', पृ० १५५। २. वही, पृ० १३५।

उनके पास विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य नहीं है, परन्तु द्विवेदी जी ने इस पीढ़ी की (जो प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है) मनोवैज्ञानिक व्याख्या कर उसके भविष्य के प्रति आस्था ही प्रगट की है। 'युद्धोत्तरकालीन समूची नयी पीढ़ी अभी यथार्थ से शुष्क और कटु नहीं हो गई है। जापान-जैसे अग्नि-गर्भ और बम-परीक्षण से आक्रांत देश में नयी पीढ़ी सुकोमल संवेदना, सूक्ष्म मनोविज्ञान और रेशमी शिल्प लेकर साहित्य में उदित हो रही है। इसका एक कारण तो वहाँ का सौन्दर्य और कला-संस्कार है, दूसरा कारण इस कदर्थ-युग के प्रति अविश्वास और अपनी सृष्टि के प्रति विश्वास (आत्मविश्वास) है। इंग्लैंड की नयी पीढ़ी में भी ऐसे नये लेखक आ गये हैं जो रोमांस और रोमांटिसिज्म् दे रहे हैं।... सभी देशों में साहित्य की नयी किशोर पीढ़ी का प्रादुर्भाव हो रहा है जिसके सारल्य और सौकुमार्य से यह रूक्ष युग-पुरुष सुस्निग्ध हो जायेगा।'[1] वादीय आलोचकों में हमें 'नये' के प्रति यह सहृदयता कहीं नहीं मिलती, क्योंकि वह कृतियों के अप्रतिबद्ध रसास्वादन के माध्यम से अपनी मान्यता तक नहीं बढ़ते, वे सिद्धान्तों के भीतर से कृति और कृतिकार तक पहुँचना चाहते हैं। इसीलिए वे न प्रगतिवादी कवियों के मर्म तक पहुँच सके हैं, न प्रयोगवादी कवियों के। प्रस्तुत पंक्तियों में हमें नयी पीढ़ी के साहित्य का जो मूल्यांकन मिलता है, वह अपेक्षाकृत अधिक संतुलित और आस्थाप्राण है—'परिस्थितियों ने वय का व्यतिक्रम कर साहित्य की नयी पीढ़ी को अकाल-परिपक्व अथवा प्रौढ़ों-जैसा भी अनुभूतिप्रवण बना दिया है। इसका प्रमाण हिन्दी की नयी कविता में मिलेगा। नयी कविता में जो युग-चेतना और अन्तश्चेतना (यथार्थ और कल्पना) चल रही है, वही कहानी, उपन्यास, नाटक और साहित्य की अन्यान्य भूमियों में भी। अनुभूति की तरह अभिव्यक्ति में भी तारुण्य है, उसमें नयी इन्द्रियों की कला-भंगिमा है। अपनी-अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों से नये लेखकों और कवियों ने अनेक नये तकनीक दे दिये हैं। इस पीढ़ी के आलोचकों में एक वयोचित सजीवता है। नये कवि, लेखक और आलोचक आपस में तू-तू-मैं-मैं भी करने लगते हैं, जैसे किसी खेल के मैदान के खिलाड़ी। नयी पीढ़ी मुख्यतः कविता, कहानी, उपन्यास और एकांकी नाटक लिख रही है। यात्रा, संस्मरण, डायरी, शब्द-चित्र और निबन्ध में भी इन्हीं साहित्यिक विधाओं से नवीनता आ गयी है।'[2] यह आस्था की भाषा है जो लेखक की सहृदयता का सूचक है और नयी पीढ़ी के प्रति आस्थावान है।

---

१. 'वृन्त और विकास', पृ० १३६। ('नयी पीढ़ी : नया साहित्य' निबन्ध)।

२. वृन्त और विकास', पृ० ९९-१००।

द्विवेदी जी की दृष्टि कृतिकार और कृतियों की मूल प्रेरणाओं और काव्योचित उपकरणों की अन्वेषी है, उसमें छिद्रान्वेषण नहीं है। अपनी सीमाओं के भीतर वे अपने पाठकों में सब प्रकार के साहित्य के प्रति रसात्मकता और जिज्ञासा जगाने में समर्थ हुए हैं। वे कृति और पाठक के बीच में सेतु का काम करते हैं, न कृति तथा कृतिकार पर अपने व्यक्तित्व और मान्यताओं का आरोप करते हैं, न पाठकों को आतंकित करते हैं। रचना के समानान्तर चलते हुए वे उसके मर्म में प्रवेश करने में जिस सहज रूप से समर्थ हैं, उतनी सहजता हमें युग के अन्य आलोचकों में नहीं मिलेगी।

षष्ठ अध्याय

नैतिक और सामाजिक चिंतन

उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे नैतिक और सामाजिक चिंतन ने पूर्व परम्परा से अलग होकर एक स्वतन्त्र मार्ग निकालने का प्रयत्न किया। इसका कारण यह था कि हमारे समाज का यूरोपीय नयी कर्मठ जाति अंग्रेजी जाति से संपर्क हो गया था, जिसका सामाजिक ढाँचा भारतीय ढांचे से भिन्न था और जिसने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक उत्कृष्ट कोटि के सामाजिक चिन्तकों को जन्म दिया था। यूरोपीय नैतिकता की आधारभूमि ईसाई-धर्म है, जिसका नया उन्मेष हमें बारहवीं शताब्दी से दिखलाई देता है, जब ईसाई संस्थानों में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और धर्म-शिक्षा के साथ नैतिक, सामाजिक, शास्त्रीय और भाषा सम्बन्धी शिक्षा का प्रसार हुआ। वस्तुतः बारहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक यूरोप में ईसाई मानवतावाद का ही धीरे-धीरे विकास हुआ है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में ईसाई मानवतावाद को विज्ञान के द्वारा चुनौती मिलती है, जो मनुष्य की कर्मण्यता के प्रति अतीव विश्वासी बनकर एक प्रकार से नास्तिक बन जाता है और ईसाई अध्यात्म और धर्म को अस्वीकार कर देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप ने औद्योगिक क्रांति को जन्म दे दिया था और उसके फलस्वरूप सामुद्रिक राष्ट्रों ने दूर-दूर तक अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। इन उपनिवेशों में यूरोप की नयी नैतिक और सामाजिक विचारणा ने एक प्रकार से वैचारिक क्रांति ही कर दी।

सच तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी तक यूरोप अपने को पूर्णतः पहचान नहीं पाया था। परन्तु विज्ञान और उद्योग-धंधों ने उसके हाथ में एक बड़ा शस्त्र दे दिया था। उसने ईसाई मानवतावाद को धर्म-प्रचारकों, पादरियों और थोड़े से भक्त स्त्रियों तक ही सीमित रखा, जिन्होंने उपनिवेशों को अपना केन्द्र बनाकर शिक्षा, स्वास्थ्य, मुद्रण, समाचार-पत्र आदि क्षेत्रों में नये युग का प्रवर्तन किया और परम्परागत संस्कृतियों की धार्मिक मान्यताओं और शताब्दियों से चले आते हुए संस्कारों को बहुत बड़ी चुनौती दी। ईसाई शासक राष्ट्र उपनिवेशों में धर्म-प्रचार के सम्बन्ध में आरम्भ में भले ही अभिरुचि रखते रहे हों परन्तु बाद में स्वदेशी जनता के आश्वासन के लिए उन्होंने उससे हाथ खींच लिया। यह स्थिति सभी यूरोपीय उपनिवेशों पर एक जैसी लागू नहीं होती

उदाहरण के लिए पुर्तगाली, स्पेनी और फ्रेंच उपनिवेश ईसाई धर्म-प्रचार के बहुत बड़े केन्द्र थे। परन्तु भारतवर्ष में सिपाही-विद्रोह के बाद अंग्रेज-सरकार को धर्मनिरपेक्षता का अभिनय करना पड़ा। इसका फल यह हुआ कि धर्म और नीति सम्बन्धी कार्यों में सरकार का हस्तक्षेप अनावश्यक हो गया। परन्तु आगे-पीछे उसे सामाजिक सुधार के क्षेत्र मे कुछ नये नियम अवश्य लागू करने पड़े।

परन्तु विदेशीय सरकार के सामाजिक क्षेत्र में पदार्पण करने से पहले ही इस सम्बन्ध में भारतीय मनीषी (जो अंग्रेजी शिक्षित और अंग्रेजी नीति-रीति-रिवाज से परिचित थे) जाग्रत हो उठे थे। आधुनिक भारत के जन्मदाता राजा राममोहन राय इस क्षेत्र में अग्रणी थे। उन्हें हम भारतवर्ष का प्रथम मानवतावादी कह सकते हैं। उन्होने भारतीय समाज को यूरोपीय समाज के अनुरूप नया रूप देना चाहा। वे उपनिषदों के आधार पर एक व्यापक हिन्दू-धर्म की स्थापना करना चाहते थे, जिसमें जाति-पाँति और मत-संप्रदाय को कोई स्थान नहीं मिल सकता था। सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष को समान स्थान की प्राप्ति हो और अंग्रेजी भाषा तथा पश्चिमी शिक्षा के माध्यम से एक नया भारतीय मनुष्य सामने आये। उनसे आरम्भ होकर हमारी धर्म और नीति सम्बन्धी विचार-धारा बड़ी तीव्रता से आगे बढ़ती है और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारतवर्ष के धार्मिक और सामाजिक चिंतन का कायाकल्प हो जाता है। इसके लिए भारतवासी केशवचन्द्र सेन, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द के विशेष ऋणी हैं। परन्तु परोक्ष रूप से उन्नीसवी शताब्दी का केन्द्रीय व्यक्तित्व परमहंस श्री रामकृष्ण देव हैं, जो भारतीय परम्परागत धार्मिक संस्कारो को आश्चर्यजनक रूप से नवीनता और आधुनिकता प्रदान करते हैं और अपने मेधावी शिष्य स्वामी विवेकानन्द के द्वारा भारत के नये वैदिक और सामाजिक चिंतन को सामाजिकता और धर्म का नया मेरुदण्ड प्रदान करते हैं। समस्त उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय जगत मे वैचारिक क्रांति की शताब्दी रही है और उनके मूल में ईसाई धर्म-चिंतन और व्यवहार को समीक्षात्मक ढंग से आत्मसात करने की चेष्टा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस मानस-मन्थन के फलस्वरूप जो अमृत निकला, वही 'नवजागरण' नाम से प्रसिद्ध है। एक प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त होते-होते हमारी नीति सम्बन्धी धारणा में अभूतपूर्व परिवर्तन हो गया था और सामाजिक चिंतन-रूढ़ियों और परम्पराओं के प्रति विरोधी बनकर हुंकारें भर रहा है।

जहाँ तक हिन्दी क्षेत्र का सम्बन्ध है. उसमें विशेष सक्रियता आर्य-समाज को प्राप्त थी, जिसकी स्थापना १८७५ में हुई थी और जो अगले ५० वर्षों तक इस प्रदेश के धार्मिक चिंतन और पुनरुत्थानवाद का केन्द्र बना रहा था। आर्य-समाज विवेक को प्रधानता देता था और सब प्रकार के रूढ़िवादों एवं अंध विश्वासों के विरुद्ध था उसने

व्यावहारिक हिन्दू धर्म की नये सिरे से स्थापना की और पौराणिक और वेदांतिक हिन्दू धर्म को एकदम अस्वीकार कर वैदिक युग के आर्य जीवन को आदर्श माना। उसने हिन्दू धर्म की भी नयी व्याख्या की और अपनी विचारणा में बौद्धिकता को प्रमुख स्थान दिया। उसने मुसलमान और ईसाई धर्मों से बड़ा कठोर मोर्चा लिया और एक प्रकार से उसे हिन्दू धर्म की प्रतिरोधात्मक चेतना का प्रतीक कहा जा सकता है। आर्य-समाज ने अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिम विज्ञान को पूर्णतः स्वीकार कर लिया, क्योंकि वे आधुनिक युग-धर्म की आवश्यकता थे। परन्तु उसने पश्चिमी संस्कृति को स्वीकार नहीं किया। यह स्पष्ट है कि आर्य-समाज का आन्दोलन एकांगी आन्दोलन था और उसमें इतनी क्षमता नहीं थी कि वह समस्त हिन्दू समाज को अपने साथ लेकर चले। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द के विचारों को अधिक मान्यता मिली, क्योंकि उन्होंने पौराणिक हिन्दू धर्म और भक्तिवाद की नयी व्याख्या की और वेदांत से उनका सम्बन्ध जोड़कर अधिक उच्च कोटि का समन्वय प्रस्तुत किया।

महात्मा गांधी इसी समन्वय को आगे बढ़ाते हैं। परन्तु उनके जीवन और व्यवहारों में धर्म नेता और सामाजिक चिंतन की अपेक्षा सन्त की दृष्टि ही अधिक पल्लवित हुई है। उन्होंने अपने जीवन को ही प्रयोगशाला बना दिया और उसी के आधार पर आधुनिक समस्याओं का समाधान किया। उनके चिंतन में पश्चिम की भौतिक सभ्यता और संस्कृति का अस्वीकार बहुत बड़े अंशों में मिलता है। उनके जीवन और चिंतन में तप और त्याग की प्रधानता है। कहा जाता है कि गांधी की विचारधारा नकारात्मक है और उसमें जीवन के रागात्मक पक्षों का समावेश नहीं हो पाया है। परन्तु यह निश्चित है कि दो महायुद्धों के अंतराल में गांधी जी का व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा को सबसे अधिक मान्यता प्राप्त हुई। उन्होंने अपने पत्रों, लेखों और भाषणों के द्वारा ही भारतीय जनता को नयी धर्म-नीति की ओर प्रबुद्ध नहीं किया, उन्होंने राजनैतिक आन्दोलन को भी धर्म-नीति से समन्वित किया। एक प्रकार से गांधी जी की नैतिकता और उनके सामाजिक चिंतन का आधुनिक भारत के लिए बड़ा महत्व है और गांधी-युग में हमारे साहित्यकार इस विचारधारा से पूर्णतः अनुप्राणित रहे हैं। गांधी-युग में 'नवजीवन' और 'हरिजन' जैसे गांधी जी के द्वारा सम्पादित पत्रों को हिन्दी प्रदेश में बड़ी लोकप्रियता प्राप्त थी और 'त्यागभूमि', 'महारथी' आदि अनेक मासिक पत्र गांधी जी की नैतिकता और विचारधारा के व्याख्याता थे। गांधी जी के चिंतन और उनकी भाषा-शैली ने हिन्दी लेखकों के सामने धर्म और नीति सम्बन्धी विचारधारा और अभिव्यंजना का एक नया आदर्श प्रस्तुत किया। गांधी-युग में ही जैनेन्द्र उपन्यासकार और कहानी-लेखक के रूप में पहली बार हमारे सामने आते हैं। उनका रचना-काल उन्नीस सौ सत्ताइस अट्ठाइस से आरम्भ होता है। १९२८ में उनका पहला उपन्यास 'परख' प्रका-

शित हुआ, जिसमें प्रेम के क्षेत्र में त्याग को महत्व दिया गया है। इसके बाद 'सुनीता' (१९३०), 'त्यागपत्र' (१९३२) और 'कल्याणी' (१९३४) के द्वारा उन्होंने गांधीवादी दृष्टिकोण को विवाह और प्रेम की समस्या सुलझाने में प्रयुक्त किया। स्वातंत्र्योत्तर युग मे जहाँ उन्होंने उपन्यास और कहानी में अपने द्वारा स्थापित परम्परा को और भी आगे बढाया है, वहाँ उन्होंने मुख्य रूप से निबन्धकार के रूप में अपनी साहित्यिक चेतना का प्रकाशन किया है। इस परवर्ती साहित्य में वे मुख्यतः गांधीवादी विचारक के रूप मे हमारे सामने आते हैं।

गांधीवादी विचारक जैनेन्द्र

जैनेन्द्र मूल रूप से विचारक हैं। उन्होंने उपन्यास और कहानी के माध्यम से अपने विचारों की ही अभिव्यक्ति की है। निबन्धों में तो वे विचारक हैं ही, क्योकि निबन्ध विचार को प्रधानता देता है और प्रमुखतः विषयगत होता है। जिस कोटि के निबन्ध व्यक्तिगत या आत्मगत कहलाते हैं और जिनमें विषय महत्वपूर्ण न होकर लेखक का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण होता है, उस प्रकार के निबन्ध जैनेन्द्र साहित्य में नहीं मिलते, यद्यपि उनके निबन्धों पर उनके व्यक्तिगत चिंतन और वैचारिक व्यक्तित्व की छाप हैं। उन्होंने अपने सर्जनात्मक साहित्य को विचार का सशक्त मेरुदण्ड दिया है और उनके पात्र हाड़-माँस के व्यक्ति न होकर उनकी कल्पना की उपज होकर वायवी सृष्टि है। अपने इस वैचारिक व्यक्तित्व की मर्यादा से जैनेन्द्र पूर्ण रूप से परिचित हैं। जैनेन्द्र आस्तिक हैं और अपने लेखन कर्म का उत्तरदायित्व ईश्वर को ही दे देते है। 'मैने नही सोचा और नहीं चाहा था लेखक बनना। चाहें अनेक उठती थीं, पर उनमें एक भी इस दिशा में न जाती थी। दुनिया में अलाय-बलाय और सब कुछ बनने की तरफ वे इच्छाएँ दौड़ती थीं। पर हाय कि कुछ भी और न हुआ, एक लेखक बनना ही मेरे लिए रह गया। मेरी इच्छाएँ, मेरे प्रयत्न कहाँ गये, पता नहीं। इस पर से इतना ही नहीं कि मैं भाग्य को मानता हूँ, बल्कि यह भी मानना पड़ता है कि उसके आगे मैं नहीं हूँ।

सबसे गम्भीर और अनिवार्य सूत्र जो इतने बरस रहे चले जाकर मुझे हाथ लगा मालूम होता है यही है। अब हर दिन के बीतने के साथ वह पुष्ट ही होता जाता है याने कि मैं नहीं हूँ, वह है।'[1] उन्होंने अपने साहित्य-कर्म की भूमिका विस्तार-पूर्वक प्रस्तुत की है, जिससे यह स्पष्ट है कि उनके लिखने के पीछे वह भावुकता नहीं है, जो सामान्यतः कवियों और कथाकारों में पायी जाती है। आत्म-संकोच के कारण उन्होंने विचारक अथवा पण्डित होने का दावा कभी नहीं किया। परन्तु उनकी साहित्य-रचना की सम्पूर्ण प्रक्रिया उनके विचारशील व्यक्तित्व तथा चिन्तन और धर्म एवं नीति संबंधी

---

१. जैनेन्द्र—'इतस्ततः', पृ० १६।

मन से ही विवेचित हो सकती है। वैसे उन्होंने कहा है—'सच यह है कि लिखना मेरे लिए धंधे की तरह आसान नहीं बन सका है और मैं उलझन में रह गया हूँ। साहित्य के परिचय में से या उस तरह की किसी इच्छा में से साहित्य में मेरा आना नहीं हुआ सन् १९२१ ई० के असहयोग में पढ़ने से अलग हो गया और फिर इधर-उधर भटका किया। इसमें जेल जाना हुआ और सब कुछ के अभाव में लिखना शुरू किया। यह लिखना फिर साहित्यिक आलोचकों से साहित्य समझा गया और उस दिशा में मुझसे अपेक्षा होने लगी। उस अपेक्षा के उत्तर पर सीधे मैं कुछ दे नहीं सकता था। आज भी देखता हूँ कि उस तरह के दावे का जवाब मुझसे नहीं बन पड़ता है।'[1] इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि लेखक के लिए साहित्य-सृजन उन्माद नहीं है, बस भावुकता भी नहीं है, वह आसान नहीं बन पड़ा है, इसलिए कि उसके मन में विचार, भाव और कल्पना के ताने-बाने फैले हुए हैं। उपन्यास में हम जीवन का लेखा-जोखा चाहते हे और यही आवश्यक समझते हैं कि उपन्यासकार उपन्यास की कला और उसकी परम्परा से परिचित हैं और अपने लेखन में उनका निर्वाह करता है। परन्तु जैनेन्द्र अपनी रचना को परम्परा और प्रयास से बांधने के लिए तैयार नहीं हैं। अपने उपन्यास-लेखन के सम्बन्ध में उन्होंने 'उपन्यासकार और आपबीती' (अगस्त, १९६०) निबन्ध के अंत में जो कहा है, वह विचारणीय है। 'मैंने लिखा थोड़ा है और सच यह है कि उपन्यास के सम्बन्ध में कभी कुछ जाना नहीं है। हो सकता है कि उपन्यास मेरे उपन्यास हों ही नहीं, मनगढ़ंत कुछ ऐसी रचनाएँ हों, जिनको उपन्यास की श्रेणी में कृपापूर्वक ही सम्मिलित किया जा सकता हो। जो भी हो, मेरे साथ आपबीती प्रमुख नहीं रहीं है, कल्पना प्रमुख रही है। और उस कल्पना में रीढ़ के तौर पर वह विचार प्रमुख रहा है, जो कथा को आगे बढ़ाकर उसे स्वरूप देता चला गया है। यहाँ तक कि अंतिम उपन्यास 'जयवर्धन' इस कदर कोरा गढ़ंत है कि हद नहीं। वहाँ काल-देश की तनिक यथार्थता नहीं है, पात्र और चरित्र सब कल्पित और कृत्रिम हैं। साफ़ और उजागर वे जीवन-यथार्थ की भूमिका पर विचरते नहीं मालूम होते हैं। उपन्यासकार की हेसियत से शायद यह अक्षम्य हो सकता है और मुझसे क्षमा की प्रार्थना की अपेक्षा रखी जा सकती है। लेकिन उपन्यास मेरे लिए इष्ट था नहीं, है नहीं, कोरा निमित्त है। और यह स्वीकार करने में मुझे तनिक असुविधा और दुविधा नहीं जान पड़ती कि मेरा या संसार का अनुभव मेरे लिखने में उतना नहीं है, जितना कि एक तत्वाश्रित अनुमानवाद है।'[2] इस निबन्ध में लेखक ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि उनकी रच-

---

१. जैनेन्द्र—'परिप्रेक्ष' का एक वक्तव्य', पृष्ठ २१४।

२. जैनेन्द्र—'इतस्ततः' —'उपन्यासकार और आपबीती', पृ० १४७।

नाओं में आपबीती बहुत कम है। परन्तु वह यह आवश्यक मानता है कि उसका साहित्य उसकी आत्माभिव्यक्ति है। जैनेन्द्र के शब्दों में 'नहीं', ठीक-ठीक, 'अपने पर' नहीं लिखा है। हाँ, 'अपने को' अवश्य लिखा है।'[1] आपबीती (आत्मानुभव) और आत्मानुभूति के अतर को स्पष्ट करते हुए जैनेन्द्र एक प्रकार से अपने साहित्य की विशिष्टता की ही उद्घाटित करते हैं। वह मानते हैं कि उनके साहित्य में उनके अपने अनुभव की बहुत कम पूंजी लगी है। परन्तु उन्होंने घटनाओं और जीवन-तथ्यों को अपने विचार के अनुरूप ढालकर और कल्पना के सूत्रों में बाँधकर एक मनमाना रूप बना लिया है।'[2]

जैनेन्द्र के विचार में तथ्य ही सब कुछ नहीं है। तथ्यों से आगे सम्भावना का विशाल क्षेत्र पड़ा है। सर्जनकार के लिए यह आवश्यक है कि वह तथ्य से थोड़ा-बहुत काम अवश्य लें, परन्तु विचार, कल्पना और अनुभूति में लपेटकर उस तथ्य अथवा सत्य को कुछ ऐसा बना दें कि वह जीवन की तरह अबूझ हो जाय।'[3] जैनेन्द्र अपने वक्तव्यों मे कल्पना को अधिक महत्व देते हैं, क्योंकि उससे लेखक का मन खुलता है और वह व्यवहार की दीवारों से बाहर आकर खुली हवा का आनन्द लेता है। कहानी बेकार है और सारा साहित्य बेकार है, अगर मन को यहाँ की पिटारी में बंद रहना पड़े। साहित्य मे अवश्य ही उस मन की क्रीड़ा को अवकाश है, उसको निमंत्रण है, जो बाहर की सधी-बधी जिन्दगी में खुल नहीं पाता है। उस कल्पना-क्रीड़ा के पीछे आवश्यक ईमानदारी की वृत्ति, जो सदा विधायक है, होनी चाहिए। और भी दूसरी जगह अपने लिखने में मैंने यही किया है। दीखे या भुगते तत्व को लिया है, अपनी भावना से उसे मेल दिया है और कल्पना से गढ़कर फिर सबको ऐसे प्रस्तुत कर दिया है कि जिज्ञासा खुले और सहानुभूति फैले। ऐसे आदमी व्यवहार की दीवारों से बाहर आकर खुली हवा में स्वास्थ्य का लाभ करते हैं।[4] इन उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि जैनेन्द्र उपन्यास और कहानी में पूर्व परम्परा से हटकर चले हैं और उनके साहित्य के मूल में समाज, विशेषतः स्त्री-पुरुष, प्रेम और विवाह-संबंधों के विषय में उनकी मौलिक चिंता है। एक प्रकार से उन्हें हम आल्डस हक्सले (Aldous Huxley) के समान विचारक कथाकार कह सकते हैं। हक्सले भी जैनेन्द्र के समान अच्छा निबन्धकार है और उसने भी अपने निबन्ध में जीवन और जगत के सम्बन्ध में अपनी मौलिक क्रांतिकारी विचारधारा का प्रकाशन किया है।

प्रश्न यह है कि विचारक से हमारा तात्पर्य क्या है और जैनेन्द्र क्यों विचारक हैं ? उपन्यास और कहानी को छोड़ दें तो जैनेन्द्र किन अर्थों में विचारक कहे जायेंगे,

---

१. जैनेन्द्र—'इतस्ततः' पृ० १४१। २. वही पृ०, १४१-१४२। ३. वही पृ० १४२ १४३ ४ साहित्य का श्रेय और प्रेय पृ० ३६०

उनकी विचार-पद्धति की क्या विशेषता है ? और विचार की प्रौ ता और नवीनता के लिए उन्हें कौन से साधन प्राप्त हैं ? इसमें संदेह नहीं है कि जैनेन्द्र ने कहानी से अपना लिखना आरंभ किया और 'परख' लिखकर वे उपन्यास-क्षेत्र में भी आ गये। कहानी और उपन्यास दोनों में उन्होंने कुछ थोड़े से पात्रों और कुछ थोड़ी-सी जीवन-स्थितियों का उपयोग किया। देश के विशाल जन-आन्दोलनों से वे दूर रहे। उन्होंने प्रेमचन्द की तरह जनता का पक्ष ग्रहण नहीं किया है। वे मध्यवर्ग के शिक्षित और संवेदनशील मानस का ही चित्रण करते रहे। उनके उपन्यासों में यह मध्यवर्ग प्रेम और व्यवहार की समस्या में उलझकर रह गया है। उनके देश की राजनीति का जो थोड़ा-बहुत ब्यौरा आया है, वह हिन्सा और अहिन्सा के प्रश्नों को लेकर है। उनके प्रधान पात्र हिन्सा में विश्वास करते हैं। परन्तु अंत में वह अहिन्सक बनकर अपना पाप धो डालते हैं, किन्तु बीच में प्रेम की असफलता भी उनके पल्ले पड़ती है। जो हो, यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में मानव-जीवन की एक अत्यन्त सीमित भूमिका ही उभरी है और उनका साहित्य केवल उन्हीं के व्यक्तित्व और विचारों का प्रतिनिधित्व करता है।

विचारक के रूप में जैनेन्द्र पांडित्य पर विश्वास नहीं करते। वे आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी की तरह इतिहास, संस्कृति और साहित्य के विद्वान नहीं हैं। अंग्रेजी साहित्य का भी उनका अध्ययन पांडित्य की कोटि में नहीं जाता। उनकी जो अपनी विशेषता है, वह है मूलबद्ध चिन्तन। वे सुकरात की तरह प्रश्नों की तह में पहुँचते हैं और उन्हीं की तरह निर्गमन तर्क-पद्धति को आधार बनाकर विचार से सूक्ष्म ताने-बाने बुनते चले जाते हैं। उनके विचारों को मौलिकता, मार्मिकता और विवेकशीलता की प्रशसा की गई है। निबन्धों और लेखों, भाषणों और प्रश्नोत्तरों के रूप में उनका एक विशाल साहित्य हमारे सामने आ जाता है, जो कई पुस्तकों के रूप में संकलित है। अपने साहित्य में उन्होंने अपने युग के किसी भी महत्वपूर्ण प्रश्न को नहीं छोड़ा है। वे विषयों की विवेचना करते हुए न पूर्व परंपरा का हवाला देते हैं, न अपने युग के विद्वानों के अवतरण। एक प्रकार से उनका सारा विचारपूर्ण साहित्य उनकी अपनी सृष्टि है। विचार के प्रति निष्ठा और सतर्कता हमें इस युग के कम लेखकों में मिलेगी। सम्भव है, हमें जैनेन्द्र के उत्तरों से संतोष न हो, परन्तु उनके प्रश्न कम महत्वपूर्ण नहीं हैं और वे हमें बड़ी दूर तक चुनौती देते हैं। विचारक का काम उन्होंने यह समझा है कि वह अपनी प्रतिभा के बल पर पाठकों में सत्यान्वेश की प्रवृत्ति जाग्रत करे। किसी भी प्रश्न के अनेक समाधान हो सकते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को छूट होनी चाहिए कि वह स्वतन्त्र रूप से अपने दृष्टिकोण का निर्माण कर सके और समाधान उस पर लगा देने चाहिए। जैनेन्द्र की कुशल लेखनी यही कार्य करती है।

जैनेन्द्र को हम गांधीवादी विचारक इसलिए कहते हैं कि उन्होंने धर्मनीति की

शिक्षा गांधीजी से ही प्राप्त की और उनके साहित्य में गांधी-दर्शन का सूक्ष्म रूप से समावेश हो गया। उनके 'पूर्वोदय' संकलन में सर्वोदय, गांधी जी, अहिंसा, संस्कृति आदि पर जो निबन्ध संकलित है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधी जी और उनकी विचारधारा के प्रति उनकी अकाट्य मान्यता है। परन्तु उनमें गांधी जी की सन्त-संस्कृति और उनके जीवन और साहित्य में संपुटित भारतवर्ष की मूलबद्ध आध्यात्मिक और नैतिक विचारधारा के ही दर्शन होते हैं। गांधी जी पर वैष्णव भक्तिवादी दर्शन और जैन धर्म और दर्शन की छाप है। स्वयं जैन होने के नाते जैनेन्द्र की विचारधारा पर जैन-धर्म और दर्शन की छाया कुछ स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उनका आरम्भिक जीवन अपने मामा भगवानदीन के आश्रम और सम्पर्क में व्यतीत हुआ था। भगवानदीन स्वयं अच्छे निबन्धकार और विचारक रहे हैं और जैनेन्द्र को उनकी विचारशीलता और मूलबद्धता उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी, यद्यपि वे इतने भावुक नहीं हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र पर गांधी-दर्शन लादा नहीं गया है। उसका उनकी मनोवृत्ति से पूर्ण मेल है। वे गांधी जी की तरह धर्म और नीति से ही अपने प्रश्नों को उठाते हैं और उन्हीं की तरह उन्हें अतिवाद की सीमा तक ले जाते हैं, परन्तु गांधी जी की एक बड़ी विशेषता जो जैनेन्द्र में नहीं है, वह है, वे व्यावहारिक और सामाजिक ही हैं और उनके समाधान व्यर्थ की उधेड़-बुन नहीं होते। उनमें मनुष्य की दुर्बलताओं का ध्यान रखा गया है। जैनेन्द्र 'सुनीता' और 'त्याग-पत्र' में नारी के तप, त्याग और आत्मबलिदान को जिस सीमा तक ले गये हैं, उस सीमा तक सम्भवत: गांधी जी उन्हें नहीं ले जा सके, क्योंकि उनका आदर्शवाद व्यवहार से सम्बन्ध रखता है। जैनेन्द्र कोरे साहित्यकार हैं। उन्हें न नेता बनना है, न अपने जीवन के सत्य की प्रयोग-शाला बनाना है। गांधी जी की भाँति जनता का नेतृत्व भी उनके हाथ में नहीं था। इसीलिए उनका साहित्य समाज के प्रति अनुत्तरदायी और व्यावहारिकता से शून्य बन गया है। जैनेन्द्र केवल अपने विचारों और तर्क-पद्धति के प्रति उत्तरदायी हैं, परन्तु उनकी यह सीमा उनकी विशिष्टता बन जाती है और उनके व्यक्तित्व और उनके चिन्तन की छाप पाकर उनका साहित्य एक नये ऐश्वर्य को प्राप्त होता है, जो इस युग के अन्य लेखकों में उपलब्ध नहीं है।

जैनेन्द्र और गांधी जी

जैनेन्द्र ने महात्मा गांधी के व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा के सम्बन्ध मे बड़े विस्तार से लिखा है। उनका एक संकलन 'पूर्वोदय' अधिकांश गांधी जी और उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों से ही सम्बन्धित हैं। इस संकलन के निबन्धों से जहाँ हमें गांधी-नीति के सम्बन्ध में परंपरागत विचार-धारा मिलती है, वहाँ अनेक स्थानों पर लेखक की मौलि-कता का भी आभास मिलता है। इस मौलिकता का एक कारण लेखक का स्वतन्त्र

व्यक्तित्व है, जो गांधी जी की बात को भी अपने ढंग से कहना चाहता है और दूसरा उसकी विशिष्ट भाषा-शैली है, जो चिन्तन और मनन को प्रधानता देती है और शब्दों के अर्थों को दूर की ध्वनियों तक खींचकर ले जाती है। गांधी जी की हत्या के बाद संपूर्ण भारतवर्ष ने एक प्रकार की स्तब्धता का अनुभव किया था। ऐसी परिस्थिति में जैनेन्द्र द्वारा गांधी का यह मूल्यांकन कितना सार्थक है—गांधी की महिमा तो रूप में अनन्त है। उसको देखे जाइए, गाये जाइए—भला कहीं उसकी थाह है, कहीं अन्त है ? इसलिए इस विभूतिमय जीवन के ऐश्वर्य में नहीं जाना है। उसकी निपटता को ही जान और पहचान लेना है। वह है, हर क्षेत्र और हर समय की हर समस्या के लिए सत्य और अहिंसा में समाधान प्राप्त करने की प्रतिज्ञा और तत्परता।

कौन नहीं जानता कि दुनिया आज ज्वालामुखी के मुँह पर खड़ी है। क्या चिन-गारी प्रलय भड़का उठेगी, कोई कह नहीं सकता। ऐसे में गांधी जी ने उठ जाने की और ईश्वर ने उन्हें उठा लेने की जो ठहराई, आस्तिक मानेंगे कि उसमें भी कुछ शुभ ही है। अगर सचमुच शुभ है, तो सिवा इसके वह क्या हो सकता है कि इस गहरे शोक के समय भारत और उसके द्वारा जगत्, उस नीति में श्रद्धा प्राप्त करे कि जिसकी ओर विधाता ने एक अथाह अभाव हमारे बीच पैदा करके हमारा ध्यान खींचा है।'[1] गांधी जी की राष्ट्रीयता, आध्यात्मिकता और उनकी मानववादिता का एक सुन्दर समीकरण उन्होंने यह कहकर किया है कि—'गांधी जी किसी सरकार के प्रतिनिधि नहीं हैं। वह तनिक भी सरकारी नहीं है। फौज नहीं, पुलिस नहीं—सत्ता का कोई चिन्ह नहीं। वह निरीह जन के प्रतिनिधि हैं, उसी के प्रतीक हैं। सच में तो इस या उस, कांग्रेसी या पाकि-स्तानी, या हिन्दू या अंग्रेजी हुकूमत की प्रतिष्ठा से उनको वास्ता नहीं है। वह तो सब सरकारों में जरूरत होने पर उन सरकारों के विरोध और प्रतिरोध में, जन की और श्रम की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। यह उनका काम शान्ति का समझा जाय या क्रांति का समझा जाय, एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता है। और यह काम वह राम का काम समझकर करते हैं। यानी वह निरा राष्ट्रीय नहीं है, ऐहिक और सामयिक नहीं है, बल्कि मान-वीय, आध्यात्मिक और चिरंतन है।'[2] गांधी जी के जीवन और उनकी मृत्यु जिस आदर्श को व्याख्यापित करते हैं, उसे लेखक ने इन शब्दों में उभारा है कि 'गांधी जी का काम ईश्वर का काम था। यानी आत्म-शुद्धि का काम था। जीते रहे तब तक उसमें एक बाधा थी, वह बाधा थी शरीर। शरीर रहते वे पूरी तरह शून्य कैसे बनते ? उनका सन्देश तब तक अधूरा था। कैसे जीना, यह तो वह बता सके, पर मरना कैसे, वह भी तो उन्हें

१. जैनेन्द्र—पूर्वोदय, 'गांधी-नीति : सर्वोदय', पृ० ६।
२. वही, 'निपट मानव गांधी' पृ० ४८-४९।

बताना था। जीने से मरने तक की पूरी जीवन-नीति का चित्र उन्हें इस दुनिया को दे जाना था। यह बाधा इस तीस जनवरी को उनसे दूर हो गयी। उनका काम भी तब एक सम्पूर्णता को आ गया। जीवन यज्ञ है, और मृत्यु को भी यज्ञ के रूप में ही आना है। मृत्यु जीवन के अनुरूप ही बलिदान हो। तमाम जीवन ही बलि है। अर्घ्य की भाँति वह पवित्र हो और कृतार्थ भाव से उसको होम दिया जाय, यही है सच्ची जीवन-पद्धति। गांधी-जीवन और गांधी मृत्यु उसी की सचित्र व्याख्या है।'[1] 'संयुक्त मानव' शीर्षक निबन्ध में लेखक ने उस जीवन-नीति के सूत्र दिये हैं, जिस पर व्यक्ति और समाज का आगामी निर्माण होगा।[2]

गांधी जी में लेखक ने जिस संयुक्त मानव की कल्पना की है, वह स्वयं उसकी अपनी सूझ है। यहाँ उसने अणु-वैज्ञानिकों की भाषा का उपयोग किया है। उसके शब्द इस प्रकार हैं—'संयुक्त व्यक्तित्व का साधन-सूत्र सदियों से खोजा जा रहा है। भारत मे जिसे योग साधना कहें, वह यही व्यक्तित्व का एकीकरण है।' मानस-शास्त्री आभास पाते रहे हैं कि व्यक्तित्व अगर अपने में पूरी तरह गठ जाय तो उसमें से कितनी विराट शक्ति प्रस्फुटित होनी चाहिए। अणु के अन्तर्भेदन से जो शक्ति आज प्राप्ति कर ली गयी है, वैज्ञानिकों की कई पीढ़ियों से उसका अनुमान था। विभक्त अणु (Split Atom) की संयुक्त-मानव की तुलना में बिसात ही क्या है ? मेरा मानना है कि इस सम्पूर्ण एकीकरण (Integration) का ब्योरेवार विज्ञान शोधक को गांधी जी के जीवन-प्रयोग से प्राप्त हो जायगा। उनकी वाणी और लेखनी में उसको टीका भी पूरी मिल जाती है। सत्य का यह समग्र और वैज्ञानिक प्रयोग एक ऐसा चमत्कारपूर्ण आविष्कार है कि उसके प्रकाश और परिणाम में सहस्राब्दियों तक अनेकानेक शास्त्र, साहित्य और संयोजनाओं को स्वरूप मिला करेगा और मानव मानवत्तम बनने की राह पाता रहेगा।[3]

इस संयुक्त व्यक्तित्व की साधना को उसने अखण्ड योग कहा है। उन्हीं के शब्दो मे 'मेरे मत से उनकी साधना अखण्ड योग की है। स्वार्थोपयोगी से अधिक सत्यशोधी दृष्टि से यदि देखेंगे तो उनके राजनेतृत्व के पार उनके आत्मयोग साधन पर ही हमारी निगाह ठहरेगी। उनका योग शास्त्रीय नहीं, साहसिक है, ऐकान्तिक नहीं, अखण्ड है। जीवन के परिपूर्ण ऐक्य का वह प्रतीक है। उनकी साधना में जगत और ब्रह्म का अंतिम द्वन्द्व भी लय को प्राप्त होता है।

उस योग का सार है कि अपने में अखण्ड और युक्त बनो। मन, वचन और कर्म में अन्तर न रहने दो। विचार, उच्चार और आचार एक और अभिन्न होवें। इस

---

१. वही, ''संयुक्त-मानव', पृ० ५०-५१। २. देखिए पृ० ५७-५८। ३. वही, पूर्वोदय 'संयुक्त मानव', पृ० ५९-६०।

अभ्यास में उत्तरोत्तर मनुष्य मात्र प्राणि मात्र के साथ एकता की साधना होगी। इसी में उस परमात्मा के साथ योग का लाभ होगा जो सबमें व्याप्त हैं। इसी में व्यक्ति, देश और जगत् की मुक्ति सिद्ध होगी। इसमें कर्म ह्रस्व नहीं होगा, उस पर से व्यक्ति की निजता की सीमा उठ जायगी। तब स्थूल कर्म पूजा के समान पवित्र और व्यक्तिकर्म प्रकृत (परमात्म) कर्म के समान मुक्त, गम्भीर और विराट् होता जायगा।'[1]

जैनेन्द्र ऊपर से बुद्धिवादी जान पड़ते हैं और जहाँ तक सम्भव है, वे तर्क सम्मत विचार को ही प्रधानता देते हैं। परन्तु अपनी रचनाओं में उन्होंने बुद्धि को परास्त ही किया है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा भी है कि प्रेमचन्द्र में पैसे का विरोध, है मुझमें बुद्धि का। 'गाँधी-नीति' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने जो लिखा है उससे स्पष्ट है कि वे बुद्धि के ऊपर की उड़ान भरते हैं। उनके विचार में अन्तिम शब्द बौद्धिक नहीं होता, वह श्रद्धात्मक होता है। इसे ही उन्होंने आध्यात्मिक अथवा धार्मिक कहा है। इस सर्वोपरि सत्य के दर्शन उन्हें गांधी जी के जीवन और कर्म में हुए हैं। यह सत्य ही गांधी जी के शब्दों में ईश्वर है। यही उनकी आस्तिकता का मूल स्रोत है। इसी विश्वास के कारण जैनेन्द्र में गांधी जी के व्यक्तित्व और उनकी नीति में प्रवेश करने का सामर्थ्य प्राप्त हुआ है। उनका विचार है—'जो सिद्धांत गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और परिपुष्ट हो रहा है वह केवल बौद्धिक नहीं है। इसीलिए वह केवल बुद्धिग्राह्य भी नहीं है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। इस लिहाज़ से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक, यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक अथवा अन्य क्षेत्रों में वह एक-सा व्यापक है। वह चिन्मय है, वादगत वह नहीं है।

गांधी जी के जीवन की समूची विविधता भीतरी संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर कायम है। जो चिन्मय तत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है, उसमें खंड नहीं है, वह सहज और स्वाभाव रूप है। उसे निर्गुण अद्वैत तत्त्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की धूप-जैसा धौला और साफ हो जायगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है, ज कभी खुल नहीं सकती। कुंजी उसकी एक, और एक ही है। वहाँ दो-पन नहीं है। वहाँ सब दो एक हैं।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' समूचे और बहुतेरे मतवादों के बीच मे रहकर, सबको मानकर किन्तु किसी में न फँसकर, गांधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य है। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है, न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से

---

१. वही, 'गांधी जी का अखण्ड योग', पृ० ६५-६६।

गांधी की आस्था का आधार अविश्वासी को एकदम अगम है। पर वह आस्था अटूट, अजेय और अचूक इसी कारण है। देखा जाय तो वह अति सुगम भी इसी कारण है।'[१] गांधी जी के जीवन पर से लेखक जब अध्यात्म और व्यवहार के सर्वोच्च सिद्धान्त बना लेता है तो उसकी भाषा में उपनिषदों और बाइबिल जैसी मार्मिकता आ जाती है। जैसे सत्य ही है। भेद मात्र उसमें लय है। इस अनुभूति की लीनता ही सबका परम इष्ट है। परन्तु हमारा अज्ञान हमारी बाधा है। अज्ञान, यानी अहङ्कार। जिसमें हम हैं, उसमें ही, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपने-को अनुभव करते जाना ही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्तव्य है, यही धर्म है।

विश्वास की यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है, तब उसके कर्म में आदर्श सामाजिकता अपने आप समा जाती है। समूचा राजनैतिक कर्म भी इसके भीतर आ जाता है। देशसेवा आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आ जाता है। स्वराज्य कायम करना और शासन-विधान को यथावश्यक रूप में तोड़ना, बदलना भी आ जाता है।'[२]

गांधी जी की राजनीति के सम्बन्ध में लेखक का विचार है कि वह उनकी आध्यात्मिक साधना का ही एक अंग है। उनका कहना है कि 'गांधी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग है। वह नीति संघर्ष की परिभाषा में बात नहीं सोचती। संघर्ष की भाषा उसके लिए नितांत असंगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्म-युद्ध हो। धर्म-भाव से नहीं किया जाता तो वह युद्ध संकट काटता नहीं, संकट बढ़ाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुँह मोड़ना नहीं है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नहीं तो शत्रु चाहे मिट भी जाय, पर वह अपने पीछे शत्रुता का बीज छोड़ जाता है और इस तरह शत्रुओं की संख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अतः युद्ध शत्रु से नहीं, शत्रुता से होगा। बुराई से लड़ना कब रुक सकता है? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है? इससे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध में आँख झपकने का अवकाश नहीं। किन्तु पल भर के लिए भी वह युद्ध वासनामूलक नहीं हो सकता। वह जीवन और मौत का, प्रकाश-अन्धकार और धर्म-अधर्म का युद्ध है। यह खांडे की धार पर चलना है।'[३] उन्होंने गांधी-नीति के तीन मूल सिद्धांत माने हैं— (१) सत्य व्यक्तिगत है, (२) अहिंसा सामाजिक है और (३) सत्याग्रह राजनैतिक है।

गांधी-नीति की व्याख्या में लेखक ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है वह भारतीय ज्ञान, धर्म और अध्यात्म की शब्दावली है। परन्तु यह भाषा ही गांधी जी के

वही गांधी-नीति पृष्ठ ६७ ६८ २ वही ६६ २ वही, पृ० ७१-७२

जीवन-दर्शन और उनकी अन्तश्चेतना को सबसे सुन्दर रूप में खोलने में समर्थ है। उसका अद्भुत ऐश्वर्य इन पंक्तियों से स्पष्ट है– 'संक्षेप में गांधी-नीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्म सर्वात्म का ही खण्ड है। इससे व्यक्ति का ध्येय सत्य से एकाकार होना है। उसकी इस यात्रा में ही समाज, राष्ट्र और विश्व के साथ सामंजस्य की बात आती है। वह जितना उत्तरोत्तर इन व्यापक सत्ताओं से एकात्म होता चला जाये, उतना अपनी और संसार की बंधन-मुक्ति में योगदान करता है। इस यात्रा से यात्री के जीवन-कर्म का राजनीति एक पहलू है। आवश्यक है, पर वह पहलू भर है। वह राजनीति कर्म में युद्ध रूप हो, पर अपनी प्रकृति में उसे धर्ममयी और शान्तिलक्षी होना चाहिए।'[1] परन्तु 'गांधी-नीति निबन्ध के अन्त में अन्तिम अनुच्छेद में जैनेन्द्र का लेखक एकदम भावात्मक हो उठा है और उनकी रचना में गद्य-काव्य की सी गरिमा आ गयी है। वे दार्शनिक और धर्मवेत्ता की ऊँचाई में से बोलने लगे हैं, जहाँ शब्द से बड़ी चीज को अभिव्यंजित करते हैं–जैसे, 'व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नहीं है। सबमें धर्म की श्वास चाहिए। उसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा, अन्यथा नहीं, सबके मन में एक ज्योति है। उसे जगाये रखना है। फिर उस लौ में जीवन को लगाये चले चलना है। चले चलना, चले चलना। जो होगा, ठीक होगा। राह का अन्त न नाप। राही! तुझे तो चलना है।'[2]

गांधी जी पर अटूट श्रद्धा रखते हुए भी जैनेन्द्र उन्हीं में सिमट कर नहीं रह जाते। वे साहसी चिंतक हैं। इसीलिए वे गांधी जी को छोड़कर भी विचार के क्षेत्र में आगे बढ़ सके हैं। सामान्यतः किसी भी महापुरुष या 'वाद' के अनुयायी उससे आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकते, परन्तु जो विचारक समस्या की तह तक जा सकते हैं, वह बड़ी-से-बड़ी बैसाखी को छोड़ सकता है। यहीं पर पहुँचकर जैनेन्द्र स्वतंत्र विचारक कहे जा सकते हैं और उन पर 'गांधी-वाद' का लेबल नहीं लग सकता। वे मूल को पकड़ते हैं। इसलिए गांधी जी के सम्बन्ध में विचार करते हुए वे इस बात को महत्व देते हैं कि उन्होंने हमें आत्म-चेतना प्रदान की और यही आत्म-चेतना को जगाया। कोई जरूरी नहीं है कि हम खादी-चर्खे से चिपटे रहें, उनके सारे रचनात्मक काम को हम धता बता सकते हैं। स्वयं उनके नाम से ही चिपकने की आवश्यकता नहीं है। गांधी जी को छोड़ने में से किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं देखता। ईश्वर या इतिहास ने यह गलत नहीं किया कि गांधी जी को हमारे बीच से उठा लिया और हमें अपने ही ऊपर छोड़ दिया। ऐसी हालत में अपने को हम सर्वथा स्वाधीन मान सकते और बना सकते हैं। लेकिन यह अक्षम्य बात होती कि हम गांधी जी का नाम रखना चाहें, राजनीतिक भूमिका पर टिकनेवाला काम भी रचना चाहें, लेकिन उस भावना से परहेज करें, जिससे उनका सब

---

१ वहीं 'गांधी-नीति', ७८ २ वही, पृ० ७८

काम और नाम निकला था।'[1] उनके विचार में हम गांधी जी को अखण्ड भाव में ही स्वीकार करने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम अपनी सारी समस्याओं के समाधान के लिए गांधी जी और उनके साहित्य की ओर देखें। आवश्यकता यह है कि हम उनके सच्चे दृष्टिकोण को समझें और उस श्रद्धा को पकड़ें, जिसके प्रतीक गांधी जी थे।'[2] 'अगर गांधी जी होते ? निबन्ध में लेखक ने अपने विश्वास को और अधिक पल्लवित किया है। केवल दो वाक्यों में उन्होंने गांधी जी के जीवन-संदेश को इस प्रकार बाँध दिया है—'जीवन को यज्ञ बनाना होगा और मृत्यु को उसका अन्तिम अर्घ्य। जैसे यही संदेश गांधी जी ने अपने चरित्र द्वारा लिखा और अपनी मृत्यु द्वारा उसको यथोचित विराम दिया।'[3] परन्तु प्रश्न यह है कि जीवन को यज्ञ बनाने का अर्थ क्या है ? लेखक के विचार में जीवन को यज्ञ बनाने का अर्थ है अहिंसा और प्रेम के द्वारा सत्य की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील होना। सत्य का अर्थ है पूर्णता, परन्तु यह पूर्णता किसी एक बिन्दु पर समाप्त नहीं होती और किसी सीमाओं में नहीं बँधती। वह निरन्तर अतिव्यापक जीवन की ओर उन्मुख होती है। यह पूर्णता की साधना ही सत्य की साधना है और अंततः ईश्वराराधना है। गांधी जी का सच्चा अनुयायी वही है जो समस्याओं और प्रश्नों से जूझता रहता है और उत्तरोत्तर पूर्ण और व्यापक उपलब्धियों की ओर बढ़ता है। अपनी विशिष्ट भाषा में जैनेन्द्र गांधी जी की पूर्णता की साधना पर इस प्रकार प्रकाश डालते हैं—'गांधी जी की प्रवृत्तियाँ तो अनेक रहीं, पर प्रेरणा एक। समय-समय पर उस प्रेरणा ने अभिव्यक्ति की नवीन भाषा ली। पर निष्ठा सदा सत्योन्मुख रही और गाँधी जी, देश व स्वराज्य किसी के खातिर, सत्य-तीर्थ की अपनी यात्रा मे विघ्न नहीं स्वीकार कर सके। अहिंसा में से उन्हें सत्य पाना था। ऐसा था, इसलिए नयी-नयी चुनौती उनके आगे आयी और नित्य नये कर्तव्य की पुकार उन्हें प्राप्त होती गयी। पूर्णता से और पूर्णता की ओर उनका प्रयाण रहा। कभी वह अपनी ही प्रवृत्ति या अपने ही मन्तव्य की सीमा से नहीं बँधे। और इसीलिए उनसे रचनात्मक कर्म और उसके कर्मियों को नयी-नयी सूझ और नये-नये सूत्र मिलते चले गये।

यह पूर्णता से पूर्णतरता की ओर बढ़ते चलने में गांधी जी की विशेषता है। कभी वह जीवन अमुक धारणा (routine) की नियमितता में नहीं घिरा। सृष्टि का नवनवोन्मेष सदा उसे स्फूर्ति, प्रवाही और हरियाला बनाये रहा। कभी वह जीवन जमकर कड़ा नहीं पड़ा। इस तरह प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक सूचना के प्रति उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा जागरूक और अचूक रही। जगत् को नाना रचनाओं का वह निरन्तर दान करती चली गई।'[4]

---

१. वहीं, पूर्वोदय–'गांधी-धर्म और कर्मवाद', पृ० १११। २. वही, पृ० ११३। ३. वही 'अगर गांधी जी होते ?', पृ० ८७। ४. वही, पृ० ८६।

जैनेन्द्र गांधी जी को किसी 'वाद' से नहीं जोड़ते । उन्होंने गांधीवाद का नाम अवश्य लिया है, परन्तु गांधीवाद से वे गांधी की मौलिक चेतना और प्रेरणा का ही अर्थ लेते हैं, क्योंकि विचार में गांधी के बाद गांधीवाद की परीक्षा हुई है । अब वह संकट में पड़ गया है । वे ईसाई धर्म और इस्लाम का प्रचार के प्रारम्भिक वर्षों से गांधीवाद की समकालीन चेतना की तुलना करते हैं । उनके विचार में ईसा और मुहम्मद के बाद ईसाइयत और इस्लाम के रूप में जो प्रचलित हुआ, वह सच्चा ईसा-धर्म या मुहम्मदीय धर्म नहीं था और प्रारम्भिक युग में इन धर्मों के प्रचारकों को अनेकानेक संकट झेलने पड़े । जब ईसा और मुहम्मद व्यक्ति अथवा चरित्र न रहकर एक स्वप्न अथवा विज़न (vision) बन गये तो उनके धर्म संसार भर में फैल गये । लेखक को विश्वास है कि गांधीवाद भी इसी प्रकार गांधी-धर्म बनकर एक दिन संसार भर में फैल जायगा । किन्तु यहाँ इन तीनों व्यक्तियों में अन्तर यह है कि ईसा देवपुत्र या अवतार है तो, मुहम्मद वाहक (पैगम्बर) है और गांधी केवल मानवपुत्र हैं । वे महान मानव तो हैं, फिर भी मानवपुत्र हैं । जैनेन्द्र के अपने शब्दों में—'गांधीवाद के परीक्षण का यह काल कितने दिन चलेगा, यह कहना कठिन है । परीक्षा तीखी होगी । पर गांधी का नाम जिन तत्वों का बोधक है वे तत्व हारेंगे भी नहीं, कसौटी पर वे खरे उतरेंगे और ज्यों-ज्यों दमन बढ़ेगा, गांधीवाद की लपटें वैसे ही वैसे फैलेंगी । मेरी अपनी धारणा है कि वह विश्व के इतिहास में एक नया युग होगा । दो संस्कृतियों का तब अन्तिम संघर्ष होगा । एक आध्यात्मिक, दूसरी भौतिक । गांधीवाद इस समय वाद नहीं रहेगा । वह धर्म हो जायगा । यह उस समय एक ऐसा जबर्दस्त सजीव स्वप्न होगा कि समस्त मानवता उसको लेकर मुक्ति की चाह में हुंकार भरने लगेगी । उसकी गरज को और उसकी रौ को रोकना असम्भव होगा । इस्लाम और ईसाइयत के प्रारम्भिक फैलाव में जो दृश्य गुजरे हैं, उनसे भी महान दृश्य विश्व के भावी इतिहास में गांधीवाद को लेकर घटित होंगे ।'[1]

गांधी की चेतना का बड़ा अंश अहिंसा जैन-धर्म का भी मूलमंत्र है । जैनेन्द्र जैनधर्मी हैं । इसीलिए गांधी की अहिंसा पर उनकी बड़ी श्रद्धा है और एक प्रकार से वे उसके बड़े व्याख्याता बन गये हैं । 'अहिंसा का बल' शीर्षक अपने निबन्ध में उन्होंने वन्य पशु और संस्कृत मनुष्य के अन्तर को स्पष्ट किया है और बतलाया है कि किस तरह वनचर प्राणी से आज के सुसभ्य मनुष्य तक पहुँचते-पहुँचते हमने अपने में अहिंसक वृत्ति का विकास किया है । अहिंसक मनुष्य आत्मदानी होता है । वह अपने आत्मदान द्वारा मानवता के धरातल को ऊँचा उठाता है । जहाँ आदिम मानव की चेतना भयग्रस्त रहती है और जीवन-रक्षा को ही वह सर्वोच्च पुरुषार्थ मानता है, वहाँ सभ्यता और

---

१. वही, पूर्वोक्त— 'गांधीवाद का भविष्य', पृ० ६७ ।

संस्कृति के ऊँचे सोपानों पर खड़ा हुआ मनुष्य अहिंसा, प्रेम और सेवा को जीवन का मूल मंत्र मानकर त्याग और तपस्या में ही जीता है । यह आवश्यक है कि मनुष्य भौतिक बल के प्रयोग को स्वेच्छापूर्वक त्याग दे और विनम्रतापूर्वक आस्तिक भाव के भीतर से अहिंसा और प्रेम की शक्ति का अर्जन करे । जैनेन्द्र कहते हैं—'अहिंसा का बल बेशक, किसी भी दूसरे लौकिक बल के प्रयोग को स्वेच्छापूर्वक त्यागे बिना सम्भव नही हो सकता । वह अंह-बल नहीं है । इसलिए बुद्धिबल से भी वह भिन्न है । दुनिया मे जिन बलों को हम जानते हैं, उनसे वह निराले प्रकार का है । उस बल से बलवान आदमी उतना ही अपने को विनम्र मानता है, वह उतना ही सेवक बनता है । क्योंकि वह अहं का नहीं है, इसलिए वह हरि का है । अर्थात् सच्चा अहिंसक पुरुष अपने को प्रार्थनापूर्वक शून्यवत मानता है ।

इसीलिए अहिंसक शक्ति सम्पादन करने वाले को उत्तरोतर अकिंचन बनना होता है । जिसके पास धन के, कुल के, विद्या के, बुद्धि के, बल के, गर्व के लिए स्थान बचा है, वह अभी अहिंसा के बल का पूरा पात्र नहीं है । अभ्यंतर को उन सबसे जितना अधिक खाली किया जायगा, उतना ही सच्चे अहिंसा के बल को व्यक्तित्व में आनेका अवकाश होगा ।

जो आस्तिक है उसे अपने ईश्वर के सिवाय दूसरा और सहारा ही क्या चाहिए ? इसीलिए उसे अस्त्र भी नहीं चाहिए । अस्त्र शंका में से और भय में से आता है, लेकिन आस्तिक को शङ्का कैसी ? और उसको भय कैसा ? मृत्यु में भी क्या वह अपने ईश्वर की कृपा और उसके आदेश को नहीं देखता । इसलिए मृत्यु की भेंट में भी उसे कोई झिझक नहीं है । वह समभावी है । उसे अविश्वास की जरूरत नहीं, क्योंकि वह आत्म-विश्वासी है । किससे लड़ने को वह अस्त्र बाँधे ? उसका ईश्वर तो सब कहीं है ।'[1]

यद्यपि गांधी जी की तरह जैनेन्द्र भी अहिंसा को मुक्ति का साधन मानते हैं, तो भी वे अहिंसा की व्याख्या पारमार्थिक ढंग से न करके लौकिक भूमिका पर ही करते है, जिससे उनके अहिंसा धर्म में ईसाई मानववाद और यूरोपीय सामाजिक विचारकों का 'सर्वजनहिताय' (Greatert good of the greatest number) आत्मसात हो जाता है । यह व्याख्या जैनेन्द्र की अपनी है, जो गांधी जी के अध्यात्म को दैनंदिन व्यव-हार की भूमिका पर उतार लाती है । जैसे—'अहिंसा के विचार का प्रत्यच सम्बन्ध आत्मा, परमात्मा, देश अथवा राष्ट्र से उतना नहीं है, जितना कि इस बात से है कि हम और आप अपने पड़ोसी से, अथवा कि इतर जनों से, किस प्रकार व्यवहार करते हैं । और इस दिशा में आप ध्यान देंगे तो तत्काल जीविका के, अर्थात् धनोपार्जन की विधि

१- वही, 'गांधीवाद का भविष्य', पृ० १२७-१२८ ।

के प्रश्न से आपका विचार जा छुएगा। और तब अपना वही पुराना सूत्र हमें सच जान पड़ेगा कि 'जैसा खावे अन, वैसा होवे मन'। आप देखेंगे कि आपको जीवित रहने के लिए भोजन की, वस्त्र की और दूसरी जो आवश्यकताएँ हैं, वे सहज पूरी नहीं होतीं। उनके लिए कुछ करना होता है। इसी को जीविकोपार्जन कहते हैं। यदि हमें अहिंसा को व्यापक क्षेत्र में घटित करना हो, तो सबसे पूर्व इस जीवकोपार्जन की विधि में उस अहिंसा को चरितार्थ करने से आरम्भ करना होगा। मैं अपने लिए जिस ढंग से अन्न जुटाता हूँ, उसमें अगर अहिंसा नहीं है, तो आगे फिर मेरे उपलक्ष्य से अहिंसा की सफलता किस प्रकार हो सकती है?'[1]

व्यावहारिक रूप से अहिंसा की साधना हमें धर्म और सत्ता के बन्धनों से मुक्त कर देती है। प्रजातन्त्र, साम्यवाद और वर्ग-मुक्त समाज की स्थापना का यही उद्देश्य हो सकता है कि धन और सत्ता पर सबका समान अधिकार रहे। परन्तु एक ऐसी भी मुक्ति की कल्पना सम्भव है, जो प्रेम और प्रार्थना से प्राप्त हो और जिसमें अहङ्कार का पूर्ण विसर्जन हो। जैनेन्द्र प्रश्न करते हैं कि—'धन से और सत्ता से मिलने वाली स्वतंत्रता और प्रेम तथा प्रार्थना में प्राप्त होने वाली मुक्ति के अन्तर का क्या हम सबको स्वयं थोड़ा-बहुत अनुभव नहीं है? और स्वयं उत्तर देते हैं—'पहले में अभिमान फूलता है और अनिवार्य रूप से उसकी फिर प्रतिक्रिया होती है। उससे कषाय की वृद्धि होती है और हमारे मन पर सूक्ष्म बन्धन लिपटाया जाता है। दूसरे प्रकार की मुक्ति का आनन्द अविकल और अन्तस्थ है। स्पष्ट है कि कषाय में हम स्वतन्त्र नहीं हो सकते, अधिकाधिक बँध ही सकते हैं। अहंकार बढ़ेगा, उतनी ही बन्धन को जकड़ कसेगी। अहन्कार जातीय या राष्ट्रीय होने से अपने गुण में बदल नहीं जाता। इससे मुक्ति का रूप कुछ वही हो सकता है, जहाँ अहन्कार का विसर्जन हो और सबमें आत्मौपम्य का विकास हो। यही अहिंसा की साधना है।'[1] मुक्ति की इस अत्युन्नत भूमिका पर वे बुद्ध और महावीर को रखते हैं, जो राजकुल में जन्म लेने के कारण स्वाभाविक रूप से धन और सत्ता की आकांक्षाओं से मुक्त थे, परन्तु जिन्होंने आत्मदान में मुक्ति का वह पारमार्थिक लाभ किया, जो आध्यात्मिक पहुँच की सर्वोच्च भूमिका है। यह व्यक्ति की साधना हो सकती है, परन्तु सामाजिक आदान-प्रदान और व्यवहार के क्षेत्र में अहिंसा-धर्म का स्वरूप दूसरा होगा। गांधी जी जिस अहिंसा-धर्म की बात कहते हैं वह उनके लिए चाहे व्यक्तिगत भूमिका पर आध्यात्मिक मुक्ति की योजना हो, परन्तु उसका व्यावहारिक रूप लोक-कल्याण और जनमंगल को ही लेकर चलता है।

---

१. वही, 'अहिंसक आरम्भ', पृ० १४२। २. वही, 'अहिंसा और मुक्ति', पृ० १३४।

जैनेन्द्र के विचार में अहिन्सा को सर्जनात्मक होना होगा, क्योंकि वह जीवन्त धर्म है। उससे जीवन सम्पन्न होता है। अहिन्सा पलायनवाद नहीं है, वह मनुष्य के सामाजिक और व्यावहारिक जीवन में ही अपना सच्चा स्वरूप प्रकाशित करती है। उसमें स्वार्थ का स्थान परमार्थ ले लेता है। इस परमार्थ का तात्पर्य है लोक-कल्याण अथवा सेवा। अहिन्सा-धर्म की यह व्याख्या जैनेन्द्र के शब्दों में इस प्रकार है—'अहिन्सा की सर्जनात्मक धारणा भी है, वह जीवन्त धर्म है। वह विकार-निषेध-मूलक नहीं है। वह अहिन्सा व्यवहार को काटती नहीं, सम्पन्न करती है। वह जीवन-विमुख और कर्म-विमुख नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, वह जीवन को वेग देती और कर्म को विराट करती है। हिन्सा न करना उसकी मर्यादा नहीं, वरन् उसका प्रथम चरण भर है। शेष उसमें करने को बहुत होता है। इस अहिन्सा में 'स्व' के प्रति निर्मम रहकर 'पर' के प्रति आत्मीयता और साधनी पड़ती है। यह अहिन्सा स्वरूप रह नहीं सकती। समाजोन्मुख उसे होना ही पड़ता है। ऐसे वह कर्म से कातर नहीं बनती, बल्कि तत्पर और पदारूढ़ होती है। इस अहिन्सा में अपनी प्रेरणाओं को हमें अपने भीतर उस गहरे तल से लाना और उस तक ले जाना होता है जिसको अवचेतन कहते हैं। उस पटल को भेद कर चैतन्य को गहरे खींचा जाता है। इसमें से मनुष्य की सम्पूर्ण चेतना को परिष्कार होता है। उसमें स्वार्थ की क्रमशः आहुति होती रहती है और जो बाधाएँ और वासनाएँ चैतन्य को अपने में रोकती हैं, क्रमशः एक-एक कर गिरती जाती हैं। उस अहिन्सा के कारण फिर व्यक्ति समाज से पृथक रहकर विग्रह का नहीं, बल्कि संयुक्त होकर संग्रह का अंग बनता है। वह औरों का दुःख लेने में स्वयं सुख अनुभव करता है। फिर उस दुःख को अपने अंतरंग प्रेम अथवा अहिन्सा के स्पर्श से उसी को सुख बना दूसरे तक भेजने की कीमिया पा जाता है।[1] परन्तु जैनेन्द्र यह भी जानते हैं कि आज की स्थिति मे अहिन्सा और धर्म से लोगों का विश्वास हट गया है। उनका कहना है कि हमें आदमी की व्यथा और साधना से इस शब्द के अन्तरंग को उज्ज्वल और सार्थक करना होगा, जिससे कि वह फिर पुनर्जीवित और प्रचण्ड बन सके।[2]

राष्ट्र

जैनेन्द्र की राष्ट्र सम्बन्धी विचारधारा पर भी उनके गांधीवादी चिंतन की छाप है। उन्होंने अपने एक बृहत निबन्ध 'राष्ट्र और राज्य' में जो स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ है, राष्ट्र और राज्य के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट किये हैं। यद्यपि

१. जैनेन्द्र—'परिप्रेक्ष' में 'अहिंसा और सामाजिक समस्या' (सितम्बर १६१०), पृ० १६६। २. देखिए—'परिप्रेक्ष' के निबन्ध— 'अहिंसा का पुनर्जीवन', पृ० १६४।

अन्य स्थानों पर भी उनकी राष्ट्र-सम्बन्धी विचारधारा हमें प्राप्त होती है, तो भी यहाँ हमें उनके राष्ट्र-सम्बन्धी चिंतन का व्यवस्थित रूप दिखलाई देता है। गांधी जी की विचारधारा में राष्ट्र की सत्ता हिंसा और शक्ति पर आधारित न होकर आत्मदान और लोकचेतना पर आधारित है। वे उस दिन की कल्पना करते हैं जब सकल राष्ट्रीय जन उच्च संस्कारों से सम्पन्न हो जायेंगे और राष्ट्र की आवश्यकता ही नहीं होगी। जैनेन्द्र के विचार में भी राष्ट्र का आरम्भ जन की मिल-जुलकर रहने की प्रवृत्ति से होता है और सभ्यता के प्रारंभिक उन्मेष से शुरू होकर हम आज राष्ट्र-राज्य तक आ गये हैं। किन्तु राष्ट्र-राज्य के दो रूप विशेष रूप से आज हमारे सामने हैं—एक साम्यवादी राज्य और दूसरा लोकतंत्र राज्य। दोनों ही अपने को जनसत्ता मानते हैं पर जहाँ साम्यवादी राज्य सर्वहारा के नाम पर खुला अधिनायक-राज्य है वहाँ लोकतंत्र एक विकासवान जीवन-पद्धति है और उसे साम्यवादी राज्य की भाँति किसी तंत्र में नहीं माना जा सकता। जैनेन्द्र ने साम्यवादी राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार की है—साम्यवादी राज्य सर्वहारा के नाम पर खुला अधिनायक राज्य है। वहाँ बस एक दल है और वह परि-पेप्टिल है। यद्यपि देखा जाता है कि व्यक्ति-पंथ के नाम पर एक के बाद एक आदमी उस शक्ति के शीर्ष पर से गिर रहा है, लेकिन फिर भी नीचे से चिनी जानेवाली रचना ऐसी स्तूपाकार है कि शक्ति के शीर्ष पर दो का रहना नहीं बन सकता, एक ही का होना पड़ता है। साम्यवाद का यह प्रत्यक्ष रूप है, यद्यपि उसका एकशास्त्रीय परोक्ष रूप भी है। उस शास्त्रीय रूप में जो सर्वथा परोक्ष बन गया है, कल्पना है कि राज्य रहेगा नहीं, असंगत होकर झर जायगा। दूसरे शब्दों में उसकी आवश्यकता समाज में समा जायगी और व्यवस्था बाहरी किसी तंत्र से नहीं चलेगी बल्कि समाज में अन्तर्भूत प्रकृत नियमों के आधार पर चलेगी और वही समीचीन और पर्याप्त होगी। स्पष्टतः वह सर्वथा असैनिक व्यवस्था होगी, न वह किसी को चुनौती देगी, न किसी के टक्कर में आयेगी।'[1] इसके विपरीत उन्होंने प्रजातंत्र की चुनाव की पद्धति को अधिनायकी व्यवस्थाओं से अलग करते हुए इस प्रकार परिभाषित किया है—'लोकतंत्र का कोई एक मूलभूत प्रामाणिक शास्त्र नहीं है। वह तो एक उगती हुई व्यवस्था है जिसके विविध प्रयोग हैं। चुनाव की पद्धति यों तो अधिनायक व्यवस्थाओं में भी है किन्तु वहाँ राय अधिकांश निन्यानवे प्रतिशत से कम नहीं आती। एक प्रतिशत भी सम्भावना के लिए छोड़ा जा रहा है, नहीं तो अन्तर दशमलव एक प्रतिशत का रहा करता है। चुनाव की विविध विधियों से लोकतंत्र के रूपों में भी थोड़ा बहुत अन्तर रहता है। किन्तु सबमें चुने हुए अधिकार की अवधि हुआ करती है। अवधि के बाद पहले व्यक्ति को रखने या हटाने का अधिकार मत-

१. राष्ट्र और राज्य, पृ० १३-१४।

दाता के हाथ में आ रहता है।'[1] साधारणतः लोकतंत्रवादी अपनी चुनाव-पद्धति को श्रेष्ठतर मानते हैं, क्योंकि उनके विचार में लोकतंत्र में मतदाता स्वतंत्र हैं। किन्तु जैनेन्द्र के मतानुसार ऐसी बात नहीं है—'मत स्वतंत्र है, इसलिए माना जा सकता है कि मतदाता स्वतंत्र है। किन्तु बात ऐसी है नहीं। कुछ विशेषताएँ है जो परिस्थिति में भर दी जाती हैं और मत स्वतंत्र रहते हुए भी विवश हो जाता है।'[2] सम्प्रति इन दोनों की राष्ट्र व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा और उत्कट संघर्ष की स्थिति दिखाई देती है तथा एक प्रकार से अस्तित्व रक्षा का प्रश्न ही सर्वोपरि प्रश्न बन गया है। संसार के सारे छोटे-बड़े राष्ट्रों का बँटवारा अब इन दो खीमों में हो गया है और दोनों ओर अणुबम के आविष्कार के कारण स्थिति अराजक हो गयी है। पाप और ईश्वर के भय से कहीं बड़ा भय सामूहिक हिंसा का भय है, जिसने मानवता को ही विडम्बना बना दिया। जैनेन्द्र इस महान युग सत्य को, जो उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्र-राज्यों की प्रतिस्पर्धा से आरम्भ होकर आज दो सर्वशक्तिमान राष्ट्रों के मोर्चे के रूप में उदित हुआ है उसी को इस प्रकरा हमारे सामने रखते हैं—'मानव जाति की मुख्य चेष्टा इन राष्ट्र-राज्यों की अलग-अलग सत्ताओं को आपसी प्रतिस्पर्धा में बने ठने रखने में खर्च हो रही है। जितना जो कुछ किया धरा जा रहा है, उद्यम-उद्योग, व्यापार-उत्पादन, प्रचार-प्रवचन मानो सब उसी खाते लग रहा है। सारा श्रम-योग और अर्थ-विनियोग स्वदेश-सुरक्षा की नीति के अधीन काम आ रहा है। युद्ध न होने देने और हो तो युद्ध में किसी के मुकाबले किसी तरह न हारने की भाषा में अपनी देशीय सरकारों के अधीन हमें रहना हो रहा है। सारे रहने की भाषा आज अस्तित्व रक्षा बनी हुई है।'[3] एक तीसरे प्रकार के समाज की कल्पना भी हुई है जो न अधिनायकवादी होगा, न लोकतंत्री। वह श्रेणी-मुक्त समाज होगा जो व्यक्ति को राष्ट्र की मर्यादाओं में नहीं बाँधेगा और जिसमें व्यक्ति और राष्ट्र का कोई द्वन्द्व शेष नहीं रहेगा। गांधी जी का लक्ष्य श्रेणी-मुक्त समाज है जो व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता देगा और अपने अन्तर नियमों से ही परिचालित होगा। जैनेन्द्र के विचार में राज्य नियंत्रण के अभाव की कल्पना कवि-कल्पना मात्र है। व्यवहार में आने पर उसके द्वारा अमर्यादा की वृद्धि होगी और मनुष्य अपनी पाशविक भूमिका पर लौट जायगा। 'विश्व-व्यवस्था के विचार और व्यवहार की इकाई आज राष्ट्र-राज्य है अर्थात् राज्य-केन्द्रित और राज्य-परिचालित राष्ट्रीय-समाज। इसके अतिरिक्त और किसी तरह के व्यवस्थित समाज की कल्पना हमारे पास नहीं है। क्रान्तिदर्शी तत्वज्ञ अथवा कल्पनाशील कवि को छोड़ दें तो राज्य नियंत्रण के अभाव में मानो हमारी आँखों के आगे व्यवस्थाहीन अराजकता का चित्र उपस्थित हो आता है कि जहाँ मर्यादा रहेगी नहीं और

---

१. राष्ट्र और राज्य, पृ० १४। २. वही, पृ० १५। ३. वही, पृ० १८।

पशुता खुली खेलने लग जायगी।'[1] उनके विचारानुसार राष्ट्र ही जन की सुरक्षा है। तब प्रश्न यह उठता है कि राष्ट्र की व्यवस्था में श्रम और बुद्धि का क्या स्थान है? वस्तुतः ये दो विरोधी तत्व नहीं हैं। फिर भी लोकतंत्र में दोनों के बीच में खाई पड़ जाती है और बुद्धितंत्र कहीं-कहीं मुद्रा-तंत्र बन जाता है। जैनेन्द्र के मतानुसार—'श्रम और बुद्धि का द्वैत एक बार पैदा हुआ और उचित बना तो फिर वह कहाँ तक बढ़ता जा सकता है, इसका ठिकाना नहीं है। आज सभ्यता का जो संकट अनुभव में आ रहा है उसमें इस द्वैत का चरम अनुभव देखा जा सकता है। मजूर और हजूर ये दो श्रेणियाँ ही बन आई हैं।'[2] यहाँ लेखक ने मजूर और हजूर को दो श्रेणियों में रखकर पूँजीवादी व्यवस्था का चित्र हमारे सम्मुख रखा है। फलतः हमारी जीवन-दृष्टि 'पारमार्थिक' न रहकर 'परम-आर्थिक' बन गयी है। यहाँ जैनेन्द्र जीवन को आर्थिक स्तर से न देखकर आध्यात्मिक स्तर से देखते हैं और राज्य तंत्र में मनुष्य की अत्युन्नत वृत्तियों का पल्लवन चाहते हैं।

आधुनिक युग विज्ञान का युग माना जाता है और विज्ञान तथा धर्म में विरोध की कल्पना की जाती है। वास्तव में विरोध का मूल भोगोपयोग की सामग्री की वह अतिशयता है जो वैज्ञानिक साधनों की देन है। यदि इन साधनों पर अंकुश नहीं लगाया जाता तो हम भोगवाद के शिकार बन जाते हैं, तब आध्यात्मिकता का कोई प्रश्न नहीं रहता। भौतिकवाद की वृद्धि के साथ जीवन-मान की वृद्धि और शक्ति संग्रह का आग्रह भी आवश्यक है। इस सत्य को जैनेन्द्र ने इन शब्दों में प्रकट किया है—"जैसे-जैसे ज्ञान-विज्ञान का विकास होता और भोगोपयोग की सामग्री की आवश्यकता बढ़ती है, वैसे-ही-वैसे मानो ये राष्ट्र-सत्ताएँ अपनी पृथकता में आग्रही और अटूट बनती जाती हैं। स्थिति, विज्ञान की उन्नति के कारण ऐसी बन गई है कि शक्ति-संतुलन में तनिक अन्तर आया कि सारी दुनिया में झनझनाहट पैदा हो जाती है।'[3] जैनेन्द्र का कथन है कि दोष विज्ञान का उतना नहीं है जितना उसका उपयोग करने वाले प्रभु-सत्तात्मक और प्रतिस्पर्धात्मक राष्ट्र-राज्यों का। लोकतंत्र, अधिनायक तंत्र, साम्यवादी—सभी विज्ञान का उपयोग मानव मूल्यों की वृद्धि में न कर उसका उपयोग पारस्परिक संहार में करना चाहते हैं। लेखक के मत में रूस और अमरीका की जो विरोधी स्थिति है वही पिछले बीस वर्षों में पूर्व में चीन और भारत की बनती जा रही है।'[4] वास्तव में संघर्ष की जड़ बहुत गहरी हैं और विज्ञान के स्व-पर का भेद मिटा दिया है और यह आवश्यक हो गया है कि हम परस्परत्व का विकास करें। किन्तु यह भी आवश्यक है कि यह परस्परत्व

---

१. राष्ट्र और राज्य, पृ० २१। २. वही, २६। ३. वही, पृ० ३७। ४. वही, पृ० ३८-४१।

आत्मदान पर आधारित हो। स्वार्जन नहीं, स्वार्पण ही मानवता का कल्याण है–'बढ़ते हुए विज्ञान के प्रकाश में स्पष्ट है कि इस स्व-परत्व का विकास न हुआ तो महानाश का ताण्डव ही होगा, दूसरी संभावना नहीं रह जायगी। सृजनशील परस्परत्व निजत्व के उस रूप में से विकसित हो सकता है जो अहम्-प्रमुख नहीं है, जो स्वार्जन से उठकर स्वार्पण की भाषा में सोच सकता है, जो दूसरे को अपने लिए ही नहीं समझता, अपने को भी दूसरे के लिए समझ सकता है।'[1] यहीं से समाधान भी लेखक के मन में जन्म लेता है। वह यह है कि राष्ट्र का व्यक्तित्व राजनीतिक न होकर मानव-नीति पर आधारित हो। राजनीति सत्तात्मक होती है और मानव-नीति समर्पणमूलक। जैनेन्द्र के शब्दों में 'राष्ट्र का व्यक्तित्व अगर राजनीतिक ही रहा तो विग्रह और युद्ध से बचने का कोई उपाय न होगा। कारण, राजनीतिक रूप के लिये सत्ता के तंत्र को फैलते ही जाना पड़ेगा। फिर उस सत्ता के लिये अपना अस्तित्व ही सर्वप्रधान होने लग जायगा।'[2] उन्होंने मानव-नीति को ही अन्तिम समाधान माना। मानव-नीति पर चलते हुए समाज को श्रमोन्मुख बनाया जायगा और अन्ततः भविष्यत् मानव-संस्कृति की प्रतिष्ठा होगी। जैनेन्द्र के शब्दों में–'यदि कोई एक भी राष्ट्र आज हिम्मत के साथ मानव नीति के ध्रुव को अपनी आस्था और आचरण में उतार लेता है तो वह आज के विश्व संकट में एक नई किरण का आविर्भाव कर सकता है। इस आस्था का परिणाम स्पष्ट ही राज्य को दण्ड शस्त्रादि से अधिकाधिक स्थूल-तंत्र बनाने की अपेक्षा उसे उत्तरोत्तर नीति-सक्षम इसीलिए सूक्ष्म-तंत्र बनाने की दिशा में होगा। तब पैसे की प्रभुता श्रम से स्वतंत्र और विमुख नहीं रह जायगी। बल्कि वह उत्तरोत्तर श्रमोन्मुख और अन्ततः श्रमाधीन होगी।'[3] यहाँ भी श्रम की बात उठायी गयी है जो साम्यवादियों का मूलमंत्र है। परन्तु यह श्रम स्वाधीनमूलक और प्रतिस्पर्धात्मक न होकर समर्पणमूलक और सहयोगात्मक होगा। यही गांधीवाद है और यही संसार के सर्वश्रेष्ठ धर्मों का भी मूलमंत्र है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता व्यक्ति के श्रम को ही लेकर है। परन्तु इस श्रम के अनेक रूप हो सकते हैं।

जैनेन्द्र चाहते हैं कि हम राष्ट्र या राज्य की कल्पना को अपनी धारणा में थोड़ा ऊँचा उठा दें। हम मानवीय परमार्थ से अपनी दृष्टि नहीं हटायें। हमारे राष्ट्रीय स्वार्थ नीतिमूलक हों, नीति-निरपेक्ष नहीं। उनके विचार में नीति-निरपेक्षता से ही शक्तिवाद का जन्म होता है, तब राष्ट्र आत्मरक्षात्मक बन जाता है, वह समर्पण के धर्म को भूल जाता है और शोषण को अपना जीवनादर्श बना लेता है। फलतः व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता नष्ट हो जाती है, राष्ट्र अधिनायकत्व की ओर बढ़ने लगता है और यदि नहीं बढ़ा तो भी आक्रामक बन जाता है। जैनेन्द्र कहते हैं–'राष्ट्र या राज्य की धारणा को जब हम

१. राष्ट्र और राज्य, पृ० ६०। २. वही, पृ० ५९। ३. वही, पृ० ६०-६१।

केवल आर्थिक-लौकिक रूप में ही लेते हैं, जब हम अमुक राष्ट्रीय स्वार्थ को मानवीय परमार्थ से हटे एक स्वतंत्र स्वत्वाधिकार के रूप में देखने लग जाते हैं, तो ऊपर की वही दुर्घटना घटित होती है। राज्य स्वयंप्रतिष्ठ हो जाता है और नीति शास्त्र के पन्नों के लिए बच रहती है। शक्ति नीति से निरपेक्ष हो जाती है और समर्पण का धर्म भूल जाने पर उसके लिए सिर्फ आफेन्स-डिफेन्स का ही एक धर्म शेष रह जाता है।'[1]

जैनेन्द्र व्यक्तिवाद के साथ हैं। किन्तु उनका व्यक्तिवाद व्यक्ति की निरंकुशता पर आधारित नहीं है। वह उसके बलिदान की ही चरितार्थता है। उनके विचार में हमारी सारी धारणाओं को मानव-व्यक्ति-सापेक्ष होना चाहिए। यहीं से मानव-जाति की एकता की भावना का जन्म होगा। देश और राष्ट्र मानव व्यक्तित्व की स्वतंत्रता के रक्षक होकर ही सार्थक हो सकते है। 'मानव-जाति को यदि कभी एक होना है—और ज्ञान-विज्ञान की प्रगति को देखते हुए यह आसन्न भविष्य में ही अनिवार्य दीखता है—तो उसके आदि और ध्रुव घटक के रूप में मानव-व्यक्ति को स्वीकार करना होगा, देश और राष्ट्र आदि धारणाओं को मानव-व्यक्ति-निरपेक्ष बनने से बचाना होगा। सामूहिक संज्ञाएँ जब स्वयंसिद्ध मूल्य प्राप्त करने लग जाती हैं, तब मानव-नीति का सन्दर्भ उनसे छूट जाता है। तब मानो समुदाय के लिए व्यक्ति ही चलता है, समुदाय व्यक्ति के लिए नहीं होता।'[2] अब प्रश्न यह है कि मानव-व्यक्तित्व क्या है? और व्यक्ति की नीचता का क्या अर्थ होता है? मनुष्य यदि समाज का है तो अपना कहाँ है और कितना है? व्यक्ति के अपनेपन को ही यदि हम अनिवार्य तत्व मानें तो उसकी सामाजिकता की क्या स्थिति है? लेखक के मतानुसार व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता और सामाजिकता में कोई अन्तर्विरोध नहीं है क्योंकि व्यक्ति को व्यक्ति बने रहने के लिए उद्यम करना होगा और यह उद्यम एकांत की वस्तु नहीं हो सकता। इसके लिए उसे दूसरों का सहयोग प्राप्त करना और दूसरों को सहयोग देना होगा। यही पारस्परिकता मानव-व्यक्ति की सर्वोच्च मान है। जैनेन्द्र कहते हैं—'व्यक्ति की निजता जबकि एक अपरिहार्य तथ्य है, तब उसकी प्रकृति को भी समझने की आवश्यकता है। केवल निजता से तो निश्चय ही समाज नहीं बनता है। काम भी ऐसे कोई नहीं बन सकता है। हर प्रवृत्ति सहयोग माँगती है। परस्परता के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं हो सकती। मनुष्य पशु की तरह से स्वाधीन नहीं जी सकता। प्रकृति की ओर से ही वह ऐसा जन्मा है कि उसे मिल-जुलकर जीना होता है। कंद, मूल या कच्चे अन्न-फल-माँस से उसका भोजन नहीं हो जाता। न उसको ऐसी छाल-खाल मिली है कि वस्त्र के बिना चल जाय। जीने मात्र के लिये उसे उद्यम करना पड़ता है और अपने में से निकलकर परस्परता को जुटाना पड़ता है। यह पारस्पर्य मनुष्य का लक्षण है, यही उसकी क्षमता है।'[3]

---

१. राष्ट्र और राज्य, पृ० ६५। २. वही, पृ० ६६। ३. वही, पृ० ६८-६९।

इस सन्दर्भ में जैनेन्द्र ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। वह यह है कि 'क्या ऐसी कोई 'नेशनल इकानामी' नहीं हो सकती है जो मूलतः 'ह्यूमन इकानामी' भी हो ?'[1] उन्होंने अपना आशय समझाते हुए यह बतलाया है कि नेशनल इकानामी प्रतिस्पर्धात्मक होती है, किन्तु वह ह्यूमन इकानामी इसलिये कहते हैं कि यह चीज़ सहयोगात्मक होती है। अपने निबन्ध के अन्त में उन्होंने उस भावी मानव-संस्कृति की ओर संकेत किया है जिसमें मानव-व्यक्ति की अखंडता और अभंगता बनी रहेगी और व्यक्ति के भीतर का स्नेह पारस्परिक विकास में प्रतिफलित होगा।[2]

निबन्ध के बीच में जैनेन्द्र आदर्श भारतवर्ष की कल्पना करते हैं क्योंकि उनके मन में यही भारत आदर्श राष्ट्र था। इसे उन्होंने असल भारत कहा है। वास्तव में इसे राजनीतिक भारतवर्ष से भिन्न मानववादी अथवा आध्यात्मिक भारतवर्ष कहा जा सकता है, जहाँ प्रतिरोध की सत्ता है ही नहीं। स्वतन्त्र भारत का राष्ट्रकवि–महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वाणी इसी अविरोधी और सर्वग्राही भारतवर्ष की वन्दना में मुखरित हुई है। इस उच्च भूमिका पर स्वदेश और विदेश का अन्तर समाप्त हो जाता है तथा सर्वत्र प्रीति का पुरुषार्थ जागता है। निःसंदेह भारतवर्ष की यह कल्पना अत्यन्त सुन्दर और मनोमय है—'भारत एक अखंड कल्पना है और सहस्रों वर्षों पीछे तक गया उसका इतिहास है। उसका अस्तित्व सफल और गौरवपूर्ण रहा है और उसकी संस्कृति अविच्छिन्न और अजस्र रही है। किन्तु यह भारत क्या था ? प्रकृति की ओर से जो सीमा बन गई वह तो थी, लेकिन जहाँ वह सीमा प्रकृति ने ही बनाकर नहीं दी थी वहाँ भारत की सीमाएँ बराबर इधर से उधर होती गईं। कभी अफगानिस्तान पूरा इसमें था, आज लाहौर भी नहीं है। इन राजनीतिक परिवर्तनों और हलचलों के नीचे किन्तु कुछ था जो अडिग बना रहा–असल भारत वही था। आपस में मिले-जुले रहन-सहन में से विकसित हुआ वह एक मानसिक, सांस्कृतिक स्वरूप था जो सदियों के अन्तराल से अभंग टिका चला आया। उसे किसी से ईर्ष्या न हो सकती थी, न द्वेष और बस वह अपनी रचनात्मक निष्ठा में ही सम्पन्न-निष्पन्न था। इस भारत की किसी से टक्कर नहीं हो सकती थी, न किसी पर उसका आक्रमण हो सकता था। उसकी स्वत्व-रक्षा के लिए निषेध-प्रतिरोध की आवश्यकता न थी। तत्व बाहर से आकर जो मिल-खप जाते थे वे मूल को और पुष्ट ही करते थे, उसकी अन्तःप्रकृति को विविध और समृद्ध बना जाते थे। अनमिल रहते वे तत्व मानो अपने आप भर जाते थे। बुद्ध यहाँ हुए, किन्तु बौद्ध परिव्राजकों को ऐसा नहीं मालूम हुआ कि स्वदेश से वे विदेश जा रहे हैं। विस्तार सहज

---

१. राष्ट्र और राज्य, पृ० ६९। २. वही पृ० ७४।

भाव से होता गया, किसी को कष्टकर जैसा हुआ ही नहीं। यह विस्तार था जिसमें दोनों ओर एक समान पुरुषार्थ का जागरण हुआ।'[1]

राष्ट्र है तो राष्ट्र-नेता भी चाहिए और जैनेन्द्र के मतानुसार आदर्श राष्ट्र का नेता गांधी जैसा आदर्श राष्ट्रनेता ही हो सकता है। उसके लिये यह आवश्यक है कि वह दो स्तरों पर जिये, पर उन दोनों में कोई विरोध न हो। लेखक के विचार में गांधी राष्ट्रीय और राजकीय भी हैं और उसी पूर्णता के साथ मानवीय और जागतिक भी हैं। उनके ही शब्दों में—'गांधी की सबसे बड़ी विशेषता इस सन्दर्भ में यह है कि वह पूर्णतः राष्ट्रीय और राजकीय रहे, साथ ही उसी पूर्णता के साथ वह मानवीय और जागतिक भी रह सके। राष्ट्रीय उनके साथ मानवीय का विरोध धारण नहीं कर सका और राष्ट्र-पिता और एकच्छत्र राष्ट्रनेता होने के नाते उन्हें जगत् भर के लिए महात्मा बनने में कोई कठिनाई नहीं हुई। कहीं आदर्श- द्विविधा की समस्या उन्हें नहीं हुई और वे सब चुनौतियाँ उन्होंने ली, उनका उत्तर दिया कि जिनका उपाय केवल हिंसा में देखा जाता है।'[2] गांधी के साथ चर्खा अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। जैनेन्द्र के विचार में वह गांधी की पारमार्थिक दृष्टि का प्रतीक है, जो आर्थिक दृष्टि से कहीं बड़ी है, क्योंकि वह केवल आर्थिक योजना से सम्बद्ध नहीं है, उसमें अधिक-से-अधिक लोगों की हित-सम्पादन भी सन्निहित है। वह अहिंसा का उपकरण है, हिंसा का नहीं। इसलिये उससे वितरण की पूँजीवादी समस्या नहीं उठती।[3] इस प्रकार लेखक राष्ट्र और राज्य के आदर्श स्वरूप की कल्पना करते हुए श्रम और समर्पणमूलक सामाजिक व्यवस्था एवं सहयोगात्मक जीवन-दर्शन तक पहुँच जाता है और लोकमंगल को ही अध्यात्म के रूप में कल्पित करता है जिसके प्रतीक गांधी और गांधीवाद है।

धर्म और दर्शन

जैनेन्द्र धर्म के आन्तरिक तत्व को महत्व देते हैं, उसके बाह्य आचारों को नहीं। उनके विचारानुसार वस्तु का स्वाभाविक धर्म है, जैसा जैन-दर्शन में मान्य है। परन्तु जैनेन्द्र कुछ आगे बढ़कर इसका अर्थ आत्मनिष्ठा लेते हैं और कहते हैं कि व्यापक रूप से मानव का धर्म मानवता ही हो सकता है।[4] जहाँ तक मानवता का प्रश्न है वह धर्म-निरपेक्ष समाजों का भी आदर्श है। जैनेन्द्र जब आत्मनिष्ठा की बात करते हैं तो वे भारतीय संत-समाज की विचारधारा का ही समर्थन करते हैं। धर्म की विशेषता यह है कि वह आचरणमूलक है। अतएव जैनेन्द्र उसकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं 'सब

राष्ट्र और राज्य, पृ० ५७-५८। २. वही, पृ० ७१। ३. वही, पृ० ७०-७१।
४ प्रस्तुत प्रश्न, पृ० २६२।

समय और सब स्थिति में आत्मानुकूल वर्तन करना धर्माचरण ही होना है ।'[1] यह विचार-धारा सनातन भारतीय विचारधारा नहीं है । इस विचारधारा के अनुसार धर्म बाहर ग्रंथ और ग्रंथियों में नहीं पाया जायगा, वह भीतर ही है । उसे अन्तर्ध्वनि व मन.साक्षी भी माना जा सकता है । जैनेन्द्र के अनुसार यह अन्तर्ध्वनि हमारे भीतर बराबर जागती रहती है और मूलत: वर्जनामूलक है । उनके शब्दों में—'उसी लौ में ध्यान लगाये रहना, उसी अन्तर्ध्वनि के आदेश को सुनना और तदनुकूल बर्तना, उसके अतिरिक्त कुछ भी और की चिन्ता न करना, सर्वथैव उसी के हो रहना और अपने समूचे अस्तित्व को उसीमें होम देना, उसमें जलना और उसी में जीना, यही धर्म का सार है ।'[2] इसके पश्चात् वे सन्तो के आत्मज्ञान की भाषा में बोलने लगते हैं तो उनकी चिन्ता पर से आधुनिकता का आवरण उतर जाता है । दृष्टान्त के लिए—'सूने महल में दिया जगा ले । उसकी लौ मे लौ लगा बैठ । आसन से मत डोल । बाहर की मत सुन । सब बाहर को अन्तर्गत हो जाने दे । तब त्रिभुवन में तू ही होगा और त्रिभुवन तुझमें, और तू उस लौ में । धर्म की यही शिष्टावस्था है । वहाँ द्वित्व नष्ट हो जाता है । आत्मा की ही एक सत्ता रहती है । विकार असत् हो रहते हैं जैसे प्रकाश के आगे-आगे अन्धकार लुप्त होता जाता है ।'[3]

वस्तुत: आधुनिक भारतीय विचारक के लिये धर्म-सम्बन्धी विचारणा में प्राचीन तत्वज्ञान की परिभाषावली का उपयोग अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि वह जिस परम्परा मे साँस लेता है उसमें ये ही शब्द गूँजते रहते हैं । जैनेन्द्र जब कहते हैं कि 'धर्म का लक्ष्य कैवल्य स्थिति है । वह नित्य और साम्य की स्थिति है । वहाँ सत् और चित् ही हैं । अत. आनन्द के सिवा वहाँ और कुछ हो नहीं सकता । विकल्प, संशय, द्वन्द्व का वहाँ सर्वथा नाश है'[4] तो वह प्राचीन विषयों के आत्मज्ञान का ही उपयोग करते हैं और उन्हीं की भाषा बोलते हैं । इस तत्वज्ञान की भाषा में धर्म को आत्म-जाग्रति माना गया है । उनके विचार में अधर्म का अर्थ है विकल्पमयी बुद्धि जो ममता, मोह, माया में हमें भटकाती है । इससे छुटकारा पाने का अथवा धर्माचरण का एक ही मार्ग है और वह श्रद्धासंयुक्त बुद्धि अथवा विवेक । अत: उनका कहना है कि जहाँ श्रद्धा नहीं वहाँ अधर्म है ।

भारतीय परम्परा में धर्म को चार पुरुषार्थों में से एक माना गया है । जैनेन्द्र के अभिप्रायानुसार अर्थ और काम जीवन के सामान्य धरातल हैं, किन्तु इनको ऊर्ध्वगति देने के लिए धर्म-दृष्टि की आवश्यकता है । 'मोक्ष अभीष्ट है, अर्थ और काम में से धर्मपूर्वक मोक्ष की ओर गति करनी है ।'[5] यहाँ धर्म को आस्था बताया गया है और मोक्ष को लक्ष्य । इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकांत साधना में जैनेन्द्र विश्वास नहीं करते क्योंकि

१. प्रस्तुत प्रश्न, पृ० २९२ । २. वही, पृ० २९३ । ३. वही, पृ० २९३ । ४. वही, पृ० २९४ । ५. 'प्रश्न और प्रश्न' पृ० २९५ ।

उनके विचारानुसार वैराग्य में पाप और अधर्म की चुनौती नहीं है और साधक को कर्म-मूलक रहना चाहिए। वे यह भी जानते हैं कि उसे प्रतिक्षण अर्थ और काम से जूझना पड़ेगा। इस प्रकार वे चारों पुरुषार्थों को एक समन्वित जीवन-दर्शन के रूप में देखते हैं। उनके मत में अर्थ और काम हमारी जीवन-यात्रा के मार्ग के दो तट हैं। 'अर्थ और काम ये दो जीवन यात्रा के मार्ग के तट हैं। तटों के बिना क्या कोई मार्ग हो सकता है : अर्थात् वे दो तट छूटते नहीं हैं, लेकिन अन्तिम मंजिल तक बराबर साथ देते हैं। जो छूटता है वह तट का अमुक बिन्दु है। चलते-चलते जैसे सड़क पर तीसरा, चौथा और फिर पाँचवाँ और छठा मील छूटता जाता है. लेकिन मार्ग के दायें-बायें तट दोनों वर्तमान रहते ही हैं। इसी तरह अर्थ और काम हमारे दायें-बायें यात्रा के अन्तिम बिन्दु तक साथ रहने वाले हैं। अर्थ का आशय अचेतन वस्तु, काम का आशय चेतन व्यक्ति। इन दोनों तटों से कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता और इन दोनों से हम कभी भी विच्छिन्न नहीं हो सकते हैं। मोक्ष जिसको कहते हैं, वह इन दोनों के अभाव का नाम नहीं है बल्कि उस सद्भाव का नाम है, जहाँ सब वस्तु और सब व्यक्ति, सब कुछ उपलब्ध हो जाता है। वहाँ भिन्नता नहीं रहती, तादात्म्य हो जाता है। इसलिए मानो अपेक्षा भी वहाँ नहीं रह जाती है। वहाँ छूटना और पाना दोनों एक बन जाते हैं।'[1] इस रूपक के द्वारा जैनेन्द्र सच्चे धार्मिक की अनासक्ति वृत्ति की ओर संकेत करना चाहते हैं, क्योंकि उसे व्यक्ति और वस्तु के बीच में रहकर भी निरपेक्ष रहना है किन्तु यह अनासक्ति और निरपेक्षता वैराग्य की साधना नहीं है। यहीं जैनेन्द्र का धार्मिको से विरोध है विशेष रूप से मध्ययुगीन संतों से। वे जिस अनासक्ति और निरपेक्षता की कल्पना करते हैं, उसे उन्होंने प्रीति की स्थिति कहा है। उनका कहना है–'व्यक्ति और वस्तु के बीच में रहकर अपने निरपेक्ष रहने का अर्थ केवल इतना है कि हम उनको स्वीकार करते हैं, इनकार नहीं करना चाहते हैं। इसी स्थिति को मैं प्रीति की स्थिति कहना चाहता हूँ। यही निरपेक्षता संभव और शक्य है। इससे अतिरिक्त विराग या वैराग्य कृत्रिम और असिद्ध होता है। प्रसन्न स्वीकृति से अलग जो वैराग्य की साधना है वह ममता-लालसा का ही उल्टा रूप है। वह राग-द्वेष के चक्र का फल है। वस्तु और व्यक्ति से राग हम नहीं रखना चाहते हैं, इसलिए द्वेष रखने लगते हैं तो उसमें कोई अर्थ नहीं है। वैराग्य के नाम पर अधिकांश जो साधना देखी जाती है, वह यत्किंचित द्वेषमूलक होती है। संसारी विशुद्ध प्रतिक्रिया है।'[2] प्राचीन भारतीय संस्कृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति में द्वन्द्व रहा है। किन्तु आधुनिक चेतना निवृत्ति और वैराग्य के प्रति

---

१. प्रश्न और प्रश्न, पृ० २६६-२६७। २. प्रश्न और प्रश्न.: प्रणय, नास्तिकता और ईश्वर, पृ० २६७-२६८।

और वह उससे अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर उस पर अपनी आत्मछाप लगा देता है। जैनेन्द्र मानते हैं कि 'वस्तु कहीं भी व्यक्ति से स्वतन्त्र नहीं।' उनके विचार में विज्ञान और धर्म दोनों अपनी सर्वोच्च भूमिका पर अनासक्ति की साधना है। इसी दृष्टि-कोण से उन्होंने धर्म को परम विज्ञान कहा है। यदि विज्ञान परम विज्ञान बन जाता है तो एक क्षण में वरदान बन जाता है क्योंकि तब वह संहारक न होकर आत्मिकतामूलक होगा, यही उनका विचार है। वे मानते हैं कि 'विज्ञान अनासक्त है वस्तु के प्रति। उसे वस्तु का सार, सत्व, आत्मा चाहिए। अतः वैज्ञानिक आसक्त हो भी सकता है स्वयं के प्रति, पर धर्म है अन्तःबाह्य अनासक्ति—वस्तु के प्रति, साथ ही निज के प्रति भी। ऐसे वह परम विज्ञान है।'[1]

धर्म की जिस कल्पना को लेकर जैनेन्द्र चले हैं उसमें सम्प्रदाय, अवतार और पैगम्बर को कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वह सर्व-निरपेक्ष और आत्म-धर्म है। उनके विचार में ये सब धर्म के साथ सम्पृक्त दुर्बलताएँ हैं। यदि धर्म सम्प्रदाय की रचना करता है और उसी में बना रहता है तो वह व्यक्ति के आत्मधर्म को पनपने नहीं देता। वे कहते है—'सम्प्रदाय असमर्थ के लिये है जबकि धर्म मनुष्य को पूर्णता की सामर्थ्य देता है।'

ईश्वर

जैनेन्द्र आस्तिक हैं, उन्हें ईश्वर पर अगाध आस्था है। उन्होंने अपनी रचनाओ में जाने अनजाने बार-बार अपनी इस आस्था का उपयोग किया है और उनके आलोचक उनकी इस बात से चकित हो गये हैं कि जहाँ बौद्धिक समाधान एक विशेष निष्कर्ष की ओर ले जाते हैं, वहाँ वे इस नियमिति को बीच में डालकर समस्या को उलझा देते हैं। साधा-रणतः साहित्य का विषय ईश्वर नहीं, मानव है और उसी के राग-द्वेष, सुख-दुख आदि से साहित्यकार अपनी समस्याओं का समाधान करता है। धार्मिक साहित्य में अवश्य आलंबन के रूप में ईश्वर के स्वरूपों की विवेचना रहती है और उसे रागात्मक संबंधो का विषय बनाया जाता है। जैनेन्द्र के विचारात्मक साहित्य में स्वतंत्र रूप से ईश्वर-सम्बन्धी विचारणा हमें मिलती है। ईश्वर की ईश्वरीयता का क्या महत्व है? ब्रह्म निर्गुण है या सगुण? पाप-पुण्य की समस्या का आस्तिकता से कहाँ तक समाधान किया जा सकता है आदि प्रश्न जैनेन्द्र के साहित्य में बार-बार आते हैं। उन्होंने इधर के ग्रन्थो मे ईश्वर को केन्द्र में रख दिया है। परिप्रेक्ष की भूमिका में उन्होंने यह दावा किया है कि उनका लक्ष्य भगवान का साक्षात्कार है और उनके सारे साहित्य के मूल में यही ईश्वर-बोध है। नानात्व के पीछे जो सर्वशक्तिमान एक है, उसे ही उन्होंने ईश्वर कहा है और यदि साहित्य का अर्थ सहितत्व है तो उनकी यह बात भ्रामक नहीं जान

---

१. इतस्ततः—'पाप का सवाल', पृ० ११० ।

पड़ती।'[1] इसी तरह 'समय और हम' के अन्त में उन्होंने जीवन-सत्य को ही ब्रह्म माना है और उसकी कल्पना इस जीवन-जगत के भीतर ही की है। वस्तुतः पारमार्थिक सत्ता को लेकर भीतर और बाहर की कल्पना ही नहीं हो सकती। इस रचना में जो अंतिम प्रश्न और समाधान है वह परात्पर ब्रह्म की व्याख्या इस प्रकार करता है—'जो कहो वही है। जो कहो थोड़ा है। जीवन और जगत् से बाहर जो हो, उससे स्वयं जीवन और जगत् बाहर रह जायेंगे न ? जिससे जीवन बाहर और जगत् बाहर हो ऐसा ब्रह्म क्या ? लेकिन जीवन और जगत् को अपने से बाहर मानो परिधि में जो देखने के हम आदी हैं, सो उसमें यह न भूल जायें कि भीतर से और भीतर, और उसके भी और भीतर केन्द्र मे जाने का सदा ही अवकाश रहने वाला है। ब्रह्म परात्पर है। वह स्व है, वह पर है, वह स्व-पर के पार है। अर्थात जिन शब्दों में भी लो, लेकिन लेने के लिये ही उन शब्दों को मानो। शब्दों में अटको नहो क्योंकि शब्द से जो सूचना मिलती है, वह वस्तु की हो जाती है अनुभूति की छूट जाती है। अनुभूति उपलब्धि है। वहाँ शब्द मौन है। प्रवहमानता भी मानो वहाँ शान्तता हो जाती है।'[2] इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र ब्रह्म को सत्तात्मक मानते हैं। पर वह यह भी मानते हैं कि वास्तविक वस्तु अनुभूति है जो ज्ञान और शब्द के भीतर नहीं बँधती। ईश्वरानुभूति ही वास्तविक तत्व है। ज्ञान और शब्द के द्वारा हम प्रवहमान जगत में निहित जीवन-सत्य के रूप में ब्रह्म की कल्पना करने में समर्थ हैं। किन्तु उसकी वास्तविकता उस मौन में है जो ईश्वरानुभूति की सबसे बड़ी सार्थकता है। इस उच्च भूमिका पर वह चीज नहीं रहती जिसे हम ईश्वरवाद कहे। जैनेन्द्र के मत में अन्त.करण की शुद्धता से हमें इस ईश्वर बोध की प्राप्ति हो सकती है और तब हम सहसा नैतिक द्वन्द्व से ऊपर उठ जाते हैं।'[3] प्रकृति अथवा मैटर को मानते हुए भी वे उसे ईश्वर से भिन्न नहीं मानते। उनका कहना है मैटर अनीश्वर नहीं है क्योंकि वे प्रकृति और ईश्वर में किसी प्रकार का विरोध नहीं देखते। ईश्वर यदि पूर्णत्व है तो उसमें विरोध रह ही नहीं सकता।[4] इसी प्रकार अद्वैत और द्वैत के विरोध की कल्पना को भी वे ईश्वर के साथ नहीं जोड़ते। उनका कथन है कि अद्वैत-द्वैत सूक्ष्म-स्थूल उसी प्रकार दो शब्द हैं जैसे रस और फल। शब्दों की सीमा होती है और इसीलिये भाषा अद्वैत को द्वैत का रूप पहना देती है।'[5] ईश्वर को श्रद्धात्मक और अनुभूतिजन्य मानने के कारण ही जैनेन्द्र ईश्वर के स्वरूप के प्रश्न को व्यर्थ मानते हैं उनका कथन है—'स्वरूप किसी दूसरे को छोड़ कोई एक निश्चित हो नहीं सकता, इसी से ईश्वर ईश्वर है। सुविधा हम सबको है कि अपने मन का स्वरूप उसको पहना लें यह अनन्त सुविधा ईश्वर के सिवा कहीं अन्यत्र मिल नहीं सकती। उसे रूप में बंधना

---

१. 'परिप्रेक्ष'—अपनी कैफियत, पृ० क। २. 'समय और हम', पृ० ६४८।
३ वही पृ० ७७ ४ वही पृ० ४३ ५ वही पृ० ४३

हमारी ही आवश्यकता है। ईश्वर ने वह क्षमता भी हमें दे दी है। लेकिन सब रूप जहाँ से प्रगटे हों, उसका अपना क्या रूप कहा जा सकता है? या तो अल्प कहो या अनन्त रूप कहो।'[१] भारतीय चिंतन-परम्परा में अद्वैत और द्वैत को लेकर अनेक प्रकार के समाधान सामने आये। परन्तु जैनेन्द्र उन दार्शनिक प्रश्नों के बीच नहीं पड़ते। उनके विचार में ईश्वर की परमतायें द्वैत का अवकाश ही नहीं है। द्वैत इसलिए है कि हम हैं। वस्तुतः इस सारी समस्या को उन्होंने अगम बतलाया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि शब्दों द्वारा इस सम्बन्ध में किसी समाधान की प्राप्ति संभव नहीं है। इस विषय पर उनकी मान्यताओं का सार इन पंक्तियों में रखा जा सकता है—'अद्वैत हर दो के सर्वथा दो-पन का अवकाश है। कुछ खास के आपसी दो-पन का नहीं। जैसे जड़ और चेतन, उसी तरह जीवात्मा-परमात्मा, उसी तरह सत्य और असत्य, रूप-अरूप, साकार-निराकार आशय, जितनी द्वैत की कल्पनीय अवस्थायें हैं, अद्वैत में सबका समाहार है। आपके प्रश्न को देखते हुए कहा जा सकता है कि परम अद्वैत (परमेश्वर) जीव के साथ जिस तरह एक है, वैसे ही एक है जड़ के भी साथ। ईश्वर की परमता में द्वैत को अवकाश नहीं। द्वैत का स्थान हमसे है। लेकिन वह सब चर्चा से अगम जो है सो उस तट से इधर ही हमें बात को रखना चाहिये। आगे जाना डूब जाना है। वह बात द्वारा सम्भव नहीं है।'[२]

व्यवहार में जैनेन्द्र ईश्वर को प्रेमपरक मानते हैं। उनके विचारानुसार आस्तिकता के प्रचार की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि आस्तिक के प्रेम में यह चरितार्थ होता है और प्रेम के माध्यम से ही उसका प्रचार हो जाता है।[३] आस्तिक का दायित्व यही है कि वह प्रेम करे। वे प्रेम की परिपूर्णता सेवा में देखते हैं और प्रेम के आनन्द में सेवा का दायित्व भी भरपूर पाते हैं।[४]

जैनेन्द्र के विचार में वैज्ञानिक भी जहाँ आस्तिक हैं वहाँ वह स्वसेवन की जगह स्वार्पण की वृत्ति से परिचालित होता है। आज हमने यन्त्र और धन के मद में आत्मार्पण की गहरी आवश्यकता को भुला दिया है। फलस्वरूप विज्ञान के उत्कर्ष के सहारे हम वहाँ आ गये हैं जहाँ आगे राह बन्द दिखाई देती है।[५] यहाँ यह स्पष्ट है कि लेखक ने आस्तिकता को स्वभावबद्ध करना चाहा है और इस प्रकार वैज्ञानिक के श्रद्धाभाव और आत्मसमर्पण की एक नयी व्याख्या दी है। वे मानते हैं कि बौद्धिक उपासना से हृदय के सर्म्पण की आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। इसलिये सामान्य वैज्ञामिक उस प्रसाद से वंचित है जिसे आस्तिकता कहा जाता है। वैसे जैनेन्द्र सब धर्मों की

---

१. 'समय और हम', पृ० ४४। २. वही, पृ० ४५। ३. वही, पृ० ४६। ४. वही, पृ० ४६-४७। ५. वही, पृ० ५०-५१।

एकता को ईश्वर में ही कल्पित करते हैं। परन्तु यह एकता भीतरी है, बाहरी नहीं। अर्थ, राजनीति और समाज जिस एकता की भूमिका पर खड़े होते हैं वह धर्म की ही भूमिका है और अन्ततः वह भूमि ईश्वर के सिवा दूसरी नहीं है।'[1]

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र की मानववादी विचारधारा और साहित्य-चेतना का मूल स्रोत उनके भीतर की वह गम्भीर चेतना है जो वस्तुओं और विषयों की एकता में प्रतिफलित होती है तथा जिसको बुद्धि की अपेक्षा श्रद्धा, प्रेम और अनुभूति से अधिक आत्मसात किया जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से महात्मा गांधी तक भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारधारा का जो नया रूप विकसित हुआ है वह जैनेन्द्र के समग्र चिन्तन से स्पष्ट रूप से उद्भासित है, यद्यपि उन्होंने अपने चिन्तन और भाषा की स्पष्ट छाप देकर उसे एक प्रकार से मौलिक बना दिया है। गांधीवादी साहित्य-दर्शन की सम्पन्न भूमिका हमें जैनेन्द्र की आस्तिक विचारधारा में मिल जाती है और एक प्रकार से हम उन्हें प्रथम कोटि का गांधीवादी विचारक कह सकते हैं।

काम, प्रेम और परिवार

जैनेन्द्र के साहित्य में शृंगार-तत्व की प्रधानता अनिवार्यतः दिखलाई देती है। उनके उपन्यासों और कहानियों में पारिवारिक जीवन के जो चित्र हमें प्राप्त होते हैं वे वर्षों से वाद-विवाद का विषय बने हैं। जहाँ कुछ लोगों के विचार में उनमें पश्चिमीय फ्राइडीय मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति है, वहाँ अन्य लोग उनमें गांधीवादी जीवन-दर्शन और ब्रह्मचर्य सम्बन्धी गांधीजी की विचारधारा का आरोप पाते हैं। जहाँ पहली श्रेणी के लोग उन्हें यौनवादी और विकृत मनोविज्ञान का पोषक कहते हैं, वहाँ दूसरे वर्ग के लोग उन्हें उत्कट कोटि का आदर्शवादी मानते हैं। स्वयं जैनेन्द्र जी का कहना है कि उन्होंने पश्चिमीय मनोविज्ञान का अध्ययन बहुत बाद में किया और उनका सारा चिंतन अपने देश और समाज की स्थितियों पर ही आधारित है। जैनेन्द्र के साहित्य में मध्यवर्ग के नागरिक की ही जीवन-चर्चा विशेष रूप से आयी है और इसी प्रसंग में विवाह, प्रेम और विच्छेद की समस्या भी उठी है। इन क्षेत्रों में मानवजीवन का रागात्मक भाग अत्यधिक मात्रा में आ जाता है। शताब्दियों से मानवता काम, प्रेम और पाप की समस्याओं के समाधान के लिए प्रयत्नशील रही है। पश्चिमी विचारणा और साहित्य में वहाँ की सामाजिक स्थिति के अनुकूल बहुत से समाधान हैं। वे पूर्व पर लागू नहीं होते। इसलिए भारतीय सामाजिक विचारकों और साहित्यकारों को विशेष रूप से नये समाज के अनुरूप समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना पड़ा है। किन्तु तब भी साहित्यकार के लिये

---

१. 'समय और हम' पृ० २३७।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उनकी रचनाओं से स्वस्थ समाज की सृष्टि हो, समाज की हानि की न हो।

जैनेन्द्र काम को पाप-वृत्ति नहीं मानते। वे उसे मनुष्य की नैसर्गिक वृत्ति ही मानते हैं। दमन के प्रति उनका आग्रह नहीं है। वे देह से स्वतंत्र आदर्श प्रेमभाव की कल्पना करते हैं जो आत्मदान पर ही आधारित रहता है और एकांततः मानसिक अथवा आत्मिक होता है। उन्होंने अपने साहित्य में आदर्श नारी-चरित्र प्रस्तुत करने का दावा नहीं किया है। उनके विचार में आदर्श को किसी एक व्यक्ति या छवि में बाँधना सम्भव नहीं है।[1] यह अवश्य है कि वे जिस आदर्श नारी की कल्पना करते हैं वह रूपवती नहीं है। सामान्यतः उपन्यासकार और कहानीकार स्त्री के लिये रूप को बड़ी अनिवार्य वस्तु समझते हैं और उनके अंकन में बड़ी रसज्ञता से काम लेते हैं। जैनेन्द्र रूप को छल मानते हैं। उनके लिए स्त्री का स्वरूप है सतीत्व और मातृत्व। उनका कहना है—'स्त्री के आदर्श के साथ रूप का कोई सम्बन्ध मुझे नहीं दीखता। पर स्त्री ही अधिकतर यह जान नहीं पाती, इससे वह ठगी जाती है। रूप, यह जो अंग पर से झलकता है, असल में प्रकृति की ओर का एक छल है। मातृत्व एक दायित्व है और स्त्री को वह रूप के व्याज से ही मिलता है। रूप उसका स्वरूप नहीं है। स्त्री का स्वरूप है सतीत्व और मातृत्व। जो उस स्वरूप को नहीं अपनाती, रूप भी उसका व्यंग्य बनता है। वह उसके जीवन में नहीं घुलता और उसे सुन्दर नहीं बनाता।'[2] किन्तु यह स्त्रीत्व और सतीत्व क्या है? इस विषय में जैनेन्द्र के अपने विचार हैं। उन्होंने सीता और राधा में समान रूप से सतीत्व की कल्पना की है और अपनी व्याख्या को इतना सूक्ष्म बना दिया है कि वह साधारण पाठक की समझ के परे हो गयी। वे नहीं चाहते कि स्त्री केरीयरिस्ट बनें। उनके विचार में स्त्री का केरीयरिस्ट होना पुरुष से होड़ लगाना है और सतीत्व में पुरुष से योग और सहयोग है।[3] बात यह है कि जैनेन्द्र मानव-सम्बन्धों पर आध्यात्मिकता का बहुत दूर तक आरोप करते हैं। उनके सतीत्व का आदर्श असाधारण है। वे कहते हैं—'पति तो द्वार है, स्त्री का समर्पण पति के द्वारा असल से समष्टि-जीवन-रूप-परमेश्वर में ही पहुँचता है। ऐसी स्त्री की सहानुभूति के लिये सीमा नहीं रह जाती, न अधिकार पर अंकुश रहता है।'[4] जैनेन्द्र के विचार में पति के प्रति सर्वसमर्पण ही सतीत्व है। किन्तु जहाँ जैनेन्द्र पति के प्रति समर्पण को इतनी दूर ले जाते हैं कि वह उसकी प्रत्येक इच्छा पर समर्पित हो और उसके द्वारा दूसरे को भी प्रेम का प्रतिदान दे सके, वहाँ वे सतीत्व और समर्पण को असम्भव सीमाओं तक खींच लाते हैं। इस स्थिति में

---

१. 'काम, प्रेम और परिवार', भूमिका, पृ० ९। २. वही, पृ० ११ (भूमिका)। ३. वही, पृ० १२। ४ वही, पृ० १२।

मानव-मनोविज्ञान भी उनके हाथ से निकल जाता है क्योंकि मनो-भूमिकायें भी कुछ सीमाओं को लेकर चलती हैं। पति हाड़-मांस का प्राणी होता है और सामान्य राग-द्वेष की भूमिका से ऊपर उठना उसके लिए सम्भव नहीं है। अतः जहाँ वह अपनी सीमाओं के बाहर जाकर किसी अन्य व्यक्ति को पत्नी के जीवन में लाना चाहेगा वहाँ वह अतिवाद की ही सृष्टि करेगा। वह स्वयं खण्डित होगा अथवा पत्नी को खण्डित करेगा। जैनेन्द्र कहते हैं कि लक्ष्य ईश्वर है जो समष्टि-जीवन-रूप है और अन्य प्राणियों की भाँति पत्नी को अपने पति के माध्यम से समष्टि-जीवन-रूप परमेश्वर के प्रति समर्पित होना है। तात्पर्य यह है कि वह सबके प्रति अधिकाधिक उदार होती जाय। परन्तु यह बात बहुत दूर तक सम्भव नहीं है क्योंकि पत्नी के साथ देह-धर्म है और वह उसे सब के प्रति समर्पित नहीं कर सकती। इन्हीं वाक्यों में जैनेन्द्र ने अपने नारी-पात्रों की ही विडम्बना का समाधान किया है। वे जिस सती-धर्म की व्याख्या यहाँ करते हैं वह कल्पना और शायद कला की वस्तु भी हो सकती है, पर वास्तविक जीवन के लिये वह अनभीष्ट है।

जहाँ तक इन्द्रिय-योग, ब्रह्मचर्य और पारिवारिकता का प्रश्न है जैनेन्द्र का विचार गांधी जी के विचारों से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। पर गांधी जी के विचारों में जो वैराग्यमूलकता और चारित्र्य-शुद्धता है वह जैनेन्द्र की विचारधारा में दिखाई नहीं देती। जैनेन्द्र इन्द्रिय-भोग को वर्जनीय नहीं मानते, क्योंकि वे आत्मा और इन्द्रियों का परस्पर विरोध नहीं देखते। उनका कहना है कि—'आत्मा को और इन्द्रियों को परस्पर विरोध में देखने के हम आदी बने हैं। कुछ वैसा विरोध तो है नहीं। जो आत्मानुकूल है इन्द्रियों से प्रतिकूल वह हो नहीं सकता। आत्मा अखण्ड और एक है। इन्द्रियाँ अंग रूप हैं, इसलिए कई हैं। इन्द्रियों की तृप्ति अलग-अलग है। इसलिए ऐसी प्रत्येक तृप्ति स्पष्ट ही अतृप्ति बन जाती है। दूसरे शब्दों में इन्द्रियों के क्षेत्र में तृप्ति-जैसी वस्तु है ही नहीं, वहाँ केवल तृष्णा है। तात्कालिक रूप से तृष्णा तृप्ति ढूँढ़ती और पाती रहती है। ये तृष्णा और तृप्ति बहुसंख्यक हैं, इसी में है कि वे क्षणिक हैं, ध्रुव नहीं है। इससे वे भ्रम हैं, सत्य नहीं है। एक ही साथ जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय इन सब इन्द्रियों को तृप्ति करती है, वह तो आत्म-तृप्ति ही हो सकती है। इससे सच तो यह है कि अनात्म भोग के प्रत्येक प्रयोग में इन्द्रियाँ आत्म-योग ही ढूँढ़ती हैं।'[1] संत-परम्परा में हमें यह दृष्टिकोण नहीं मिलेगा। उसमें अमित इन्द्रिय-भोग को परमात्मा का एकदम विरोधी माना गया है। वाममार्गियों की भाँति जैनेन्द्र भोग में से ही अध्यात्म खोजने को नहीं कहते। फिर भी उनके विचार में इन्द्रिय-दमन से उत्पन्न अभाव-बोध मुक्ति में बाधक बन जाता है। वास्तव में इन्द्रिय-दमन से हमें आत्म-सन्तोष और आत्म-संतृप्ति प्राप्त होते हैं और पवित्रता की मीठी, सुन्दर अनुभूति होती है। इसी इन्द्रिय-दमन से मानव निम्न-

१. काम, प्रेम और परिवार, पृ० १८।

धरातल से ऊपर उठता है। निश्चय ही जैनेन्द्र की विचार-धारा पर फ्रायड विरोधी मनोवैज्ञानिकों का प्रभाव है, जो इन्द्रिय-दमन को नैसर्गिक स्थिति नहीं मानते और उसकी वर्जना करते हैं। परन्तु संसार के श्रेष्ठ धर्मों और साधकों की साची इसके विपरीत पड़ती है। जिस आत्मविकास की बात जैनेन्द्र कहते हैं, वह उस आत्मविकास से भिन्न है जो संतों और योगियों में कल्पित है। वस्तुतः इन्द्रिय-भोग के द्वारा जिस सार्थकता की बात जैनेन्द्र ने उठायी है वह आध्यात्मिक या धार्मिक नहीं है जहाँ उन्होंने यह माना है कि इन्द्रिय-भोग के मार्ग से पारिवारिकता को स्वीकार कर मनुष्य ईश्वरोन्मुख होता है, वहाँ उन्हें थोड़ी छूट मिल जा सकती है। विवाह के सम्बन्ध में बँधकर अगर व्यक्ति मानव-सेवा द्वारा जीवनयापन करना चाहे तो धार्मिकों को इससे कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार जैनेन्द्र की विचारधारा सर्वमान्य न होकर एकांगी बन जाती है। यह अवश्य है कि निवृत्ति अपने आप सिद्धि नहीं है, मगर सब प्रकार की प्रवृत्ति अथवा कर्म मनुष्य को पाशविकता से ऊपर उठाने में समर्थ नहीं है। असली चीज है प्रवृत्ति में निवृत्ति। किन्तु जैनेन्द्र जिस रूप में अपने निबन्ध या कथा-साहित्य में इस प्रवृत्तिमूलक निवृत्ति का चित्र प्रस्तुत करते हैं वह साधारण लोकैषणा से भिन्न नहीं है।[1]

जैनेन्द्र भी फ्राइड की भाँति कामेच्छा को महत्व देते हैं। पर वे फ्राइड की भाँति उसको मनुष्य के सारे कर्मों का मूल स्रोत नहीं मानते। वे आदि और अन्त में ही ईश्वर को मानते हैं। मध्य में जो है सापेक्ष है। वे काम को यह मध्यस्थिति देना चाहते हैं। वे काम में भी प्रेम की विशुद्धता देखते हैं और इस ऊँची भूमिका पर देह की स्थिति को अस्वीकार कर देते हैं। उनके विचार में जहाँ भोग में अधूरापन और अतृप्ति है वहाँ प्रेम में परिपूर्णता और प्रशान्ति है। इसलिये उन्होंने अपने पात्रों में तन और मन की माँगों को अलग करने का प्रयत्न किया है। फलस्वरूप उनकी रचनाओं में लोकोत्तरता आ गयी है। वे व्यावहारिक जीवन से ऊपर उठकर एकदम असम्भव और आत्मादर्शवादी बन गयी हैं। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए जैनेन्द्र ने राधा और मीरा के उदाहरण लिये हैं और उनके द्वारा प्रेम की पवित्रता को देहगत वासना से बहुत ऊपर उठाकर वहाँ रखना चाहा है जहाँ आध्यात्मिक प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार की व्याख्या न पूरी मनोवैज्ञानिक कही जा सकती है, न पूर्णतः आध्यात्मिक। वह आधुनिक बुद्धि का आलोड़न-विलोड़न मात्र है।'[2]

जैनेन्द्र दाम्पत्य को संकोची सम्बन्ध नहीं मानते। उनके विचार में दाम्पत्य तभी सार्थक है जब घर के द्वार सभी के लिये खुले रहें और स्त्री तथा पुरुष दोनों की उदारता, उत्कृष्टता, प्रतिभा और मेधा का दान सबको मिले। उनके शब्दों में—'विवाह

---

१. काम, प्रेम और परिवार, पृ० २२-२३। २. राधा के प्रेयती-भाव के विश्लेषण के लिये देखिए—'काम, प्रेम और परिवार', पृ० ३२-३४।

सम्बन्ध व्यक्ति को बन्द कर देता है, यह समझने का तो कारण नहीं है। स्त्री और पुरुष पत्नी-पति बनकर गृहस्थी को अपने लिए जेलखाना बना लें, इसका तो समर्थन नहीं है। उनका वह भाग जिसको अत्यन्त व्यक्तिगत मानने के कारण सामाजिक अर्थ में अनुपादेय और निकृष्ट भी कह सकते हैं, वही तो वहाँ सिमिट कर सीमित हो रहता है। शेष तो समाज को और जगत को मिलते रहने के लिए खुला ही है। अर्थात् उन स्त्री-पुरुषों की उदारता, उत्कृष्टता, उनकी प्रतिभा, मेधा, कुशलता आदि का दान और व्यय तो सबके प्रति होते ही रहना है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि स्त्री के जीवन में पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों का सद्भाव ही नहीं है, अथवा कि पुरुष के लिए अन्य सब स्त्रियाँ लुप्त हो जाती हैं। विवाह का इस प्रकार जकड़बन्द अर्थ लिया जाता हो तो मैं उससे सहमत नहीं हूँ।'[1] परन्तु प्रश्न यह है कि नारी की सहिष्णुता पुरुष की स्वच्छंदता को कहाँ तक रोकने में समर्थ है। प्रेम की स्वच्छन्दता की बात समाज की स्थिरता के लिए कहाँ तक कल्याणकारी है, यह जैनेन्द्र के वक्तव्यों से स्पष्ट नहीं होता। प्रेम की स्वच्छन्दता की बात शरच्चन्द्र की कुछ रचनाओं से मिलती है। लेकिन उन्होंने नारी को बलिदान-मयी बनाकर समाज को सुस्थिर रखा है। जैनेन्द्र समाज-मर्यादा की रक्षा करना नहीं चाहते तो उनका मन्तव्य एकांततः व्यक्तिवादी ही कहा जायगा। सामाजिक सम्बन्धों को आध्यात्मिकता की भाषा देना एक प्रकार से बुद्धि का दुरुपयोग ही है। पर जैनेन्द्र तर्क-वितर्क द्वारा और अन्त में परमात्मा को लाकर काम को अतीन्द्रिय बना डालना चाहते हैं, जो एक प्रकार का अतिवादो है। राधा और मीरा के समर्पण से काम की सामाजिक परिणति का कोई समाधान नहीं निकल पाता। प्रेम की दैहिकता को एक बार स्वीकार कर लेने पर उसपर अतीन्द्रियता या आध्यात्मिकता का आरोप अवांछनीय ही माना जायगा। जैनेन्द्र की तरफ से इसका समाधान यह है—'जो सीधे भगवान के प्रति आत्मदान करने की क्षमता रखता है उसको सचमुच कुछ भी अपने तक रोकने की जरूरत नहीं है।'[2] उन्होंने मीरा और राधा के उदाहरण से अपनी बात को स्पष्ट करना चाहा है किन्तु आधुनिक बौद्धिक उनकी इस विचारणा से आश्वस्त नहीं हो सकते।

समाज

जैनेन्द्र सर्वोदय समाज के विधायक हैं। वे महात्मा गांधी और विनोबा भावे की विचार-परम्परा को ही नयी भूमिकाओं के साथ हमारे सम्मुख रखते हैं। उनके समाधान भी लगभग वही हैं जो हमें गांधी की विचारधारा में मिलते हैं। उन्होंने भी यह माना है कि यंत्र और यांत्रिक उद्योग अपने आप में पाप नहीं हैं। परन्तु वे यांत्रिक

---

१. 'काम, प्रेम और परिवार', पृ० ७०-७१। २. वही, पृ० १२०।

जीवन की नीति के प्रति आस्थावान नहीं हैं, जो यंत्र के लिये मनुष्य को काम में लाती है और मालिक-मजदूर का भेद कर विषमता और विस्फोट को जन्म देती है।'[1] उनके विचार में यांत्रिक उद्योगों से छुटकारा मिलना असम्भव है। समस्या का समाधान विकेन्द्रीकरण है। उन्होंने पूँजीवाद का सीधा सम्बन्ध डिक्टेटरशाही से जोड़ा क्योंकि पूँजीवाद उद्योगों को एक ही जगह केन्द्रित कर देता है। फलतः अधिकार भी केन्द्रित हो जाता है और अधिनायकवाद का जन्म होता है।'[2] जैनेन्द्र के विचार में मशीन से काम लेते हुए भी मशीन का मोह छोड़ना पड़ेगा। केन्द्रहीनता के प्रश्न को जैनेन्द्र ने स्पष्ट करना चाहा। वे मानते हैं कि व्यावसायिक केन्द्रीकरण हानिकारक है, पर आर्थिक स्वावलम्बन के लिए सांस्कृतिक केन्द्रीकरण वांछनीय है।'[3] जिस अहिंसक समाज की आकांक्षा हमें सर्वोदय आंदोलन में दिखाई देती है वह जैनेन्द्र के लिये भी अन्तिम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जिस श्रद्धा और आत्मविश्वास की आवश्यकता है उसे जैनेन्द्र समाज में नहीं देखते। आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति जिस हिंसा और क्रांति का समर्थन करती है वह भारतीय समाज-संगठन के लिए अनुपयोगी तत्व है, ऐसा जैनेन्द्र मानते हैं। उनके विचार में आधुनिक समाज ने अहंकार को ही प्रश्रय दिया है। उन्होंने अपने इस युग को वैश्ययुग कहा है। उनके शब्दों में—'वैश्य युग में (औद्योगिक या इन्डस्ट्राइलाइज्ड) पैसे को अधिक महत्व मिल जाने के कारण पैसा मानवीय अहं-बुद्धि और स्पर्धा का प्रतीक-सा बना दीखता है। उसको रोकने का उपाय है अपने व्यावहारिक जीवन में पैसे को उचित से अधिक महत्व न देना, यह सीखने की आवश्यकता है।'[4] पैसा-युग को सेवा-युग में बदलकर ही हम अहिंसक समाज की सृष्टि कर सकेंगे। यह विश्वास जैनेन्द्र के अनेक निबन्धों में प्रतिफलित होता है।

जैनेन्द्र की गांधीवादी विचारधारा और नैतिक चेतना के ये कुछ महत्वपूर्ण पक्ष हैं जो हमें उनके विचारक व्यक्तित्व का बोध कराते हैं। 'समय और हम' जैसे विस्तृत महाग्रन्थ में उन्होंने आधुनिक जीवन-बोध की सभी दशाओं को स्पर्श किया है और पाँच सौ पृष्ठों में समग्र जीवन की एक ऐसी रूपरेखा तैयार की है जो हिन्दी के समसामयिक आलोचकों और विचारकों में हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ में जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन परिपूर्णतः आ गया है।

●

---

१. 'प्रस्तुत प्रश्न', पृ० २३३। २. वही, पृ० २३४। ३. वही, पृ० २४६। ४. वही, पृ० २५५।

सप्तम अध्याय

सांस्कृतिक चिंतन

आधुनिक हिन्दी साहित्य में सांस्कृतिक चिन्तन की परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०–१८८५) से आरम्भ होती है। उन्नीसवीं शताब्दी से बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक विदेशी, मुख्यतः अंग्रेजी, प्राच्य-विद्या-विशारदों, भाषाविदों और पुरातत्व-शास्त्रियों के द्वारा हमारी सांस्कृतिक परम्परा का बहुत दूर तक खंडन हो चुका था। हमारी अपनी सांस्कृतिक चिन्तन की परम्परा बहुत कुछ काव्यात्मक रही है। मध्ययुग के आरम्भ में शङ्कराचार्य और दक्षिण के वैष्णव-विचारकों ने उपनिषद्, ब्रह्म-सूत्र और श्रीमद्भगवत गीता की टीकाओं के माध्यम से अपने विचार विद्वानों के सामने रखे थे। परन्तु ये विचार मुख्य रूप से आध्यात्मिक जीवन और दार्शनिक चिन्तना से सम्बन्धित थे। सामाजिक अनुशासन के लिए जो स्मृति-ग्रन्थ लिखे गये हैं, वे आप्त वचनों तक ही सीमित हैं। उनमें व्यक्ति और समाज के लिए करणीय और वर्जनीय बातों का उल्लेख मात्र है। उस प्रकार की विस्तृत विवेचना हमें वहाँ नहीं मिलती जिस प्रकार की विवेचना सत्रहवीं और अठारवीं शताब्दी के यूरोपीय सामाजिक चिन्तकों में मिलती है। उत्तर मध्ययुग में निर्गुण संत और सगुण भक्त प्रमुख रूप से हमारी सांस्कृतिक विचारणा का प्रतिनिधित्व करते हैं। परन्तु अधिकांश रचनाएँ स्फुट हैं और हमें उनमें विचारों की सुस्पष्टता एवं सुबोधता नहीं है। केवल तुलसीदास का रामचरितमानस ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें तत्कालीन हिन्दू समाज के सारे सांस्कृतिक प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ सोलहवीं शताब्दी के अन्त में प्राप्त होता है। सत्रहवीं और अठारवी शताब्दियों में विचार के क्षेत्र में कोई चीज हमें नहीं मिलती। इन शताब्दियों में हिन्दू और मुसलमान दोनों समाज अपने प्राचीन गौरव के रक्षकमात्र बन बैठे थे। परम्परा का पालन ही जीवनोद्देश्य बन गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जब अंग्रेजी के द्वारा यूरोपीय समाज और संस्कृति से हमारा परिचय हुआ तब हमारी वैचारिक मेधा बहुत कुछ सुप्त थी। धर्म का स्थान सम्प्रदायों ने ले लिया था। न्याय और दर्शन के अध्ययन और अध्यापन के प्राचीन मानदंड ही हमें मान्य थे। लगभग दो शताब्दियों की सांस्कृतिक स्तब्धता के बाद उन्नीसवीं शताब्दी में पहली बार हमारे विचार-जगत में

नवीन का प्रवेश हुआ। इसका बहुत कुछ श्रेय विदेशी मनीषियों और पण्डितों पर है, जिन्होंने पश्चिम के विचारकों से हमारा परिचय कराया और हमें चिन्तन की एक नयी पद्धति दी। पश्चिम में दो-तीन शताब्दियों से विचार और चिन्तन के क्षेत्र में गद्य का उपयोग हो रहा था और ज्ञान-विज्ञान के अनेक शास्त्र विकसित हो चुके थे। पश्चिमीय बुद्धिवाद का मूलाधार तार्किक ज्ञान था। उसमें श्रद्धा के तत्त्व का विरोध था। विशुद्ध विचार और तर्क जहाँ तक जा सकते थे वहीं तक यूरोपीय मानस सत्य का अन्वेषी था। इसके आगे जो अन्तर्ज्ञान और श्रद्धा का व्यापक क्षेत्र था वह उसे अस्वीकृत हो चुका था। बौद्धिक तर्कवाद ने श्रद्धात्मक धार्मिकता और रहस्य-साधना को अपने क्षेत्र से बाहर निकाल दिया और प्रोटेस्टेंट विचारधारा से आरम्भ होकर नास्तिकता और अराजकतावाद तक पश्चिम की आत्यंतिक बौद्धिकता का प्रसार हुआ। परन्तु इसके साथ ही बौद्धिकता ने प्रयोग और निष्कर्ष के आधार पर विज्ञान को जन्म दिया और वैज्ञानिक खोजों के आधार पर एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अथवा विज्ञानवाद हमारे सामने आया। उन्नीसवीं शताब्दी में इस बौद्धिकता और विज्ञानवाद के साथ पश्चिम का भारतवर्ष में पदार्पण हुआ। परन्तु इन श्रेष्ठ सार्वभौम उपकरणों के साथ पश्चिम जिस अभिशाप को भी अपने साथ लाया, वह था उपनिवेशवाद। विज्ञान ने ही पश्चिम के उपनिवेशवाद को सम्भव बनाया। वाष्प और विद्युत्शक्तियों के आविष्कार के साथ वहाँ मशीनी उद्योग धन्धों का विकास हुआ और उद्योगीकरण ने पश्चिमी राष्ट्रों को विवश कर दिया कि सुदूर पूर्व, आफ्रीका और अमरीका में अपने बाजार खोजें। इस प्रकार पश्चिम का बुद्धिवाद या विज्ञानवाद उपनिवेशी देशों में एक साथ अभिशाप और वरदान बना।

अंग्रेजों का भारतीय जीवन पर जो सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा उसका आरम्भ १७७३ के बाद हुआ, जब बंगाल और बिहार में कम्पनी का सीधा शासन शुरू होता है। इसके ग्यारह वर्ष बाद १७८४ में सर विलियम जोन्स की अध्यक्षता में प्राच्य-विद्याओं में अनुसंधान के लिए बंगाल रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई। इस सोसाइटी ने ही पहली बार भारतीय इतिहास, साहित्य और संस्कृति में शोध का कार्य आरम्भ कराया। सोसाइटी के अपने शोध-पत्र में इन खोजों का विस्तृत विवरण प्रकाशित होता था और शोध-लेखों तथा निबन्धों के द्वारा नयी विचारात्मक सामग्री सामने आती थी। अनेक राजकर्मचारी भारतीय संस्कृति से परिचय प्राप्त करना चाहते थे। उनमें से बहुत ऐसे थे जिन्हें अंग्रेजी के साथ-साथ लैटिन, ग्रीक और अन्य यूरोपीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त था। उनमें से कुछ ने संस्कृत और फ़ारसी का भी ज्ञान प्राप्त किया एवं हिन्दू-पण्डितों तथा मुसलमान मौलवियों की सहायता से भारतीय ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश किया। भारतेन्दु के समय तक यह शोध का कार्य इतना बढ़ चुका था कि अंग्रेजी शिक्षित भारतीय विद्वान स्वयं इस कार्य को हाथ में लेने में समर्थ हो गये। पश्चिमी विद्वानों ने

प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास संकलित किया और प्राचीन साहित्य और उनके लेखकों में तारतम्य की स्थापना की। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक पुरातत्व और पांडुलिपियों की शोध द्वारा पर्याप्त नवीन स्थापनाएँ हमें प्राप्त हो गयी थीं। १८५९ में डारविन के विकासवाद के सिद्धान्त ने इतिहास-लेखन और सांस्कृतिक चिन्तन की पद्धति को एक क्रांतिकारी मोड़ दिया और उससे पश्चिमी विद्वानों का भारत-सम्बन्धी चिन्तन भी प्रभावित हुए बिना न रह सका। १८६७ में जब 'भारतेन्दु' ने अपनी प्रसिद्ध पत्रिका 'कवि-वचन-सुधा' की स्थापना की और उसमें भारतीय इतिहास सम्बन्धी अपने लेख प्रकाशित किये तो वह उस परम्परा को ही आगे बढ़ा रहे थे जिसकी स्थापना लगभग एक शताब्दी पहले सर विलियम जोन्स के द्वारा हो चुकी थी। एक प्रकार से हिन्दी भाषा के क्षेत्र में स्वतन्त्र चिन्तन और शोध का काम 'भारतेन्दु' के उन निबन्धों, लेखों और प्रचार-पुस्तकों (पैम्फलेट्स) द्वारा होता है जो 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' के तीसरे भाग में संकलित हैं। 'भारतेन्दु' इस क्षेत्र में कहाँ तक अग्रणी हैं, यह उनके लेख 'वैष्णव धर्म और भारतवर्ष' के अध्ययन से ही स्पष्ट हो जाता है। सम्भवतः यह किसी भारतीय द्वारा वैष्णव धर्म के विकास पर पहला शोध-लेख है। इस प्रकार की बहुमूल्य सामग्री पर्याप्त मात्रा में भारतेन्दु ग्रंथावली में सुरक्षित है। इस सामग्री के आधार पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को सांस्कृतिक विचारक और शोधकर्ता मान सकते हैं। भारतेन्दु के कई मित्रों ने उनकी शोध-प्रवृत्ति को अपनाया। इनमें बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और राधाचरण गोस्वामी मुख्य हैं। वैसे 'भारतेन्दु' निबन्धों में हमें पर्याप्त सांस्कृतिक चेतना मिलती है।

'भारतेन्दु' यदि व्यापक आस्तिक हिन्दू-समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं जो वैष्णव धर्म अथवा भक्तिवाद का अन्वय था तो स्वामी दयानन्द सरस्वती उस सुधारक समाज का, जो आर्य समाज के नाम से प्रसिद्ध है। आर्य समाज की स्थापना १८७५ ई० में हुई। उसने वेदों को अपना मूलाधार बनाया और सम्पूर्ण परवर्ती विकास को अस्वीकार कर दिया। उसने भारतीय संस्कृति की नयी बुद्धिवादी व्याख्या प्रस्तुत की और उसे कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों से मुक्त कर नये तेज का आह्वान किया। यह स्पष्ट है कि आर्य-समाज की सांस्कृतिक मान्यताओं में प्रतिरोधात्मकता अधिक था, निर्माणात्मकता कम। प्रतिरोध मुख्यतः उन नये संस्कारों के विरुद्ध विकसित हुआ जो ईसाई और मुसलमानी धर्म-प्रचार से सम्बन्धित थे। भारतीय आचार-विचार को विशुद्धता देने का यह प्रयत्न आर्य समाज की मुख्य प्रवृत्तियों में हमें बराबर मिलता है। परन्तु यह पवित्रतावादी दृष्टिकोण सम्पूर्ण हिन्दू समाज को आश्वस्त नहीं कर सका था। लगभग पचास वर्षों तक हिन्दी प्रदेश की सांस्कृतिक विचारणा पर आर्य समाज की छाप रही। १८७५ से १९२५ तक वही हिन्दी प्रदेश की सबसे सशक्त, सर्वाधिक संगठित और प्रचण्ड रूप से

आन्दोलनकारी संस्था थी। सैकड़ों पत्रों, निबन्धों, लेखों, भाषणों और प्रचार-पुस्तकों में आर्य-समाज की विशिष्ट तर्क-वितर्क शैली में आधुनिक सांस्कृतिक चिन्तन के नये सूत्र हमें मिलते हैं, जो पश्चिम के बुद्धिवाद और विज्ञानवाद को स्वीकार करते हुए भी ईसाई धर्म की मान्यताओं का विरोधी है। आर्य-समाज ने सांस्कृतिक चिंतन के क्षेत्र में हिन्दुओं को स्वनिष्ठा और आत्मविश्वास अवश्य दिया, परन्तु उसकी बौद्धिक चेतना बहुत कुछ पूर्वाग्रहों के कारण कुंठित थी। उसमें सम्पूर्ण हिन्दू समाज को साथ लेकर चलने की शक्ति नहीं थी।

हिन्दी के सांस्कृतिक चिंतन के क्षेत्र में तीसरा महत्वपूर्ण नाम अध्यापक पूर्णसिंह का रहेगा जिन्होंने विज्ञान का विधिवत् अध्ययन किया था, परन्तु साथ ही स्वामी राम-तीर्थ और स्वामी विवेकानन्द की विचारधारा को भी पूर्ण रूप से आत्मसात किया था। उन्होंने केवल थोड़े ही निबन्ध और लेख हमें दिए हैं, परन्तु अपनी भावुकतापूर्ण शैली और मौलिक विचारधारा के कारण ये निबन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मजदूरी और प्रेम, कन्यादान, सच्ची वीरता आदि निबन्ध भावनापूर्ण चिंतन के क्षेत्र में एक नयी लीक की स्थापना करते हैं।

चौथे सांस्कृतिक विचारक जयशंकर प्रसाद हैं जो एक साथ कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार और निबन्धकार हैं। प्रसाद जी का सम्पूर्ण साहित्य उनके सांस्कृतिक चिंतन की ही देन है। इस चिंतन का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्रसाद जी काशी के निवासी थे, जहाँ उनके जन्म के कुछ वर्षों बाद ही (१८९३) में नागरी प्रचा-रिणी सभा की स्थापना हुई थी। यह संस्था बंगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी की तरह प्राचीन संस्कृति और साहित्य की शोध को महत्ता देती थी, यद्यपि उसका क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित था। प्रसाद जी ने उन्नीसवीं शताब्दी की भारतीय इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी शोधों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था, जैसा उनके निबन्धों की सुदीर्घ भूमिकाओं से स्पष्ट है। उनके कुछ स्वतन्त्र सांस्कृतिक लेख और निबन्ध भी हमें प्राप्त हैं। उनके काव्य से भी सांस्कृतिक अध्ययन और चिंतन का पूरा पता हमें मिलता है। उनका महाकाव्य 'कामायनी' आधुनिक संस्कृति सम्बन्धी उनकी अन्तर्दृष्टि और समाधान को बड़े व्यापक रूप से प्रस्तुत करता है। जयशंकर 'प्रसाद' सांस्कृतिक चिंतन के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की परम्परा को ही आगे बढ़ाते हैं। वे भारतेन्दु की तरह वैष्णव न होकर शैव हैं और उनकी रचनाओं पर शैव पुराणों और शैव तंत्रों की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। उन्होंने अपने युग के मध्यवर्ग के अनुरूप एक नयी संस्कृति की कल्पना की, परन्तु पश्चिम के बुद्धिवाद को वे पूर्णतः स्वीकार नहीं कर सके। उन्होंने 'श्रद्धा' और 'इड़ा' (बुद्धि) के संघर्ष को लेकर एक वैदिक आख्यान को ही अपने युग के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य का रूप दे दिया। परन्तु इस महाकाव्य के अन्त में 'श्रद्धा'

ा ही विजयिनी हुई है और 'इड़ा' को परास्त कराया गया है। यह विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण है।

गांधीयुग अथवा छायावादी युग में हमारे कवियों और लेखकों ने सांस्कृतिक चिंतन के क्षेत्र में अनेक सशक्त और मौलिक उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। 'निराला', पंत और महादेवी वर्मा सांस्कृतिक चिंतन के क्षेत्र में भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने काव्य के क्षेत्र में। परन्तु इस युग के सर्वश्रेष्ठ चिंतक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं जो अपने साहित्यिक निबन्धों में भी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूमिका नहीं छोड़ते और द्विवेदी युग की नैतिकता और व्यावहारिकता से ऊपर उठकर लोक-मंगल के रूप में एक नया सास्कृतिक आदर्श सामने रखते हैं। उनके साथ हम प्रेमचन्द का नाम ले सकते है, यद्यपि प्रेमचन्द अपने सांस्कृतिक सन्देशों के लिए निबन्ध का उपयोग बहुत कम करते हैं। अधिकतः वे उसे कहानी और उपन्यास का रूप देते हैं। उन्होंने अपने विचारों को पात्रों के माध्यम से ही स्पष्ट रखा है, परन्तु उनके विचार बराबर युगानुकूल और परिपुष्ट रहे हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय सांस्कृतिक विचारणा प्रमुखतः राष्ट्रीय रही है और उसने यूरोपीय संस्कृति के श्रेष्ठतम को स्वीकार करते हुए भी अपना स्वतंत्र मार्ग निकालना चाहा है। गांधी जी उसकी मौलिकता और स्वनिष्ठा के प्रतीक हैं। दो महायुद्धों के बीच के सम्पूर्ण साहित्य पर उनके व्यक्तित्व, आस्तिकवादी विचारधारा एवं सत्य-अहिंसा सम्बन्धी जिज्ञासा की छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

गांधी जी के प्रवेश के पहले हमारी सांस्कृतिक चेतना एक प्रकार से समन्वयात्मक बन चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक संघर्षों के बाद उस उग्र दल का महत्व कम हो गया था जो प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रधानतः विरोधी था और अपने को पश्चिम के रंग में रँगना चाहता था। लगभग पचास वर्षों तक प्राचीन और नवीन का यह संघर्ष चला। यदि हम राजा राममोहन राय के कलकत्ता निवास अथवा कलकत्ता कालेज की स्थापना (१८१५ अथवा १८१७) से नवीन भारतीय सांस्कृतिक चेतना या नवजागरण का अभ्युदय मानें तो साहित्य क्षेत्र में भारतेन्दु के अवतीर्ण होने तक (१८६७) अर्द्ध शताब्दी का समय व्यतीत हो जाता है। इसके बाद हमारे यहाँ पश्चिमी संस्कृति का विरोध नहीं मिलता यद्यपि ईसाई धर्म चेतना को यहाँ के हिन्दुओं ने स्वीकार नहीं किया है। ईसाई धर्म प्रचारकों और पश्चिम के दार्शनिकों से प्रेरणा लेकर इन्होंने हिन्दू धर्म का पुनर्निर्माण किया और अपनी सांस्कृतिक चेतना को आत्मनिष्ठ बनाया। युगावतार श्री रामकृष्ण परमहंस, केशवचन्द्र सेन, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और स्वामी विवेकानन्द उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के महापुरुष हैं, जो भारतीय सांस्कृतिक चेतना को नवजीवन प्रदान करते हैं और उसे नये युग के कर्मण्य जीवन और आस्था से सम्बन्धित करते हैं। इस नये सांस्कृतिक समारम्भ का आधार उपनिषद्

और गीता हैं। परन्तु इन ग्रन्थों की चरितार्थता जिन महामनीषी के व्यक्तित्व में मिली वे श्री रामकृष्ण परमहंस ही थे। उन्होंने ही हिन्दू धर्म-ग्रन्थों और शास्त्रों को अपने जीवन में सम्पूर्ण रूप से प्रमाणित किया। शैव, शाक्त, वैष्णव, मुसलमान और ईसाई सभी धर्मों का अध्ययन करके उन्होंने स्वयं साधक के रूप में इन धर्मों द्वारा प्रस्तावित साधनाओं का आस्वादन कर इस शाश्वत, परन्तु नये युग के लिए क्रांतिकारी सन्देश को प्रचारित किया कि सभी धर्म समान हैं और उनमें से कोई भी अविश्वसनीय नहीं है। आधुनिक युग के सर्व-धर्म-समन्वय की नींव इन्हीं के सन्देशों से पड़ती है। परन्तु इस युग में भारत की सर्वाधिक सक्रिय सांस्कृतिक चेतना स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक में मिलती है जो धर्म को एकमात्र पारलौकिक साधना का विषय नहीं समझते और उसको इस लोक की सुख-सम्पन्नता का साधन भी मानते हैं। ये दोनों ही प्रचण्ड शक्तिशाली व्यक्तित्व थे और आधुनिक राष्ट्रीयता के जन्मदाता माने जाते हैं। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि भारत की नवविकसित राष्ट्रीयता के भीतर भारतीय सांस्कृतिक चेतना पूर्ण रूप से समाहित है और अपने राष्ट्रीय संग्राम में भारतीय सांस्कृतिक जीवन को परिष्कृत और सांस्कारिक बनाने का बराबर प्रयत्न किया गया है।

१९१७ तक भारतीय सांस्कृतिक अभ्युत्थान का द्वितीय चरण समाप्त हो जाता है। इस बीच में जापान की रूसी विजय (१९०२) और बंग भंग आन्दोलन (१९०५) एवं स्वदेशी आन्दोलन (१९१०) से भारतीय राजनीति की चेतना उग्र बन जाती है और उसके अनुरूप ही यहाँ की सांस्कृतिक भावनाओं में भी परिवर्तन हो जाता है। आत्म-निष्ठ भारतवर्ष जहाँ राजनीति के क्षेत्र में विदेशी अंग्रेजी सत्ता को चुनौती देने के लिए तैयार होता है वहाँ वह सांस्कृतिक क्षेत्र में भी पश्चिम से पल्ला छुड़ाना चाहता है। फलस्वरूप गांधी जी के नेतृत्व में सांस्कृतिक चिन्तकों और साधकों का ऐसा दल उठ खड़ा होता है जो भारतीय शास्त्रों और मध्ययुग के संतों से प्रेरणा लेकर त्याग और तपस्या के आधार पर नयी मध्यवर्गीय संस्कृति के सामने भारतीयता का एक नया संदेश रखता है। गांधी जी और महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर में उन दो दृष्टिकोणों का अन्तर स्पष्ट है जिनमें से एक एकान्ततः भारतीय का पोषक है तो दूसरा जो पश्चिम के आदान-प्रदान पर विश्वास करता है। सम्पूर्ण गांधी-युग में हमें भारतीय चेतना के भीतर यह द्वन्द्व दिखलाई देता है। गांधी जी पंच-महाव्रतों को नये ढंग से भारतीय जीवन में लाना चाहते थे। उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और असंग्रह को धार्मिक चर्चा मात्र नहीं माना। उनके विचार में ये गुण प्रत्येक भारतीय में आवश्यक थे। पश्चिम जहाँ जीवन के उपभोग का विश्वासी था वहाँ गांधी जी दमन और तप के प्रति आस्थावान थे। उन्होंने जीवन-मान की वृद्धि को संस्कृति का मानदण्ड नहीं माना वरन् आत्मदान, सेवा, त्याग और आस्तिकता को जीवन के नये मूल्य दिये। यह एक

प्रकार से नया संत-मार्ग था जिसमें निवृत्तिमूलक चेतना की प्रधानता थी। इसके विपरीत महाकवि रवीन्द्रनाथ जीवन की सारी रागात्मिकता और उसके सारे प्राकृतिक और मानवीय ऐश्वर्य को मध्यवर्गीय जीवन-चर्चा में समेट लेना चाहते थे। संत और कवि की इन दो दृष्टियों में तात्विक विरोध है। परन्तु यह विस्मय की बात है कि दोनों ही भारतीय संस्कृति के अन्यतम प्रतिनिधि हैं। वस्तुतः प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग भारतीय जीवन-रथ के दो चक्र आरम्भ से ही रहे हैं और नये युग में इन दो महामनीषियों के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति की नयी धारणाएँ ही हमें प्राप्त हुई हैं। यह कहा जा सकता है कि गांधी-युग में राजनैतिक चेतना और राष्ट्रीय भावना के कारण गांधी के सिद्धान्त को अधिक महत्व मिला। परन्तु स्वयं गांधी-युग में पं० जवाहरलाल नेहरू महाकवि की विचारधारा और जीवन-साधना के प्रशंसक तथा अनुयायी थे और उनके जीवन एवं साहित्य में हमें मनुष्य एवं प्रकृति का परिपूर्ण वैभव मिलता है।

गांधी जी की विचारधारा में सत्य और अहिंसा को सबसे बड़ा स्थान प्राप्त था। इनमें सत्य के विषय में तो कोई शंका ही नहीं उठायी जा सकती। परन्तु अहिंसा को लेकर अनेक प्रकार के वाद-विवाद उठ खड़े हुए। प्राचीन भारतीय संस्कृति में आस्था रखने वाला एक वर्ग अहिंसा को सिद्धान्त के रूप में लेकर चलना चाहता था। उसके लिए आततायी का दमन आवश्यक था और इस सन्दर्भ में हिंसा अथवा शक्ति का प्रयोग अवांछनीय नहीं था। सामान्य रूप से हिन्दू धर्म सत् और असत् के संघर्ष को प्राथमिक सत्य मानकर चलता है और इसीलिए उसने देवासुर संग्राम की कल्पना की है। भारतीय चेतना में अवतारवाद का सम्बन्ध दुष्ट-दमन की भावना से जोड़ा गया है। गीता ने हिन्दू जाति को आश्वासन दिया है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ जाता है तब-तब ईश्वरीय शक्ति मनुष्य के रूप में अवतरित होती है। इस प्रकार केन्द्रीय हिन्दू चेतना अहिंसावादी नहीं है। धर्म-साधना और अध्यात्म के क्षेत्र में अहिंसा को अवश्य सर्वोपरि माना गया है। गांधी-युग में दो प्रमुख साहित्यकारों ने अहिंसा की सार्थकता को लेकर प्रश्न उठाये हैं। ये साहित्यकार गुजरात के कन्हैयालाल मानिकलाल मुंशी और हिन्दी के रामचन्द्र शुक्ल हैं। शुक्ल जी की यह विचारधारा हमें उनके निबन्धों में मिलती है जो 'चिन्तामणि' भाग २ में प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने अपनी तुलसी-समीक्षा में भी श्रीराम के शौर्य और शक्ति की विवेचना करते हुए उनके असुर-निकंदन रूप को प्रधानता दी है। यह स्पष्ट है कि गांधी जी की मूलबद्ध अहिंसा के सम्बन्ध में हमारे शास्त्रज्ञ और विचारक पूर्णतः आश्वस्त नहीं रहे हैं।

छायावादी काव्यधारा के कवि और विचारकों को गांधी और रवीन्द्र के बीच में से अपना मार्ग निकालना पड़ा। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ से प्रेरणा लेकर अपनी आध्यात्मिक चेतनाओं को अद्वैतवाद में ढाला। परन्तु मध्ययुग के संतों और

भक्तों के भक्तिवादी आदि स्वर को वे अस्वीकृत नहीं कर सके। उनके साहित्य में हमें वेदान्तवाद और भक्तिवाद का अद्भुत समन्वय मिलता है। काव्य के क्षेत्र में यह समन्वय अपने पूरे ऐश्वर्य में महादेवी वर्मा में विकसित दिखलाई पड़ता है। गाँधीवाद और मार्क्सवाद को लेकर भी कुछ कवियों ने विचार प्रकट किये हैं, विशेष रूप से श्री सुमित्रा-नन्दन पंत ने अपने काव्य में और काव्य ग्रन्थों की भूमिकाओं में मध्यवर्ग के लिए एक उपयोगी जीवन-दर्शन के निर्माण का प्रयत्न लौकिक भूमिका पर किया है। सभी प्रमुख छायावादी कवियों का प्रचुर विचारात्मक गद्य हमें मिलता है। उसके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियों का अपना एक स्वतंत्र तथा मौलिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण था जो निश्चय ही इस युग की देन कहा जा सकता है। गांधी-युग में अथवा छायावाद युग में ही हमें ऐसे विचारशील लेखक भी मिलने लगते हैं जो एक साथ महाकवि रवीन्द्रनाथ और महात्मा गांधी के सम्पर्क में आये और जिन्होंने बंगाल के सांस्कृतिक चिन्तन के साथ मध्यदेशीय चिन्तन का मेल कराया। ऐसे लेखकों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सर्वप्रमुख हैं। उनके सांस्कृतिक चिन्तन का एक बड़ा भाग 'साहित्य-समीक्षा' के माध्यम से स्वातंत्र्य-पूर्व युग में ही हमें प्राप्त हो जाता है। परन्तु स्वातंत्र्योत्तर युग में भी उनकी चेतना और लेखनी बराबर सक्रिय रही है। इनके साथ हम डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, भगवतशरण उपाध्याय, डॉ० मंगलदेव शास्त्री आदि का भी नाम ले सकते हैं। समसामयिक सांस्कृतिक चिंतन एक प्रकार से गांधी-युग के सांस्कृतिक चिंतन का ही प्रसार है यद्यपि अनेक नयी दिशाएँ भी विकसित हुई हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग की ये नयी दिशाएँ कौन-कौन सी हैं, यह जानना हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है। एक तो हमें यह मानना होगा कि राजनैतिक स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि हम चिन्तन और विचारणा के क्षेत्र में भी स्वतंत्र हो गये हैं। गांधी युग में ही हमारे लेखकों के अन्तर्मन में मार्क्स और फ्राइड के विचारों की अनुगुंजना उठने लगी थी। आर्थिक मनोविज्ञान और यौन भूमिकाएँ नये मध्यवर्ग के लिए अधिकाधिक महत्व प्राप्त करती जा रही थीं। जहाँ रूस और अन्य साम्यवादी राष्ट्र के लेखक मार्क्स और लेनिन के नाम से शपथ लेते थे, वहाँ पश्चिमी यूरोप और अमरीका के लेखक और विचारक फ्राइड और उनके सहयोगियों की मान्यताओं को मानव-जीवन की केन्द्रवर्ती चेतना मानते थे। पश्चिम की प्रजातंत्री मान्यताओं और फ्रांस तथा अमरीका की राज्य-क्रान्ति के आदर्शों का हमने उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में अपनी चेतना निर्माण में व्यापक रूप से उपयोग किया था। अब हमारा ध्यान इन नयी स्थापनाओं पर गया। फल यह हुआ कि इन विषयों पर अनेक निबन्ध और लेख लिखे गये तथा सर्जनात्मक साहित्य में इन्हीं विचारों का पल्लवन हुआ। पिछले बीस वर्षों में विचार के क्षेत्र में हमारी उधार की सम्पत्ति में ही वृद्धि हुई है। हिन्दी में यदि कोई

स्वदेशी मौलिक चेतना साहित्य के क्षेत्र में आयी है तो वह अरविन्दवाद अथवा अरविन्द-दर्शन है। १९५० में योगी अरविन्द की मृत्यु के बाद हिन्दी के कुछ चिन्तकों ने उनके विचार से प्रेरणा प्राप्त करना आरम्भ किया। परन्तु अभी इस क्षेत्र में कोई भी नवीन अथवा विस्तृत उपलब्धि प्राप्त नहीं हो सकी है। अमरीकी पूँजीवाद और रूसी साम्यवाद के बीच में से अपना मौलिक मार्ग निकालकर गांधीवादी चेतना का नया युगानुकूल संस्करण तैयार करना हमारे लिये अभी भी सम्भव बात नहीं है। परन्तु हिन्दी के लेखकों और विचारकों की आत्मनिष्ठा और सतर्कता आज भी कम नहीं है। पिछले बीस वर्षों का हमारा सांस्कृतिक चिंतन व्यापक, विविध और द्वन्द्वात्मक है और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पूर्व और पश्चिम के सांस्कृतिक समन्वय के प्रयत्नों ने इन वर्षों में एक नया अध्याय जोड़ा है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी निबन्ध के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उनके निबन्ध १९३० ई० के बाद ही प्रकाशित रूप में हमारे सामने आते हैं और पिछले तीन दशकों में उन्हें अन्य साहित्य क्षेत्रों के साथ-साथ इस क्षेत्र में भी पूर्ण सफलता मिली है। हमारे आधुनिक साहित्य विकास के एक विशेष मोड़ पर वह एक स्तंभ के रूप में खड़े दिखलाई देते हैं।

हिन्दी निबंध के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहे जाते हैं। उन्होंने बंकिमचन्द्र बाबू और चिपलूणकर आगरकर जैसे बंगला, मराठी और गुजराती के श्रेष्ठ निबंधकारों से प्रेरणा लेकर हिन्दी में निबंध-लेखन का कार्य आरम्भ किया। उन्होंने गद्य की भाषा को व्यवस्थित कर १८७३ में हिन्दी की उस नई 'चाल' की प्रतिष्ठा की, जो भाव और विचार की सरल तथा सरस अभिव्यक्ति को महत्व देती हुई तत्सम और विदेशी (फ़ारसी तथा अंग्रेज़ी) शब्दकोश के उपयोग के संबंध में मध्यमार्ग का अवलम्बन करती थी। उन्होंने व्यक्तिगत और विषयगत दोनों प्रकार के निबन्ध लिखे। व्यंग्य विनोद, काव्यात्मक वर्णन, उक्ति चमत्कार और रोचकता उनके व्यक्तिगत निबन्धों के विशेष उपकरण हैं और उनमें भारतेन्दु की अल्हड़ प्रकृति खूब झलकी है। विषयगत निबन्ध में वह विचार-स्थापन और भाषा-शैली की सुस्पष्टता तथा प्रसादमयता पर विशेष बल देते है। वे ही भारतेन्दु-युग की उस निबन्ध-कला के प्रवर्तक हैं, जिसका विशेष विकास पण्डित प्रतापनारायण मिश्र और पण्डित बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हमें बालमुकुन्द गुप्त जैसे श्रेष्ठ निबन्धकार मिलते हैं जो राजनीतिक जागरूकता और बौद्धिक क्रांति को निबन्ध का नया आशय बताते हैं और डिकेन्स के 'पिकविक पेपर्स' की तरह 'शिव शम्भु का चिट्ठा' की सृष्टि करते हैं।

द्विवेदी-युग में निबन्ध का रूप बदला। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशक सुधारवाद, राष्ट्रीयता, बौद्धिक जागरूकता तथा भारतीय चेतना के सर्वाधिक प्रसार के वर्ष हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व और उनकी संकलन-वृत्ति की छाप उस युग के अधिकांश लेखकों पर दिखलाई देती है। ज्ञान-विज्ञान के कोष को हिन्दी में ढालने का प्रयत्न इस युग के निबन्धकार को विषय-वस्तु और तर्कबद्धता के प्रति विशेष आग्रही बनाता है और चित्त की रागात्मिकता वृत्ति का प्रसार निबन्ध में कम ही पाया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अल्हड़, मनमौजी और आत्मीय व्यक्तियों के स्थान पर इस युग में हमें काम-काजी, व्यावहारिक तथा तटस्थ वृत्ति के ही दर्शन होते हैं। 'सरस्वती', 'प्रभा', 'इन्दु', 'प्रताप' आदि पत्रों की फाइलों में इस युग की निबन्ध-कला और विचार-साधना का बड़ा सुन्दर इतिहास मिलता है।

हिन्दी निबन्ध अपने विकास के तीसरे चरण में फिर एक बार साहित्यिक और रसात्मक भूमिका पर प्रतिष्ठित होता है। जहाँ एक ओर आलोचनात्मक तथा विचारणात्मक निबन्धों का श्रीगणेश होता है और युग के श्रेष्ठतम निबन्धकार समीक्षक के रूप में सामने आते हैं, वहाँ इतिहास, धर्म, दर्शन, साहित्य-चिन्तन तथा कला-दर्शन के क्षेत्रों में गहरी अन्तर्दृष्टि और सूक्ष्मतम विवेचना की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। व्यक्तिगत निबन्धों का एक नया स्वरूप बाबू गुलाबराय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, केदारनाथ अग्रवाल, जैनेन्द्र आदि के द्वारा स्थापित होता है जो शब्दों और भावों पर खेलकर निबन्ध में रस की भूमिका तैयार करता है और उसे प्रगीतात्मक विशेषताओं से पुष्ट करता है। इस युग की निबन्धकला छायावादी काव्य और स्वच्छन्दतावादी भावदृष्टि के अनुकूल ही है जो प्रकृति और मानव सब जगह सौन्दर्य बोध को प्राथमिकता देती है। इसी युग के भीतर से स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी निबन्ध का जन्म होता है जो पिछले पन्द्रह वर्षों से नए मूल्यों तथा अभिव्यंजना-शैलियों की खोज कर रहा है।

हिन्दी निबन्ध के इन चार चरणों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की क्या स्थिति है? उनके निबन्ध-लेखन का आरम्भ तीसरे चरण में होता है और उन्हें हम एक तरह से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी का सबसे प्रमुख निबन्धकार कह सकते हैं। उन्होंने साहित्य सम्बन्धी गम्भीर समस्याओं पर पांडित्यपूर्ण शैली तथा गवेषणात्मक पद्धति से विचार किया है, परन्तु उनकी विशेषता वे ललित निबन्ध हैं जिनमें उनके आत्मस्फुरण और भावप्रसार का बड़ा सुन्दर समारम्भ सामने आता है। आचार्य द्विवेदी के लिए पांडित्य बोझ नहीं है वह पुण्य के साथ जुड़ी गंध के समान सुन्दर, सरस और मोहक है। उनकी वचन-भंगिमा कवि की कल्पना से युक्त और कलाकार की शैली सम्बन्धी सुरुचि से प्राणवान होने के कारण हमें विमुग्ध कर लेती है। गम्भीर विषयों पर निबन्ध लिखते हुए भी वे हास्य-विनोद, इतिहास-पुराण, संस्कृति और कला का मोहक इन्द्रजाल विवेच्य वस्तु पर फैलाते गये हैं उनके कुछ निबन्धों में गीत-काव्य की

सारी विशेषताएं मिलती हैं, परन्तु यह गीत-तत्व उनकी स्वतन्त्र विचारणा और अन्तर्प्रदेश की साहसपूर्ण यात्रा के द्वारा निर्मित हुआ है। भारतीय संस्कृति, इतिहास, धर्म, दर्शन और साहित्य, विशेषतः काव्य का ज्ञान उन्हें अतीत से बांधे रखता है और उनकी स्वच्छन्द कल्पना अपनी उड़ान में मानव की श्रेष्ठतम उपलब्धियों को बहुत कुछ समेट लेती है। उन्नीसवीं शताब्दी के आत्मगत या ललित निबन्धों में हास्य-विनोद के लिए जिन उपकरणों का सहारा लिया गया है वे सुसंस्कृत नहीं कहे जा सकते। उनमे यमक और श्लेष जैसे अलंकारों, चलते मुहावरों तथा निरर्थक ग्रामीणता के द्वारा निम्न-कोटि की मनोरंजकता की सृष्टि की गई है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध इसके विपरीत शिलष्ट हास्य और सुसंस्कृत विनोद की सीमाएँ जानते हैं और उनका इतिहास तथा संस्कृति का ज्ञान हमें अपने राष्ट्र, समाज एवं मानवता के प्रति प्रबुद्ध रखता है। लेखक महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की निबन्ध-शैली से प्रभावित है, परन्तु उसके अपने व्यक्तित्व, अध्ययन और कला-जागरुकता ने इस प्रभाव को लेकर भी एक चमत्कार की सृष्टि कर डाली है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी केवल साहित्यिक चिंतक ही नहीं हैं, वे जीवन चितक भी हैं। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति के प्रति उनकी अटूट निष्ठा है, परन्तु वह निष्ठा उनके लिए बन्धन नहीं है। वे 'कलाकार और कवि को भविष्यधर्मी मानते हैं। पुरातन के साथ नूतनता का समावेश कर मनुष्य काल-देवता के कीड़ों की मार से बचकर नई संतति तथा नये युगधर्म में निरन्तरता और अमरता की उपलब्धि करता है, ऐसा उनका मत है। अतः संस्कृति के प्रवहमान तथा विकासमान रूप को मानकर चलना ही सच्चा मानव-धर्म है। 'सावधानी की आवश्यकता' जैसे निबन्धों में उन्होने जहाँ पश्चिम के अतिवादी और एकांगी 'वादों' के सम्बन्ध में हमें चेतावनी दी है वहाँ 'भारतीय संस्कृति की देन' जैसे निबन्धों में मुक्त कंठ से प्राचीन भारत की महत्ता को स्वीकार किया है तथा मनुष्य को साहित्य का लक्ष्य मानकर नए साहित्यकारों के दायित्व को युग-चेतना के भीतर से उभारा है। नए पात्र में पुराना मधु ढालने की इस प्रक्रिया मे उन्होंने श्रेष्ठतम को कहीं हाथ से नहीं जाने दिया है क्योंकि उनका विवेक प्रतिक्षण जागरुक है। उनके विचारपूर्ण विषय-प्रधान निबन्धों में हमें जिस संतुलन, साहस और सजीवता का परिचय मिलता है वह निश्चय ही अपूर्व है।

परन्तु द्विवेदी जी की विशिष्टता उनके साहित्य और शिक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण में नहीं है, वह उन व्यक्तिगत भावना-प्रधान निबन्धों में है जो भावोच्छ्वास मात्र नहीं हैं वरन निबन्धकार के सप्राण व्यक्तित्व, उसके सहधर्मी अध्ययन और गहरी भावात्मक अभिव्यक्ति की देन हैं। उनमें पण्डित की विद्वता और कविहृदय की सरसता तथा का मणि [illegible] है छोटी-सी-छोटी चीज को देखने की सूक्ष्म दृष्टि

इन रचनात्मक निबन्धों को नयी मार्मिकता से सम्पन्न कर देती है। साथ ही भारतीय धर्म, संस्कृति और इतिहास को हस्तामलकवत् बनाकर निबन्धकार सामयिकता को चिरकालीनता तथा सनातनता प्रदान करता है। चुस्त भाषा और प्रवाहपूर्ण सरस शैली मे आचार्य द्विवेदी अपने भावकोश के साथ भाषा-कोश के नये पृष्ठ भी खोलते चलते है। प्राचीन ग्रन्थों, चिरविस्मृत अनुभवों तथा भारतीय संस्कृति और साधना के सूक्ष्म पर्यायों को उन्होंने अपने शब्दकोश में बाँधा है। भावुकता, सप्राणता और आत्मनिष्ठा उनके भावात्मक, रचनात्मक तथा गीत शैली युक्त आत्मव्यंजक निबन्धों की विशेषताएँ है।

सामान्यतः निबन्ध के दो भेद किये जा सकते हैं—तार्किक और प्रेरणात्मक। पहला विषयगत है, दूसरा व्यक्तिगत। पहले में विषय के पक्ष-विपक्ष को प्रस्तुत करते हुए निबन्धकार किसी उच्चतर समाधान की ओर बढ़ता है। दूसरे में वह भावना और कल्पना को उन्मुक्त छोड़ देता है और गीतकार की तरह रचना में डूब जाता है। वह उसके व्यक्तित्व का प्रतिरूप बन जाती है। कम ही निबन्धकार ऐसे हैं जो निवन्ध कला के इन दो रूपों में समान रूप से पटु हैं। विशुद्ध विचार की उपासना, तर्क की कड़ियों को जोड़ते हुए चिंतन के मार्ग पर चलने की क्षमता और विषय के पक्ष-विपक्ष अन्त-र्विरोध तथा समाधान के रूप में एक बौद्धिक प्रक्रिया को अन्त तक चलाये जाना सचमुच कठिन कार्य है। वैचारिक रचना में विषय-विकास को ध्यान में रखते हुए भाव-प्रकाशन की जितनी छूट मिलती है उतनी हमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के विषयगत निबन्धों में मिलेगी, परन्तु जहाँ वे तर्क-वितर्क के चक्कर में नहीं पड़ते, भावना में सहज ढंग से बह जाते हैं और अपने मनःप्रवाह को स्वच्छन्द छोड़ देते हैं वहाँ वे सचमुच एक स्वतन्त्र और सजीव कलाकृति की सृष्टि करते हैं। 'अशोक के फूल', 'वसन्त आ गया', 'शिरीष के फूल', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' आदि रचनाएं इसी कोटि में रखी जा सकती हैं। वे सुन्दर गीत की भाँति सुगठित और कोमल हैं। 'अशोक के फूल' शीर्षक निबन्ध के अन्त मे वे अपनी उस मनोवृत्ति पर प्रकाश डालते हैं जो उनके निबन्धों को स्फूर्ति प्राण देती है। वे कहते हैं—'पण्डिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है, तब तक बोझ नही रहती। वह उस अनायासी और सहजधर्मी भावधारा के आचार्य द्विवेदी की निबंधकला बन गई है। उनकी भावधारा में मनन और चिंतन, भावना और कल्पना, गम्भीरता और विनोद, विश्लेषण और संतुलन के परस्पर-विरोधी तत्व मिलकर एक हो गये है। उनका अध्ययन और चिंतन स्मृति-चित्रों की भाँति उभर कर नितांत मार्मिक बन जाता है। भावों और शब्दों के खेल के साथ इतिहास, संस्कृति, धर्म, काव्य और कला के अनेक प्रसंग कल्पना के क्षितिज पर मेघ-खंडों की भाँति मंडराते हैं और रस की वर्षा कर अनन्त नीलाकाश में विलीन हो जाते हैं। इतिहास और संस्कृति के क्रोड़ में खुलने

वाली कवि की भावप्रवण वाणी हमें अपने साथ बहा ले जाती है। कुशल अभिनेता के समान उनकी विदग्ध भाव-भंगिमा पाठकों को अभिभूत कर लेती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गद्य को पाण्डित्य की गरिमा और कवित्व की सामर्थ्य को निकष बनाकर आचार्य द्विवेदी हमारी भाषा की विचार-साधना और रसक्षमता का संवर्द्धन करते हैं। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निबन्ध, उनकी स्वच्छन्द प्रकृति और दीर्घसूत्री भावधारा के कारण आकार-प्रकार का ध्यान नहीं रखते और लेख का विस्तार धारण कर लेते हैं। परन्तु द्विवेदी जी के निबन्ध, निबन्ध की सीमा का अतिक्रमण नहीं करते। वे कला की प्राचीरों में बँधे, सीधे हाथों के रचे भित्ति-चित्र हैं, राग-रागिनियों के वैभव से सम्पन्न गीत की तरह हमें एक क्षण में विमुग्ध कर लेते हैं। वे उनके संस्कारी हृदय और उनकी कवि-प्रकृति की अप्रतिम देन हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्यिक चिन्तन के साथ संस्कृति के भी उच्च-कोटि के विचारक हैं। वस्तुत: उनका साहित्यिक चिन्तन और रसास्वादन संस्कृति के गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा रखता है। शांतिनिकेतन के शान्त वातावरण में उन्हे भारतीय और विदेशी–अनेक संस्कृतियों के अध्ययन का अवकाश प्राप्त हुआ है। इसके फलस्वरूप उन्होंने मानव के अद्यावधि विकास को संस्कृति के परिप्रेक्ष में देखा है। प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय संस्कृतियों मे जो गहन तत्व है, उनसे वे पूर्णत: परिचित है। वे संस्कृति को मनुष्यमात्र का अर्जन मानते हैं। उसके विकास में समस्त जातियों का योग है। उन्होंने 'भारतीय संस्कृति की देन' शीर्षक निबन्ध में व्यक्त किया है-'मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नही हो सकी है। नाना ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजर कर भौगोलिक परिस्थितियो मे रहकर संसार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान मानवीय संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भुक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है जिसे हम 'संस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं।'[1] उन्हें यह आभास है कि संस्कृति की कोई सर्वसम्मत परिभाषा नहीं बन सकती। काम चलाऊ ढंग से यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति हैं। परन्तु यह साधनाएँ क्या हैं? और वह कहाँ तक संस्कृति का निर्माण करती है, यह कहना सम्भव नहीं है। वास्तव में इन साधनाओं को अनुभूति का

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल, पृ० ७३।

विषय बनाकर ही हम संस्कृति की साधना कर सकते हैं। फिर प्रश्न यह उठता है कि संस्कृति के साथ 'भारतीय' विशेषण जोड़कर जब हम भारतीय संस्कृति शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका क्या तात्पर्य होता है? आचार्य द्विवेदी का मन्तव्य है—'मैं जब 'भारतीय' विशेषण जोड़कर संस्कृति शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मैं भारतवर्ष द्वारा अधिगत और साक्षात्कृत अविरोधी धर्म की ही बात करता हूँ। अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थिति में और विशेष ऐतिहासिक परम्परा के भीतर से मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिये इस देश के लोगों ने भी कुछ प्रयत्न किये हैं। जितने अंश में वह प्रयत्न संसार के अन्य मनुष्यों के प्रयत्न का अविरोधी है, उतने अंश में वह उनका पूरक भी है। भिन्न-भिन्न जातियों के अनुभूत और साक्षात्कृत अन्य अविरोधी धर्मों की भाँति वह मनुष्य की जययात्रा में सहायक है। वह मनुष्य के सर्वोत्तम को जितने अंश में प्रकाशित और अग्रसर कर सका है उतने ही अंश में वह सार्थक और महान है। वही भारतीय संस्कृति है।'[१] इस व्याख्या के अनुसार भारतीय संस्कृति मानव-संस्कृति से अलग नहीं ठहरती। पर जब हम संस्कृति का अध्ययन करते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम कुछ औपचारिकता का पालन करें और उसके सम्बन्ध में हमारी कोई निश्चित योजना हो। आचार्य द्विवेदी जी के विचार में संस्कृति के मूल में चार उपकरण हैं—आर्थिक व्यवस्था, राजनीतिक संगठन, नैतिक परम्परा और सौन्दर्य-बोध। ये चारों मिल कर सभ्यता की सृष्टि करते हैं, किन्तु जहाँ सभ्यता बाह्य प्रयोजन तक सीमित रह जाती है, वहाँ संस्कृति प्रयोजनातीत आन्तरिक आनन्द की अभिव्यक्ति करती है।[२] सभ्यता और संस्कृति में अन्तर यह है कि जहाँ सभ्यता हमारे बहिर्गत जीवन से सम्बन्धित है और हमारी दैनंदिन आवश्कताओं की पूर्ति करती है, वहाँ संस्कृति का कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु प्रयोजनातीत होकर भी वह हमारी मनुष्यता को विकसित करती है और हमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर कर उच्चतर अभिव्यक्ति प्रदान करती है। आचार्य द्विवेदी जी ने स्पष्ट कहा है कि-'यह जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है, जो कुछ जैसा होने वाला है, उसको वैसा ही न मानकर जैसा होना चाहिए, उसकी ओर जाने का प्रयत्न है, वही मनुष्य की मनुष्यता है।'[३] मनुष्यता की सर्व-श्रेष्ठ अभिव्यक्ति उस मूलभूत आनन्द में है जो साहित्य और कला का उपजीवी है। भारतीय धर्म-साधनों में संस्कृति के जिस ऊँचे धरातल की अभिव्यक्ति हुई है उससे आचार्य द्विवेदी जी पूर्णत: परिचित हैं। उन्होंने 'नाथ-पंथ,' 'कबीर', 'मध्यकालीन धर्म-साधना' आदि विषयों पर निबन्ध और लेख लिखकर भारतीय धर्म एवं दर्शन की मूलभूत एकता और आनन्द की

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल, पृ० ७५-७६। २. वही, पृ० ७६। ३. वही, पृ० ७८।

साधना पर प्रकाश डाला है। उनके विचार में भेद और विरोध ऊपरी हैं। भीतर मनुष्य एक है और यह मनुष्य मूलतः आध्यात्मिक है।'[1]

आचार्य द्विवेदी जी ने भारतवर्ष को संस्कृतियों का संगम-स्थान माना है। अपने निबन्ध 'संस्कृतियों का संगम' में उन्होंने उस भारतवर्ष की सांस्कृतिक जययात्रा की कल्पना की है जो महाकवि रवीन्द्रनाथ के शब्दों में महामानव-समुद्र है और जिसकी गौरवगाथा प्रागैतिहासिक काल की आदिवासी जातियों से लेकर आज तक अक्षुण्ण चली आती है।'[2] इस सांस्कृतिक जययात्रा का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र द्विवेदी जी ने अपने निबन्ध 'ठाकुर जी की बटोर' में हमारे सामने रखा है। यह एक प्रकार से प्राचीन भारत की शोध है। लेखक ने उस धर्म-भावना को प्रत्यक्ष करना चाहा है जो तीन हज़ार वर्षों से कोटि-कोटि नर-नारियों को शांति-दान कर रही है और जिसने बीसियों आर्येतर जातियों को मनुष्यता का पाठ पढ़ाया है। नयी-नयी जातियों के प्रवेश से भारतीय इतिहास और संस्कृति में निरन्तर परिवर्तन और उद्वेलन दिखलाई देता है। भारतीय-संस्कृति-मन्दिर में प्रतिष्ठापित देवता-मूर्ति ने आर्येतर कितनी ही जातियों को आश्रय दिया है। शक, हूण, पुलिंद, पुक्कस, आभीर, यवन, खस, पठान, तुर्क, मुगल आदि अनेक जातियों ने भारतवर्ष के इस सांस्कृतिक संगम को ऐतिहासिक वास्तविकता दी है। वैदिक युग से मध्ययुग के वैष्णव धर्म के प्रचार तक की विस्तृत भूमिका उनके इस चित्र में आ जाती है। 'संस्कृति क्या है ? मैं जरा उद्विग्न भाव से सोचने लगा। मुझे एक बार याद आये वैदिक-युग के कर्मकाण्ड-पटु ऋत्विजों के दल, जो प्रत्येक कुश और पल्लव के स्थान, पात्र और विधान के विचार में गम्भीर भाव से सतर्क थे। फिर याद आयी उपनिषद् कालीन ऋषियों की, जो बड़ी गम्भीरता के साथ मौन भाव से चिन्तन कर रहे थे कि क्या होगी वह चीज़ जिसे पाकर हम अमृत नहीं हो सकते ? फिर याद आये काषायधारी बौद्ध भिक्षु, जो 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' घर-बार छोड़कर, उत्तुंग शैल-शिखर और भीमकाय महासागर लाँघ रहे थे, और अन्त में याद आयी, उज्जयिनी के सौध-गवाक्षों से लीला-कटाक्ष-क्षेपिणी पौर-विलासिनियाँ। देखते-देखते मेरी कल्पना ने मध्ययुग की आतंकग्रस्त हिन्दू संस्कृति को सामने खड़ा कर दिया—निराभूषण संकुचिता, अवमानिता, विक्षुब्धा। उसमें कर्मकाण्ड काल की सजीवता नहीं थी, उपनिषत्काल की स्वतंत्र चिन्ता नहीं थी, बौद्ध-काल की दुर्वार करुणा-भावना नहीं थी, काव्य-काल की सुखमय विलास-सज्जा नहीं थी। इस्लाम के आक्रमण से उसका तेज म्लान हो गया था, दर्प हत हो गया था, पर वह हार मानने को तैयार नहीं थी,

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'अशोक के फूल', पृ० १९१।
२. देखिए—'कल्पलता', पृ० ५९-६५।

वह कुम्हलाती हुई वन्द विरद्ध की भाँति म्लान होकर भी सजीव थी, फिर से पनप उठने के लिए सचेष्ट थी, निरुपाय होकर वह जिधर सुविधा पाती उसी तरफ आश्रय को लपक पड़ती। इसी समय दक्षिणी आसमान से कई तेज:पुंज ज्वलंत ज्योतियाँ उत्तर की ओर बड़े वेग से दौड़ती हुई नजर आयीं। दिशायें तिमिराच्छन्न थीं, आसमान धूल से भरा हुआ था, धरित्री रक्त से तर थी। दक्षिण आकाश से आयी हुई इन ज्योतियों ने कोई बाधा नहीं मानी, किसी की परवा न की। वे बढ़ती ही गईं। अचानक प्रकाश की किरण में स्पष्ट मालूम हुआ, इस कुचली हुई संस्कृति-लता को एक सहारा मिला है। वह सहारा था वैष्णव-धर्म-भक्ति मतवाद।'[1] इस सम्पूर्ण चित्र से जो बात विद्युत-प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जाती है वह भारतीय मनीषा की समन्वयशीलता। इस समन्वयशीलता का मूलमंत्र मानवता है। यह वह सामान्य धर्म है जो संयम, संवेदन, श्रद्धा, तप और त्याग को प्रधानता देता है। ये ही वे आदर्श हैं जो भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। इन्हीं को मूलबद्धता देकर भारतीय धर्माचार्यों और उपासकों ने एक महाजाति की सृष्टि की है। आचार्य द्विवेदी जी के शब्दों में 'जातियाँ इस देश में अनेक आयी हैं। लड़ती-भगड़ती भी रही हैं, फिर प्रेमपूर्वक बस भी गयी हैं। सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी और नाना ओर मुख करके चलने वाली इन जातियों के लिये एक सामान्य धर्म खोज निकालना कोई सहज बात नहीं थी। भारतवर्ष के ऋषियों ने अनेक प्रकार से अनेक ओर से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी पर एक बात उन्होंने लक्ष्य की थी। समस्त वर्णों और समस्त जातियों का एक सामान्य आदर्श भी है। वह है अपने ही बन्धनों से अपने को बाँधना। मनुष्य पशु से किस बात में भिन्न है? आहार-निद्रा आदि पशु-सुलभ स्वभाव उसके ठीक वैसे ही हैं, जैसे अन्य प्राणियों के। लेकिन वह फिर भी पशु से भिन्न है। उसमें संयम है, दूसरे के सुख-दुख के प्रति संवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है। वह मनुष्य के स्वयं के उद्भासित बन्धन है। इसीलिये मनुष्य झगड़े-टंटे को अपना आदर्श नहीं मानता, गुस्से में आकर चढ़ दौड़ने वाले अविवेकी को बुरा समझता है और वचन, मन और शरीर से किये गये असत्याचरण को गलत आचरण मानता है। यह किसी खास जाति या वर्ण या समुदाय का धर्म नहीं है। यह मनुष्य मात्र का धर्म है।'[2] उनके विचार में भारतीय मनीषियों ने सफलता को महत्व नहीं दिया है। उन्होंने मनुष्य की चरितार्थता को सर्वोपरि रखा है। यह 'मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सब के मंगल के लिये निःशेष भाव से दे देने में है।'[3] इसे ही आचार्य द्विवेदी जी ने आंतरिक शुचिता कहा है और उसे आज के युग के

---

१. 'कल्पलता', पृ० ४९-५०। २. वही, पृ० ७-८।

३. वही, पृ० ६।

लिये अत्यन्त आवश्यक माना है।'[१] यही धर्म का मूल तत्व है, ऐसी उनकी मान्यता है। जातिगत और सम्प्रदायगत संकीर्णताओं को पीछे छोड़कर जब हम अविरोधी प्रेम की साधना करते हैं तो हम उच्चतम धर्म में प्रतिष्ठित हो जाते हैं जो सनातन मानव-धर्म है। सहस्रों वर्षों के भारतीय इतिहास में जिन महापुरुषों और साधकों की चर्चा है वे इसी सनातन धर्म के पोषक और प्रचारक रहे हैं तथा उनके अपने जीवन में यही मूल सत्य, मानव-सत्य बनकर समाहित हुआ है।

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के शोधी और अध्येता के रूप में मध्ययुगीन धर्म-साधनाओं का बड़ा विस्तृत अध्ययन किया है। इस अध्ययन का सार 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४०) और 'हिन्दी साहित्य' (१९५६) में इतिहास के विकासक्रम के सम्पूर्ण विस्तार के साथ मिलता है। परन्तु उनके चार विशिष्ट ग्रन्थ अपने व्यापक समारम्भ में इस विषय को उसके पूर्ण ऐश्वर्य के साथ पाठक के सामने प्रस्तुत करते हैं। मध्ययुग के सिद्ध, योगी, संत, सूफी और भक्त जिन अनेक साधनाओं को लेकर चले हैं उनका विस्तार पूर्ण और प्रामाणिक इतिहास द्विवेदी जी के निबन्धों और लेखों में मिलेगा। जहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को रस-सिद्ध तक सीमित कर उसे शिक्षित वर्ग की वस्तु माना है वहाँ आचार्य द्विवेदी जी उसे सामान्य मानव के सुख-दु:ख और राग-द्वेष की अभिव्यक्ति मानते हैं। फलस्वरूप उनकी चेतना में 'साहित्य' शब्द नया विस्तार प्राप्त कर लेता है तथा मध्ययुग के अपढ़ साधक एवं कवि उच्च कोटि के साहित्यकार बन जाते हैं। 'कबीर' और 'सहज-साधना' नामक ग्रन्थों को हम द्विवेदी जी की साहित्य-साधना का सर्वोच्च सोपान मान सकते हैं, क्योंकि वे यहाँ आलोचक ही नहीं इतिहासकार और भारतीय संस्कृति के अन्वेषक भी हैं। इन रचनाओं में उन्होंने भारतीय आध्यात्मिक चेतना के ऐतिहासिक विकास, उसकी विभिन्न साधना-पद्धतियों और उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया है। मध्ययुग की साधना को 'सहज-साधना' के रूप में प्रतिष्ठित कर और उसे साम्प्रदायिक सीमाओं से बाहर निकालकर आचार्य द्विवेदी जी ने भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है। उन्होंने अपनी इन रचनाओं में केवल भारतवर्ष को ही अपनी दृष्टि का केन्द्र नहीं बनाया है, वरन् अखिल मानवता के लिए समाधानों और निष्कर्षों की प्राप्ति की है। साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयवाद के परिणाम स्वरूप दो महायुद्धों ने मनुष्य की महिमा को जिस प्रकार कलंकित किया है वह प्रत्येक विचारवान के लिये प्रेरणा का विषय हो सकता है। आचार्य द्विवेदी जी का कोमल हृदय सचमुच ही व्यथा से पीड़ित हो उठा है और उनके हृदय मंथन की झाँकी हमें इन सशक्त पंक्तियों में मिलती है—'आज संसार का संवेदनशील

---

१. 'कल्पलता', पृ० १४६।

चित्त इस भयंकर दुष्परिणाम से व्याकुल हो गया है। सारे संसार के साहित्य के निष्ठावान मनीषियों के मन में आज एक ही प्रश्न है—यही क्या वास्तविक मानवतावाद है, जो मनुष्य को अकारण विनाश के गर्त में ढकेल रहा है? उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी स्वप्नदर्शियों ने और इस देश के पिछले खेवे के महान साहित्यकारों ने क्या मानवता की इसी महिमा का प्रचार किया है? आज नाना स्वरों में वैचित्र्य-संवलित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानव-चित्त की गम्भीरतम भूमिका से निकल रहा है- मानवतावाद ठीक है। पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति-मानव की? नहीं। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को—व्यक्ति-मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि-मनुष्य को—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा। आज के सुसंस्कृत मनुष्य की यही कामना है, यही उसके अन्तरम की चाह है।'[1] किन्तु आचार्य द्विवेदी के विचार में मनुष्य की चाह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक भूमिका पर ही समाप्त नहीं होती। मनुष्य की इच्छा-शक्ति का उन्मेष अत्यन्त रहस्यमय है और वह गहरी भाव-भूमिका से ही सन्तुष्ट हो सकता है। यह भाव-भूमिका धर्म और अध्यात्म का विषय है। विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों ने धर्म और अध्यात्म के लिये नयी-नयी साधनाओं की कल्पना की है और उपासना की नयी-नयी पद्धतियों का आविष्कार किया है। सबसे बड़ी चीज है प्रेम की साधना, जिसके सामने अन्यान्य साधनाएं नीरस और फीकी हैं। इन साधनाओं के विरोध में यह कहा जा सकता है कि इनसे व्यक्ति और समाज का क्या लाभ है? इस प्रश्न को आचार्य द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'सहज-साधना के अंतिम पृष्ठों में उठाया है और अपने ढंग पर एक समाधान भी प्रस्तुत किया है। उनके विचार में यह युग जड़-विज्ञान का युग है तथा हमारी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति उसी से होगी। परन्तु जिन प्रयत्नों से मनुष्य का चिन्मय स्तर प्रभावित होता है, वे उनके विचार में अधिक महत्वपूर्ण हैं। वे कहते हैं— यह कोई नहीं कहता कि जड़-विज्ञान द्वारा प्राप्त सुविधाएं मनुष्य को सुखी और समृद्ध नहीं बना सकतीं, किन्तु प्रयत्न जड़ोन्मुख नहीं होना चाहिए, चिन्मुख होना चाहिए। यदि जड़ ही लक्ष्य हो जायगा, तो वह मनुष्य की वास्तविक मनुष्यता को ही दबोच देगा। मनुष्य का समस्त आहार-विहार, समस्त मन और प्राण चिन्मुख होकर सार्थक होता है, जड़ोन्मुख होकर अपने लिये और दूसरों के लिये कष्टकारक होता है। शरीर भी जड़-प्रकृति का विकार है, मन भी, बुद्धि भी। और बाह्य प्रकृति में दृश्यमान पदार्थ तो जड़ हैं ही। चित के संयोग के द्वारा ही इनमें विभिन्न गुणों का विकास हो रहा है।'[2] आधुनिक युग के यांत्रिकता के अभिशाप के विरोध में उन्होंने भारत की आध्यात्मिक साधना को रखा है। उनके विचार में मानवतावाद

---

१. 'सहज-साधना', पृ० ६। २. वही, पृ० १०१।

उस समय तक अस्पष्ट एवं लक्ष्यहीन है जब तक वह आत्मिक और लोक-मांगलिक नहीं बनता। उनके शब्द हैं--संतों और भक्तों की वाणी का आज भी उपयोग है। वह मनुष्य पर मशीन के प्रभुत्व का प्रत्याख्यान करती है और इस बात पर जोर देती है कि जडोन्मुखी यांत्रिकता नहीं, बल्कि चिन्मुखी मानवता ही बड़ी चीज है। सिर्फ मानवतावाद एक अस्पष्ट और लक्ष्यहीन तत्ववाद है। चिन्मुखी मानवता का सिद्धान्त स्पष्ट और सोद्देश्य विचारवाद है।'[1]

किन्तु आचार्य द्विवेदी की सांस्कृतिक चेतना धर्म और अध्यात्म तक ही समाप्त नहीं हो जाती। उन्होंने 'प्राचीन भारत का कला-विलास और 'कालिदास की लालित्य-योजना' नामक ग्रन्थ लिखकर कला, साहित्य और संगीत के क्षेत्रों में उस सौन्दर्य-चेतना के विकास का इतिहास भी लिखा है जो हमारी सामन्ती संस्कृति की विशेषता है। कालिदास का साहित्य उन के लिये भारतीय सौन्दर्य-बोध का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। इस सौन्दर्यबोध के विकास की एक अत्यन्त सम्पन्न रूपरेखा निबन्ध में मिलती है। परन्तु वे सौन्दर्य को मांगल्य से अलग नहीं करते। फलतः यहाँ भी वे स्थूल प्रयोजन से ऊपर उठकर आत्मिक परितोष, मांगल्य और लोक कल्याण की बात को प्राथमिकता देते हैं। वस्तुतः धर्म-साधना और शृंगार साधना सम्बन्धी उनकी विचारधाराएँ एक दूसरे की पूरक हैं और दोनों के मूल में वह मूल चैतन्य-धारा है, जो इस विश्व में व्याप्त है एवं मनुष्य में सर्जना की इच्छा के रूप में अभिव्यक्त होती है। यह स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी ने अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना के माध्यम से हमारी साहित्यिक चेतना को पुष्ट किया है और श्रेष्ठ साहित्य की समीक्षा के लिये कुछ ऐसे सांस्कृतिक मानदण्डों का निर्माण किया है जो सार्वभौमिक हैं।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की सांस्कृतिक चेतना प्राचीन भारतवर्ष, मध्ययुगीन भारत और आधुनिक युग को समान रूप से स्पष्ट करने में समर्थ है। उन्होंने अपनी सांस्कृतिक चेतना का निर्माण अनेक उपकरणों से किया है। जहाँ एक ओर वे 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (१९५५) में 'अष्टाध्यायी' का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं, वहाँ 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' (१९६५) नामक शोध-व्याख्यानों में भारतीय संस्कृति के उषाकाल से लेकर आज तक प्रचलित लोक-धर्म और संस्कृति के अनेक पहलुओं पर विस्तृत प्रकाश डालते हैं। शिष्ट और लोक-संस्कृतियों के दो विभिन्न छोरों को हम उनकी चेतना में एक बिन्दु पर समाहित पाते हैं। उन्होंने बड़े साहस के साथ कहा है कि 'लोक-संस्कृति सचमुच जयशालिनी है। उसकी गोद में अमृत है। कोई संस्था, विश्वास या नाम वहाँ मरता हुआ नहीं दीखता। सब लोक की प्राणधारा के प्रवाह में बहते

---

१. 'सहज-साधना', पृ० १०२।

हैं।'[1] उनके विचार में 'हिन्दू संस्कृति समन्वय के बीज-मंत्र को लेकर आगे बढ़ी है। इसी बीज मंत्र से हिन्दू-संस्कृति में उस अभय मुद्रा का जन्म हुआ जिसके कारण छोटी और बड़ी, ऊंची और नीची, सब संस्कृतियां एक परिवार की अंग बनी हुई हैं। गंगा की धारा में भरे हुए बालू के कणों की भांति यहां आपस में सादृश्य और अभेद ही अधिक देखा जाता है और जीवन की सतत परिचालित गति भी उसी लक्ष्य की ओर बढ़ती चली जाती है।'[2]

संस्कृति के अध्येताओं ने उसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की है। परन्तु ऐसी कोई व्याख्या नहीं मिलती जिसको सर्वमान्य माना जा सके। इसका कारण यह है कि संस्कृति अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है और उसका व्यक्ति, राष्ट्र और सम्पूर्ण मानव-समाज की विभिन्न अर्थ होता है। जीवन की नानाविध प्रवृत्तियों और उसके अनेक रूप ही मिलकर संस्कृति का निर्माण करते हैं। यद्यपि संस्कृति चेतनामूलक सूक्ष्म तत्व है, किन्तु व्यक्ति, राष्ट्र और मानव-समाज के जीवन में उसका मूर्तिमान रूप हमारे सामने आता है। मानव जीवन की गतिशीलता के साथ संस्कृति का भी विकास होता रहता है। प्रत्येक नयी पीढ़ी पिछली पीढ़ी के सांस्कृतिक दाय को आगे बढ़ाती है। धर्म, दर्शन, साहित्य और कला संस्कृति के ही अङ्ग हैं। राजनीति और अर्थशास्त्र मानव-संस्कृति के अङ्ग बनकर ही सार्थकता की प्राप्ति करते हैं। संस्कृति में मनुष्य-मनुष्य के भेदों का परिहार हो जाता है और हमारा मानसिक वृत्त सकल समाज एवं सम्पूर्ण विश्व को अपने भीतर समेट लेता है। संस्कृति में प्राचीन और अर्वाचीन मिलकर एक उच्चतर समन्वय की सृष्टि करते हैं। तात्पर्य यह है कि संस्कृति अविरोधी तत्व है तथा समन्वयशीलता उसकी विशेषता है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने संस्कृति के इस व्यापक रूप को समझा है। अपनी पुस्तक 'कला और संस्कृति की भूमिका' में उन्होंने संस्कृति की व्यापक रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की है—'संकृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है। विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है वही उसकी संस्कृति है। संस्कृति मानवीय जीवन की प्रेरक शक्ति है। वह जीवन की प्राण वायु है जो उसके चैतन्य भाव की साक्षी देती है। संस्कृति विश्व के प्रति मैत्री की भावना है। संस्कृति के द्वारा हम दूसरों के साथ संतुलित स्थिति प्राप्त करते हैं। विश्वात्मा के साथ अद्रोह की स्थिति और सम्प्रीति का भाव उच्च संस्कृति का सर्वोत्तम लक्षण है, संस्कृति के द्वारा हम स्थूल भेदों के भीतर व्याप्त एकत्व के अन्तर्यामी सूत्र तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं और उसे पहचानकर उसके प्रति अपने मन को विकसित करते हैं। प्रत्येक राष्ट्र की दीर्घकालीन ऐतिहासिक हलचल का लोकहितकारी

१. प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० १३६। २. वही, पृ० १४३।

तत्व उसकी संस्कृति है। संस्कृति राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है। वह मानव-जीवन को अध्यात्म प्रेरणा प्रदान करती है। उसे बुद्धि का कुतूहल मात्र नहीं कहा जा सकता। जिन मनुष्यों के सामने संस्कृत का आदर्श ओझल हो जाता है उनकी प्रेरणा के स्रोत भी मन्द पड़ जाते हैं। किन्तु सच्ची संस्कृति वह है जो सूक्ष्म और स्थूल मन और कर्म, अध्यात्म जीवन और प्रत्यक्ष जीवन इन दोनों का कल्याण करती है।'[१] वे कला को इस स्थूल जीवन में संस्कृति की अभिव्यक्ति मानते हैं। उनके विचार में कला मानवीय जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। उन्होंने संस्कृति को मन और प्राण कहा है और कला को उसका शरीर। जिस प्रकार मैथ्यू आरनाल्ड ने आधुनिक युग में धर्म के स्थान पर साहित्य को रखने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार डॉ० अग्रवाल आनेवाले युग मे धर्म तथा अध्यात्म का स्थान कला एवं संस्कृति को देते हैं। इस विचारणा के क्षेत्र मे डॉ० अग्रवाल का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'कला और संस्कृति' नामक ग्रंथ में उनके ऐसे निबन्ध संग्रहीत हैं जो इन विषयों पर उनके चिन्तन का सार है। इन निबन्धो मे जहाँ उन्होंने वाल्मीकि, व्यास, श्रीकृष्ण, मनु, पाणिनि, अशोक और स्कन्दगुप्त जैसे भारतीय संस्कृति के केन्द्रवर्ती महापुरुषों के महत्व को स्थापित करने का प्रयत्न किया है, वहाँ अनेक सांस्कृतिक संस्कारों और प्रतीकों के निगूढ़ अर्थों का भी उद्घाटन किया है। भारतीय कला के आधुनिक आचार्यों में से अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल, यामिनीराय और आनन्दकुमार स्वामी की विचारधारा और कला-चेतना पर भी उन्होंने व्यापक रूप से प्रकाश डाला है। वस्तुतः किसी एक व्यक्ति के लिए कुछ थोड़े से निबन्धों में समस्त भारतीय परिवेश उद्घाटन करना असम्भव बात है। परन्तु डॉ० अग्रवाल का प्रत्येक निबन्ध अपने विस्तार में व्यक्तियों अथवा अभिव्यक्तियों के माध्यम से बहुत कुछ कहने का प्रयत्न करता है। भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने जिन व्यक्तियों और प्रतीकों को चुना है वे स्वयं इतने समर्थ हैं कि उनमें भारतीय संस्कृति का सार आ गया है। मध्यकालीन शस्त्रास्त्रों से लेकर भारतीय वस्त्र-सज्जा तक लेखक की सांस्कृतिक दृष्टि का प्रसार है। यही नहीं, विभिन्न प्रांतों के लोक-शिल्प में जिस अलङ्करण-कला का उपयोग व्यापक रूप से होता है उसकी विवेचना भी उनके साहित्य में मिलती है। उनका और भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'मातृभूमि' (१९५२) है, जिसमे उन्होंने राष्ट्र के नये अधिदेवता के रूप में मातृभूमि की कल्पना की है और राष्ट्रीय भूमि को कल्पना की है और राष्ट्रीय भूमि तथा राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अनेक प्राचीन सन्दर्भों, संस्थाओं एवं प्रतीकों का विशेषण किया है। इस निबन्ध संग्रह मे उनकी भाषा का सांस्कृतिक प्रवाह एक अपूर्व शोभा की सृष्टि करता है। लेखक का

---

१ 'कला और संस्कृति' की भूमिका पृ० २

उत्साह और उसकी उत्कट राष्ट्रीयता 'माता-भूमि' की भूमिका की इन पंक्तियों में स्पष्ट हो जाते हैं—'यह निश्चित है कि इस राष्ट्र का निशाकाल बीत गया। अब उत्थान और जागरण का युग आया है। इस युग में साझीदार बनने के लिये, अपना जन्म सिद्ध कर्तव्य पूरा करने के लिये और उनसे प्राप्त जो अधिकारों के वरदान हैं उन तक पहुँचने के लिये हममें से प्रत्येक को कर्म की मूर्छा छोड़नी होगी। कर्मण्यता का नया वेग जब हमारी रीढ़ को सीधा कर देगा तभी हम उदीयमान राष्ट्र के सच्चे नागरिक होंगे। मधु का स्वाद चाहने वाले ऊँघते हुए व्यक्ति स्वप्न दशा के सूचक हैं। उषःकाल के विहँसते बालखिल्य बच्चे तो आकाश के मार्ग से चढ़कर कर्म-सिद्धि तक पहुँचना चाहते हैं। यही जीवन का नया विधान है।'[1] संकलन के पहले ही निबन्ध 'माताभूमि' में लेखक ने भारतवर्ष के सांस्कृतिक रूप और उसकी समन्वय भावना का बड़ी भावुकता के उद्घाटन किया है। यहाँ माताभूमि की जो कल्पना है वह पश्चिमी देशों की राष्ट्रीय-कल्पना से भिन्न है, क्योंकि वह आर्थिक व राजनीतिक न होकर सांस्कृतिक और आध्यात्मिक है। डॉ० अग्रवाल के शब्दों में—माताभूमि नये युग की देवता है। सुन्दर संकल्प, सशक्त कर्म और त्याग-भावना जिस के लिये समर्पित हो, वही देवता है। देवता से बिना मनुष्य रह नहीं सकता। युग-युग में मानस लोक को भरने के लिये देवता की आवश्यकता होती है। देवता भी सदा एक से तेज से नहीं चमकते, वे उगते और अस्त हो जाते हैं। इन्द्र-अग्नि के कल्प और शिव-विष्णु के युग तत्कालीन मानव की सर्वोत्तम भाव-भक्ति और सृजन-शक्ति का प्रसाद पाकर बीत गये। अर्वाचीन युग मातृभूमि को महती देवता मानकर अपना प्रणाम भाव अर्पित करता है। एक देश में नहीं सभी देशों की यही प्रवृत्ति है। जहाँ मातृभूमि अभी उच्चतम आसन्दी पर प्रतिष्ठित नहीं हुई है, वहाँ की जनता वैसा करने के लिये व्याकुल है। यही नूतन युग का समान सन्देश है। लोक समुद्र के मंथन से मातृभूमि रूपी नये देवता का जन्म हो रहा है।'[2] डॉ० अग्रवाल के विचार में भारतवर्ष का भौगोलिक स्वरूप ही उसका भौतिक रूप नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में भी मातृभूमि का भौतिक रूप बसा हुआ है। मातृभूमि से भारतीयों का संबन्ध माता और पुत्र का सम्बन्ध है। यह संबन्ध केवल भौतिक नहीं है। उसका परिपूर्ण रस भारतीयों के मन में व्याप्त है। इसी सांस्कृतिक मन को डॉ० अग्रवाल ने 'अमृत मन' कहा है। उनका कहना है—'हमें इसी अमृत मन में अपना भागदेय प्राप्त करना है। अमृत मन राष्ट्र की संस्कृति का ही दूसरा नाम है। मन के चारों ओर भरा हुआ जो अमृत समुद्र है उसी में सत्य, यज्ञ, त्याग, तप, अहिंसा, सर्वभूतहित, न्याय, धर्म, ज्ञान आदि सुन्दर दिव्य भावों के कमल तैर रहे हैं। उनकी गंध हमारे पूर्व पुरुषों

१ माता-भूमि की भूमिका पृ० २ २ वही पृ० १।

ने सूँघी थी। मातृभूमि के हृदय तक पहुँचने के लिये उसी को हमें भी प्राप्त करना है। मातृभूमि का भौतिक रूप हम सबके शरीरों में बसा हुआ है। हम कहीं भी हो उस रूप से हम पहचाने जा सकते हैं, उसका परित्याग हम नहीं कर सकते। किन्तु भौतिक रूप से कहीं अधिक प्रभावशाली मातृभूमि के हृदय का अमृत है जो उन गुणों और विशेषताओं से मिल सकता है जिनकी उपासना राष्ट्रीय संस्कृति का प्रधान अंग रहा है।[1]

पश्चिम की राष्ट्रीयता राष्ट्रों के विभेद और स्वार्थों पर आधारित है। डॉ० अग्रवाल ने जिस राष्ट्रप्रेम की कल्पना की है वह विश्व-बन्धुत्व का ही अनिवार्य अंग है। उन्होंने वैदिक ऋचाओं का आधार लेकर ही यह स्पष्ट किया है कि भारतीय चेतना सारे विश्व को एक इकाई के रूप में कल्पित करती है। समन्वय, सहिष्णुता और समवाय भारतीय चेतना के मूलमंत्र हैं–'मातृभूमि के जिस स्वरूप की कल्पना हम ध्यान में करते हैं उसमें तो सारा विश्व समाया हुआ है। हमारी भूमि विश्व का ही अंग है। अतएव मातृभूमि का मन विश्वात्मा के साथ मिला हुआ है। जिस राष्ट्रीयता के साथ विश्व बन्धुत्व का विरोध हो वह हमें प्रिय नहीं। युग-युग में भारत की राष्ट्रात्मा विश्वात्मा के साथ समन्वय ढूँढ़ती रही है। इस राष्ट्र में जिस दिन प्रथम बार ज्ञान का नेत्र उघड़ा, उसी क्षण समन्वय के स्वर यहाँ के नीले आकाश में भर गये। सहिष्णुता भारत राष्ट्र की जन्मघुट्टी है। समवाय इस देश का गुरुमंत्र है। राष्ट्र में और वस्तुत: मानव जीवन में चारों ओर विभिन्नता छाई हुई है, एक-एक से भिन्न है। नाना और बहुधा से पदे-पदे पाला पड़ता है। इस सत्य को पृथिवी सूक्त के ऋषि ने पूर्व में ही पहचान लिया था और कहा---

जनं बिभ्रंति बहुधा विवाचसं।
नाना धर्माणं पृथिवि यथौकसम्।[2]

पिछली दो शताब्दियों में भारतवर्ष ने अपने इतिहास और संस्कृति के भूले हुए अध्यायों को स्मरण कर आधुनिक युग के लिये जो नया पुनर्निर्माण प्रस्तुत किया है, वह पश्चिमी विचार-धारा और संस्कृति को आत्मसात करने पर भी अपनी मौलिकता बनाये रखने में समर्थ है। डॉ० अग्रवाल की तरह यह कहना सामान्य सामर्थ्य की बात नहीं है कि भारतवर्ष की विचारधारा मौलिक और पूर्ण होने पर भी अविरोधी है। 'भारतवर्ष की विचारधारा किसी से टक्कर नहीं मारती। मेघों की तरह ऊपर उठकर यहाँ के विचार अपना जल बरसाते हैं भविष्य इसी विचारधारा के साथ है, क्योंकि यह विश्वात्मा की वाणी है। इसमें समवाय का सत्य है। अशोक के शब्दों में मेल-जोल ही ठीक रास्ता है—समवाय एवं साधु।'[3]

---

१. 'माता-भूमि' की भूमिका, पृ० ३।

२ 'माता-भूमि' की भूमिका, पृ० ५ ३ वही पृ० ९६

भारतीय संस्कृति के भविष्य के सम्बन्ध में यह आस्था डॉ० अग्रवाल की साहित्यिक रचनाओं को सामयिकता से ऊपर उठा देती है। वे केवल इतिहासविद् और पुरातत्व-विशारद ही नहीं रहते, भारतीय संस्कृति के व्याख्याता भी बन जाते हैं। उनकी रचनाओं में वह साहित्यिक उन्मेष भले ही न हो जो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की विशेषता है। फिर भी सब मिलाकर उनका साहित्य आधुनिक सांस्कृतिक चिन्तन की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। शोधकर्ता के रूप में उन्होंने 'हर्ष-चरित्र', 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' की टीकाओं और सांस्कृतिक व्याख्याओं के द्वारा मध्ययुगीन संस्कृति के नव-निर्माण के लिए जो कार्य किया है वह अपने में कम महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि उससे हमारी मध्ययुग की धारणा ही बदल जाती है और हम भारतीय संस्कृति को एक परिपूर्ण धारा-प्रवाह के रूप में देखने में समर्थ होते हैं।

भारतीय संस्कृति के विवेचकों में डॉ० देवराज और रामधारीसिंह 'दिनकर' का भी नाम लिया जा सकता है। डॉ० देवराज ने 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' और 'भारतीय संस्कृत-महाकाव्यों के आलोक में' नामक अपनी दो रचनाओं में संस्कृति के व्यापक और सारभूत अध्ययन के आधार पर एवं संस्कृत महाकाव्यों की पृष्ठभूमि में रखकर भारतवर्ष के सांस्कृतिक विकास और उसकी धार्मिक-नैतिक-सांस्कृतिक चेतनाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, जो अनेक दिशाओं में मौलिक है। उसी प्रकार रामधारीसिंह 'दिनकर' ने 'संस्कृति के चार अध्याय' शीर्षक अपनी श्रेष्ठ रचना मे भारतीय संस्कृति के चार विशिष्ट आयामों का जो विस्तृत और सारगर्भित मूल्यांकन प्रस्तुत किया है, वह आलोच्य युग के सांस्कृतिक चिन्तन को एक ऊँचे शिखर पर स्थापित कर देता है। आलोच्य युग के केन्द्रीय व्यक्तित्व पण्डित नेहरू ने भारतीय संस्कृति के रहस्योद्घाटन में कम परिश्रम नहीं किया था और उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप हमें हिन्दी में ऐसे अनेक विचारक इस युग में मिल जाते हैं जो भारतीय संस्कृति को अपने अध्ययन का विषय बनाते हैं।

●

अष्टम अध्याय

राजनीतिक चिन्तन

भारतीय राजनीति की भाषा अंग्रेजी रही है। महात्मा गांधी के राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण से पहले मातृभाषाओं का प्रयोग मंच पर नहीं हुआ था यद्यपि कुछ भारतीय लेखकों ने अपनी मातृभाषा में ऐसी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं जिनका राष्ट्रीय आन्दोलन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए हम बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय को ले सकते हैं, जिनके उपन्यास 'आनन्दमठ' ने बंगाल की राजनीति पर व्यापक और गम्भीर प्रभाव डाला और एक प्रकार से उग्र राष्ट्रवादियों का एक ऐसा दल खड़ा कर दिया जो हिंसा में विश्वास रखता था एवं जो आतंकवादी कहा जा सकता था। परन्तु बंगाल के बाहर भी इस उपन्यास की लोकप्रियता ने सभी भाषा-क्षेत्रों पर अपना प्रभाव डाला। इस उपन्यास का 'वन्देमातरम्' गान ही भारतवर्ष का राष्ट्रीय गान बना और उसी ने साहस और बलिदान का एक नया मंत्र नये भारतवर्ष में प्रचारित किया। इसमें सन्देह नहीं कि राजनीति एक सर्वग्राही चेतना है और राजनीतिक कार्यकर्त्ता सामान्यत: साहित्य में अधिक अभिरुचि नहीं रखते। परन्तु भारतवर्ष की राष्ट्रीय चेतना की यह विशेषता रही है कि उसने श्रेष्ठतम कवियों, कथाकारों और गद्य-शिल्पियों को आमंत्रित किया है और उनके योगदान से हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन सांस्कृतिक एवं विशिष्ट बन सका है।

भारतीय राजनीति का आरम्भ १८५७ मे सिपाही विद्रोह से होता है, जो एक प्रकार से भारतीय स्वाधीनता का पहला युद्ध कहा जा सकता है। इससे पहले कोई व्यापक और निश्चित चेतना हमारे देश में ऐसी नहीं थी जो विभिन्न राज्यों और प्रान्तों को पार कर सम्पूर्ण भारतीय भौगोलिक इकाई को एक परिप्रेक्ष्य में देखती। १८५६ मे ही रेल, डाक और तार की व्यवस्था पहली बार हुई तथा कलकत्ता, मद्रास और बम्बई मे प्रथम विश्वविद्यालयों की स्थापनाएँ हुईं, जिनसे अंग्रेज़ी शिक्षित वर्ग को नयी शिक्षा और संस्कृति में दीक्षित होने की सुविधा प्राप्त हुई। इससे पहले अलग-अलग प्रान्त और राज्य आवागमन का यातायात और शिक्षा के सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग पर आयोजनाओं को लेकर चलते थे। इस प्रकार समस्त भारतीय भूखण्ड को भौतिक और

मानसिक क्षेत्रों में एकसूत्रता देने का प्रयत्न उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही आरम्भ हुआ। १८५७ का जन-विद्रोह एक प्रकार से उन स्वदेशी शक्तियों और स्वार्थों का विद्रोह था जो एक बार फिर मुगल राज्य की स्थापना का स्वप्न देखते थे या नयी हिन्दू शक्ति के रूप में मराठा-शक्ति को सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य के रूप में स्थापित करना चाहते थे। स्वाधीनता के इस प्रथम युद्ध की असफलता ने अंग्रेजी शासन को समस्त भारतवर्ष पर एक सुदृढ़ सुविस्तीर्ण अधिकार दे दिया और अगले पचास वर्षों में भारतवर्ष का दो-तिहाई भाग सीधा ब्रिटिश पार्लियामेंट के शासन में आ गया। १८५८ में कम्पनी राज्य का अन्त हो गया और नयी शासन-व्यवस्था के अनुसार इङ्गलैंड की पार्लियामेंट भारतवर्ष की सुरक्षा और उन्नति के लिए उत्तरदायी बनी। लगभग एक दशक तक हमें भारतवर्ष में कोई राजनीतिक चेतना दिखलाई नहीं पड़ती। विदेशी सत्ता ने अपनी दमनशक्ति से भारतीय चेतना को एकदम स्तब्ध बना दिया था। वैसे अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग की तीसरी पीढ़ी जन्म ले रही थी। इसके लगभग बीस वर्षों बाद १८८५ में कांग्रेस की स्थापना होती है और राजनीतिक-चिन्तन एवं आन्दोलन का आरम्भ होता है। कांग्रेस की स्थापना उस समय जनता की मांग नहीं थी। उसके पीछे अंग्रेजी अधिकारियों की सुरक्षा का भाव था। वे ऐसा मंच चाहते थे जिसपर भारतीयों द्वारा नौकरियों आदि की सुविधाओं पर विचार हो सके और विदेशी सत्ता से अंग्रेजी शिक्षित वर्ग के लिए नये अधिकारों की माँग की जाय। १८९३ में कांग्रेस राजनीतिक गोष्ठी मात्र ही रही, परन्तु इस वर्ष उसके स्वरूप में परिवर्तन हुआ और वह विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में प्रचण्ड आन्दोलनकारी उग्र संस्था बन गयी। इस समय के लगभग ही राजनीति के क्षेत्र में अरविंद घोष का प्रवेश हुआ जो हिंसा के समर्थक आतंकवादियों से भी अपना सम्पर्क रखते थे। उन्होंने भारतीय राजनीति को राष्ट्रीयता का सशक्त मेरुदण्ड दिया और उसमें धार्मिक उन्मेष भरा।

१८६५ से १८९३ तक भारतीय भाषाओं के कवि और साहित्यकार राष्ट्रीय चेतना का बीजारोपण करने में समर्थ हो गये थे। बंगाल में बंकिमचन्द्र, नवीनचन्द्र और हेमचन्द्र, महाराष्ट्र में आगरकर और चिपूलूणकर तथा हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इन वर्षों में साहित्य के द्वारा पाठकों को राजनीति और राष्ट्रीय प्रेरणा प्रदान की। उन्होंने निबन्धों, लेखों, नाटकों और सम्पादकीयों के द्वारा नयी शक्ति का निर्माण किया और शिक्षित समाज को अपने हितों के सम्बन्ध में प्रबुद्ध बनाया। भारतेन्दु का प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'कवि-वचन-सुधा' १८६७ में ही प्रकाशित होना आरम्भ हुआ था। इसके राजनीतिक लेख, टिप्पणियाँ, निबन्ध आदि बड़े मार्मिक और प्रभावशाली होते थे। १८८५ में कालाकांकर से राजा रामपालसिंह ने महामना मालवीय जी के सम्पाद

कत्ते में 'हिन्दुस्थान' नामक प्रसिद्ध राजनीतिक दैनिक प्रकाशित कराया। उन दिनों उत्तर भारत में कलकत्ता ही सब से बड़ा राजनीतिक केन्द्र था और वहीं से हिन्दी के दो अत्यन्त प्रभावशाली साप्ताहिक 'भारत-मित्र' और 'सार-सुधानिधि' प्रकाशित होते थे। तात्पर्य यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी साहित्यकारों ने पत्रकारिता के द्वारा और स्वतन्त्र रूप से पर्याप्त राजनीतिक साहित्य तैयार कर लिया था। परन्तु उसमें से अधिकांश सामयिक उपयोगिता की ही वस्तु रहा है। कांग्रेस और दूसरी राजनीतिक संस्थाओं में अंग्रेजी का ही बोल-बाला था और अंग्रेजी पत्रकारिता ही विदेशी शासकों के लिए महत्वपूर्ण थी। यह स्पष्ट है कि हिन्दी के पत्रकारों एवं निबन्ध लेखकों ने राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ा प्रबुद्ध जनमत तैयार कर लिया था।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन का दूसरा युग १९०५ से आरम्भ होता है, जब जापान की रूसी विजय और बंग-भंग आन्दोलन के कारण शिक्षित मध्य वर्ग स्वाधीनता की भावना से व्याकुल हो उठा। इस आन्दोलन से देशी भाषाओं के पत्रों का महत्व बढ़ा तथा राजनीतिक साहित्य की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। फलस्वरूप राजनीति-सम्बन्धी छोटी-छोटी पुस्तकों का प्रकाशन होने लगा। १९१० के स्वदेशी आन्दोलन और पाँच वर्षों बाद श्रीमती ऐनी बीसेन्ट के 'होमरूल'—आन्दोलन ने राजनीतिक चेतना को और भी सुस्पष्ट, तीव्र एवं जागरूक बनाया। १९१४ में प्रथम महायुद्ध का आरम्भ हुआ और युद्ध के समाचारों ने भारतीय जनता की राजनैतिक चेतना को देश की भौगोलिक सीमा से बाहर निकालकर विश्वव्यापी बना दिया। १९१७ में रूसी राज्यक्रांति हुई और भारतीय जनता के सामने मार्क्सवाद के रूप में एक नया राजनैतिक तन्त्र आया। इसी समय के लगभग भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का प्रवेश होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भारतीय राजनीति नर्म दल तथा उग्र दल में विभाजित हो गयी थी जिनके नेता क्रमशः महादेव गोविन्द रानडे और लोकमान्य तिलक थे। १९०६ के पूना अधिवेशन में दोनों दलों में एकदम विच्छेद की स्थिति आ गई थी। रानडे विधानवादी थे और लोकतन्त्री ढंग से सत्ताधारियों के हाथ से शासनाधिकार छीनना चाहते थे पर लोकमान्य तिलक राजनीति के क्षेत्र में सामान्य जनता की सहायता से उग्र आन्दोलन उठाना चाहते थे। महात्मा गांधी की राजनीति में ये दोनों प्रवृत्तियां एक बिन्दु पर स्थापित हुईं। वे अपने को रानडे का उत्तराधिकारी कहते थे किन्तु उनके विचारों और कार्यों में लोकमान्य से भी अधिक उग्रता थी। उन्होंने बहिष्कार, असहयोग और सत्याग्रह के रूप में तीन महान शस्त्र अपने युग की जनता को दिये तथा अहिंसा के व्रत को सर्वमान्य बताते हुए अंग्रेज अधिकारियों का भी विश्वास प्राप्त किया। धर्म के महान मूल्यों को राजनीति में उतार कर महात्मा गांधी भारतीय स्वाधीनता के आन्दोलन को

उन्नत नैतिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करने में सफल हुए। एक प्रकार से १९२० के बाद राष्ट्रीय जीवन का नेतृत्व उन्हीं के हाथ में रहा। स्वाधीनता प्राप्ति (१५ अगस्त १९४७) तक वे ही हमारे राजनैतिक और राष्ट्रीय चिन्तन के केन्द्र रहे।

हिन्दी साहित्य में यह गांधी-युग राष्ट्रीय विचारणा और राजनीतिक चिन्तन का परिपूर्ण उत्कर्ष लेकर सामने आता है। इस युग के सभी बड़े साहित्यकार, पत्रकार और कवि राजनीति से सम्बन्धित थे और इनमें से अनेकों ने राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेकर जेल-यात्रा की तथा जेल-जीवनकाल इनकी साहित्य-सृजना के लिये उपयुक्त काल था। १९३० तक भारतीय राजनीति पर महात्मा गांधी की अमिट छाप रही और उनकी विचारधारा को 'गांधीवाद' के नाम से प्रसारित किया गया। 'हिन्द केसरी' के सम्पादक पं० माधवप्रसाद सप्रे ने माखनलाल चतुर्वेदी और पराड़कर जैसे राष्ट्रीय पत्रकारों का निर्माण किया, जिन्होंने 'आज' और 'कर्मवीर' के माध्यम से गांधीवाद और राजनीतिक चिन्तन को अग्रगामी बनाया। इस सम्बन्ध में 'प्रताप' के सम्पादक गणेशशंकर विद्यार्थी एवं बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। वस्तुतः १९३०-३६ तक हमारा अधिकांश राजनैतिक साहित्य पत्रकारिता तक सीमित था। इसके पश्चात् राजनैतिक क्षेत्रों में नयी विचारधारा का जन्म हुआ और समाजवादी एवं मार्क्सवादी चिन्तन के रूप से नये विचारों का आरम्भ हुआ। कहा जाता है कि व्यवस्थित रूप से हमारा राजनैतिक साहित्य और चिन्तन इसी समय से आरम्भ होता है। राहुल सांकृत्यायन, सम्पूर्णानन्द, आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया और अनेक अन्य नेताओं और लेखकों ने १९३०-३२ के आन्दोलन की असफलता के बाद ही समाजवाद और मार्क्सवाद का अध्ययन शुरू किया। फलस्वरूप उनकी दृष्टि परिवर्तित हुई और इस नई दृष्टि का प्रयोग उन्होंने गांधीवाद का विश्लेषण और मूल्यांकन में किया। परिणाम यह हुआ कि अनेक नये राजनैतिक समीकरण 'वादों' के रूप में सामने आये। गांधीवादी विचारकों को भी प्रतिक्रिया के रूप में गांधी जी की राजनीति और उनके विचारों को अधिक व्यवस्थित रूप देना पड़ा। जो हो, यह सत्य है कि १९३०-३ के बाद हमारी राजनीति में एक नया मोड़ आता है और उससे हमारा राजनैतिक दर्शन अनेक दिशाओं में प्रस्फुटित और पुष्ट होता है।

हिन्दी प्रदेश स्वातन्त्र्य-आंदोलन का केन्द्र रहा है। हमारे प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध का केन्द्र भी यही प्रदेश था। मेरठ की छावनी से ही सेना का विद्रोह हुआ था और दिल्ली, इटारसी एवं कानपुर भारतीय स्वतन्त्रता के सेनानियों के अगले मोर्चे थे। इसी प्रदेश को बाद में विदेशी सत्ताधिकारियों के दमन का आतंक सहना पड़ा। हिन्दी प्रदेश लगभग ५० वर्ष बाद अंग्रेजों के आधिपत्य में आया। आरम्भ से ही प्रदेश रूढ़िवादी रहा है इसीलिये यहाँ पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार देर में हुआ अंग्रेजी सभ्य

अमरीकी अर्थ-शास्त्र और समाजशास्त्र के साथ-साथ अनेकों राजनीतिक ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में हो गया है और हो रहा है। अब्राहम लिंकन, कैनेडी, मेज़िनी, गैरबाल्डी और अन्य पश्चिमीय राष्ट्रों के उन्नायकों के जीवन-चरित्रों के साथ उनके राजनीतिक सिद्धातो पर भी स्वतन्त्र लेख लिखे जाने लगे। आयरलैण्ड जैसे सुदूर राष्ट्र की राष्ट्रीय चेतना से भी हमने निबन्धों, लेखों और अनुवादों के द्वारा सम्पर्क प्राप्त किया। जिस प्रकार पिछले वर्षों में धर्म और दर्शन हिन्दी भाषा की समृद्धि के कारण बने थे उसी प्रकार गांधीवादी-युग में राजनीति ने इस भाषा पर व्यापक छाप डाली और उसे अतीव ओज-पूर्ण, समर्थ और शक्तिशाली बनाया। भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में कांग्रेस, समाजवादी, कांग्रेस-समाजवादी, प्रजा-समाजवादी, संयुक्त समाजवादी, उग्र-समाजवादी, स्वतन्त्र, साम्यवादी, जनसंघ आदि नाना प्रकार के दल हैं। इनके अतिरिक्त दक्षिण में द्रविड मुन्नेत्र कषकम् (केवल मद्रास में), केरल कांग्रेस और मुस्लिम लीग (केरल में), यूनाइटेड फ्रण्ट (मैसूर में) आदि और भी दल क्षेत्रीय महत्व रखते हैं। इन सब दलों की विचार-धाराएँ एक दूसरी से विपरीत नहीं तो कम से कम विरोधी तो होती ही हैं और इन राजनैतिक हलचलों से बहुत बड़ी मात्रा में राजनैतिक साहित्य का आविर्भाव होता है जो निबन्धों, लेखों, जीवनियों, यात्राओं, प्रचार-पत्रों, आकाशवाणी प्रसारणों और रिपोर्ताजों के रूप में दृष्टिगत होता है।

आलोच्य काल में प्रवेश करने से पहले हमारे पास अपना स्वतन्त्र राजनैतिक चिन्तन हो गया था और राजनैतिक साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी अन्य भारतीय भाषाओ के बहुत पीछे नही थीं। आलोच्य युग में हमें राहुल सांकृत्यायन और आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे राजनैतिक कार्यकर्ता एवं स्वतन्त्र विचारक मिले। इनके साथ डॉ० सम्पूर्णानन्द, जयप्रकाश नारायण, रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी और भगवत शरण उपाध्याय का नाम लिया जा सकता है। आलोच्य युग के सबसे बड़े राजनैतिक नेता और विचारक पं० जवाहरलाल नेहरू हिन्दी प्रदेश के निवासी होने पर भी अपने मौलिक चिंतन को हिन्दी के द्वारा प्रस्तुत नही कर सके। उन्होंने अंग्रेजी के माध्यम से अपने स्वतन्त्र विचारों को अभिव्यक्ति दी। पिछले ५० वर्षों में राजनीति हमारी प्रमुख राष्ट्रीय भूमिका रही है और विभिन्न राज-नीतिक विचारधाराओं से सम्बन्धित साहित्य यथेष्ट मात्रा में हमें उपलब्ध हो गया है। १९४७ से पहले राष्ट्रीयता ही राजनीति थी और सम्पूर्ण राष्ट्रीय साहित्य एक प्रकार से राजनीतिक साहित्य है। परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर युग में हमने सच्चे अर्थो में राजनीति को प्रधानता दी है। कांग्रेस की राष्ट्रीय राजनीति के साथ अनेक दलगत राजनीतियाँ भी पिछले बीस वर्षों में विकसित हुई हैं और उन्होंने प्रचुर मात्रा में अपने-अपने क्षेत्र का साहित्य हिन्दी को दिया है।

राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन का साहित्य-क्षेत्र आधुनिक लेखकों में सबसे अधिक व्यापक है। उन्होंने आधुनिक विश्व जीवन और संस्कृति का कोई भाग अछूता नहीं छोड़ा। धर्म, दर्शन, राजनीति, साहित्य, यात्रा, सम्पादन आदि अनेक क्षेत्रों में उन्होंने मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। उनके साहित्य पर प्रचारवाद का आरोप लगाया जाता है, क्योंकि उसमें विशेष सिद्धान्तों का प्रतिपादन अधिक है और लेखक अन्य विचारों से सहमत नहीं है। वहाँ एक प्रकार का आक्रोश हमें स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है। राजनीति के क्षेत्र में राहुल जी सक्रिय कार्यकर्त्ता के रूप में भी अवतरित हुए थे और वर्षों तक भारतीय मार्क्सवादी दल के सम्मानित सदस्य थे। बाद में उन्होंने राज-भाषा के रूप में हिन्दी के प्रश्न पर कम्यूनिस्ट पार्टी से अपना विच्छेद कर लिया, परन्तु अंतिम वर्षो तक वे अपने ढंग पर मार्क्सवादी और लेनिनवादी विचारधारा के प्रचारक रहे। उनके सर्जनात्मक साहित्य में भी-जो प्रचुर मात्रा में रचा गया है, साम्यवादी विचारधारा की छाप हमें दिखलाई देती है। धर्म, दर्शन, साहित्य और इतिहास के क्षेत्रों में प्रकाण्ड पंडित होते हुए भी राहुल जी अंत तक जनता से अपना सम्पर्क बनाये रखने में सफल हुए हैं। इसीलिये उनके साहित्य में भाषा की स्थितियाँ भी विभिन्न हैं। प्राचीन ग्रन्थो के सम्पादन, भाष्य और विवेचन में उन्होंने गम्भीर और संस्कृत शैली का उपयोग किया है और उनकी रचनाएँ पंडित जनों के अध्ययन-अध्यापन का विषय बन गयी हैं। स्वतंत्र रूप में धर्म, दर्शन और इतिहास की विवेचना में भी उन्होंने अधिकतर पांडित्यपूर्ण शैली का उपयोग किया है जिसकी गम्भीरता उनके आलोचकों को चकित कर देती है। परन्तु कहीं-कहीं वे विषय को छोड़कर वाद-विवाद में लग जाते हैं, अथवा विरोधी को अपशब्दों में सम्बोधित करते हैं। ऐसी कुछ अनर्गलताओं को छोड़ दें तो महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का साहित्य-गौरव पूर्णतः अक्षुण्ण है। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व मे पहली बार हमें ऐसा लेखक मिलता है जो जीवन की अनेकानेक हलचलों को साहित्य की भूमिका देने में समर्थ होता है।

मार्क्सवादी विचारक होते हुए भी राहुल जी का राजनीतिक साहित्य केवल सिद्धान्तवाद तक सीमित नहीं है। उन्होने अपनी राजनीतिक विचारधारा के प्रसार के लिये अनेक शैलियों का प्रयोग किया है। 'आज की राजनीति' (१९४९) में उन्होंने कुछ पात्रों की कल्पना की है और अध्याय बाँध कर उनके परस्पर वाद-विवाद में एक सम्पूर्ण ग्रन्थ की ही रचना कर डाली है। ये वाद-विवाद स्वतन्त्र भारत की सभी समस्याओं को समेट लेते हैं। परन्तु इन विषयों से सम्बन्धित आँकड़े देकर लगभग आधी पुस्तक में 'परिशिष्ट' के रूप में जो सामग्री प्रस्तुत की गई है- वह विशुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती यद्यपि उसमें पर्याप्त प्रामाणिकता है। इस पुस्तक का

आकर्षण लेखक की विद्या-बुद्धि न होकर उसका व्यंग्य-विनोद है जो समसामयिक राजनीति से उसके असन्तोष का सूचक है। किन्तु इस लोकप्रिय ढंग से लेखक पाठक के मर्म तक सहज में ही पहुँच जाता है।

दूसरी रचना 'नये भारत के नये नेता' में लेखक ने बयालीस समसामयिकों का चरित्रांकन प्रस्तुत किया है। इनमें कुछ उसकी अपनी पीढ़ी के लोग हैं, कुछ एकदम नयी पीढ़ी के लोग। सब राजनीतिज्ञ भी नहीं है, यद्यपि अधिकांश का सम्बन्ध किसी-न-किसी दल-विशेष से है। साहित्यकारों में 'निराला', पंत, सोहनसिंह जोशी और मुबारक 'सागर' जैसे कवियों को भी स्थान दिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि लेखक ने बड़े परिश्रम से समसामयिकों के जीवन के सम्बन्ध में इस सामग्री का संकलन किया है। साहित्यिकों के विवेचन में भी राजनीतिक दृष्टि का ध्यान रखा गया है जो सुमित्रानन्दन पंत के सम्बन्ध में लेखक के व्यंग्य से स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट होगा कि उनकी अभिरुचि एवं मनःस्थिति किस स्तर की है। पंत जी के विषय में लेखक कहता है कि 'रहस्यवाद का खोल तोड़कर अब भी वह अंडे से बाहर नहीं आये हैं, इसलिए आत्मा और पुरानी दुनिया के सामने आते ही उनकी मानसिक-विश्लेषण-शक्ति जवाब दे देती है। पंत की कविताओं में ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं, जिनमें वह इन भूल भुलैयों मे पड़कर दिग्भ्रान्त हो जाते हैं और उनकी बुद्धि अँधेरे में हाथ-पैर मारती दीख पड़ती है। यह सब होते हुए भी पंत का विकास रुका नहीं है। मकड़ी के जाल की तरह उनके मन ने एक अवास्तविक किन्तु मोहक दुनिया पैदा कर दी है। हम बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे, कि कब इस दुनिया से उनका पिण्ड छूटता है।'[1] इस उद्धरण से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि राहुल सांकृत्यायन अपने से भिन्न विचार रखने वाले व्यक्तियों से कितने असहिष्णु रहते हैं। असहिष्णुता साम्यवादियों का विशेष गुण माना जाता है और वह गुण इनमें बहुत बड़ी मात्रा में पाया जाता है। इसके विपरीत जहाँ उन्हें परंपरा-विरोधी और तेजस्वी व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं, वहाँ वे अपने चरित्रात्मक के साथ-साथ चलने लगते हैं और मार्मिक ढंग से उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हैं। जैसे—'निराला' का निरालापन बतलाते हुए वे लिखते हैं—'निराला का व्यक्तित्व बिलकुल निराला है। उसे न सड़ा समाज ही अपने बंधन में बाँध सकता है, न प्रभुता और धन में मत्त प्रभु-वर्ग ही। वह किसी के अभिमान को बर्दाश्त नहीं कर सकता। वह स्वभावतः सहिष्णु है, मगर जिस सन्देश को नवीन समाज के लिए जरूरी समझता है, उसे डंके की चोट से सरे-बाजार घोषित करता है। तरुण हृदय और मस्तिष्क उसका स्वागत करते हैं, देह और दिमाग के बूढ़े झल्लाते हैं और वाग्बाण-

---

१. नये भारत के नये नेता, पृ० ६६६।

प्रहार करते हैं। निराला में दोष भी हो सकते हैं, लेकिन हर उन्नतिशील समाज प्रतिभाओं के लिए सात खून माफ़ रखता है।'[1]

राहुल जी केवल राजनीतिक चिन्तक ही नहीं हैं, वे राजनीतिक स्वप्नद्रष्टा भी हैं। उनके इस प्रकार के एक स्वप्न-कल्प अथवा 'यूटोपिया' का एक नमूना हमें उनके ग्रन्थ बाईसवीं सदी में मिलता है। इसमें उन्होंने विश्वबन्धु नामक एक पर्यटक की कल्पना की है जो उन्नीस सौ चौबीस में एक अंध-गुहा में प्रवेश कर लेता है और दो सौ वर्षों के पश्चात् बाईसवीं सदी में वहाँ से निकलकर सम्पूर्ण भारत राष्ट्र का पर्यटन करता है। देश की राजनीति ही नहीं बदली है, उसका सब कुछ बदल गया है। जिस अणु-युग में हम आज प्रवेश कर रहे हैं, उसका राहुल जी को कोई अनुमान नहीं था। परन्तु उन्होंने बदले हुए देश का जो मानचित्र प्रस्तुत किया है, वह उनका नया रामराज्य है, जहाँ धर्म, भाषा, प्रांत, धन आदि द्वारा उत्पन्न मनुष्य-मनुष्य का विभाजन समाप्त हो गया है और शासन-प्रणाली में भी खूब परिवर्तन हो गया है। इस व्यवस्था का एक चित्र इस प्रकार है—'भूमण्डल में सभी जगह अब समता का राज्य है। धर्म के नाम पर, ब्राह्मण-राजपूत-शेख-सय्यद जातियों के नाम पर, धन और प्रभुता के नाम पर, गोरे और काले के नाम पर, जो अत्याचार पहले होते थे, कितनी ही मानव-सन्तानें दूसरो के पैरों के नीचे आजन्म कुचली जाती थीं; उन सबका अब नाम नहीं। अब मनुष्य-मनुष्य बराबर हैं, स्त्री-पुरुष बराबर हैं। सभी जगह श्रम और भोग का समत्व मूल-मंत्र रखा गया है। न अब भूमण्डल में जमींदार हैं, न सेठ-साहूकार हैं, न राजा हैं-न प्रजा, न धनी हैं-न निर्धन, न ऊँच हैं-न नीच। सारे भूमण्डल के निवासियों का एक कुटुम्ब है। पृथ्वी की सभी स्थावर-जंगम सम्पत्ति उसी कुटुम्ब की सम्पत्ति है।'[2] विश्वबन्धु मुख्यतः बिहार प्रान्त का विस्तृत चित्र हमें देता है। देश-विदेश सम्बन्धी अनेक सूचनाएं भी हमे साथ ही मिल जाती हैं। सारी कथा उपन्यास की तरह रची गयी है एवं वेल्स और हक्सले जैसे सामाजिक चिन्तकों और उपन्यासकारों की काल्पनिक कथाओं की याद दिलाती है। अन्तिम अध्याय में लेखक 'वर्तमान जगत् से उठ गयी चीजें' शीर्षक के अन्तर्गत जिन वस्तुओं और व्यवस्थाओं का उल्लेख करता है वे वही हैं, जिन्हें साम्यवादी सामन्ती और पूंजीवादी सभ्यता की देन कहते हैं। निस्सन्देह इस रचना पर राहुल के मार्क्सवादी विचारों की छाप है। उपन्यास के रूप में यह तुलसी के रामराज्य जैसा ही सशक्त स्वप्न है।

आचार्य नरेन्द्रदेव

आचार्य नरेन्द्रदेव अपने युग के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ थे। आरम्भ में वे कांग्रेस

1. नये भारत के नये नेता, पृ० २१।
2. राहुल सांकृत्यायन 'बाईसवीं सदी' में 'शासन प्रणाली' पृ० १०१।

एक सुप्रसिद्ध कार्यकर्त्ता थे। बाद में उन्होंने कांग्रेस-समाजवाद दल की स्थापना की और गांधीवादी विचारधारा को उस नयी दृष्टि से परखा जो समाजवाद की विशेषता है। वे भारतीय इतिहास और संस्कृति के भी अच्छे जानकार थे और इसलिये उनका समाजवादी दर्शन हमारी साहित्यिक परम्परा के विरोध में नहीं पड़ता। उनके विचार में नये सामाजिक और वैज्ञानिक मूल्य धर्म और अध्यात्म के विरोधी नहीं हैं। उनका कहना है--'हमारे मत में मानव के ऊपर इतना अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। जीवन के नये सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त हैं। इन मूल्यों पर जिनका अटल विश्वास है वह उनपर उसी प्रकार दृढ़ रह सकते हैं, जिस प्रकार धार्मिक व्यक्ति दुःख-यातना भोगते हुए भी अपने धार्मिक विश्वास पर अटल रहता है। आज के युग में सामाजिक अवस्था का पूर्ण परिचय प्राप्त कर रचनात्मक क्रांतिकारी योजनाओं को कार्यान्वित करने की क्षमता रखने वाला व्यक्ति ही कुछ कर सकता है। सामाजिक संगठन में बिना महान परिवर्तन किये हमारा जिन्दा रहना भी कठिन है। समाज के प्रश्न धर्म के दामन में मुँह छिपाये से नहीं होंगे। समाज की उन्नति करने का एक वैज्ञानिक तरीका है। उसको अपनाना होगा।'[1] इस समन्वयी विचारधारा के कारण ही उन्होंने गांधीवाद के मर्म को बड़ी गहराई से पहचाना। सामान्यतः गाँधीवादी विचारक गांधीवाद में आध्यात्मिकता का इतना पुट दे देते हैं कि उसके सामाजिक समाधान अव्यावहारिक और अतिवादी हो जाते हैं। वे गांधीजी की व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना का आरोप उनके उस जीवन-दर्शन पर स्थापित कर देते हैं, जो मूलतः राष्ट्रीय मुक्ति और सामाजिक उन्नयन के लिए तैयार किया गया था। फलस्वरूप वे गांधीवाद को रहस्यात्मक बना देते हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार में 'गांधीवाद कोई निगूढ़ दर्शन नहीं, बल्कि आचार-विचार की एक पद्धति है। उसमें कोई पारभौतिकता नहीं है। उसके सदाचार सम्बन्धी कुछ नियम हैं जो व्यक्ति और संस्था दोनों के लिये हैं। उसकी कार्य-पद्धति अहिंसा की है, पर यह अहिंसा किसी तरह मेल करके चुप और शान्त हो जाने की वृत्ति नहीं है। बुराई के साथ इसका मेल नहीं होता, उसके साथ इसका असहयोग ही रहता है। इसके द्वारा उसका प्रत्यक्ष प्रतिकार होता है, पर अहिंसात्मक उपायों से। सब मानव-समस्याओं को इस प्रकार हल करने का इसका दावा है और यह विश्वास है कि अन्त में इसी की विजय होगी। कारण, मनुष्य की अन्तस्थ सद्वृत्ति और विश्व में नैतिक अधिकार का परम प्रभुत्व होने का इसे भरोसा है। अहिंसावृत्ति के अपने अनुसंधान से इसे यह तथ्य मिला है कि वर्ग-भेदों और सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं को मिटाये बिना समाज में से हिंसा का उन्मूलन

---

१. राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ० ७१०।

नहीं हो सकता। अतः वर्गहीन समाज इसका ध्येय है और समत्वयुक्त समाज की एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था इसे करनी है जिससे जनतंत्रात्मक भाव नष्ट न हो और मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता स्थापित हो। विज्ञान से इसे इसी हद तक मदद लेना है कि उसके द्वारा मानवता को चोट पहुँचाये बिना उपकारी कार्यों में जो कुछ सहायता मिल सकती है वह प्राप्त की जाय। पर गांधीवाद वैज्ञानिक मनोवृत्ति नहीं है, जीवन के प्रति इसकी नैतिक मनोवृत्ति है।'[1]

गांधीवाद के विपरीत समाजवाद को वे वैज्ञानिकता का आश्रय देते हैं और हिंसा-अहिंसा का कोई प्रश्न नहीं उठाते। लेखक के विचार में समाजवाद के दो रूप हैं। 'असली और नकली'—नकली समाजवादी अतीत के शोणित की ओर देखते हैं तथा धर्म और दर्शन में मानवमात्र की एकता और समानता की स्थापना करते हैं। वे अतीत को पुनर्जीवित करना चाहते हैं अथवा क्रिश्चियन सोशलिज्म के अनुयायियों की भाँति समाजवाद को धर्म का व्यावहारिक रूप ही मानते हैं। नरेन्द्रदेव के विचार में समाजवाद का जन्म पूँजीवाद के विरोध में हुआ और उसकी वैज्ञानिकता भौतिक जीवन-स्थितियों और सिद्धांतों पर ही आधारित है। उनकी मान्यता है कि वैज्ञानिक समाजवाद को ऐसे विचारों का विरोध करना पड़ेगा क्योंकि वे समझते हैं कि अतीत का पुनर्जीवन असम्भव है और मशीन-युग को अस्वीकार कर हम पीछे की ओर नहीं लौट सकते। इसलिये उन्होंने वैज्ञानिक समाजवाद को भावी-धर्म माना है। समाजवाद के व्याख्याता के रूप में इनका बड़ा स्थान है, क्योंकि उन्होंने राष्ट्रीय आवश्यकताओं और भारत की राष्ट्रीय परम्परा को दृष्टि में रखते हुए ही उसकी विवेचना की है। उनके विचारानुसार समाजवाद राष्ट्रीयता का ही अग्रगामी कदम है और उसमें प्रजातंत्रीय तत्वों की पूर्ण सुरक्षा है। पश्चिम की इतिहास की भौतिक व्याख्या और मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मूलभूत मान्यताओं को मानते हुए भी आचार्य नरेन्द्रदेव ने यह स्थापित किया है कि समाजवाद रूढ़ि का सवाल नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक आंदोलन है जिसका केन्द्र मानव है तथा जिसकी दृष्टि में मानव ही सर्वोपरि है।[2] इस प्रकार समाजवाद का मूलाधार मानवता बन जाती है और उसमें ऐसे तत्वों का समावेश हो जाता है जो धार्मिक चेतना के विरोधी नहीं हैं।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने प्रगतिशील साहित्य पर भी विचार किया है और उनकी मान्यता है कि जीवन के केन्द्र में मानव को प्रतिष्ठित करके चलने वाला साहित्य ही प्रगतिशील साहित्य है। उनका कथन है कि—जीवन और मानव एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं। इनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया ही

---

१ राष्ट्रीयता और समाजवाद पृ० ७४०। २. वही, पृ० ४६६।

सामाजिक परिवर्तन होते हैं। समाज के भीतर क्रियाशील रहते हुए भी अपने को अलग से देखने, आत्मनिरीक्षण करने की आवश्यकता सदैव होती है। किन्तु उससे पृथक् जीवन प्रवाह से हटकर व्यक्ति अपना विकास नहीं कर सकता। समाज के भीतर रहकर व्यक्ति को सामूहिक हित को दृष्टि में रखते हुए एक मर्यादा, बन्धन एवं अनुशासन स्वीकार करना पड़ता है। मनुष्य और पशु में एक मुख्य भेद यह भी है कि मनुष्य का जीवन अपने समाज से मर्यादित होता है। अतः सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह मनुष्य को समाज से पृथक करके अमूर्त मानवता के स्वतन्त्र प्रतीक के रूप में सीमित न कर उसे सामाजिक प्राणी के रूप में देखे—ऐसे समाज के सदस्य के रूप में जिसमें निरन्तर संघर्ष हो रहा है और इन संघर्षों के कारण जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।[1] उनका इस सिद्धांत से कोई मूलबद्ध विरोध नहीं है कि कलाकार 'स्वांतः सुखाय' रचना करता है। किन्तु वे आवश्यक समझते हैं कि कलाकार जीवन से निकट सम्बन्ध स्थापित करें और उन सामाजिक शक्तियों से परिचित हों जो मानव सम्बन्धों में अभिव्यक्ति पाती हैं। अधिकांश प्रगतिवादी विचारक प्राचीन संस्कृतियों और धर्म को उपेक्षणीय मानते हैं और उन्हें रूढ़िवादी कहते हैं। किन्तु आचार्य नरेन्द्रदेव की विचारधारा इसके ठीक विपरीत है। वे नवीन संस्कृति के निर्माण में प्राचीन परम्पराओं का पूर्ण योग चाहते हैं। उनके शब्दों में, विनाश और निर्माण के क्रम में अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच उनको आपस में जोड़ने वाली एक अटूट कड़ी बनी रहती है। प्रगतिशील साहित्यिक इस ऐतिहासिक सत्य को हृदयंगम करते हुए अतीत का सर्वथा परित्याग नहीं करता, साधक तत्वों को वह चुन लेता है, बाधक तत्वों का वह परित्याग करता है। मनुष्य स्वभावतः परम्परापूजक होता है और जो जाति जितनी ही प्राचीन होती है, उसके भीतर अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता की भावना उतनी ही अधिक बद्धमूल होती है। अतः भारत जैसे प्राचीन देश में हमें नवीन संस्कृति के निर्माण की दृष्टि से अतीत के साधक एवं समर्थक तत्वों का उपयोग करना ही चाहिए।[2] इसी प्रकार वे राष्ट्रीयता को भी अन्तर्राष्ट्रीयता या विश्वधर्म का विरोधी नहीं समझते। उनके विचारो मे साहित्यकारों का यह कर्तव्य है कि वे राष्ट्रीयता के सच्चे स्वरूप को जनता के सामने लायें। उनकी राष्ट्रीयता की भावना अभिशाप नहीं है यदि वह संकीर्ण आक्रमणशील राष्ट्रीयता न हो और विश्वधर्म से मर्यादित होकर चलती रहे।[3] अन्त में हम आज के काशी संस्कृत महाविद्यालय के समावर्तन संस्कार के अवसर पर दिये गए दीक्षांत भाषण की इन पंक्तियों से प्रसंग को समाप्त करेंगे, जिसमें उन्होंने समाजवाद को आध्यात्मिक

---

१. राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ० ५५६। २. वही, पृ० ५६२।
३. वही, पृ० ५६४।

चेतना के रूप में प्रस्तुत किया है—'सारा संसार आज शोषण की चक्की में पिसकर समान यातना भोग रहा है और उसकी मुक्ति की स्थापना में सहायता देना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है, मानव-मात्र की एकता और उसकी सिद्धि के लिये शोषणमुक्त सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता इन आदर्शों की भित्ति पर हमें एक नवीन संस्कृति का निर्माण करना है। नवीन संस्कृति के निर्माण में हमें प्राचीन संस्कृति के साथ उसकी परम्परा को भी दिखलाना है। हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति नवीन व्यवस्था की स्थापना में सर्वथा बाधक न होकर अनेक अंशों में साधक है। मानव-मात्र की एकता, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श इस देश में बहुत पुराना है। वस्तुतः जो कार्य श्रमण-धर्म के आध्यात्मिक क्षेत्र में मानव की एकता को स्वीकार करते हुए किया गया था, वही कार्य भौतिक क्षेत्र में समाजवाद को स्वीकार करके हमें सम्पन्न करना है।[1]

डॉ० सम्पूर्णानन्द

आचार्य नरेन्द्रदेव की भाँति सम्पूर्णानन्द भी समाजवाद के व्याख्याता हैं और उन्हीं की तरह राजनीति, इतिहास और संस्कृति के क्षेत्र में उनका भी प्रवेश है। १९३६ में उन्होंने 'समाजवाद' नामक ग्रन्थ लिखकर समाजवाद सम्बन्धी अपने अध्ययन का आरम्भ किया। इस रचना में उन्होंने अद्वैत-वेदांत को मार्क्स के दार्शनिक विचारों के साथ रखा है। बाद में उन्होंने अद्वैतवाद और मार्क्सवाद के समन्वय को अग्रसर करने के लिये अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'चिद्विलास' लिखी जो सामाजिक और आर्थिक जीवन की आध्यात्मिक भूमिका को स्पष्ट करती है। एक प्रकार का वेदांतिक समाजवाद इस पुस्तक की विशेषता है। समाजवाद में मानव की मूलभूत एकता का जो सिद्धांत है वह आध्यात्मिक एकता के सिद्धांत से बहुत दूर नहीं पड़ता। इसलिये गांधीयुग के भारतीय विचारकों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे पश्चिमी समाजवाद को भारतीय अध्यात्मवाद की भूमिका पर से देखें। डॉ० सम्पूर्णानन्द की इन पंक्तियों में पूर्व-पश्चिम की सामाजिक मान्यता का एक समीकरण ही प्रतिफलित होता है। 'समाजवाद पुकार-पुकार कर कहता है कि मनुष्य को पतित मत समझो, जिन आचार्यों ने पहले यह आवाज उठायी थी वह अनीश्वरवादी थे, आत्मा के भी अस्तित्व को नहीं मानते थे। जो लोग आत्मा को नित्य और ईश्वर का अंश मानते हैं वह तो मनुष्य को पतित कह ही नहीं सकते। उसपर कितने ही बुरे संस्कारों का पर्दा पड़ा हो पर यह पर्दा हटाया जा सकता है। स्वार्थ के वातावरण में आत्मा संकुचित हो जाती है। अवसर मिलते ही उसका झुकाव लोक-संग्रह और परार्थ की ओर होगा।'[2]

---

१. राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ० ५६७-५६८।

२. सम्पूर्णानन्द : 'स्फुट विचार' पृ० १५८

डॉ० सम्पूर्णानन्द भारतीय बौद्धिकों का यह कर्तव्य समझते हैं कि वे समाजवाद को उसके असली रूप में समझें और उसके द्वारा भारतीय जीवन की उस रिक्तता को भरने का प्रयत्न करें जो स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन की विशेषता बन गयी है। उनके विचार में अराजकता का कारण यही है कि हम पूँजीवादी समाज-व्यवस्था से आतंकित हैं और समाजवाद का स्वस्थ सन्देश सुनने के लिये तैयार नहीं हैं। फलस्वरूप आज भारतीय चेतना दो भागों में बँट गयी है। एक ओर वे हैं जो जीवन के प्रति श्रद्धा और नैराश्य-भावना से परिचालित हैं और दूसरी ओर जो मार्क्सवाद के आलोक कल्प प्रदेश में आ जाने के कारण उत्साह और आत्म-विश्वास से ओतप्रोत हैं, ऐसा वे कहते है। इस स्थिति को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'विद्वान का अनुभव है कि प्रकृति को शून्य से चिढ़ है। सच यह है कि प्रकृति आध्यात्मिक रिक्तता से भी चिढ़ती है। वह उसे भरना चाहती है। जिस परिस्थिति का वर्णन ऊपर के अनुच्छेद में हुआ है उससे आध्यात्मिक शून्य उत्पन्न हो जाता है, सोचना घबराहट पैदा करता है। कुछ करते रहने में ही आराम मिलता है। मनुष्य की ऐसी अवस्था से साम्यवाद, कम्यूनिजम, लाभ उठाता है। कई ख्यातनामा बौद्धिक इस बात का संकेत दे चुके हैं। अविश्वास का वेष धरकर विश्वास रिक्त स्थान को भरता है। वह इस बात को दृढ़ करता है कि वस्तुतः व्यक्ति का मूल्य कुछ नहीं है, वह अमिट, अटल, नियमों का वंशवद है। इतना कहकर तब उसके सामने यह बात आती है कि व्यक्ति का मूल्य तो कुछ नहीं है परन्तु समाज का मूल्य है, व्यक्ति मिट जायगा, समाज रहेगा। जीवन में कष्ट भले ही हो पर यदि इस कष्ट से आगे चलकर समाज का कल्याण होने वाला हो तो फिर इस कष्ट को हँसते-हँसते झेलना चाहिए। एक बार जब यह बात चित में बैठ जाती है, जब चित अपने अस्तित्व का समाज के स्थिरत्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तो फिर श्रद्धा और विश्वास के लिए आधार मिल जाता है, नैराश्य की जगह त्याग की भावना ले लेती है, जीवन को उद्देश्य मिल जाता है, काम पलायन का साधन न रहकर लक्ष्य सिद्धि का उपाय बन जाता है और सब विश्वासों को काटकर यह विश्वास चित्त में घर बना लेता है।

आज भारत में हमारे सामने दोनों दृश्य हैं। एक ओर निर्जीव, श्रद्धाहीन, शंका-ग्रस्त, वर्तमान की परिधि में बँधे बौद्धिक हैं। स्कूल-कालिजों में, विश्वविद्यालयों मे, शिक्षित वर्ग मात्र में इनका बाहुल्य है। रचनाएँ होती हैं पर उनमें गम्भीरता नहीं, आशा नहीं, सत्य की झलक नहीं, श्रद्धा नहीं, सन्देश नहीं। दूसरी ओर वह बौद्धिक भी हैं जो 'मुक्त' हो गये हैं, जो शंका से उठ कर साम्यवाद, मार्क्सवाद के आलोक कल्प प्रदेश में आ गये हैं, उनकी रचनाओं में उत्साह है, सन्देश है, घोष है, विश्वास है।'[1]

१. सम्पूर्णानन्द : 'स्फुट विचार', पृ० १२५-१२६।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा

सामान्यतः हमारी राजनीतिक चिन्तना और विचारधारा अन्य शास्त्रीय विषयो के चिन्तन की भाँति अभी अध्यापकीय स्तर पर ही चल रही है। जिन स्वतन्त्र लेखकों और राजनीतिज्ञों का हमने पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया है वे सामान्य रूप से जनता के स्तर की चीजें देते हैं। उनसे हमें ऐसी सामग्री नहीं मिलती जो विशिष्ट कही जा सके अथवा जिसको विशुद्ध राजनीतिक साहित्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। इसका कारण यह है कि अभी तक हमारा शिष्ट समाज और बौद्धिक वर्ग, विधान-सभाओं और समाचारपत्रों के पृष्ठों में अपनी विचार-धारा की अभिव्यक्ति के लिए अंग्रेजी का ही उपयोग करता रहा है। पिछले शत वर्षों से हमारी राजनीतिक भाषा अंग्रेजी ही रही है, क्योंकि अंग्रेजी भाषा और साहित्य में दीक्षित मध्यवर्ग ही राजनीति में अग्रनेता रहा है। गांधी-युग के जनवादी आन्दोलनों में जनता के सम्पर्क के लिये हिन्दी और अन्य प्रान्तीय मातृभाषाओं का उपयोग हुआ, परन्तु ये लोकमंच मातृ-भाषाओं के समाचार-पत्र और राष्ट्रवादी नेताओं तक सीमित रहा। १९३६ के बाद जब कांग्रेस की राष्ट्रीयता का स्थान अन्य दलों की राजनैतिकता लेती है तो पश्चिमी राजनीतिक वादों के आदान के कारण अंग्रेजी का ही व्यापक उपयोग होता है। हिन्दी और अन्य मातृभाषाओं में अभी तक राजनीतिक पदावली और परिभाषावली सुविस्तार नहीं पाई है और इसलिये गम्भीर विचारों की अभिव्यक्ति में लेखकों को कठिनाई का अनुभव होता है।

परन्तु कुछ ऐसे उदीयमान लेखक भी हैं। उन्होंने हिन्दी में राजनीति-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों के निर्माण में साहसपूर्ण योगदान आरम्भ किया। ये राजनीति-शास्त्र मे पंडित हैं और हिन्दी-भाषा एवं शैली पर भी इनका समान रूप से अधिकार है। फलस्वरूप इनकी रचनाएं एक नये आयाम का निर्माण करती हैं। उनमें पर्याप्त मौलिक चिन्तन भी मिलता है। इन लेखकों में डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा प्रमुख हैं, जिन्होंने 'राजनीति और दर्शन' (१९५६), 'विश्व राजनीति पर्यवेक्षण' (१९६०), और 'राजनीतिक निबन्ध माला' पुस्तकों के द्वारा इस क्षेत्र में विशेष यश की प्राप्ति की है। इनमें से अन्तिम दो ग्रन्थ लेखक के राजनीतिक निबन्धों और लेखों का संकलन है। पहला ग्रन्थ राजनीति और दर्शन' विशेष महत्वपूर्ण है, जिसमें ५५० से अधिक पृष्ठों में लेखक ने 'राजनीति के सामाजिक और दार्शनिक पक्षों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है। राजनीति को सभ्यता और संस्कृति के अत्यन्त महत्वपूर्ण और विकासमान आयाम के रूप में प्रस्तुत करने का हिन्दी में यह पहला प्रयत्न है। सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि पाद-टिप्पणियों को छोड़कर ग्रन्थ में आद्यंत संस्कृतगर्भित भाषा-शैली का उपयोग हुआ है जो अत्यन्त समर्थ और प्राणवान है। अपनी सम्पूर्ण विवेचना में लेखक ने अंग्रेजी शब्दों का कहीं भी उपयोग नहीं किया है। विषय और अभिव्यक्ति दोनों

की अपूर्व पूर्णता हमें इस ग्रन्थ में दिखाई देती है। लेखक की मौलिक विचारधारा और उसकी गम्भीर अभिव्यंजना शैली के उदाहरण के रूप में हम दर्शन और राजनीति से सम्बन्धित निम्नलिखित अवतरण दे सकते हैं—

'दर्शन शास्त्र के द्वारा हम राजनीति के आधारभूत सिद्धान्तों को प्राप्त करते हैं। दर्शन का लक्ष्य है कात्स्न्यदृष्टि। राजनीति के द्वार ज्ञेय और प्राप्तव्य वस्तुओं का तात्विक ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उन वस्तुओं को समग्र रूप से जानने का हम संकल्प और प्रयास करें। समाज और राज्य का क्या लक्ष्य होना चाहिए, इसे हम दर्शन के सहारे ही जान सकते हैं। दर्शन के सहारे सूक्ष्मता और विस्तार से राजनीतिक विषयों का वर्णन और विवेचन करते हुए हम देखते हैं कि अन्ततोगत्वा धर्म, दर्शन और नीति आदि के विवेच्य तत्वों का और समाज, व्यक्ति, प्रजातन्त्र आदि का समन्वय स्थापित करना पड़ेगा। दर्शन में हम वस्तुओं का पूर्ण दर्शनात्मक विचार करते हैं। इसमें विवेच्य तत्वों के ऐतिहासिक क्रमिक विकास से सन्तुष्ट न होकर उनकी बौद्धिक तर्कणात्मक परिपूर्णता पर हम ध्यान देते हैं। अर्थात् यदि राज्य की या समाज की हमें विवेचना करनी है तब केवल इंगलैंड और फ्रांस की राज्य प्रणाली के वर्णन से हमें सन्तोष नहीं होगा। किन्तु इन ऐतिहासिक उदाहरणों के आधार पर हमें समाज और राज्य के परिपाक की मीमांसा करनी होगी। समग्र वर्णन इस प्रकार के परिपाकात्मक ज्ञान के लिये आवश्यक है। राजनीतिक विषयों का समग्र रूप से वर्णन करने के लिये न केवल उनकी आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक विषयों से अन्तःसंबद्धता बतानी होगी, किन्तु यह भी दिखाना होगा कि विकसित नीतिमान मनुष्यों के ज्ञान और संकल्प की कहाँ तक इस राजनीतिक व्यवस्था से एकरूपता है। अर्थात् मनुष्य की पूर्णता की सिद्धि में राजनीति द्वारा प्राप्त ज्ञान की प्रयोजनीयता का निरूपण हमें करना होगा। राजनीतिक पदार्थों का मनुष्य की इच्छा-शक्ति से गहरा सम्बन्ध है। सामूहिक मानवी के संगठित ईक्षण का ही परिणाम राजनीति है। इसीलिए राजनीति के दार्शनिक विवेचन में समाज और राज्य के विषय में समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास तथा राजनीति की समन्वित अन्तःसम्बद्धता से प्राप्त ज्ञान का मानव-जीवन के विराट लक्ष्य की संसिद्धि में क्या स्थान है, यह हमें बताना ही पड़ेगा। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि मानव, समाज, राज्य आदि के सम्बन्ध में विवेचनापूर्ण कृत्सनज्ञान प्राप्ति और तज्जनित आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण दर्शनशास्त्रानुमोदित राजनीति शास्त्र का प्रथम महान उद्देश्य है।'[1] इस अवतरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक अपने विषय में ही पारंगत नहीं है, वह सार्वभौम भूमिका से देखता है। उसके लिये राजनीति-शास्त्र धर्म और

---

[1] राजनीति और दर्शन, पृ० ९-१०।

संस्कृति का एक अनिवार्य अंग है। इसलिये उसने दार्शनिक राजनीति का आग्रह किया है। यह विचारधार नितांत भारतीयहै, जिसका प्राचीन रूप हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मनुस्मृतियों में मिलता है, जहाँ राजनीति व्यवस्था, धर्म और संस्कृति के अन्तर्गत मानी गयी है। पिछले पच्चास वर्षों में लोकमान्य तिलक, अरविंद घोष और महात्मा गांधी के द्वारा जिस राष्ट्रीयता और अध्यात्मनिष्ठ राजनीति का आग्रह रहा है वह भारतीय परम्परा की शक्ति और मौलिकता का ही प्रमाण है जो राजनीति को धर्म और दर्शन से जोड़कर एक समग्र जीवन-दर्शन की सृष्टि करती है। इस नये भारतीय वातावरण से पोषित होने के कारण लेखक का यह ग्रन्थ राजनीति-शास्त्र में एक नया अध्याय जोड़ता है। जिस दार्शनिक राजनीति शास्त्र का आधारभूत सिद्धान्त है, आध्यात्मिक मानववाद। मानव केवल भौतिक और रासायनिक तत्वों का संघात मात्र नहीं, अपितु चिन्मयतत्व का विलक्षण प्रतिनिधि है। इसी चेतन मानव को लक्ष्य-भूत कर उसकी पूर्णतम परिपाकावस्था की प्राप्ति के निमित्त, दार्शनिक राजनीति शास्त्र, प्रजातंत्र और सामाजिक न्याय की व्यवस्था समाज में करना चाहता है। विराट श्रेयों का पूर्णतः क्रियान्वयन हो सके, इसके लिये अपेक्षित है कि मानव को कर्मयोग और ज्ञानयोग की शिक्षा मिले। कर्मयोग और ज्ञानयोग के समन्वय का आदर्श ही स्वस्थ सशक्त समाज की रचना कर सकता है और मानव को भी उदात्तर जीवन का दर्शन करा सकता है। जैसे-जैसे मानव व्यवसायात्मिकता बुद्धि का अनुसंधान करेगा, वैसे-वैसे अहंभाव का अवसान होगा और इस प्रकार सामाजिक लोकयात्रा के विघ्न समाप्त होते जायेंगे। केवल उत्पादन राशि को बढ़ाने से ही प्रश्नों का समाधान नहीं होगा। मनुष्य की अनियंत्रित और अपरिमार्जित एषणाओं का नियंत्रण अवश्य करना होगा। स्वस्थ समाज की रचना का प्रश्न कोई स्वतन्त्र प्रश्न है नहीं। मानव के जीवन सुधार और सामाजिक परिष्कार, दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि दार्शनिक-राजनीतिशास्त्र हमारे सामने एक सर्वतोभावेनपुष्ट, व्यापक, सम विराट श्रेय उपस्थित करता है। आध्यात्मिक नैतिक मानववाद का पोषण कर यह हमारा तुच्छ भौतिकवाद से त्राण करता है। सामाजिक और नैतिक श्रेयों का उत्कृष्ट महत्व प्रतिपादन कर निरा लोकोत्तरवाद और प्रत्ययवाद से भी यह हमें मुक्ति प्रदान करता है।'[१]

●

१. राजनीति और दर्शन, पृ० ५५४-५५५।

नवम अध्याय

धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन

धार्मिक और दार्शनिक चिंतन भारतवर्ष की विशेषता रही है यद्यपि सूत्र-ग्रंथों को छोड़कर जो एक प्रकार से गद्य में है, हमारा शेष समस्त धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन काव्य और पद्य में ही अभिव्यक्ति पा सका है। आधुनिक युग में ही पहली बार इस क्षेत्र में गद्य का प्रयोग हुआ, जब रामप्रसाद निरंजिनी ने १८६६ में पद्मपुराण का अनुवाद किया और लगभग उसी समय साधु निश्चलदास ने अपने दो प्रसिद्ध वेदांत ग्रन्थों की हिन्दी गद्य में रचना की। परन्तु यह सारी सामग्री पुरानी शैली में है। भारतेन्दु-युग में हमारा नवजागरण धर्म और दर्शन के संबन्ध में नयी जागरूकता लेकर प्रस्तुत हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धार्मिक सम्प्रदायों और स्वतन्त्र लेखकों के द्वारा प्रचुर मात्रा में इन क्षेत्रों में साहित्यिक रचना हुई। हिन्दी प्रदेश में आर्य समाज और नव हिन्दू-समाज दोनों प्राचीन धार्मिक साहित्य की नयी व्याख्याएँ हिन्दी में सामने लाते रहे। धार्मिक साहित्य क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती, भीमसेन शर्मा और आर्य समाज के अन्य लेखकों का स्थान महत्वपूर्ण है। १९ ५ तक आर्य समाज की हलचलों के कारण वाद-विवाद, भाष्य, टीका और अनुवाद के रूप में संस्कृत के धार्मिक शास्त्र एवं पुराणों के अनेक रूपांतर हमें प्राप्त हो चुके थे और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'गीता रहस्य' के हिन्दी अनुवाद ने मौलिक रचना के समान ही हिन्दी प्रदेश में लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। १९३० तक धार्मिक और दार्शनिक साहित्य विशुद्ध साहित्य से अलग हो गया था और उसके स्वतन्त्र लेखक सामने आ गये थे। भारतवर्ष में भारतीय साहित्य का मूलाधार धर्म और दर्शन ही है, अतः भारतीय साहित्य के समीक्षक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं से पूर्णतः परिचित हो। परन्तु उसका यह ज्ञान इस कोटि का नहीं होता कि वह सम्प्रदायों के क्षेत्र से आने वाली साहित्य की तुलना में रखा जा सके। अनेक धार्मिक पत्रकार एवं लेखक ऐसे हैं जो हिन्दी साहित्य के मध्य-युगीन सन्तों और भक्तों की रचनाओं के भी विद्वान रहे हैं तथा उन्होंने अपनी साम्प्रदायिक भूमिका का निर्वाह करते हुए भी सुन्दर साहित्य-समीक्षा हमें दी है। विशुद्ध

साहित्य तथा धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्रों का यह आदान-प्रदान, हिन्दू-धर्म-चेतना और साहित्यनिष्ठा दोनों के लिए महत्वपूर्ण रहा है।

विश्वविद्यालयों और उच्च शिक्षा संस्थानों में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों से ही दर्शन-शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन होता है। परन्तु उनकी भाषा अंग्रेजी रही है। पिछले सौ वर्षों में भारतवर्ष के विचारकों और पण्डितों ने अखिल भारतीय स्तर तक अंग्रेजी भाषा में एक अत्यन्त सम्पन्न एवं सुनिश्चित साहित्य भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में उपलब्ध कर लिया। इस साहित्य के रचयिता मुख्यतः विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित रहे हैं। परन्तु कुछ स्वतन्त्र लेखक भी हैं जैसे काशी के डॉ० भगवानदास। किन्तु इन विद्वानों की कम ही रचनायें हमें मातृभाषाओं में प्राप्त होती हैं। स्वातन्त्र्य-पूर्व युग में अंग्रेजी ही शिक्षित वर्ग की सांस्कृतिक भाषा रही है और पाश्चात्य-पौरस्त्य विद्या-विशारदों द्वारा भारतीय धर्म और दर्शन की प्रारम्भिक शोधों के पश्चात ऐसी भूमिका बन गयी कि भारतीय विद्वानों के द्वारा संस्कृत और मातृभाषाओं में इन क्षेत्रों का साहित्य तैयार करने की अपेक्षा अंग्रेजी में लिखना सरल हो गया। १६२० के बाद राष्ट्रीय चेतना के कारण इन क्षेत्रों में मौलिक रचनायें हिन्दी में आ गयीं और १६३० के बाद हमें ऐसी नयी पीढ़ी समस्त भारतीय भाषाओं में मिलती है—जिसने अंग्रेजी में अध्ययन-अध्यापन और लेखन के साथ मातृभाषाओं को भी अनुवाद एवं मौलिक रचनाओं से पुष्ट किया है। हिन्दी के क्षेत्र में इस नयी पीढ़ी के लेखकों में जो नाम महत्वपूर्ण हैं, उनमें डॉ० रामानन्द तिवारी, डॉ० देवराज आदि प्रमुख हैं। विश्वविद्यालयों से बाहर पुरानी पीढ़ी के लेखकों में राहुल सांकृत्यायन, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० मंगलदेव शास्त्री आदि मुख्य हैं। धीरे-धीरे धर्म और दर्शन सम्बन्धी विभिन्न पूर्वी और पश्चिमी विषयों पर यथेष्ट साहित्य तैयार हो गया है और स्वातन्त्र्योत्तर युग में इस दिशा में विशेष उन्नति हुई है। परन्तु यह सारा साहित्य 'एकेडेमिक' अथवा शास्त्रीय कोटि का है। उसपर भारतीय विद्वानों के द्वारा रचे गये अंग्रेजी साहित्य का व्यापक प्रभाव दिखलाई देता है। डॉ० राधाकृष्णन, डॉ० रानडे और प्रो० हिरण्य जैसे विद्वानों के ग्रन्थ हिन्दी में अनूदित हो गये। उसकी अपनी विशिष्ट सम्पत्ति बन गई है और धीरे-धीरे अनुवाद एवं मौलिक रचना का अन्तर समाप्त होता जा रहा है। स्वातन्त्र्यो-त्तर युग में हिन्दी की मान्यता में वृद्धि होने के कारण विश्वविद्यालयों की उच्च स्तरीय शिक्षा इसी भाषा में दी जाने लगी और अन्य शास्त्रीय क्षेत्रों के समान धार्मिक और दार्शनिक साहित्य के क्षेत्र में भी अनुवादों से आगे बढ़कर मौलिक रचना की भूमिका तैयार हो रही है। पिछले बीस वर्षों के अन्तराल में रचे धार्मिक और दार्शनिक साहित्य तर्कवाद तथा बुद्धि का आश्रय लेकर चलता है, वहाँ धार्मिक साहित्य श्रद्धात्मक और प्राचीन परम्परा का पालन करता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी

के उत्तरार्द्ध में जब अंग्रेजी शिक्षा का पूर्ण पुनर्गठन हुआ तो भारतीय जनता की धार्मिक संवेदना की रक्षा करने के बहाने विश्वविद्यालयों और उच्च कक्षाओं से धर्म विषयक अध्ययन-अध्यापन बहिष्कृत कर दिया गया और बाद में भी काशी विश्वविद्यालय को छोड़कर जहाँ धर्म एक विशिष्ट पाठ्य विषय है, अन्य विश्वविद्यालयों में धर्म निरपेक्ष शिक्षा की परम्परा बनी रही। फलतः धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ रचना का कार्य साम्प्रदायिक व्यक्तियों और धार्मिक नेताओं के हाथ में रहा। जो धार्मिक साहित्य इस वर्ग के द्वारा तैयार हुआ वह पश्चिम के आधुनिक धार्मिक साहित्य से तुलनीय है, जहाँ विश्वविद्यालयों मे तुलनात्मक धर्म के संकाय प्रतिष्ठित हैं। पिछले वर्षों में शिक्षित समाज में विशेष रूप से जो धार्मिक साहित्य प्रचलित हुआ है वह या तो 'कल्याण' जैसे धार्मिक पत्रों का साहित्य है अथवा उसके लेखक दर्शन-शास्त्र के ज्ञाता और पश्चिमी परम्परा से परिचित विद्वान हैं। फलस्वरूप दो वर्गों और दो श्रेणियों का धार्मिक साहित्य हमें अपने बीच में दिखलाई देता है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत की धार्मिक और दार्शनिक मेधा अब भी जागरूक है। महात्मा गांधी जैसा नीतिवान और धर्मज्ञाता महापुरुष अभी कुछ दिनों पहले तक हमारे बीच में रहा है। निस्सन्देह भारतीय धर्म-साधना अब भी भारतीय विद्या का पोषण करने में समर्थ है। परन्तु साहित्यिक भूमिका पर धार्मिक चेतना से सम्पन्न उत्कृष्ट कोटि की सामग्री अभी अधिक मात्रा में उपलब्ध नहीं है। गांधी-युग के सर्वश्रेष्ठ साधक और दार्शनिक सम्भवतः योगी अरविन्द हैं, जिनका लगभग सभी साहित्य अंग्रेजी गद्य और पद्य में लिखा गया है और जो ईसाई धार्मिक शब्दों की बहुलता से युक्त है। विभिन्न भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी भी उनकी रचनाओं के अनुवाद के द्वारा उनकी धार्मिक और दार्शनिक मेधा एवं साधना से परिचित हुई है। उनके योग-दर्शन अथवा 'अरविन्द-वाद' का व्यापक प्रभाव हिन्दी के कुछ कवियों और साहित्यकारों पर दिखलाई पड़ता है। यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि हिन्दी का सामयिक दार्शनिक और धार्मिक साहित्य भारतवर्ष की सनातन आध्यात्मिकता के प्रति श्रद्धालु रहता हुआ भी पश्चिम के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य से अनुप्राणित है और वह नये मौलिक सर्जन की ओर अग्रसर होरहा है

पिछले बीस वर्षों में धर्म और दर्शन सम्बन्धी जो साहित्य हमें उपलब्ध हुआ है वह अनेक विभिन्न श्रेणियों में रखा जा सकता है। उसके एक छोर पर विश्वविद्यालयीन शोधों की स्तर की चीजें हैं जो पांडित्य का नया प्रतिमान प्रस्तुत करती हैं जैसे डॉ० देवराज के ग्रन्थ 'पूर्व और पश्चिमी दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन' और रामानन्द तिवारी की रचना 'शंकराचार्य का नीति दर्शन'। पिछले कई वर्षों से उच्च कोटि के दार्शनिक शोधात्मक निबन्धों के लिये 'दार्शनिक' नामक शोध-पत्र की भी व्यवस्था है। यद्यपि अधिकांश विश्वविद्यालयों में दर्शन सम्बन्धी शोध-प्रबन्धों की भाषा अंग्रेजी ही है।

किन्तु इनमें से कुछ शोध-प्रबन्ध हिन्दी में भी रूपांतरित हुए हैं और उन्होंने हिन्दी के दार्शनिक साहित्य की सम्वृद्धि की। स्वतन्त्र रूप से मौलिकता-पूर्वक पश्चिमी दर्शन पर लिखने वाले विद्वान हिन्दी में कम ही हैं। कुछ नवयुवकों ने इस ओर प्रयत्न अवश्य किया है। इस प्रसंग में बर्कले दर्शन नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है। प्रो० रानडे, प्रो० हिरयण्णा, डॉ० दासगुप्ता और डॉ० राधाकृष्णन् के ग्रंथ पिछले पाँच वर्षों में हिन्दी में अनूदित होकर प्रकाशित हुए हैं और उनसे हमारी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति में नयी सामर्थ्य आयी है। यद्यपि अनूदित ग्रंथों में पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में कठिनाई का अनुभव बराबर होता रहा है और कभी-कभी किसी एक शब्द के अनुवाद में पूर्वी और पश्चिमी विभिन्न सन्दर्भों के कारण एक प्रकार की अनिश्चितता आ जाती है, जैसे आइडियालिज्म को आदर्शवाद कहें या प्रत्ययवाद। इस प्रकार की स्थिति का कोई समाधान नहीं बतलाया जा सकता। पूर्वी विचारधारा में सर्जनात्मक अन्तर्ज्ञान प्रबल है और उसी के अनुरूप आस्तिक दर्शन के भीतर से हमारी सारी परिभाषावली का निर्माण हुआ है। इसके विपरीत पश्चिम विचारधारा में आलोचनात्मक बुद्धि पर विशेष बल दिया जाता है और पैथागोरिस के समय से ही वहाँ दर्शन शास्त्र में अनेक बौद्धिक और व्यावहारिक शास्त्रों का सहारा लिया है। पश्चिम का दर्शन-शास्त्र आगमनात्मक तर्क पर आधारित है और आधुनिक युग तक आते-आते उसने अपनी बौद्धिक और तर्कवादी चिन्ताओं को विशेषज्ञता तक पहुँचा दिया है। दो विभिन्न चिन्ता-पद्धतियों पर आधारित होने के कारण भारतीय और पश्चिमी दर्शन-शास्त्रों की भाषाएँ विभिन्न और कहीं-कहीं विरोधी भी रहेंगी। कालान्तर में पूर्वी पश्चिमी दार्शनिक मनीषा के समीकरण से ही हम एक सार्वजनिक परिभाषावली का निर्माण करने में समर्थ होंगे। परन्तु इस सीमाओं के रहते हुए भी हिन्दी में दार्शनिक शैली की परिपक्वता का क्या स्वरूप होता है। इसका प्रमाण हमें सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के अनूदित ग्रंथ 'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि' (१९६२) में मिल जाता है। जहाँ दर्शन आध्यात्मिक भूमिका को छोड़कर विज्ञान, कला और साहित्य से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है वहाँ हमारी कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं। इस वक्तव्य की सिद्धता हमें नरोतम नागर द्वारा अनूदित 'दर्शन, साहित्य और आलोचना' (१९५८) नामक ग्रन्थ में मिलती है: जिसमें चार शीर्षस्थ रूसी आलोचकों और कला मर्मज्ञों 'बेलिंस्की', 'हर्जन', 'चर्नीशेव्स्की', दोब्रोल्युबोव' की गम्भीर विचारधारा को हिन्दी में रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया गया है। अभी पश्चिम का प्रचुर दार्शनिक साहित्य अनूदित रह गया है। यह भी आवश्यक है कि हम अन्य यूरोपीय भाषाओं का अंग्रेजी के माध्यम से अनुवाद न कर सीधे मूलभाषा से अनुवाद करें। इस दिशा में हमारी प्रारम्भिकता स्पष्ट है।

किन्तु ऐसा नहीं है कि हिन्दी में विश्वविद्यालयों के बाहर ऐसे चोटी के विद्वान

न हों जिन्होंने धर्म और दर्शन का सार्वभौमिक अध्ययन किया हो और अपने अध्ययन के सार को भाषा-शैली की प्रौढ़ता के साथ प्रस्तुत कर सकें। कम से कम महापंडित राहुल सांकृत्यायन और आचार्य नरेन्द्रदेव ऐसे विद्वान कहे जा सकते हैं जिन्होंने प्राचीन और नवीन शैली के पांडित्य में एक प्रकार का गठबन्धन किया है और अपने मौलिक चिन्तन को भी सुरक्षित रखा है। राहुल बौद्ध-धर्म दर्शन के प्रकांड विद्वान थे और प्रमाण वार्तिकम् जैसे महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ का मौलिक रूप से हिन्दी में अनुवाद कर उन्होंने पश्चिमी-प्राच्य विद्याविशारदों का ध्यान पहली बार हिन्दी भाषा की ओर आकर्षित किया। उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति 'दर्शन-दिग्दर्शन' (१९४४) मानी जा सकती है, जिसमें उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी सभी दार्शनिक मतवादों का प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया है। आलोच्य काल में उन्होंने 'बौद्ध-दर्शन', 'इस्लामी दर्शन' आदि अनेक ग्रन्थों के द्वारा अपने अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत किया है और स्वतन्त्र निबन्धों और लेखों के द्वारा ऐसी मौलिक सम्पत्ति हिन्दी दार्शनिक साहित्य को दी जो निश्चय ही प्रथम कोटि के अन्दर रखी जा सकती है। आचार्य नरेन्द्रदेव का ग्रन्थ 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' (१९५६) वृहद् आकार के ६०० पृष्ठों में मौलिक ग्रन्थों के आधार पर बौद्ध-धर्म और दर्शन के सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास का विवेचन किया है। अंग्रेजी के अतिरिक्त फ्रेंच और जर्मन भाषाओं की मूल सामग्री का भी उपयोग हमें इस ग्रन्थ में मिलता है। आरम्भ में महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज की विस्तृत भूमिका है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ के लेखन में कितना परिश्रम लगा है। उनके अनुसार इस ग्रन्थ का अनुवाद वसुबंधु कृत अभिधर्म कोश के पूसें (Posseaun) के फ्रेंच अनुवाद के हिन्दी रूपान्तर से आरम्भ होता है। पर बाद में अन्य ग्रन्थों के सारांश और विशिष्ट अंशों के अनुवाद द्वारा यह ग्रन्थ इतना बड़ा कलेवर प्राप्त करने में समर्थ हो सका। इस ग्रन्थ की महत्ता भूमिका-लेखक के इन शब्दों से स्पष्ट है—'आचार्य जी ने ग्रन्थ का नाम 'बौद्ध-धर्म और दर्शन' रखा है। वस्तुतः धर्म और दर्शन सम्बन्धी प्रचुर सामग्री इसमें संचित है। वर्तमान युग की विभिन्न भाषाओं में इस सम्बन्ध में जो विचार प्रकाशित हुए हैं, उनका सार-संकलन देने के लिए ग्रंथकार ने प्रयत्न किया है। बौद्ध-धर्म का उद्भव, उसका भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में तथा भारत के बाहर के देशों में प्रसार एक ऐतिहासिक व्यापार है। एक ही मूल उपदेश श्रोताओं और विचारकों के आशयभेद से नाना रूप में विभिन्न निकायों में विकसित हुआ है। यह ऐतिहासिक घटना है, इसलिये धर्म तथा दर्शन की क्रमशः विकसित धारायें इसमें प्रदर्शित हैं। जो लोग भारतीय साधना-धारा से सुपरिचित हैं, वे इस ग्रन्थ के उपासना सम्बन्धी अध्यायों को पढ़कर देखेंगे कि बौद्ध उपासना पद्धति भी अन्य भारतीय साधना-धारा के अनुरूप भारतीय ही है। प्रस्थान-

भेद के कारण अवान्तर भेद के होते हुए भी सर्वत्र निगूढ़ साम्य लक्षित होता है। वर्तमान समय में यह साम्यबोध अत्यन्त आवश्यक है। वैषम्य जगत का स्वभाव है, किन्तु इसके हृदय में साम्य प्रतिष्ठित रहता है। बहु में एक, विभक्त में अविभक्त तथा भेद में अभेद का साक्षात्कार होना चाहिए, इसी के लिए ज्ञानी का सम्पूर्ण प्रयत्न है। साथ ही साथ इस प्रयत्न के फलस्वरूप एक में बहु, अविभक्त में विभक्त तथा अभेद में भी भेद दृष्टिगोचर होता है। ऐसी अवस्था में अवश्य ही भेदाभेद से अतीत, वाक् और मन से अगोचर, निर्विकल्पक परमसत्य का दर्शन होता है। प्रति व्यक्ति के जीवन में जो सत्य है, जातीय जीवन में भी वही सत्य है। यही बात समग्र मानव के लिए भी सत्य है। विरोध से अविरोध की ओर गति ही सर्वत्र उद्देश्य रहना चाहिए।'[1] वस्तुत बौद्ध-धर्म-दर्शन को हम आलोच्य युग के हिन्दी वैदुष्य का सर्वाधिक प्रामाणिक उदाहरण मान सकते हैं। इस कोटि की एक अन्य रचना का नाम भी उल्लेखनीय है और वह है डॉ० रामानन्द तिवारी का ग्रन्थ 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' जो सहस्राधिक पृष्ठों में मूलबद्ध चिन्तन की एक नितांत नवीन रूपरेखा स्थापित करता है।

प्राचीन परिपाटी के विद्वानों में स्वामी सहजानन्द सरस्वती का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'गीता-हृदय' (१९४८) में ९०० से अधिक पृष्ठों में भाष्य और टीका के रूप में अपने चालीस वर्षों के अध्ययन का सार प्रस्तुत किया है। लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य के बाद इसे सम्भवतः गीता सम्बन्धी सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है।

दर्शन, धर्म और संस्कृति भारतीय चेतना में आरम्भ से ही एकाकार रहे हैं और शताब्दियों के मनन और चिंतन से इनके सम्बन्ध में हमारी मेधा और अन्तर्दृष्टि का पर्याप्त विकास हुआ है। हिन्दी की प्रौढ़ भाषा-शैली का जन्म द्विवेदी-युग में हुआ। किन्तु विषय की निगूढ़ता और व्यापकता को अपने भीतर समेटने की शक्ति उसमें गांधी-युग में ही आयी। एक ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी के धार्मिक कवियों के काव्य को लेकर विशद टीका-टिप्पणी प्रस्तुत की और गोस्वामी तुलसीदास के माध्यम से मध्ययुगीन भारतीय धर्म और दर्शन का नया लेखा-जोखा प्रस्तुत किया, दूसरी ओर छायावाद के कवियों ने भारतीय धर्म और दर्शन की अन्तरंगी रहस्योन्मुखी चेतनाओं को अपने काव्य के भीतर आत्मसात करते हुए नये युग के अनुकूल नयी धार्मिकता और आध्यात्मिकता को उद्घाटित किया। छायावाद-युग का गद्य दार्शनिक और साहित्यिक सन्दर्भों से बहुत दूर तक पुष्ट है फल यह हुआ कि जहाँ एक ओर साहित्य समीक्षा के भीतर धार्मिक और सांस्कृतिक चिंतन की लीक स्थापित हो गयी, वहाँ दूसरी ओर धर्म और दर्शन पर

---

१ बौद्ध-धर्म दर्शन पृ० १२१३

स्वतन्त्र रूप से लिखने वाले विचारकों के लिए भी भाषा-शैली के प्रतिमान स्थापित हो गये। स्वतंत्र रूपसे जो रचनायें हुई उनमें–डॉ० उमेश मिश्र का 'भारतीय दर्शन' (१९५७) सुमेरुचन्द्र दिवाकर का 'जैन शासन' (१९४७), लक्ष्मण शास्त्री जोशी का वैदिक संस्कृत का विकास' (१९४७) और डॉ० सम्पूर्णानन्द का 'हिन्दू देव परिवार का विकास' (१९६४) सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इनमें डॉ० सम्पूर्णानन्द हिन्दी के विशिष्ट दार्शनिक लेखक हैं, जिन्होंने दर्शन और धर्म पर एक दर्जन से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की है। उनका सबसे अधिक मौलिक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गणेश' है। हिन्दू देव-परिवार सम्बन्धी अपनी नयी रचना मे उन्होंने समस्त पौराणिक देवताओं को अनुसंधान का विषय बनाया है। विषयों पर अंग्रेजी, जर्मन और फ्रेंच साहित्य में हमें कुछ श्रेष्ठ रचनाएँ मिल जाती हैं, पर हिन्दी मे डॉ० सम्पूर्णानन्द के ग्रन्थ पहली बार इस प्रकार की सामग्री प्रस्तुत करते है। हिन्दी के समीक्षकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी धार्मिक और सांस्कृतिक चिंतन के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। 'कबीर' (१९५५), 'मध्यकालीन धर्म-साधना' (१९५२) में उन्होंने मध्ययुगीन धार्मिक परम्पराओं का जैसा गम्भीर चिंतन प्रस्तुत किया है वैसा चिंतन हमें अन्यत्र नहीं मिलता। पिछले कुछ वर्षों में मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित शोध-ग्रन्थों में धार्मिक और सांस्कृतिक चिन्तन का व्यापक रूप से उपयोग हुआ है। उदाहरण के रूप में हम डॉ० श्यामनारायण पांडेय के शोध-ग्रन्थ 'हिन्दी कृष्ण काव्य में माधुर्योपासना' (१९६३) को ले सकते हैं। सच तो यह है कि आज का हिन्दी अध्येता और शोधकर्ता पिछले पचास वर्षों के धर्म और संस्कृति सम्बन्धी साहित्य को अपना आधारबिन्दु बनाकर चलता है और वह अभिव्यंजन एवं शैली के क्षेत्र में उस सारी परम्परा से लाभान्वित होता है जो द्विवेदी युग से आज तक चली आती है। यह हिन्दी की भाषा-शैली और तत्व चिन्तन की प्रौढ़ता का ही सूचक है कि महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज जैसे बंगला भाषी-विद्वान 'भारतीय संस्कृति और साधना' खण्ड १-२ (१९६४) तथा 'तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' (१९६३) जैसे अति मौलिक, महत्वपूर्ण निबन्ध-संकलन हिन्दी में प्रकाशित करने में सफल हुए हैं। परन्तु प्राचीन परम्परागत विचारों के साथ आधुनिक युग के समाजबोध और चिन्तन को अभिव्यक्ति देने में भी हिन्दी भाषा पूर्णत: समर्थ है। इसका प्रमाण हमें पं० गौरीशंकर भट्ट की महान रचना 'भारतीय संस्कृति : एक समाज शास्त्रीय व्याख्या से' मिल जाता है, जिसमें समाजशास्त्र और मानवशास्त्र सम्बन्धी अनेक सिद्धांतों और विचारों को आधार बनाकर संस्कृति की अभिनव रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है।

दशम अध्याय

प्रेरणात्मक और भावात्मक गद्य

गद्य-लेखन का बहुत बड़ा भाग ऐसा है जिसमें विचार और भावना का आनुपातिक समन्वय रहता है। कहीं विचार भावना पर हावी हो जाता है और कहीं भावना विचार पर। साधारणतः वैचारिक गद्य के अनुशीलन में प्रेरणात्मक और भावनात्मक गद्य को स्थान नहीं मिल सकता। परन्तु विचार और भावना अथवा प्रेरणा के संश्लेष से एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि हम विश्वासपूर्वक इन क्षेत्रों की उपलब्धि को एकदम छोड़ नहीं सकते। आधुनिक युग विचार के प्रति विशेष रूप से आग्रही है। कहा जाता है कि मनुष्य विचारशील प्राणी है। परन्तु साहित्य में विचार-भावना का उत्प्रेरक बनकर ही अपने सम्पूर्ण वैभव को प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार यदि विचार की आधार-शिला के रूप में भाव की स्थिति न हो तो कोरा विचार नीरस, शास्त्रीय वाद-विवाद मात्र रह जाता है।

गांधीयुग अथवा छायावादी युग मुख्यतः भावना-प्रधान युग था, जब हमारे साहित्यकार राष्ट्रीयता के उन्मेष को प्राप्त कर अपनी रचना में संलग्न थे। समस्त सामाजिक और राजनीतिक बन्धों के प्रति भारतीय जन-समाज और शिक्षित वर्ग में विद्रोह की भावना जाग उठी। फलस्वरूप साहित्य-रचना के क्षेत्र में एक प्रकार की उन्मुक्ति का अनुभव उस युग के साहित्यकार के लिये सुगम बात थी। काव्य में स्वच्छंदता का आंदोलन भावना और कल्पना के उन्मुक्त प्रसार का ही आंदोलन था। उपन्यास, कहानी और नाटक के क्षेत्रों में भी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ चल रही थीं। वे कहीं स्वतन्त्र रूप में थीं और कहीं आदर्शवाद अथवा यथार्थवाद के साथ संलग्न। गद्य के क्षेत्र में जहाँ एक ओर कलात्मक निबन्ध अथवा ललित निबन्ध के रूप में उस परम्परा को नया विकास मिला जो भारतेन्दु-युग की विशेषता थी परन्तु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कठोर नियन्त्रण के कारण बीच में लुप्त हो गयी थी, वहाँ गद्य-काव्य के रूप में काव्यात्मक गद्य का एक नया समारम्भ सामने आया। इसका आरम्भ महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नोबुल पुरस्कार प्राप्त अंग्रेजी रचना 'गीतांजलि' की प्रेरणा से हुआ था। परन्तु शीघ्र ही गद्य-काव्य गद्य की एक स्वतन्त्र विधा बन गया और उसमें [illegible] की
[illegible]

गया। इसके अतिरिक्त गांधी जी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन की प्रेरणा लेकर सम्पादकीयों और स्वतन्त्र लेखों के रूप में अनेक भावात्मक और प्रेरणात्मक लेख और निबन्ध सामने आये जिनका मुख्य उद्देश्य जन-मानस को विदेशी सत्ता के विरुद्ध तैयार करना था। इनमें विचार का अंश कम रहता था और भावुकता का अधिक। खण्डवा से प्रकाशित 'कर्मवीर' और कानपुर से प्रकाशित 'प्रताप' मुख्य रूप से इस क्षेत्र में अग्रणी थे। मासिक-पत्रों में 'त्याग-भूमि', 'विद्रोही', 'युवक' आदि का नाम लिया जा सकता है। संक्षेप में गांधी-युग में प्रेरणात्मक और भावनात्मक गद्य की एक सुनिश्चित नींव पड़ी। इस प्रकार के गद्य का हम आधुनिक हिन्दी गद्य की विशेषता मान सकते हैं, क्योंकि अन्य भारतीय भाषाओं में यह चीज या तो अलभ्य है अथवा बहुत कम मात्रा में है।

आलोच्य युग में स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भावोत्कर्ष की वे स्थितियाँ ही नहीं रहीं। पिछले वर्षों में चीन और पाकिस्तान से युद्धों के अवसर पर सामान्य जनता में राष्ट्रीय भावना एक बार फिर जाग्रत हुई थी। परन्तु वह काव्य और मंचीय भाषणों तक ही सीमित रह गयी। गांधी-युग की भावात्मक स्थिति तक लौटना हमारे लिए असम्भव बात थी। स्वाधीनता-प्राप्ति के कुछ वर्षों पूर्व और स्वाधीनता प्राप्ति के कुछ वर्षों बाद विभाजन की भूमिका पर रक्तपात, जातीय वैमनस्य और अराजकता का जो नग्न ताण्डव नृत्य हमने देखा था वह हमारी भावात्मक चेतना को सदैव कुंठित बनाने के लिए यथेष्ट था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति का उल्लास जातीय विषाद के अवसाद में डूब गया। १९५० में गणतन्त्र राज्य की घोषणा से नये राजनीतिक युग का आरम्भ अवश्य होता है और कुछ वर्षों के लिए हम आत्मनिष्ठा और गौरव की भावना से भर जाते हैं तथा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के काम में लगते हैं। परन्तु स्वतन्त्र देश की समस्याएँ भी कम नहीं हैं और पिछले बीस वर्षों में हमें जिन उलझनों को सुलझाना पड़ा है वे बड़ी विषम रही हैं। फलस्वरूप जीवन और साहित्य में धीरे-धीरे बौद्धिकता का प्रवेश अधिक होता गया है। उसी अनुपात में साहित्य में भावना और प्रेरणा के तत्वों की कमी हुई है। आधुनिक शिक्षित जन और विचारक वर्ग बुद्धिगर्वी है। वह गोष्ठियों और सभाओं से लेकर विधान-मण्डलों तक वाद-विवाद के द्वारा राष्ट्रीय समस्याओं को हल करना चाहता है। पश्चिम के बुद्धिवाद एवं विज्ञानवाद के आग्रह ने उसे भी बुद्धिवादी और विज्ञानवादी बना दिया है। स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में हम जैसे विश्व के चौराहे पर जा खड़े हुए हैं और पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान तथा शास्त्र का हम पर भारी आतंक है। पिछले वर्षों में हमने पश्चिम के ढंग का जनतन्त्रीय शासन ही अपने देश में स्थापित नहीं किया, हमने सहस्रों की संख्या में भारतीय भाषाओं में पश्चिम की ज्ञानराशि का अनुवाद और रूपान्तर कर अपनी बौद्धिक चेतना को आश्वस्त किया। नयी बौद्धिक आवश्यकताओं के कारण हमारे सर्जनात्मक साहित्य पर भी

विचारवाद की छाप पड़ी। समसामयिक उपन्यासकार अपने पात्रों के द्वारा संवादों के रूप में राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं को हल कराना चाहता है और अनेक पृष्ठों तक यह चर्चा चलती है। यही नहीं, पन्त जैसे भावुक कवि अपनी स्वातंत्र्योत्तर रचनाओं में अनावश्यक रूप से गम्भीर तथा गद्यजीवी बन गये हैं। उनका महाकाव्य 'लोकायतन' स्वतन्त्र भारत की समस्त बौद्धिक और मानसिक समस्याओं का आकलन है। उसमें दूर तक काव्य-रस का पता नहीं चलता। तात्पर्य यह है कि युग की चेतना भावना एवं प्रेरणा की विरोधी है। हम धरती के अधिक निकट रहने में ही अपनी सुरक्षा समझते हैं।

परन्तु हृदय की माँग को किसी भी युग में अस्वीकार किया नहीं जा सकता और पिछले वर्षों मे अनायास ही ऐसा बहुत-सा साहित्य, निबन्धों और लेखों, रेखाचित्रों और संस्मरणों के रूप में हमारे सामने आया जो एकांततः बौद्धिक नहीं है और जिसमें प्रेरणा एवं भावना के तत्व अनिवार्य रूप से गुंफित हो गये हैं। इन रचनाओं में हमें प्रेरणात्मक, भावनात्मक एवं चित्रात्मक गद्य-शैलियाँ उपलब्ध हैं। सहस्रों पृष्ठों के नीरस, कामकाजी गद्य के मरुस्थल में ये सरस भावपूर्ण शार्दूल जैसी लगती है और हमारा मन मोह लेती हैं। इस सरस सामग्री के रचयिता पत्रकार, निबन्धकार, संस्मरण-लेखक और रिपोर्ताज-लेखक हैं, जो केवल विचार का ही व्यवसाय नहीं करते जीवन के सुनहले स्वप्न और यथार्थ के विस्तृत चित्र भी हमें देते हैं। इनके साथ हम जीवनी, आत्मकथा और यात्रा वृतांतों के लेखकों को भी ले सकते हैं। इनके साहित्य में प्रेरणा और भावना के तत्व अनिवार्यतः रहते हैं। वस्तुतः गम्भीर शास्त्रीय चिन्तन के विपरीत यह प्राणदायक साहित्य साहित्य की विशुद्धता की अधिक रक्षा करता है और इसी कारण हमारे लिए अधिक महत्वपूर्ण भी है। उसमें शैलीगत विभिन्नता और विविधता भी अधिक दिखाई देती है। इस श्रेणी का सारा साहित्य व्यक्तित्वमय है और उसकी रसात्मकता अक्षुण्ण है।

इस प्रकार के प्रेरणात्मक और भावात्मक गद्य के लेखकों में महादेवी वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, महात्मा भगवानदीन, 'उग्र' पांडेय बेचन शर्मा, 'अज्ञेय' (सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन), डॉ० रघुवंश, श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, श्री विद्यानिवास मिश्र, श्री धर्मवीर भारती और शांतिप्रिय द्विवेदी प्रमुख हैं। अन्य नाम भी लिये जा सकते हैं। परन्तु ऊपर हमने जिन गद्यकारों का नाम लिया है वे प्रतिनिधि भी कहे जा सकते हैं। उन्होंने अपने गद्य साहित्य में विचारात्मकता को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए भी कलाकार के उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है। वे निस्सन्देह उत्कृष्ट कोटि के शब्द-शिल्पी हैं। जहाँ पिछले युग का गद्य-शिल्प गद्य-काव्य तक सीमित था वहाँ इस युग के गद्य-शिल्प में हमें भावाभिव्यक्ति के अनेक स्वरूप मिलते हैं। समसामयिक गद्य शिल्प भावना और कल्पना की अतिशयता नहीं चाहता, वह उन्हें बौद्धिकता के रंग में

रँग कर ही प्रस्तुत करता है। उसकी संवेदना के स्वर तार-सप्तक पर नहीं रहते। उनमें पर्याप्त साज-सँवार रहती है। रेखाचित्रों, संस्मरणों, आत्मकथाओं, यात्रा वृतांतों और स्केचों आदि में गद्य की यह नई कला हमें नए ऐश्वर्य के साथ दिखलाई देती है।

अपने-अपने संस्कार होते हैं और अपनी-अपनी अभिरुचि। उन्हीं के अनुरूप साहित्यकार अपने विचारों को वाणी में ढालता है। सभी को भावना और कल्पना का अर्घ्य सुलभ नहीं होता। कहाँ गद्य-शिल्पी को यह आवश्यकता पड़ेगी कि वह विचारों के संसार से ऊपर उठकर सत्य का अंचल छोड़कर भावना या कल्पना के देश में पहुँच जाये, यह कहना कठिन है, परन्तु जिन समर्थ कलाकारों ने गद्य में शब्द-शक्तियों का पूरा-पूरा उपयोग किया है उनके साहित्य में यह स्पष्ट है कि विचार को तरल और रस-संवेदित बनाकर हम उसे पाठक के लिये अधिक ग्राह्य बना देते हैं। तब हम थोड़े मे ही बहुत कहने में समर्थ होते हैं। परन्तु पद्य और गद्य में काव्यात्मकता के स्वरूप मे अन्तर होता है। कारण यह है कि काव्य-भाषा गद्य की भाषा से तत्वतः भिन्न रहती है यद्यपि यह कहना कठिन होता है कि भेद क्या है और कहाँ है। संभवतः अन्तर इस प्रकार है कि जहाँ काव्य में बिम्बों की प्रधानता रहती है और उनके पीछे जो विचार या अर्थबोध रहता है उसकी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती, अतः विचार हमें कोई नया सवेदन नहीं देता, वहाँ गद्य की भाषा बिम्बों का उपयोग करते हुए भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। उसका सब कुछ भाषा पर या बिम्ब पर समाप्त नहीं हो जाता, वह अर्थ अथवा विचार को अस्तित्व में लाकर अपने से बड़े सत्य को प्रकट करती है। वह साधन है, साध्य नहीं। जहाँ गद्य-शिल्पी भाषा को ही साध्य बना लेता है वहाँ वह कवि का काम करता है और अपने क्षेत्र से बाहर चला जाता है। परन्तु सब प्रकार के श्रेष्ठ गद्य में अर्थबोध के साथ उद्‌बोधन या प्रेरणा का अन्तसूत्र भी बराबर रहता है क्योंकि सत्य या तथ्य का प्रकाशन ही गद्यकार का उद्देश्य नहीं होता, वह पाठक या श्रोता पर विजय भी पाना चाहता है। फलतः उसे प्रेरणात्मक भी बनना होता है। आदर्श विचारात्मक गद्य में अर्थबोध प्रेरणात्मक अथवा भावात्मक उपकरणों के साथ इतने मिले-जुले चलते हैं कि दोनों तत्वों को अलग-अलग करना असम्भव हो जाता है।'[१]

उदाहरण के लिए हम महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों को लेते हैं जिनमें उन्होंने भक्त और कवि के अन्तर को स्पष्ट करना चाहा है। प्रसंग मैथिलीशरण गुप्त के काव्य

---

१. See, "The Modern Age", Ed. by Borisford : E. W. F. Tombin writes in his article— 'The Prose of Thought', P. 231.

और व्यक्तित्व का है। वे कहती हैं—'भक्त और कवि के दृष्टिबिन्दुओं में अन्तर अनिवार्य है। भक्त के निकट उसका इष्टदेव ही विश्व है। जो उसने देना उचित समझा उसे अपने तथा संसार के लिये सुखपूर्वक स्वीकार कर लेना ही भक्त की विशेषता है। इष्ट के दान के सम्बन्ध में नाप-तौल का विवेक भक्ति को व्यवसाय का रूप दे देता है, पर कवि की स्थिति इससे भिन्न है। उसके लिए लोक के दान को निरीह भाव से अंगीकार कर लेना अभीष्ट नहीं होता। वह लोक का निर्माण भी अपनी कल्पना के अनुरूप चाहता है। पत्थर को तिल-तिल पर तराश कर उसमें अपनी कल्पना को उतारना और उस मूर्ति को अपने भाव की परिधि मान लेना एक ही मानसिक वृत्ति से सम्भव नहीं। मूर्तिकार तो अपनी कल्पना को आकार देकर सफल होता है और पुजारी उस आकार में अपने आपको मिटाकर पूर्णता पाता है। एक में अभाव की भावपरिणति है और दूसरे में भाव का रूप में विलयन। आगे इस आधार को लेकर गुप्त जी के कवि और भक्त रूप को स्पष्ट किया गया है। तात्पर्य यह है कि आज का गद्यलेखक विचार तक ही सीमित नहीं रहना चाहता और अपने भावसत्य को स्पष्ट करने के लिए भी उसे बौद्धिक स्थापनाओं के भीतर से गुजरना पड़ता है। यह गांधीयुग के आगे की स्थिति है क्योंकि नया युग बौद्धिक परिवेश में जीता है और उसके लिये भाव से विचार पर उतर आना उतना ही स्वाभाविक है जितना विचार को रूपायित करने के लिये भाव का सहारा लेना। सच तो यह है कि संस्मरण, रेखाचित्र, ललित निबन्ध जैसे सीमांती गद्य में चिन्तन और भाव की रेखाएँ घुल-मिल कर एक हो जाती हैं और लेखक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपनी गरिमा में प्रगट होता है। विशुद्ध विचारात्मक गद्य जहाँ हमारे मानस-कोशों को ही छूता है, वहाँ यह कलात्मक या ललित गद्य हमारे हृदय-तंतुओं का भी स्पर्श करता है। उसे हम शैलीगत उपकरण मात्र नहीं मान सकते क्योंकि उसका ताना-बाना विचार में अनन्यतः और अविरोधतः बुन जाता है।

काव्य कहाँ तक विचार को पुष्ट कर सकता है और संस्मरणीय व्यक्तित्व की आग को बाहर ला सकता है यह 'पथ के साथी' में उपलब्ध 'निराला' जी से सम्बन्धित इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—'क्रूरता और कायरता में वैसा ही सम्बन्ध है जैसा वृक्ष की जड़ों में अव्यक्त रस और फल के व्यक्त स्वाद में। निराला किसी से सभीत नहीं, अतः किसी के प्रति क्रूर होना उनके लिए संभव नहीं। उनके तीखे व्यंग में विद्युत रेखा के पीछे सद्भाव के जल से भरा बादल रहता है।' निराला जी विचार से क्रांतिदर्शी और आचरण से क्रांतिकारी हैं। वे उस झंझा के समान हैं जो हल्की वस्तुओं के साथ भारी वस्तुओं को भी उड़ा ले जाती है। उस मन्द समीर जैसे नहीं जो सुगन्ध न मिले तो दुर्गन्ध का भार ही ढोता फिरता है। जिसे वे उपयोगी नहीं मानते उसके प्रति उनका किंचित मात्र भी मोह नहीं, चाहे तोड़ने योग्य वस्तुओं के साथ रक्षा के योग्य वस्तुएँ

भी नष्ट हो जावें ।'[1] दोनों ही उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गद्य की विशिष्टता विचारात्मकता पर ही समाप्त नहीं हो जाती, उसकी अनुभूति-प्रवणता भी उतनी ही वांछनीय वस्तु है और उसमें काव्योपकरण अनिवार्य रूप से स्थान पा जाते हैं। काव्यमय वाणी में एक प्रकार का आन्तरिक छन्द रहता ही है जो उसे स्वाभाविक समर्थ गति प्रदान करता है किन्तु गद्य में यह गति, यह झंकार लाना बड़ा ही कठिन काम है। इसीलिये कवियों के लिये भी गद्य को ही कसौटी माना गया—'गद्य कवीनां निकषा वदन्ति।' इस निकष पर कसने पर आलोच्य युग की कितनी ही श्रेष्ठ प्रतिभाओं का पता हमें चलता है।

गद्य-शिल्प का एक दूसरा रूप हमें श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी की रचनाओं में मिलता है। बेनीपुरी में काव्यात्मकता की अपेक्षा भावुकता की प्रधानता है। उनका गद्य आलंकारिक उतना नहीं है जितना चित्रोपम। विचार के रूप का निर्माण उनके लिए साधना की वस्तु है। उदाहरण के लिए नई संस्कृति पर विचार करते हुए वे कहते हैं—'हमारी आँखों के सामने एक नया समाज बन रहा है, उसकी संस्कृति भी नई होगी। पुराने समाज के खण्डहर पर ही नये समाज की अट्टालिका खड़ी होती है, पुरानी संस्कृति के सूखे तने से ही नई संस्कृति की नई कोपलें फूटेंगी। प्राचीनता से हमें घबराना नहीं है, नवीनता पर हमें इतराना नहीं है। ये दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ नहीं, पहली दूसरी का पूर्व रूप है और दूसरी पहली का विकसित रूप। इतिहास लकड़ी का कोई लट्ठा नहीं कि आरी या कुल्हाड़ी से उसके दो टुकड़े कर एक को पुराना और एक को नया कह दीजिए। इतिहास एक धारा है—अविच्छिन्न अजस्र रूप में प्रवाहित। स्रोत का अग्रतम बिन्दु उद्गम से सम्बद्ध है, आबद्ध है। यदि उद्गम से उसका सम्बन्ध टूट गया, वह स्रोत से अलग हो जाय, फिर बिन्दु मात्र बना कर विलीन हो जाने में उसे कितनी देर लगेगी। जो लोग नये समाज की कल्पना में पुराने समाज को बाद दे देते हैं, वे कल्पना के लोक के वासी हैं—उनका नया समाज हवा में ही बन सकता है। यों ही नई संस्कृति पुरानी संस्कृति से नत्थी है, जो यह नहीं समझते हैं वे संस्कृति शब्द से खिलवाड़ करते हैं।'[2] परन्तु जहाँ लेखक विचारों से स्खलित हो जाता है और केवल भाव-संवेदन से ही परिचालित होता है वहाँ उसका वह संतुलन भी समाप्त हो जाता है जो उत्कृष्ट गद्य की विशेषता है। अतिभावुकता काव्य के लिए भी दोष ही है, गद्य में तो उसे वर्जनीय ही माना जायेगा। उदाहरण-स्वरूप,—आज वह समय आ गया है कि हम सोचें कि हमें किसका वाहन बनना है—सरस्वती का या लक्ष्मी का ? सरस्वती के वाहन को अपने

---

१. महादेवी वर्मा 'पथ के साथी', पृ० ६१।

२. श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी : 'वन्दे वाणी विनायकौ', पृ० १०६।

डैनों पर विश्वास होना चाहिए, अपने 'नीर-क्षीर-विवेक' रखने वाले चंचुओं पर विश्वास रखना चाहिए। हमें गर्व होना चाहिए अपने उस श्वेत पंखों पर—जिन पर एक धब्बा न हो, एक दाग न हो। अरे, हम बादलों के ऊपर उड़ान भरने वाले हैं, मानस का रस पीने वाले हैं। गंदी गलियाँ हमारी जगह नहीं, नाले और पनाले में हमारा पेय नहीं। हम वह पंछी नहीं, जिसका खण्डहरों में ही बसेरा है, जिसकी चोंच टेढ़ी है, जिसके डैने उसे उस मुंडेरे से उस ठूंठ तक ही ले जा सकते हैं, जिनके पखों पर धब्बे ही धब्बे हैं और जिसे रात में भी सूझता है।''[1] यह स्पष्ट है इस प्रकार की अतिभावुकता भावों के साथ खिलवाड़ करती है और विचारों की तो हत्या ही कर देती है। आलोच्य युग के अधिकांश शिल्पकारों ने गद्य की प्रकृति को पहचान कर अतिभावुकता से बचने का प्रयत्न किया है और भावुक क्षणों में भी बौद्धिकता की रक्षा की है।

भाषा-शैली का तीसरा रूप वह है जहाँ लेखक चिन्तक है और आत्मव्यथा को विचार की डोरी में बाँधकर अपने व्यक्तित्व को एक नया आयाम प्रदान करने का प्रयत्न करता है। प्रकृति-चित्रण के बीच में भी चिन्तन के ऐसे क्षण आ सकते हैं। उदाहरण के लिए हम डॉ० रघुवंश के ग्रन्थ 'हरी घाटी' का एक अवतरण प्रस्तुत करेंगे। इस रचना को स्वयं लेखक ने *यात्रा-डायरी-संस्मरण का समुच्चय* कहा है, परन्तु इलाहाबाद से रांची तक की यात्रा के पीछे अपने बचपन और परिवार तथा रांची के प्राकृतिक सौन्दर्य और मित्रों की वार्ताओं को इस प्रकार एक सूत्र में गूंथ दिया गया है कि कृति सामान्य वर्णनात्मक रचना नहीं रह जाती। घिरते-घुमड़ते हुए बादलों के बीच में लेखक के आत्मचिन्तन की एक बानगी इन पंक्तियों में मिलेगी—'इधर मेरे मन में, शायद मेरे अस्तित्व में महीनों से कुछ घटित हुआ है। मुझे यहीं से आभासित होता रहा है कि जीवन को दो सीमाओं में बाँधना ही जीवन का वास्तविक बन्धन है-गत-आगत, सुख-दुःख पाप-पुण्य, सफलता-असफलता, हानि-लाभ। और सीमा बिना उद्देश्य की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसा लगता है इस जीवन का कोई उद्देश्य इस अर्थ मे है ही नहीं। उद्देश्य बनाकर जीना मुझे बोझा लगने लगा है। पर जहाँ मेरे अन्तर्मन में यह धारा प्रवाहित होती रही है, मैं सजग मन से अपने जीवन के उद्देश्य के विषय में अधिकाधिक व्यग्र भी होता गया हूँ। और यही द्वन्द्व महीनों से मेरे और अस्तित्व में अनजान ही चलता रहा है। पर आज की मुक्ति, यह इस प्रकार अपनी सारी सीमाओं को खोकर जीवन को ग्रहण करने की चेष्टा एक अलग और अद्भुत अनुभव है। सब कुछ मिट गया है, या खो गया है घाटी, श्रेणी, हरी-भरी वनराजि, श्रेणियों की चोटियाँ। फिर भी मैं हूँ, मैं सबका द्रष्टा साक्षी। और द्रष्टा भी नहीं, साक्षी भी नहीं, मैं हूँ केवल भोक्ता।

---

१. श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी : वन्देवाणी विनयकों, पृ० ३६।

मैं अस्तित्व में स्थित हूँ, और बादलों से भरे हुए नीचे ढलते चले गए सारे विस्तार, बादलों से घिरे हुए श्रेणी के शिखर, सामने आश्रम की वृक्षराजि में चारों ओर से प्रवेश करते हुए बादल और सामने हर दो सौ कदम पर नीचे गिरकर आकस्मिक रूप से बादलों में अदृश्य हो जाने वाला धुँधला-धुँधला सा रास्ता सब मेरे अस्तित्व के अंग हैं।'[1]

परन्तु जहाँ हरी घाटी के बीच का यह आत्म-मन्थन विशुद्ध विचार में बदल जाता है वहाँ कृति की बौद्धिकता उसकी वर्णनात्मक पर हावी हो जाती है। प्रकृति के सौन्दर्य और बादलों के अपार वैभव के नीचे सुदृढ़ चट्टान-शिखर ने द्रष्टा के भीतर यह आत्म-विश्वास जगाया है कि 'मैं हूँ आत्मवान अविनाशी, और यह शरीर मेरे असंख्य आवरणों में एक है। क्या चिन्ता है इसकी, यह जैसा भी है क्षणिक है, परिवर्तनशील है। मैं मृत्युंजयी हूँ, जन्म-मरण मात्र मेरा लीला आवर्तन है। मैं असंख्य जन्मों और मृत्युओं को झेलकर भी उनसे असपृक्त हूँ।'[2] सहसा उसका मन गीता के अनासक्तिपूर्ण कर्म के संदेश से प्रतिष्ठित हो जाता है और वह सोचता है—'स्वधर्म! कर्म! अनासक्ति! यह आसक्ति ही है जो मन में सुख-दुःख, लाभालाभ, जयाजय का द्वन्द्व उत्पन्न करती है। घूमकर प्रश्न फिर दुःख-शोक से मुक्ति पाने का उठ खड़ा होता है। इनके प्रति सम भाव रखना होगा और यह सम्भव तभी है जब कर्म के प्रति अनासक्त दृष्टि हो, सिद्धि और असिद्धि के प्रति समान बुद्धि हो। इस दृष्टि से व्यक्ति राग-द्वेष, शुभ-अशुभ से मुक्त हो जाता है। कर्म है तो फल होगा, फल के प्रति आसक्ति भी होगी। कर्म प्रकृति है तो फल और आसक्ति प्रकृति क्यों नहीं है? लेकिन गीताकार इसी के प्रति सन्यास वृत्ति का उपदेश करता है और वह यह अन्तिम समाधान भी प्रस्तुत करता है—'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म-चेतसा।' सम्पूर्ण कर्मों का प्रभु के प्रति समर्पण करना होगा. फिर अनासक्त होना सहज सम्भव हो जायगा।'[3] 'हरी घाटी' के लेखक ने अपनी रचना को 'वैयक्तिक तथा घनिष्ठ प्रकार का लेखन' कहा है। उसके विचार में कृतिकार के लिए उसकी कृति की घोषित सफलता या असफलता का प्रश्न असगत है, उसके लिए सार्थक बात संवेदन की सर्जनात्मक उपलब्धि ही है, क्योंकि यह संलग्नता (इनव्हाल्वमेन्ट) उसकी मुख्य समस्या है। कृति के व्यक्तिगत और आत्मीय होने से उसके प्रति संकोच और मोह भी होना सम्भव है परन्तु जिस मनःस्थिति में रचना कागज पर उतरी है, उस मनःस्थिति में, उन क्षणों वह पूर्णतः अनासक्त है। गत क्षणों के प्रति रचनाकार की यह असम्बद्धता निश्चय ही कृति के वर्णन और चिन्तन को एक आयाम दे देती है।

---

१. डॉ० रघुवंश : हरी घाटी, पृ० १६६। २. वही, पृ० २३८।
३. पृ० २३६।

यात्रा-साहित्य में 'अज्ञेय' का कृतित्व एक अपनी विशेषता रखता है। वे अनुभूति में गूँथते चलते हैं और जो भोगा गया है वह रसानुभूति के साधारणीकरण के द्वारा सब का हो गया है। उदाहरणस्वरूप वे अपने एक गहन अनुभव का वर्णन करते हुए कहते हैं—'मृत्यु का सामना करने का मेरे लिए यह पहला अवसर नहीं था, न अन्तिम। छः बार अपने को मृत्यु के समर्पित करके और फिर जी कर मैंने यही जाना है कि, जब आदमी अपना नहीं रहता, अपने को दे डालता है, तब एक मोह जो वह नहीं छोड़ पाता वह है स्थायित्व का, जारी रहने का—दूसरे शब्दों में अपने नाम का मोह है। मनोवैज्ञानिक जो मूल प्रेरणाओं में से एक इस स्थायित्व चेष्टा को गिनते हैं वह उचित ही है। बल्कि वही सबकी मूल प्रेरणा है, उसी पर मानव का अस्तित्व-प्रकृति का अस्तित्व-कायम है। डर, प्रेम और भूख भी जब छूट जाते हैं, तब भी मानव की अपने आपको कायम रखने की लालसा बनी रहती है। अपनी जाति को बनाये रखना, अपने को बनाये रखने का दूसरा नाम है, इस प्रकार यह स्थायित्व चेष्टा वास्तव में सृजन की चेष्टा है। एक जीवन को पकड़ पाने के लिये यह एक सत्य बहुत काफी है कि जब सब लालसाएँ झग जाती हैं—जब मानव पशुता की और फिर मानवता की भी केंचुल उतार फेंकता है, तब उसके भीतर जो बना रहता है, वह है जो नित्यता चाहता है, जो नष्ट होते हुए भी नया सृजन करना चाहता है—अनीश्वर होकर भी ईश्वर है। इससे बढ़कर भी कोई सत्य मौत की इस घाटी में जाना जा सकता है, यह नहीं दीखता।'[1] परन्तु सामान्य वर्णन के बीच में विचारशील गद्य-लेखक की चेतना जीवन और जगत के शाश्वत सत्यों की ओर उन्मुख हो सकती है, जैसे एलुरा की गुफाओं के कैलास-मन्दिर के शिल्प को उत्कीर्ण करते हुए लेखक गम्भीर चिन्तना की ओर मुड़ जाता है जो शिल्प को आध्यात्मिक आयाम प्रदान कर देती है—'जीवात्मा की परमात्मा में लीन हो जाने की उत्कंठा ही सुरक्षा है, मन्दिर और देवालय उसके मूर्त प्रतीक हैं, और उनकी प्रतीकमयता तब तक पूरी कैसे हो सकती है जब तक कि वे असंख्यों की एकोन्मुखता को भी सूचित न करें? कैलास भी ऐसा ही प्रतीक है, वह गुफाओं से घिरा है जो उसी पत्थर से कोर कर निकाली गई हैं जिससे कि कैलास, और उतनी ही ऊँची हैं पर गुफाओं की एक-एक मंजिल चढ़ उनके चिकने अँधेरे में से कैलास का आलोक-मंडित उभार देखते जाइये, उसका ऊर्ध्व इंगित वैसा ही प्रेरणा भरा है, एक-से-एक सुन्दर असंख्य अलंकृतियों के बीच से भी पुराने कलाकारों की श्रद्धा-विनत साधना कहती है, 'यह नहीं, इससे जो सूचित होता है, वह—हम नहीं, हममें जो प्राण फूँकता है, वह।'[2] लेखक की दूसरी यात्रा-पुस्तक 'एक बूँद सहसा उछली' (१९६०) में आधुनिक यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति की भूमिका के साथ

१. अज्ञेय : 'अरे यायावर, रहेगा याद', पृ० १७५। २. वही, पृ० १८१।

ईसाई धर्म और समाज का पूरा ब्योरा आ गया है और उसकी प्रौढ़ विचारशीलता सामान्य विवरण को जहाँ-तहाँ अत्यन्त सम्पन्न बना देती है। परन्तु विचार और विवरण की प्रौढ़ता और सम्वेदनशीलता से भी अधिक जो वस्तु लेखक चाहता है वह है सम्वेदनशीलता। उसके अपने शब्दों में—'मेरा पाठक सम्वेदनशील हो, यह मैं उससे चाहता हूँ। क्योंकि बिना इसके वह उसे नहीं अपना सकता जो मेरी सम्वेदना ने ग्रहण किया। जो स्वयं सम्वेदनशील नहीं है वह यह नहीं पहचानता कि सबकी सम्वेदना अलग-अलग होती है–उसके निकट सम्वेदना का भी एक बना-बनाया ढाँचा होता है। वह किसी अनुभव को तद्वत् ग्रहण ही नहीं कर सकता, केवल उसके टुकड़े करके अलग-अलग खाँचों में रख सकता है।'[1] 'अज्ञेय' के लेखन का अभिजाततत्व इस कृति में भी उसी प्रकार बना रहा है जिस प्रकार उनकी काव्यकृतियों और कथा-ग्रन्थों में। वर्णन के बीच-बीच में कविताओं को सँजोकर लेखक अनुभव को मूलबद्ध चेतना देने का भी प्रयत्न करता है। पेरिस के वर्णन में कवि-पर्यटक अज्ञेय की बौद्धिकता और साहित्यिक दृष्टि भी जाग्रत है। वे कहते हैं—'किसी भी क्षेत्र में आशापूर्ण जीवनोन्मुखता वहाँ नहीं दीखी। सांस्कृतिक जीर्णता और अवसाद के लक्षण प्रत्येक क्षेत्र में प्रकट थे और उनके प्रति ऐसा एक उदासीन स्वीकृति-भाव जो मेरी समझ में सक्रिय दुष्टता से अधिक घातक या सांघातिकता का चिन्ह होता है।' मैं मर रहा हूँ, मैं जानता हूँ, कि मैं मर रहा हूँ, 'मैंने स्वीकार कर लिया है कि मैं मर जाऊँ'-मृत्यून्मुखता की मानो तीनों सीढ़ियाँ फ्रांसीसी संस्कृति कम-से-कम फ्रांसीसी साहित्य पार कर चुका है। परमावसाद की इस अवस्था में, जिसका एक विस्फोट युद्धकाल में और उसके तत्काल बाद के युग में हुआ, अपनी जीवन-परिस्थिति—अपनी अर्थात् व्यक्तिगत अपनी नहीं, मानव-मात्र की जीवन-परिस्थिति—उसे घृण्य, अर्थहीन, उबाने वाली ही नहीं उबकाई लाने वाली जान पड़ने लगी है। अस्तित्ववाद के साहित्यिक पक्ष के, अर्थात् सार्त्र के साहित्यिक मतवाद के मूल में यह विशेष रूप से लक्ष्य है ···।'[2]

श्री विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध संकलन 'तुम चन्दन हम पानी' (१९५६) और डॉ० धर्मवीर भारती की कृति 'ठेले पर हिमालय' में समसामयिक गद्य का भावात्मक और कलात्मक रूप पूर्णतः देखा जा सकता है। सच तो यह है कि आज गद्य-पद्य की सादी विभाजन-रेखाएँ एक प्रकार से समाप्त हो गई हैं। जिस प्रकार 'काव्य-गद्य' चल पड़ा है, उस प्रकार 'गद्यकाव्य' गद्य का अन्तिम अंग बन गया है और बौद्धिकता ने उसे अपने भीतर समेट कर नये आयाम प्राप्त कर लिये हैं। गांधीयुग में अपने भावुक राजनीतिक लेखों और 'साहित्य-देवता' में संकलित साहित्यिक संवेदना-क्षणों के द्वारा माखनलाल चतुर्वेदी

---

१. अज्ञेय : 'एक बूँद सहसा उछली'–निवेदन, पृ० १४। २. वही, पृ० ९५।

ने जिस भारतीय आत्मा का सर्वग्राही, समवायी तथा अतीत भावुक स्वरूप उद्घाटित किया था वह आज नई विचारणा-शक्ति और अभिनव संवेदनशीलता से पुष्ट होकर गद्य-शैली में एक नये प्रतिमान की सृष्टि कर रहा है। 'तुम चंदन हम पानी' निबन्ध में विचार और भावना का यह गठबंधन कितना हृदयग्राही है! 'नये मानवीय मानों पर बल देने वाली अभिनव मलयानिलों से मैंने यह संकेत पाया है कि मनुष्य ही महान है, वह दूसरे किसी महत्तर के प्रति अर्पित क्यों हो। भुजंगों से लिपटा हुआ चन्दन का वृक्ष ही स्वतः महान है, वह आस-पास के कंकोल, निम्ब और कुटज तक को चन्दन बना डालता है। विषयों से परिवृत्त मानव अपने यश से अपने परिवेश में प्रत्येक युग में सुरभि भरता आया है, उसे अर्पित होने की क्या आवश्यकता है। ये मलयानिल दक्षिण से नहीं पश्चिम से आये हैं, अर्थात दायें से नहीं, पीछे से आये हैं। इनकी पुकार पीछे मुड़ कर सुनने की सबके मन में उत्कंठा-सी जग जाती है। सबसे बड़ा, सृष्टि में मूर्धन्य कौन है? यह मनुष्य है। वह तब क्यों स्फीत होकर न चले, क्यों वह विनीत होने को विवश हो? इस प्रश्न का उत्तर देने का साहस कौन करे? मुझे तो जयदेव के प्रसिद्ध विरह गीत की कड़ियाँ बरबस याद आ जाती हैं—

> निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति खेदमधीरम्,
> व्यालनिलयमिलनेनगरलमिव कलयति मलयसमीरम्।
> सा विरहे तव दीना·· ·· ।'[1]

'ठेले पर हिमालय' (१९५८) में सब कुछ है—यात्रा-विवरण, डायरी, पत्र, शब्द-चित्र संस्मरण, साहित्यिक डायरी, केरीकेचर, व्यंग श्रद्धांजलि, आत्मव्यंग। जो है वह श्रेष्ठ गद्य है जिसमें विचार संवेदन बन गया है और भावुकता विचारनिष्ठ होकर एक नये परिप्रेक्ष्य को धारण कर रही है। 'चाँदनी में कोकाबेली', 'उचटी नींद', 'अपनी ही मौत पर' आदि, किसी भी गद्य-खण्ड को उठा लिया जाय संवेदनाशीलविचारात्मकता का नया बोध हमें प्राप्त होगा। उदाहरण अनावश्यक हैं क्योंकि हिन्दी गद्य की अपूर्व क्षमता प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है। कहीं से भी कोई पंक्ति, या कोई खण्ड उठाया जा सकता है।

प्रस्तुत अध्याय में हमने ऐतिहासिक विवेचन को छोड़ कर सामयिक हिन्दी गद्य के एक नये आयाम का तात्विक विवेचन सोदाहरण प्रस्तुत किया है। शोध-प्रबंध की सीमा 'विचारात्मक गद्य' है परन्तु यहाँ हमने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नया गद्य विचार को भी संवेदनात्मक बनाने में समर्थ है और संवेदनात्मकता आज के विचारात्मक गद्य की एक बड़ी विशेषता है। फलस्वरूप एक सीमा तक विचारात्मक और भावात्मक गद्य का वर्गीकरण व्यर्थ और असार्थक हो जाता है। इसे हम नये गद्य की शैलीगत विशिष्टता मात्र नहीं मान सकते, वह उसके नये जीवन की एकांत शर्त है।

१. डॉ० विद्यानिवास मिश्र—'तुम चन्दन हम पानी' पृ० १७१

एकादश अध्याय

आलोच्य युगीन साहित्य में विचारात्मक गद्य-शैली का विकास

वैचारिक गद्य स्वातंत्र्योत्तर युग की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है। उसके विभिन्न स्वरूपों पर हमने पिछले पृष्ठों में विचार किया है। परन्तु इसी युग में वैचारिक शैली का जो विकास हुआ है वह कम महत्वपूर्ण बात नहीं है। शैली की विविधता और परिपक्वता के लिए यह आवश्यक है कि विपुल और विविध साहित्य सामने आये और विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व लेखन के क्षेत्रों में उतरे। यह उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक समाज विचारोन्मुख न हो और उसके जीवन में क्रांति का उन्मेष न हो। सीधा-सादा सन्तोषजनक जीवन विचारों की हलचलों के लिए उपयुक्त नहीं होता। विचारों की प्रगतिशीलता के लिए भी टकराहट की आवश्यकता होती है। गांधी-युग में पहली बार पूर्व-पश्चिम, भारतीय-अभारतीय, सत्यासत्य आदि द्वन्द्व-प्रधान चिन्तन के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार हुई और विचार, धारणा एवं भावना के नवनवोन्मेष हमें प्राप्त हुए। यह युग काव्य के क्षेत्र में छायावाद का युग था और युग के सर्वश्रेष्ठ विचारों की अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से हुई। यदि हम आध्यात्मिक विचारधारा को छोड़ दें जो भारतवर्ष की सनातन जिज्ञासा और संस्कृति की उपज है और जिसकी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति महादेवी वर्मा के काव्यों में मिलती है, तो युग के अन्य श्रेष्ठ कवियों—'प्रसाद', पंत और 'निराला' में युग की वैचारिक मेधा एवं युगवाणी का सबसे सुन्दर रूप प्राप्त होता है। जैसा कहा गया है गद्य काव्य के पीछे-पीछे चलता है और उसकी श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ काव्य की श्रेष्ठतम उपलब्धियों से कम महत्वपूर्ण और कम प्रभावशाली होती हैं, यद्यपि श्रेष्ठ काव्य की अपेक्षा, श्रेष्ठ गद्य लिखना अधिक कठिन है।'[1]

काव्य की गति अति क्षिप्र और अधिक प्रेरणामूलक रहती है। उसमें विचार-प्रवाह छन्दों के कूलों में बँधकर अधिक सुनिश्चित और मार्मिक बन जाता है। परन्तु गद्य अनन्त महासागर के समान विस्तृत भूमिका लेकर चलता है जहाँ विरोधी दिशाओं में बह जाना असम्भव बात नहीं है। गांधी-युग के गद्य-लेखकों में बहुत से उत्कृष्ट कवि थे

---

१. The Art of the Writer । Introduction by Wilhelm Wackernagel, P. 384-385.

और उन्होंने विचार, भावना और कल्पना को मिलाकर एक ऐसा फुटपाथ तैयार किया था जो अत्यन्त आकर्षक था। उनकी रचना में केवल विचार की ही महिमा नहीं है, वे मानवहृदय के सूक्ष्म आकलनों और भाव-निकायों को लेकर चलते हैं। इसका कारण यह है कि गांधी-युग राष्ट्रीय आन्दोलन का युग था और हम भावोन्मेष के क्षणों में जीते थे। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद हम विचारों में आक्रांत हो उठे और हमारे विचारात्मक साहित्य में भावना का अंश कम हुआ।

अपनी सृजना के सर्वोच्च क्षण में गद्य-शैलीकार कलाकार होता है। वह संसार का ऐसा चित्र खींच लेता है जो उसके बिना हमारे दृष्टिपथ में आता ही नहीं। मानव-जीवन की नाटकीयता और संवेदनशीलता के प्रति जागरुक बनाकर वह हमारे सांस्कृतिक बोध को तीव्र करता है। इसके लिए प्रखर कल्पना-शक्ति की आवश्यकता है जिसके बिना हमारे दैनंदिन जीवन मात्र इन्द्रिय-बोध का जीवन बन जाता है।'[१]

लेखक की प्रतिभा के कारण ही हम अपने अनुभवों को सुस्पष्ट, गहन और व्यापक बनाते हैं और इसके फलस्वरूप हमारे चारों ओर का संसार एक नयी वास्तविकता होती है।'[२]

परन्तु साहित्य केवल बहिर्गत जीवन से ही सम्बन्धित नहीं होता। वह अन्तरंगी जीवन के गुह्यतम क्षणों का प्रकाशन होता है। वह बाहरी जगत् को अपना उपादान अवश्य बनाता है, परन्तु उन्हें आन्तरिक प्रतिक्रियाओं में डालकर एकदम निजी और आत्मगत बना देता है। अपनी अनुभूति के संचयन और स्पष्टीकरण के साथ-साथ यह उसे निगूढ़ता प्रदान करता है।'[३] यहीं पर व्यक्तित्व का प्रश्न आ जाता है। गद्य-शैलियों पर विचार करते हुए हमें लेखकों के व्यक्तित्व पर अनिवार्य रूप से विचार करना पड़ता है। व्यक्तित्व क्या है, यह कहना बहुत कठिन है। विद्वानों ने उसकी प्राणीशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है। परन्तु प्राणीशास्त्रीय व्यवहार सार्वजनिक और सामान्य रहते हैं। वास्तव में व्यक्तित्व के सम्बन्ध सामाजिक मनुष्य से है। सामाजिक मनुष्य विभिन्न परिवेशों, अभिरुचियों और परिस्थितियों के कारण घटनाओं और विचारों से विभिन्न रूप से प्रभावित होता है और शब्दों के उपयोग तथा भाव-विन्यास में भी उसकी दृष्टि विभिन्न रहती है।'[४] इसीलिये जब हम शैलीकार के रूप में गद्य-लेखक अथवा कवि की व्याख्या करते हैं तो हम उसे परिपूर्ण इकाई के रूप में लेते हैं। सच तो यह है कि जीवन और साहित्य दोनों

१. Elisco Vivas, Creation and Discovery, The Noonday Press New York (1955), P. 122.

२. Wallace A. Bacon & Robert S. Breen : Literature as Experience, 'The Individual and Experience' P. 8.

३. 'Literature as Experience'. P. 60.

४ as Experience P 60

ही व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं और दोनों में ही व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है। लेखक के चेतन और अचेतन मन के आदान-प्रदान और समीकरण का नाम ही व्यक्तित्व है और यही व्यक्तित्व साहित्य में अभिव्यक्ति पाकर शैली बन जाता है। आधुनिक युग में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को लेकर चलने वाले समीक्षकों ने अवचेतन मन को प्रधानता दे दी है और रचना-शिल्प में उसे अनुपात से कहीं अधिक महत्व प्राप्त हो गया है। परन्तु फ्रायड के अवचेतन मन के आविष्कार को महत्व देते हुए भी यह कहा जा सकता है कि अवचेतन मन ही सब कुछ नहीं है। जैसा लुकास ने कहा है कि अवचेतन के बाद लगभग उतनी ही महत्वपूर्ण वस्तु है चेतन और समीक्षात्मक विचारणा और यह आवश्यक है कि न तो अवचेतन मनचेतन पर हावी हो, न चेतन मन अवचेतन पर। दोनों के सन्तुलन से ही श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि होती है।'[१]

साहित्य का मूलतः मानव-नियति और मानव-मूल्यों से ही सम्बन्ध है।'[२] सामान्यतः माना जाता है कि विचार और भावना की भाषा में अन्तर्विरोध रहता है। इसलिये सर्जनात्मक गद्य और विचारात्मक गद्य के दो भेद स्थापित किये जाते हैं। उपन्यास, कहानी, नाटक, गद्य-काव्यों में जिस भाषा-शैली का उपयोग होता है उसे भावात्मक कहा जाता है और निबन्ध, रिपोर्ताज, संस्मरण, समीक्षा आदि की भाषा-शैली विचार-प्रधान मानी जाती है, यद्यपि कहीं-कहीं विचार के साथ वर्णन और विवरण का संश्लेष रहता है। परन्तु हर्डर जैसे जर्मन विद्वान का विचार है कि बौद्धिक अभिव्यक्ति का जन्म संवेदनात्मक अथवा इन्द्रियात्मक अभिव्यक्ति के भीतर से ही होता है और इसी कारण उनका विचार है कि भाषा के मूल में ही संवेदनात्मक, आध्यात्मिक और विचारात्मक ताने-बाने पूरी तरह बुने होते हैं। बौद्धिक विचार का धरातल सामान्य भावनात्मक समझा जाता है, परन्तु भावना की आधार-भूमि प्रत्येक विचार के नीचे निहित रहती है।'[३]

संवेदनात्मक और विचारात्मक गद्य में भेद हो या न हो, काव्य और गद्य में भेद सभी मानते हैं। वस्तुतः ये दो विपरीत ध्रुव हैं। गद्य की जड़ बौद्धिकता में रहती है और सत्य उसका लक्ष्य होता है। काव्य का सत्य उसी तरह सीमित रहता है और उसकी सार्थकता यही है कि वह हमारे सौन्दर्य-बोध को जाग्रत करता है। गद्य में

---

१. 'Style' by F. L. Lucas, P. 262-263.

२. 'Literature as Experience' : Personality and Literature, P. 61.

३. Ernest Cassirer, The Philosophy of Symbolic Form, Vol. I, Language, Yale University Press, New Haven, Conn. 1953, P. 319.

हमारी जिस जिज्ञासा की अभिव्यक्ति होती है, वह तथ्यात्मक और वैज्ञानिक रहती है। वह सबके लिये समान रूप से सुलभ है। एक प्रकार से उसे निर्वैयक्तिक कहा जा सकता है। गद्य मूलतः सूचनात्मक अथवा शिक्षात्मक रहता है और यह आवश्यक नहीं है कि उसके निर्माण में भावना और कल्पना का सहारा लिया गया हो। वैसे वह सीधे हमारी बुद्धि को छूता है। काव्य में जहाँ उपदेश या सन्देश देने का प्रयत्न किया जाता है वहाँ भावना और कल्पना का मिश्रण अनिवार्यतः रहता है और इसी से काव्य अधिक मार्मिक और प्रभावशाली रहता है। सत्य यह है कि काव्य और गद्य की दिशाएँ ही भिन्न-भिन्न हैं।'[१]

संक्षेप में, गद्य को हम बुद्धि की भाषा मान सकते हैं। उसके लिए 'वह अभिनिवेश आवश्यक नहीं है जो काव्य-भाषा में रहता है। छन्दोबद्ध भावना लय और संगीत का सहारा लेकर काव्य-विषय को पीछे छोड़ जाती है और बौद्धिकता से बड़ा एक ऐसा सर्वग्राही नवनिर्माण लेकर चलती है जो हमारी अनुभूति में घुल-मिलकर हमें नयी आत्मीयता प्रदान करता है। गद्य के क्षेत्र में यह चीज़ हमें केवल अभिभाषणों मे मिलती है। उत्कृष्ट कोटि के वक्ता गद्य की भाषा को सर्वोच्च कलात्मक रूप देने में समर्थ होते हैं।'[२]

इस प्रकार गद्य-शैली को हम भाषा की ऐसी अभिव्यक्ति मान सकते है जो अनिवार्यतः लेखक की मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं को उद्भासित करती है और अन्ततः विषय और लक्ष्य को वाणी देती है।'[३] गद्य के तीन कार्य सामान्यतः माने गये हैं जिनका सम्बन्ध बुद्धि, कल्पना और संवेदना से है। बुद्धि का कार्य अनुभव करना और अनुभव के आधार पर धारणा बनाना है। कल्पना मूर्त-चित्रों के माध्यम से हमारी धारणाओं को स्पष्ट करती है और उन्हें रूपों में ढालती है। इसी तरह भावनाओं का आधार संवेदनाएँ हैं। ये तीनों ही भाषा शैली के अंश हैं। भाषा और शैली की सार्थकता यही है कि हमारे विचार हमारी अनुभूति बनें अथवा कल्पना हमारे पाठकों मे जाग्रत हो जाये और दोनों ओर संतुलित रहे। विचारात्मक गद्य में भी आवश्यकतानुसार संवेदनात्मक आवेगों और कल्पनाओं का योग रहता है, यद्यपि प्रधानतः विचार की सुस्पष्टता और सुबोधता रहती है।'[४] मात्र विचार हमारे काम का नहीं होता। उसे

१. Lane Cooper : The art of the writer; Introduction by Wilhelm Wackernagel, P. 4-5.

२. Lane Cooper : The Art of the Writer—Introduction by Wilhelm Wackernagel, P. 5.

३. Ibid ; P. 10-11.

४. Lane Cooper : The Art of the Writer—Introduction by Wilhelm Wackernagel, P. 16.

आवेगमय और अनुभूतिप्राण होना चाहिये। वैसे गद्य-शैली के तीन प्रमुख स्वरूप माने गये हैं जिनकी अपनी-अपनी विशेषता है। (१) बौद्धिक शैली, जिसकी विशेषता है सुस्पष्टता, (२) कल्पनात्मक शैली, जिसकी विशेषता है चित्रात्मकता, (३) भावात्मक शैली जिसकी विशेषताएँ हैं भावुकता और संवेदनशीलता।'[1] वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों में हम कल्पनात्मक और भावात्मक भाषा-शैलियों का ही अधिक उपयोग करते हैं और रिपोर्ताज, संस्मरण, जीवनी आदि में भी इन तत्वों का उपयोग बराबर बना रहता है। विशुद्ध विचार के दर्शन हमें शास्त्रीय व्याख्याओं, विषयगत निबन्धों, लेखों, सम्पादकीयों और टिप्पणियों में मिलते हैं और उनकी शैली की प्रमुख आवश्यकता सत्य के प्रति जागरूकता रहती है। तर्क ही विचार-विन्यास का मूलाधार बनता है और लेखक की तेजस्विता इसी बात में मानी जाती है कि वह अपने विचारों को सत्य की प्रतिच्छाया में घेर दे और यहाँ तक कि वे हमारे लिए अप्रत्याहित बन जायें।

काव्य में प्रगीत-मुक्तक (लिरिक) को सर्वोच्च या आत्यंतिक महत्व प्राप्त है। उसे संवेदनाओं का मूर्त स्वरूप कहा गया है। कुछ विद्वानों ने प्रगीत को काव्य और गद्य के अतिरिक्त एक तीसरी स्वतन्त्र विधा माना है और उनके विचार में वक्तृत्व-कला अथवा भाषण की गद्य के क्षेत्र में वही स्थिति है जो पद्य के क्षेत्र में प्रगीत की हुई है।'[2] परन्तु अभिभाषण से भी कहीं अधिक हम प्रगीत की विशेषताएँ आत्मगत निबन्धों अथवा ललित निबन्धों में पाते हैं। प्रगीत की तरह यहाँ भी रचनाकार अपनी अनुभूतियों के भीतर से ही अपने विचार के स्वरूप का निर्माण करता है और उसकी कृति उसके ही अपने आवेगों, भावों एवं प्रेरणाओं का प्रतिनिधित्व करती है। प्रगीत की तरह आत्मगत निबन्ध भी लेखक के व्यक्तित्व मात्र से सार्थकता प्राप्त करता है। होना ही दोनों की विशेषता है और होकर ही दोनों सार्थक हैं।

निबन्ध के इस प्रगीतात्मक स्वरूप की विवेचना डॉ० रामरतन भटनागर ने अपने एक लेख में इलियट के एक महत्वपूर्ण निबन्ध के सहारे इस प्रकार प्रस्तुत की है—'शैली की दृष्टि से निबन्ध कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इलियट ने काव्य में तीन आवाजों की कल्पना की है और एक चौथी आवाज़ की ओर भी इंगित किया है जो 'एपिस्टल' पत्र मे मिलती है। ये चारों आवाजें हमें निबन्ध में मिल जाती हैं। निबन्धकार अपने से बातचीत करता है, या किसी एक निकटतम व्यक्ति से, या श्रोता-वर्ग से, या पात्रोन्मुख बनकर पात्रों के माध्यम से। इस प्रकार प्रगीत से लेकर नाटकीय एकालाप अथवा नाटक

---

१. Ibid ; P. 16-17.

२. Lane Cooper : The Art of the Writer—Introduction by Wilhelm Wackernagel, P. 17-18.

तक निबन्ध का शैलीगत प्रसार है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'वसंत फिर आ गया है' निबन्ध से लेकर बालमुकुन्द गुप्त के 'शिवशम्भु के चिट्ठे' निबन्ध काव्य की सभी भूमियाँ अपना लेता है। कहा जा सकता है कि आज निबन्ध कविता का स्थान ग्रहण करता जा रहा है और वह धीरे-धीरे अन्य साहित्य-कोटियों को क्षेत्र से हटा रहा है। गद्य-काव्य से काव्य-गद्य तक निबन्ध का 'सरगम' है। 'लिरिक' के लिए इलियट ने 'मेडीटेटिव पोएटरी' नाम हमें देना चाहा है। वास्तव में इलियट की प्रगीत-सम्बन्धी विचारणा आधुनिक निबन्ध पर अधिक लागू होती है और हम उसे उचित अर्थों में 'मेडिटैटिव प्रोज़' कह सकते हैं। हो सकता है उसकी रचना-प्रक्रिया में अव्यक्त को व्यक्त करने और अरूप को रूप में डालने की वह रहस्यमयता नहीं है जो इलियट द्वारा सदर्भित Gottfried Benn के निबन्ध Problem der Lyrik (प्रगीत की समस्या में मिलती है और जिसमें भाव-सर्जना के साथ रूप में ढलता चलता है, परन्तु बहुत मात्रा में प्रक्रिया वही है और प्रगीत-रचना के निकट है, यह विवादीय नहीं है। श्रेष्ठतम निबन्ध में 'न कुछ' के 'होने' की पीड़ा पंक्ति-पंक्ति में बोलती है और 'मैं' खुलकर सजना के आनन्द में मूर्तिमान हो जाता है।'[१] उन्होंने जीवन को आधुनिक जीवन चेतना का प्रतिनिधि साहित्य रूप माना है और सब प्रकार के निबन्धों में निबन्धकार के अहं के विसर्जन को समान सूत्र के रूप में ग्रहण किया है। उनके शब्दों में 'निबन्ध चाहे आत्मगत हो या विषयगत या बोधगत (एब्सट्रैक्ट) उसमें निबन्धकार के अहम् का विसर्जन या प्रकाशन ही अन्तिम ध्येय रहता है। ये दोनों प्रक्रियाएँ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, अतः कतिपय निबन्धों में उन्हें साथ-साथ भी देखा जा सकता है। उत्कृष्टतम आत्मचिन्तन और व्यापकता निष्कर्षों को एक साथ झेलने की प्रतिभा कम साहित्य-कोटियों में है। इसलिए निबन्ध की आदर्श शैली में गुरु-गम्भीरता और हास्य-विनोद की आँख मिचौनी चला करती है। जीवन की वास्तविक और दुःखान्तकीय अनुभूति यदि त्रासदी का विषय है तो उसकी सूक्ष्म और आनन्दनीय अनुभूति निबन्धों का। सच तो यह है कि निबन्ध जीवन के सन्दर्भ में ही महार्घ बनता है और उसमें हमारी जीवनानुभूति को प्रसार, परिष्कार और गहराई देने की अद्भुत क्षमता है।'[२]

प्रश्न यह है कि विचारात्मक निबन्ध का शैली-विभाजन किस प्रकार हो? क्या इस प्रकार का कोई विभाजन सम्भव है? निबन्ध यदि मात्र विचारणा या अनुभूति से सम्बन्ध रखता है तो हम उसे विषयगत अथवा आत्मगत कह सकते हैं और इन दोनों में

---

१. 'साहित्य सन्देश'—निबन्ध-विशेषांक, पृष्ठ ५२-५३ (अगस्त, १९६१)।

२. डॉ० रामरतन भटनागर का निबन्ध 'आधुनिक जीवन-चेतना का प्रतिनिधि साहित्य रूप', साहित्य सन्देश, निबन्ध विशेषांक (अगस्त १९६१), पृ० ५३।

बीच के भी अनेक समीकरण सम्भव हैं। अत्याधुनिक निबन्ध में कलात्मक चेतना का प्रवेश कुछ इस प्रकार हुआ है कि विषय और अनुभूति की रेखाएँ ही समाप्त हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में सामान्य विभाजन सम्भव नहीं होता। एल्डाउस हक्सले ने अपने एक संकलन की भूमिका में इस कठिनाई की ओर संकेत किया है। उनका कहना है कि उपन्यासकार की तरह निबन्धकार भी संत, वैज्ञानिक, दार्शनिक और कवि की अन्विति रहता है। उ के व्यक्तित्व मे ये सभी मिले-जुले रहते हैं। इनके विचार में धर्म, दर्शन, विज्ञान, काव्य—सब मानव-चेतना के खण्ड मात्र हैं। उसका परिपूर्ण बोध उपन्यास में ही मिलेगा क्योंकि उपन्यासकार सब विषयों के सम्बन्ध में सब कुछ कह सकता है और सब कुछ व्यक्तिगत रूप से कहकर भी वह निर्लिप्त बना रहता है। उनके विचार में निबन्धों का एक अच्छा संकलन एक अच्छे उपन्यास से किसी तरह कम नहीं है।'[१]

आगे चलकर हक्सले निबन्ध के तीन रूप अवश्य मानते हैं अथवा यों कहिए कि वे निबन्ध की त्रिकोण के रूप में कल्पना करते हैं, जिसकी पहली भुजा व्यक्तिगत और आत्मकथात्मक है, दूसरी विषयगत और तथ्यात्मक और तीसरी निर्विशिष्ट और सार्वभौमिक। उनका मत है कि अधिकांश लेखक इनमें से किसी एक या अधिक से अधिक दो को लेकर चलते हैं। परन्तु अत्युत्कृष्ट कोटि के निबन्ध और निबन्धकार तीसरे क्षेत्र को अपनाते हैं और उसमें सफलता प्राप्त करते हैं।'[२] अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सर्वाधिक सन्तोषपूर्ण और सम्पन्न निबन्धों में तीनों क्षेत्रों का उपयोग होता है और निबन्धकार विचार, भा ना और चिन्तन के विभिन्न आयामों में स्वेच्छापूर्वक विचरण करता है।'[३]

आलोच्य-काल में हिन्दी की विचारणा मुख्यतः साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन, नीति विज्ञान और राजनीति को लेकर विकसित हुई है। ये हमारी विचार-चर्चा की विभिन्न दिशाएँ हैं। इनमें साहित्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी क्षेत्र में हमें मौलिकता और विभिन्नता का सबसे अधिक दर्शन होता है। वैसे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी हमने पिछली उपलब्धियों को इस युग में आगे बढ़ाया है। परन्तु गांधी-युग में इन क्षेत्रों में हमारी मौलिकता और अभिव्यंजना-शक्ति पूर्ण उन्मेष को प्राप्त हुई थी। बाद मे साहित्यकारों के लिए काव्य और साहित्य की विवेचना करते समय धर्म और दर्शन क्षेत्र की शब्दावलियों और शैलियों के उपयोग की सुविधा हुई है। साहित्यकार ही मूलतः शैलीकार होता है। वह केवल विचार ही देना नहीं चाहता, वह उसे अपनी

---

१. Preface to 'Collected Essays' by Aldous Haxley, P. 5.

२. उद्धरण के लिए देखिए शोध-प्रबन्ध का 'प्राक्कथन'।

३. Preface to 'Collected Essays' by Aldoux Huxley, P. 7.

सुन्दर, मूर्त-चित्रों और अलंकारों से पुष्ट करता चलता है। उदाहरण के लिए हम 'निराला' का यह गद्य-अवतरण रख सकते हैं।

'इस उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में, जब पश्चिमी संसार जड़ाश्रय विज्ञान के अहंकार से दीप्त, वाह्य प्रकृति को पूर्ण वशीभूत करने पर तुला हुआ, अपनी क्षात्र-शक्ति और वैश्य-शक्ति के सम्मिलित महाप्रवाह से तमाम देशों को प्लावित कर रहा है और हीनवीर्य लुप्तैश्वर्य प्रभावित हतचेतन जनसमूह की दृष्टि में अपने ही सब्ज बाग का नज़ारा पेश करता हुआ, उन्हें बहकाकर कहीं का कहीं लक्ष्य भ्रष्ट करता जा रहा है, जिस समय संसार की तमाम शक्तियां पूर्वोक्त इन्द्रजाल से परास्त, मरीचिका-मुग्ध मृग की तरह, अपनी तृष्णा निवृत्ति के लिए, उसी मरुभूमि की चमकती हुई उष्ण ज्वाला के पीछे-पीछे, अपने अस्ति तत्व का ज्ञान खोकर, हैरान दौड़ती चली जा रही हैं, जिस समय भारतवर्ष में सौभाग्यवश अथवा दुर्भाग्यवश पश्चिमी चश्मे का ही रिवाज समाज की हर सूरत को देखने के लिए लोग कायम कर रहे हैं, मानो तमाम संसार अपनी चहल-पहल से दूसरों की आँखों में अपनी सजीवता का नक्शा खींच देने के लिए उतावला हो रहा है, कितने ही 'वाद' पृथ्वी की छाती पर विवाद विप्लव के चिह्न अंकित करते जा रहे हैं, भारतवर्ष की पावन-भूमि पर श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव इन इतनी शक्तियों के बीच में निस्सन्देह अपना एक अपूर्व महत्व रखता है।

जिस किसी पहलू से देखिए, जिस किसी वाद को उठाइये, संसार की जिस किसी उलझन को लीजिये, भारत की ओर मीमांसा के सत्य आसन पर प्रतिष्ठित श्रीरामकृष्ण के ही दर्शन होंगे। यह एक अत्युक्ति या केवल कल्पना नहीं, प्रत्युत सत्य और महासत्यी है जैसे श्रीरामकृष्ण को देखकर भारतवर्ष ने संसार के 'बहुधावदन्ति' वाले सद्विप्रों की आँखों में एक निरंजन अक्षय प्रकाश भर दिया हो।'[1]

इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि लेखक अपने आराध्य श्रीरामकृष्ण परमहंस को उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के विज्ञानाश्रित पश्चिमी संसार के समकक्ष चेतना-पुंज के रूप में रख रहा है। उसने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की तुलना मरुभूमि से की है। पश्चिमी-जन मरीचिका के मृग की तरह कल्पित हैं। 'वादों' से आक्रान्त संसार का एक मूर्त चित्र इस प्रकार दिया गया है कि उसे पृथ्वी की छाती पर चिह्नित विप्लव के रूप मे कल्पित किया गया है। अप्रधान उपवाक्यों की एक श्रृंखला बाँधकर लेखक अपने प्रधान मन्तव्य की पुष्टि करना चाहता है। शब्दावली में आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रयोग किये जाने वाले शब्दों का आधिक्य है। निस्सन्देह यह काव्य की भाषा है और गद्य के

१. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' : संग्रह (१९६३—प्रथम, पृ० ४५-४६)

अधिक उपयुक्त नहीं है। यह अवतरण जिस निबन्ध से लिया गया है वह सन् १९२३ मे लिखा गया है। अब उसकी अपरिपक्वता स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ जाती है। इसी प्रकार इन्हीं के दूसरे निबन्ध में सृष्टि की विभिन्नता व विविधता का एक सुन्दर काव्यात्मक चित्र इस प्रकार मिलेगा।

'आकाश की नील नीलम-ताराओं से टँकी छत, शुभ्र चन्द्र और सूर्य का शीतोष्ण शुचितर रश्मिपात, नीचे विश्व का विस्तृत रंगमंच, रंगीन सहस्रों दृश्य शैल-शिखरो, समुद्र शक्तियों, अरण्य शीर्षों पर छायालोक पात करते प्रतिपल बदलते हुए, दिन और रात, धूप और छाँह, पक्ष और ऋतुओं के उठते-गिरते हुए पर्दे, क्षण-क्षण विश्व पर अपार ऐन्द्रजालिक शक्ति परियों-सी पंख खोलकर कलियों में खिलती, केशर-परागों से युक्त प्रकाश मे उडती, रंगे कपड़े बदलती, दिशाओं के आयत दृगों में हँसती, झरनों में गाती, पुन अज्ञातमत में अन्तर्धान होकर तादात्म्य प्राप्त करती हुई, हास्य और रोदन, वियोग और मिलन, मौन तथा वीक्षण के नव रसाश्रित मधुर और भीषण कलरवोद्गारों से जीव-जन्तु स्वाभाविक अभिनय करते हुए, यह ईश्वरीय यथार्थ नाटक है—एक ही सर की सरस सृष्टि सरस्वती।

चिरकाल से अनुकरणशील मनुष्य-समुदाय इसकी सार्थकता करता जा रहा है। सृष्टि की भिन्नता, भावों के मिश्रण और कला की गति-भंगियों के भीतर चलकर एक इसी आदर्श की पुष्टि उसने की है। केवल सत्य के नाम और परिणाम भिन्न-भिन्न रख दिये हैं। कहीं वह प्रेम है, कहीं अनादि दर्शन, कहीं सामाजिकता, सुधार या परिवर्तन, कहीं प्रतिकूल वैराग्य और त्याग, कालिदास और भवभूति, शेक्सपियर गेटे इन्हीं कारण से पृथक-पृथक हैं।'[1]

यह निबन्ध भी लगभग उतना ही पुराना है, परन्तु उसका वर्णन-विन्यास, काव्यात्मक भाषा-शैली और भावमयी चिन्तना ध्यान देने योग्य वस्तुएँ हैं। भावों मे न क्षिप्रता है, न गतिशीलता। लेखक बड़े प्रेम और बड़ी सुविधा से अपनी भाव-धारा के के अनुकूल शब्दों का चयन करता है। स्पष्ट है कि यह भाषा-शैली हमें पंत जी के काव्य 'पल्लव' (१९२८) की भूमिका में मिलेगी। छायावाद-युग में 'पल्लव' की भूमिका बड़ी प्रसिद्ध थी और उसकी भाषा-शैली को प्रशंसनीय माना जाता था। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गयी; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी मे बह गये; बड़े परिश्रम से कोई पार भी गये तो व्रज से द्वारका तक पहुँच सके, ससार

१ निराला प्रबन्ध प्रतिमा नवम्बर १९६३ द्वितीय) पृ० ४३

की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई । रूप के उस श्यामावरण के भीतर झाँक न सके, अनन्त नीलाकाश को एक छोटे से तालाब के प्रतिबिम्ब में बाँधने के प्रयत्न में स्वयं बँध गये । सहस्र दादुर उसमें छिपकर टर्राने लगे, समस्त वायुमंडल घायल हो गया, यमुना की नीली नीली लहरें काली पड़ गईं । भक्ति के स्वर में भारत की जन्म-जन्मान्तर की सुप्त मूक आसक्ति बाधा विहीन बौछारों में बरसा दी । ईश्वरानुराग की बाँसुरी अन्ध बिलो में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़-छेड़कर नचाने लगी । श्याम तथा राधा की खोज ने, सौ-सौ यत्नों में लपेटी हुई देश की समस्त आबाल-वृद्धाएँ नग्नप्राय कर, भारतीय-गृहस्थ के बन्द द्वारों से बाहर निकाल दीं, उनके कभी इधर-उधर न भटकने वाले सुकुमार पाँव के सारे विषपूर्ण काँटों से जर्जरित कर दिये। गृह-लक्ष्मियाँ दूतियाँ बन गईं ।

शृंगार-प्रिय कवियों के लिये शेष रह ही क्या गया ? उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति काम के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर 'नायिका' के अंग-प्रत्यंग से लिपट गईं । बाल्यकाल से वृद्धावस्था पर्यन्त,—जब तक कोई 'चन्द्रवदनि मृग लोचनी' तरस खाकर, उनसे 'बाबा न कह दे,—उनकी रसलोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिणी-ध्रुव से उत्तरी-ध्रुव तक, यात्रा कर सकी ! ऐसी विश्वव्यापी अनुभूति ! ऐसी प्रखर प्रतिभा ! एक ही शरीर-यष्टि में समस्त ब्रह्माण्ड देख लिया । अब उनकी अक्षय कीर्तिकाया को जरामरण का भय ? क्या इनकी 'नायिका' जिसके वीक्षण-मात्र से इनकी कल्पना तिलक की डाल की तरह खिल उठती थी अपने सत्यवान को काल के मुख से न लौटा लायेगी ।'

इस अवतरण का सारा संगठन चित्रमूलक है । लेखक विचार को पीछे छोड़ देता है और छोटे-छोटे चित्रों में अपनी भाव-धारा को रखकर उन्हीं से सन्तोष कर लेता है । रचना व्यंग्य-प्रधान है । लेखक भक्तों और शृगारप्रिय कवियों की भावधारा की संकीर्णता और परम्परानुगतता के प्रति विद्रोह उत्पन्न करना चाहता है । परन्तु उसकी भाषा-शैली इतनी सुन्दर बन गयी है कि पाठक उसी पर मुग्ध हो जाता है और विद्रोह की बात उसके पल्ले नहीं पड़ती । यह स्पष्ट है कि यह प्रथित रूप से गद्य शैलीकार की भाषा नहीं है वरन् उत्कृष्ट कवि की भाषा है । इस भाषा-शैली के समक्ष हम स्वयं पंत जी का एक दूसरा अवतरण रख सकते हैं जो सन् १९६५ में प्रकाशित उनके ग्रन्थ 'छायावाद पुनर्मूल्यांकन' से लिया गया है ।

'नये मूल्य को स्वीकार कर मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में उसे प्रतिष्ठित करने के लिये इस युग के इतिहास को निरन्तर उद्बुद्ध तथा रचना कर्म निरत रहना पड़ेगा, जिसमें सृजन-कार्य प्रमुख स्थान होगा, क्योंकि वह सांस्कृतिक-मूल्य का वाहक होगा । उदाहरणार्थ, हमें जाति, पाँति, धर्म, सम्प्रदाय, देश-काल आदि में खण्डित सभ्यताओं तथा संस्कृतियों को एक व्यापक मानव-संस्कृति में परिणत करना होगा । खण्ड युगों के मूल्यों को नवीन मनुष्यत्व के मूल्य में विकसित करना होगा । इस युग की लोक साम्य तथ

विश्व-ऐक्य की धाराओं में तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामूहिक संगठन की मर्यादा में एक दूसरे के पूरक के रूप में, महत् संयोजन स्थापित करना होगा। मनुष्य को जीवन-विकास की शक्तियों का प्रतिनिधित्व ग्रहण कर और भी अनेक लोकमंगल एवं विश्व शांति के अवरोधक दृष्टिकोणों, मान्यताओं, परम्पराओं, संगठनों, सम्प्रदायों पर विजय प्राप्त कर, मानव सभ्यता के यान को आगे बढ़ाना होगा। संक्रांति युग के भय-संशय तथा अवसाद के अन्धकार को चीर कर नये मूल्य के प्रकाश में नव-भू-जीवन-निर्माण की एक नवीन अपराजेय आस्था का वरण करना होगा। पर, सृजन चेतना और नयी काव्यानुभूति के लिये अनिवार्य, जिस पक्ष के अनेक सूक्ष्म-जटिल स्तरों का विश्लेषण-संश्लेषण कर भावी द्रष्टा तथा नये युग-स्रष्टा कवि को मानव जीवन में में स्थापित करना है वह है रागात्मक मूल्य, जिसके परिष्कार, उन्नयन तथा व्यापक-बोध के अभाव में मानव-सभ्यता तथा संस्कृति का रूपांतर होना असम्भव है और इस गुह्यतम, सूक्ष्मतम तत्व को आधुनिक कवियों को अपनी निगम अनुभूति, मानवीय संवेदना तथा स्वस्थ सौन्दर्य-बोध द्वारा अभिव्यक्ति देकर उसे विश्व प्राणों के विराट अधखिले रक्ताभ शतदल पर स्थापित करना है।'[1]

इस अवतरण में भाषा का कायाकल्प हो गया है। दोनों अवतरणों की भाषा में लगभग चालीस वर्षों का अन्तर ही नहीं है, दूसरा अवतरण आलोच्य युग के अन्त में आता है। इससे हम सिद्ध कर सकते हैं कि विचार की भाषा काव्योपकरणों को पीछे छोड़कर विशुद्ध चिंतन के लोक पहुँच गई है। थोड़ा-सा अतिरेक यहाँ भी है क्योंकि लेखक अनुपाततः संस्कृत पदावली का अधिक उपयोग करता है। कहीं-कहीं काव्यानुबन्ध भी हैं, जैसे अन्तिम पंक्ति में उसने 'विश्व प्राणों के विराट अधखिले रक्ताभ शतदल' की कल्पना की है, परन्तु यह स्पष्ट कि अब गद्य-काव्य नहीं रहा है। उसमें विचारों की स्थिति केन्द्रीय हो गई है। स्वातन्त्र्योत्तर युग में विचारों के प्रति हमारी इस निष्ठा में वृद्धि हुई है और हमारा चिंतन मूलबद्ध बना है। इसी से भाषा के क्षेत्र में व्यास-शैली की अपेक्षा समास शैली को प्रधानता मिली है। पन्त का यह अवतरण संस्कृत-गर्भित सामासिक भाषा-शैली का एक सुन्दर उदाहरण है। परन्तु इस अवतरण में भी बड़े-बड़े वाक्यों का प्रयोग यह इंगित करता है कि छायावादी युग के साहित्य और गद्य-शैली की छाप अब भी लेखक पर शेष है। इस अवतरण की भाषा एकांत-मनन की भाषा (मेडीटेटिव प्रोज्) है। उसमें सामूहिक वाद्य-यन्त्रों का-सा आरोह-अवरोह है जो उसे विशिष्टता प्रदान कर देता है।

इस अवतरण के विपरीत हम माखनलाल चतुर्वेदी के तीन अवतरण दे सकते हैं

१. सुमित्रानन्दन पन्त : छायावाद पुनर्मूल्यांकन, २० मई १९६५, प्रथम संस्करण पृ० १३७-१३८।

जो विभिन्न युगों में लिखे गये हैं परन्तु जिन पर युग की बौद्धिकता और चिंतन की अनिवार्यता की स्पष्ट छाप है। माखन लाल चतुर्वेदी केवल भावुक कवि ही नहीं हैं, वे उच्चकोटि के वक्ता और गद्य शिल्पी भी हैं। इसलिये उनकी भाषा में प्रेरणा-तत्व अधिक रहता है और वे छोटे-छोटे वाक्यों अथवा वाक्यांशों का उपयोग करते हैं। विचारों और भावों की टकराहट के साथ-साथ चेतना का एक अन्तर्प्रवाह उनके गद्य में रहता है। जो हमें अपने साथ बहा ले जाता है। बीच-बीच में विचारों की शृंखलाएँ इसलिये तोड़ दी जाती हैं कि श्रोता असमंजस में पड़ जाये, अथवा चमत्कृत हो उठे। परन्तु सब कहीं एक विशेष उमंग, एक विशेष सूझ-बूझ अथवा वैचारिक हलचल रहती है, जो हमें रचनाकार की ओर आकर्षित करती है। उदाहरण के लिये हम उनके नवीन रचना 'चिन्तक की की लाचारी' (१९६५) का निम्न अवतरण ले सकते हैं।

'जगत, साहित्य के पीछे, अनिवार्य चला आ रहा है। जगत् के ऋषियों ने लोक जीवन में फेर-फार करने के लिये जो कुछ कहा, वाणी के द्वारा, वही वाणी संग्रहीत होकर साहित्य कहलायी। साहित्य में दो धारायें रही हैं। एक है जिन्होंने बहुत कहा है, और तुलसीदास जी ने जिनकी ओर 'तदपि कहे बिनु रहा न कोई' कहकर संकेत किया है। वे ज्ञान के धनी। दूसरे वे हैं जिन्होंने बहुत सहा है। वे अनुभव के धनी। ज्ञान अपने प्रति सजग होता है और अपनी प्रचंड पहुँच के अवतरणों में भी अपनी सीमा-बद्धता की लाचारी व्यक्त किया करता है। अनुभव अपने अभिमत में अपनी सीमा खो चुकता है, अतः वह बोल चाहे बहुत कम पाये, संगीत की तरह उसके आनन्द में विराम नहीं होता। ज्ञानियों को हम विद्वान कहते हैं। अपने आपको खोये हुए मनस्वियों को हम सन्त कहते आये हैं। शब्दों में अर्थ होते हैं, और चाहे वे काव्य के ही शब्द क्यों न हों, अर्थ को आगे ढकेले बिना वे अपनी बाजार दर विश्व में सिद्ध नहीं कर पाते। संगीत है आवाज ही, है स्वर ही, किन्तु अर्थ का मुहताज नहीं। वह अर्थ को काफी पीछे फेंक कर अपने को खोया हुआ सा आगे बढ़ता है और अर्थों के अस्तित्व की तरह उसका आनन्द सीमा-रहित होता जाता है। इन्हीं दोनों मिलकर जगत को जो कुछ दिया है उसे हम साहित्य कहते हैं।'[1]

इस अवतरण में विचार की सुस्पष्टता द्रष्टव्य है। लेखक जगत और साहित्य में सम्बन्ध स्थापित कर रहा है। सामान्यतः माना जाता है कि साहित्य जगत के पीछे चलता है। परन्तु यहाँ लेखक इसके विपरीत कहता है कि जगत् साहित्य के पीछे अनिवार्य रूप से चला जा रहा है। वह साहित्य को अनुभूति का कोश मानता है। ज्ञान की सीमा है, परन्तु अनुभव की कोई सीमा नहीं। ज्ञान और अनुभूति दोनों मिल कर साहित्य की रचना होती है और साहित्य के माध्यम से अथवा ज्ञान और

१. माखनलाल चतुर्वेदी : चिन्तक की लाचारी' (१९६५-प्रथम), पृ० १४८

अनुभूति के माध्यम से हमें जो कुछ दिखलाई पड़ता है वह जगत् है। अर्थ से आगे बढ़कर जब हम अस्तित्व के आनन्द की ओर बढ़ते हैं तभी हम साहित्य की सृष्टि करते हैं। निश्चय ही यह विचार-धारा मौलिक विचार-धारा है, परन्तु वह प्रज्ञात्मक और अनुभूतिजन्य है। लेखक ने बड़ी सतर्कता से अपने विचार का निर्माण किया। यह उसके चिन्तन की स्वाभाविक शैली है। हिन्दी का प्राकृतरूप हमें यहाँ दिखलाई पड़ता है, क्योंकि पन्त जी की भाषा की तरह यहाँ तत्सम शब्दों की प्रधानता नहीं है। 'बाजार', 'आवाज', 'मुहताज' आदि फारसी शब्दों का स्वाभाविक रूप से प्रयोग हुआ है। लेखक तुलसीदास की एक उक्ति का उद्धरण देकर अपनी बात को प्रामाणिक भी बना देता है। परन्तु माखन लाल चतुर्वेदी बड़े भावुक कवि हैं और वे विशुद्ध विचार पर बहुत देर तक टिक नहीं सकते। उनके लिए भावनापक्षी भाषा और चित्रात्मक सूझ-बूझ सुगम और स्वाभाविक वस्तुयें हैं। इस ग्रंथ के दूसरे अवतरण में हम उनकी भावना-प्रधान चित्रमयी, अनुभूति-प्राण भाषा का नमूना पा सकते हैं। अवतरण इस प्रकार है –

'आत्मप्रकटीकरण की वेदना, कभी-कभी मरण वेदना से भी कठोर होती है— लेखक की इस बेबसी को दुनिया का अजब बाजार अनुभव नहीं करता। मजमा, भीड़-भाड़, ऐसों के लिए मृत्यु है। एकांत उसका जीवन है। आत्मप्रकटीकरण की भूख जिन्हें होती है, उनका एकांत अस्तित्वों की बस्ती होता है। उस समय वे जरा सा भी आक्रमण बरदाश्त नहीं कर सकते। करुण वेदना के आँसू, जिस बे-अवसर की ओर बेहद पूछताछ से रुक जाते हैं, और हृदय के बोझ बन कर बावला कर देते हैं, उसी तरह, जब मैं अपने आपको सम्पूर्ण कलम या स्वर पर उतार रहा होऊँ, तब मेरे स्वर पर चाकू लेकर दौड़ने वाले हाथ को देखकर मेरा सम्पूर्ण अपनापन, मेरे स्वर पर उतरते समय रुक जाता है। हाँ, उसके बाहर उतर चुकने के पश्चात मनमानी शस्त्र क्रिया हो, मुझे चिन्ता नहीं। जब मैं देखता हूँ कि आप फलों को छील या तराश कर ही खाते है तब मैं अपने पर की जाने वाली तराश से चिन्तित क्यों होऊँ? किन्तु यह तराश उस समय नहीं शोभती, जब वृक्षों की टहनियों पर प्रकृति की अप्रत्यक्ष उँगलियों से फल बनते चले आ रहे हैं। फूलों के खिलते समय आप उन पर चाकू और कैंची लेकर न दौड़ें। जब वह पूरे खिल चुकें, फिर आप उन्हें लेकर पैरों तले रौंदे, तोड़ें-मरोड़े या उनकी पूजा करें। आप स्वतन्त्र हैं।'[१]

यहाँ अन्तिम पंक्तियों में लेखक एकदम भावुक बन जाता है। वह यह कहना चाहता है कि आत्माभिव्यंजना के क्षण सृजन के मुग्ध क्षण होते हैं। उस समय कवि या लेखक एकांत मे जीता है और यह नहीं चाहता है कि कोई उसकी बाधा बने।

१- माखनलाल चतुर्वेदी · चिंतक की लाचारी (१९६५ प्रथम)· पृष्ठ २१-२२

सृजन की स्थिति में रचनाकार को थोड़ी-सी भी आलोचना असह्य है। लिखी जा चुकने पर रचना कठोर-से-कठोर समीक्षा का विषय बन सकती है, परन्तु इससे पहले नहीं। यह आवश्यक है कि रचनाकार आत्माभिव्यंजना की वेदना निःसंग सहे और उसका एकान्त सुरक्षित रहे। इस बात को स्पष्ट करने के लिए लेखक वनस्पति-जगत से अपना उदाहरण देता है और बड़े विस्तार से मानवता के साथ अपनी बात को पुष्ट करता है, जहाँ चिन्तन अनुभूति की उँगली पकड़ कर चलता है और विचार मार्मिक तथा प्रभावशील बन जाता है। परन्तु विचार का एक और आयाम भी है। यहाँ विचार, 'विचार नहीं रहेगा। वह एक खेल बन जाता है। वह बहुत कुछ आत्माभिव्यंजना का रूप धारण कर लेता है। यह आत्म-चिन्तन भाषा का सहारा खोजता है और यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, अनुप्रास, उपमा, विशेषण-विपर्यय आदि का सहारा लेता है तथा श्रोता के मन को बराबर आन्दोलित बनाये रखता है। सामान्यतः विचार-धारणात्मक होता है। उसमें कर्मशीलता का गुंजाइश नहीं रहती। वह स्वयं अपने में सिद्धि है। परन्तु भावुक कलाकार अपनी रचना को इतना अनुप्रेरक बना सकता है कि कर्म-सौन्दर्य की छटा उसमें आ जाय। 'चिन्तक की लाचारी' में ही ऐसा प्रसङ्ग आया है जहाँ लेखक स्वयं अपनी साहित्य-सेवा को लेकर आत्मचिन्तन करता है। वह कहना चाहता है कि उसने कोई सेवा नहीं की। उसने युग की लाचारियों का ही स्नेह समर्पण किया है। उद्धरण इस प्रकार है—

'मैंने साहित्य की सेवा की ? मैंने कौन-सी सेवा की ? अपनी उमङ्गों की लाचारियों में 'तड़प उठना' इसने मुझे सेवा के एहसानों से लाद दिया। मैं लिखे बिना रह ही नहीं सकता था अतः लिखता गया और जो छप गया है। उससे अधिक बिना छपा जो कूड़ा-कर्कट पड़ा है, वह क्या तिथियों बँधा इतिहास है ? घटनाओं-बँधा जन-जीवन है ? परिस्थितियों बँधा आविष्कार है ? शोधों बँधा अनन्त भूतकाल है ? जी नहीं, यह सब कुछ नहीं, युग की लाचारियाँ हैं जो रीझ उठीं तो स्नेह और समर्पण कहला गयीं और खीझ उठीं तो विद्रोह कहला उठीं। विकारों के संस्कार। जब तक जन-जीवन नियन्त्रणकारी साहित्य बनते रहेंगे और जब तक उनमें प्राकृतिक, मानव-प्रकृति और मानव-सूझें ज्यों की त्यों उतरती रहेंगी तब तक अपनी सूरत पर आप फ़िदा होने वाले प्रेमी की तरह मानव, कला और साहित्यकार ठगा रहेगा, बिका रहेगा। अस्पष्ट को पूजने की इसी भावना के भ्रम में यदि आप मुझपर पुष्प उठाकर ले दौड़े तो प्रभु, आप यह मेरा अपराध न मानिये।

साहित्य सेवा ? कला का बड़ा अटपटा स्वभाव है। मूर्ति और चित्र को देखिये ऐसी भाषा में लिखे हैं कि दुनिया के किसी कोने में उन्हें भेजिये सभी पढ़ लेंगे। चित्र में आया हुआ बछड़ा और मूर्ति पर उतरी हुई करुण-विह्वल नारी किसी देश में ले

जाइये, सब पढ़ लेंगे सब समझ लेंगे।

संगीत और नृत्य की लीजिये, काव्य का वह क्रियाओं पर उतरना, रस, सयम और सूझ की त्रिवेणी का गालों पर, भुजाओं पर, चरणों पर, लीला और लहर के साथ संगीत की भावनाओं में घुलकर ताल की तरंगों पर यों उतर पड़ना, बस देखिये कि जिस देश के संगीत पर नृत्य और गान को समझने और गदगद होने की आनन्दमयी पहचान उतर पड़ी है। राष्ट्र की सीमा तक इसका कोई दलील नहीं चाहिये कि इसे लोगों तक पहुँचाये, इसकी कोई दलील नहीं चाहिये कि लोग गदगद हो उठें।'[1]

पिछले तीनों अवतरण विचार के तीन सोपानों को सामने रखते हैं। पहला सोपान विशुद्ध ज्ञानात्मक है, दूसरे में ज्ञान और भावना (इच्छा) का सुन्दर समन्वय है और तीसरे में ज्ञान, इच्छा और कर्म तीनों एकात्म बन गये हैं। विशुद्ध चिन्तन के क्षण अधिक नहीं होते और ज्ञान के एकांत शिखरों पर अधिक देर टिका नहीं जा सकता। इसीलिये गद्य-शैलीकार उसमें इच्छा और कर्म के आयामों का समावेश कर देता है और उसकी रचना में एक प्रकार की मांसलता आ जाती है। विचार की दृष्टि से उसने जो खोया है, संवेदना की दृष्टि से उसने उससे अधिक पा लिया है।

ऊपर हमने युग के तीन श्रेष्ठ कवियों के गद्य-अवतरणों पर विचार किया है, परन्तु कवि प्रतिनिधि गद्यकार नहीं होता। इसलिये हमें ऐसे लेखकों की ओर मुड़ना पड़ता है जो मात्र गद्यकार हैं और जिनकी साधना गद्य के क्षेत्र तक ही सीमित है। ऐसे लेखकों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र और डॉ० देवराज मुख्य हैं। वे सब उत्कृष्ट कोटि के समीक्षक हैं और इसी क्षेत्र मे उनकी देन सबसे महत्वपूर्ण मानी जायगी। शैलीकार के रूप में भी उनका महत्व कम नही है क्योंकि उन्होंने अपने साहित्य विषयक चिन्तन को सर्वाधिक उपयुक्त भाषा देने का प्रयत्न किया है। विचारात्मक गद्य की भाषा-शैली का अत्युत्कृष्ट साहित्य-रूप हमें इन्हीं आलोचकों की रचना में मिलता है।

आचार्य वाजपेयी जी के आलोचनात्मक निबन्धों में ऐसे बहुत कम हैं जिनमें अनुभूति और भावना का समावेश हो। वे अविकल: बौद्धिक धरातल पर ही बने रहते है और तर्क की शृंखलाओं को आगे बढ़ाते हुए चलते हैं। उनकी गद्य-शैली में विचार सक्षम और सजीव हो उठता है। परन्तु जहाँ उनकी शैली विचारों से आक्रान्त होने लगती है वहाँ वह पाठक पर बोझिल बन जाती है अथवा जहाँ उनका चिन्तन विशुद्ध विचार की भूमिका को छोड़कर वाद-विवाद की दलदलों में फँस जाता है वहाँ उसका पूर्ण उत्कर्ष सामने नहीं आता। उनके भावुक गद्य के अवतरण 'प्रसाद की एक झलक' तथा 'यदि

---

१ माखन लाल चतुर्वेदी चिन्तक की लाचारी (१९६५ प्रथम पृ० ३३

'मालविका बोल पाती' शीर्षक निबन्धों से प्राप्त हो सकते हैं। 'यदि मालविका बोल पाती' की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'यदि मालविका बोल पाती' तो मेरे विचार से वह कुछ इस प्रकार से कहती—मैं जानती हूँ, नाटककार के समक्ष मैं ही नहीं थी, अन्य अनेक पात्र-पात्रियाँ और समस्याएँ भी थीं। उन सबके बीच में उसने मेरी उपेक्षा नहीं की है, मुझे समादर का स्थान दिया है। उसने मेरे व्यक्तित्व को केवल शब्दों और संवादों द्वारा ही नहीं, वातावरण के आग्रहों, रंगमंच की व्यंजनाओं और अभिनय कला के संकेतों द्वारा भी प्रकट किया है। यत्र-तत्र मेरी एकाध चरित्र-रेखा बिना व्यक्त हुए रह गई है, परन्तु जितनी भी वह व्यक्त हुई है, उतने से भी मुझे सन्तोष है। मैं इतनी महत्वाकांक्षिणी नहीं हूँ कि प्रत्येक अवसर पर मुझे प्रमुखतम स्थान ही अभीष्ट हो। लोग कह सकते हैं कि मैंने नायक चन्द्रगुप्त के प्रति गुप्त प्रेम किया और अपने परिणय-अधिकार को स्वाभाविक सीमा तक पहुँचने नहीं दिया। चन्द्रगुप्त से विवाह की माँग नहीं की, परन्तु उन लोगों से मैं कहूँगी कि उनकी दृष्टि एकांगी है। वे यह नहीं देख पाते कि विवाह न करके मुझे जो गौरव मिला है, वह विवाह करने पर कदाचित् न मिल पाता और भी कुछ लोग हैं, जो कहेंगे कि मुझे चन्द्रगुप्त के लिए अपने प्राण देने पड़े और वह भी बिना किसी प्रकार के प्रतिदान के। ऐसे लोगों से मैं यही कहूँगी कि मुझे पूर्व सूचना मिल चुकी थी और मैंने अपने अन्तिम कर्तव्य की पूरी तैयारी कर ली थी। रहा यह कि मेरे मरने के पश्चात् नाटककार ने मेरे आत्म-बलिदान का क्या मूल्य आँका? उसने मेरे लिए कौन-सी श्रद्धांजलि अर्पित की और कौन-सा स्मारक बनवाया? इसके उत्तर मे मैं इतना ही कहूँगी कि श्रद्धांजलि मुझे मिली है, यथेष्ट मिली है, और मेरे स्मारक भी बने हैं, एक नहीं अनेक। चन्द्रगुप्त नाटक के प्रत्येक पाठक और प्रत्येक दर्शक के हृदय में मेरा स्मारक मौजूद है। स्वयं नाटककार प्रसाद के हृदय में भी मेरे लिए मर्मपूर्ण स्थान है।'[1]

यहाँ लेखक मालविका की भूमिका पर से अपने विचार और चिन्तन को अग्रसर कर रहा है। साधारणतः कहा जाता है कि नाटककार जयशंकर 'प्रसाद' ने अपने 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चन्द्रगुप्त की प्रेमिका मालविका के प्रति न्याय नहीं किया। परन्तु यहाँ मालविका अपनी भूमिका से पूर्णतः सन्तुष्ट है। मालविका के मुख से लेखक 'प्रसाद' के विरोधियों को उत्तर दे रहा है। परन्तु यहाँ उसने वाद-प्रतिवाद की शैली छोड़ दी है और मालविका के जीवन-प्रसंगों के आधार पर कल्पना को ही अपनी विवेचना का मुख्य आधार बनाया है।

---

१. नन्ददुलारे बाजपेयी : 'जयशंकर प्रसाद' (१९६२, द्वितीय), पृ० १२६।

वाजपेयी जी ने अपने साहित्य का आरम्भ पत्रकार और सम्पादक के रूप में किया। पत्रकार और पत्र-सम्पादक बहुधा विवादग्रस्त हो जाते हैं। वे जिस साहित्य की सृष्टि करते हैं वह सक्रिय साहित्य (लिट्रेचर ऐंगेज) होता है, जो पक्ष-विपक्ष की भावना लेकर चलता है। स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष का विरोध उसकी विशेषता है। उसमें प्रश्न, व्यंग्य, विनोद और आक्रोश का पर्याप्त अवकाश रहता है। उसमें विशुद्ध विचार की गरिमा भले ही न हो, चुनौती और द्वन्द्व के कारण सजीवता और सप्राणता अवश्य रहती है। उदाहरण के रूप में हम वाजपेयी जी का यह गद्य-अवतरण ले सकते हैं जो उनकी रचना 'महाकवि सूरदास' (१९५८) से उद्धृत है। परन्तु मूल रूप में यह रचना १९३१ में साप्ताहिक 'भारत' के सम्पादकीय के रूप में प्रकाशित हुई थी। उन दिनों विद्वानों की समीक्षा और चर्चा का विषय पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी का एक लेख था, जिसका शीर्षक था 'राधा स्वकीया है या परकीया ?' लेखक ने तिवारी जी के इस विचार का विरोध किया था कि राधा परकीया है। अवतरण में वाद-विवाद और पक्ष-स्थापन की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। उनकी भाषा भी चलती हुई बोल-चाल की भाषा है, जो पत्रकार के लिए आवश्यक है।

'मुझे रामानुजाचार्य और मिस मेया के बीच भटकने की कोई आवश्यकता न थी, यदि तिवारी जी दो शब्दों में ही लिख देते कि पुराणों और भागवत आदि के सम्बन्ध में उनका मत उनकी निजी कल्पना का परिणाम है। और रामानुज का नाम उन्होंने व्यर्थ ही लिया। स्वामी दयानन्द पुराणों को वेद-विरुद्ध और बुढ़िया-पुराण आदि की संज्ञा दिया करते थे। आर्य समाज के हजारों अनुयायी आज भी उनके शब्दों को दुहराया करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीयुत वेंकटेशनारायण तिवारी भी उसी बात को दुहराते हैं। परन्तु उनमें स्वामी जी की सी सदाशयता नहीं है। स्वामी दयानन्द कोई ऐसे व्यक्ति न थे, जिनका नाम लेने में किसी को संकोच हो। वह एक विद्वान पुरुष थे। वे भारतीय संस्कृति और वेदों के महान प्रशंसक और उपदेष्टा थे। वैदिक संस्कृति का प्रचार उनके जीवन का एक विशेष लक्ष्य था, जिसे उन्होंने यथाशक्ति पूरा किया। उनमें संघटन की इतनी शक्ति थी कि उन्होंने आर्य-समाज की स्थापना की, जो आज भी एक जीती-जागती संस्था है। ईसाई और इस्लाम मत के प्रचारकों के विरुद्ध स्वामी जी ने हिन्दुओं की ओर से लोहा लिया और उन्हीं के मैदान में उन्हीं के अस्त्रों से सफलता-पूर्वक सामना किया। स्वामी जी एक युद्धप्रिय व्यक्ति थे। उन्होंने एक विशेष अवसर पर अपने बुद्धिवादी विचारों को भारतीय जनता के समक्ष रखा और उससे एक विशेष प्रयोजन की सिद्धि की। वे भारतीय धर्म की रहस्यवादी परम्परा को अपने उद्देश्य के अनुकूल नहीं पाते थे। परन्तु तिवारी जी के सम्मुख कौन-सी समस्या

थी ?'[1] इस अवतरण के समकक्ष हम वाजपेयी जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' से एक दूसरा अवतरण देते हैं, जिसमें उन्होंने रसवाद की व्याख्या करते हुए भारतीय आध्यात्मिकता की ऐतिहासिक परम्परा पर विचार किया है। उदाहरण—

'निर्गुण निराकार ही आध्यात्मिक दार्शनिकता की चरम कोटि है। एक अखंड, अव्यय चेतन तत्व जिसमें त्रिकाल में भी कोई भेद किसी प्रकार सम्भव नहीं, जिस चिर-स्थिर आत्मतत्व के अविचल गौरव में संसार की उच्चतम अनुभूतियाँ भी मरीचिका-सी प्रतीत होती हैं, वह परिपूर्ण आह्लाद जिसमें स्मित-तरंगों के लिये कोई अवकाश नहीं, रहस्यवाद का सर्वोच्च निरूप्य है। इसके ओजस्वी निरूपण उपनिषदों के जैसे और कहीं नहीं मिलते। आगे चलकर इसकी महामहिमा का क्षय होने लगा, इसमें विरह के कमजोर अंग जुड़ने लगे और क्रमश. यह वैराग्यमूलक करुण साधनाओं का अधिष्ठान बना दिया गया। काव्य में जब तक इसका सांकेतिक स्वरूप रहा तब तक यह अधिक विकृत नहीं हुआ था (उदाहरणार्थ आरंभिक बौद्ध-साहित्य में), किन्तु जब इसमें साम्प्रदायिक शब्दावली प्रवेश करने लगी और इड़ा-पिंगला आदि की चर्चा बढ़ गयी तब काव्य-दृष्टि से इसका ह्रास होने लगा। कबीर की चमत्कारपूर्ण प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि के फलस्वरूप एक बार फिर यह अक्षर तत्व प्रकाश में आया किन्तु इस बार यह उतना ओजस्वी और महिमामय नहीं था। कारण, इस बार प्रतिस्पर्धिनी माया भी दलबल सहित उपस्थित थी। कबीर से आगे बढ़ने पर मायारानी की छाया भी काव्य में जोर पकड़ने लगी और क्रमशः अक्षर की सत्ता असंख्याक्षरों की अन्तिम सीमा पर जा पहुँची। जहाँ आरम्भ में भेदों की अस्वीकृति इष्ट थी वहाँ अन्त में भेदों का प्राबल्य ही प्रमुख बन गया। ऐसी अवस्था में निश्चल आध्यात्म सत्ता अपने पूर्व गौरव में कैसे स्थिर रहती ?'[2] यहाँ उनकी भाषा पूर्णतः सैद्धान्तिक और शास्त्रीय है। धर्म और दर्शन सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली का सुन्दर और सार्थक रूप से उपयुक्त हुआ है और लेखक की अनामिक ऐतिहासिक दृष्टि स्पष्ट रूप से उभड़कर सामने आ जाती है। इस अवतरण में लेखक ने अपनी भाषा-शैली की विशुद्धता बनाये रखी है। फ़ारसी-उर्दू का एक भी शब्द नहीं आया है। तात्पर्य यह है कि यह भाषा खड़ी बोली की उर्दू-शैली से बिलकुल विपरीत है। जिस सांस्कृतिक विषय का निरूपण लेखक करना चाहता था उसके लिये यही भाषा-शैली सबसे अधिक उपयुक्त थी।

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : महाकवि सूरदास (१९५८, प्रथम संस्करण), पृ० ११५-११६।

२. नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी पृ० १६२-१६३।

वाजपेयी जी की भाषा का सर्वोच्च शिखर वहाँ मिलता है जहाँ वे परम्परागत साहित्यिक अथवा ऐतिहासिक विषयों से हटकर साहित्य-रचना-सम्बन्धी विषयों पर मौलिक दृष्टि डालते हैं। जहाँ वे स्थिरतापूर्वक अपने विषय को पकड़ते हैं वहाँ उनका वैचारिक तेज उनकी रचना को एकदम सुनिश्चित और प्रामाणिक बना देता है। वहाँ वे अपने चिन्तन से एकाएक बन जाते हैं। यह चिन्तक की भावगत अथवा विचारगत समाधि की सर्वोपरि स्थिति है। निम्न अवतरण वाजपेयी जी के एक अत्यन्त श्रेष्ठ निबन्ध 'काव्य का प्रयोजन आत्मानुभूति' से लिया गया है। इसमें उन्होंने अनुभूति के स्वरूप और उसकी सामाजिक उपयोगिता पर विचार किया है। अवतरण इस प्रकार है—'अनुभूति का स्वरूप और समस्त काव्य-साहित्य में उसकी व्यापकता दिखाने का जो प्रयत्न किया गया, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति स्वत: एक अखंड आत्मिक व्यापार है, जिसे किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक खंड-व्यापार या वाद से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। समस्त साहित्य में इस अनुभूति या आत्मिक व्यापार का प्रसार रहता है। काव्य के अनन्त भेद हो सकते हैं, उसके निर्माण में असंख्य सामाजिक या सांस्कृतिक परिस्थितियों का योग हो सकता है, परन्तु उसका काव्यत्व तो उसकी सर्वसंवेद्य अनुभूति-प्रवणता में ही रहेगा। किसी महा-महिम उपदेशक की रचना भी काव्य-दृष्टि से नि:सार हो सकती है और किसी क्षुद्रतम जीव की चार पंक्तियाँ भी काव्य का अनुपम श्रृंगार हो सकती है। वर्ग संघर्ष की भावना किसी युग में काव्य-प्रेरणा का कारण हो सकती है, परन्तु वह भावना काव्यानुभूति का स्थान नहीं ले सकती, जो काव्य-साहित्य की मूल आत्मा है। काव्य का प्रयोजन मनोरंजन अथवा सामाजिक वैषम्य से दूर भागना अथवा पलायन भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी अवस्था में आत्मानुभूति के प्रकाशन का पूरा अवसर रचयिता को नहीं मिल सकेगा, उसकी रचना अधूरी और अपंग रहेगी। इसी प्रकार स्थूल इन्द्रियता पर आधारित अनुभूति भी श्रेष्ठ काव्यत्व में परिणत नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ आत्मा-नुभूति के प्रकाशन में विकारी कारण मौजूद रहेंगे। कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करने वाली आत्मप्रेरणा ही काव्यानुभूति बनकर उस कल्पना-व्यापार का संचालन करती है, जिससे काव्य बनता है। काव्य और कला की मुखर वर्णमयता में, समस्त वर्ण-भेद, वर्ग-भेद और वाद-भेद तिरोहित हो जाते हैं। मानव-कल्याण का यह अनुभूति-लोक नित्य और शाश्वत है। चिरंतन विकास की सरिता इसे चिरकाल से सींचती आ रही है और चिरकाल तक सींचती जायगी।'[1]

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी : 'आधुनिक साहित्य' (संवत् २०१३—द्वितीय संस्करण पृ० ४७१

ऊपर के अवतरणों से यह सिद्ध होता है कि विचारात्मक गद्य के साहित्यिक स्वरूप के निर्माण में आचार्य वाजपेयी जी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्य वाद-विवाद से आरम्भ होकर उनकी शैली साहित्य और साधना के सन्दर्भ में भारतीय परम्परा और उसकी भाषा-शैली से पुष्ट होती हुई आगे बढ़ती है और अन्त में विचारक और शैली इतने पास-पास आ जाते हैं कि एक के बिना दूसरे की कल्पना भी असम्भव है। आचार्य वाजपेयी जी के आलोचक और शैलीकार के विकास में हमें पिछले चालीस वर्षों के हिन्दी गद्य विकास की एक संक्षिप्त रूपरेखा मिल जाती है और यह सिद्ध हो जाता है कि आधुनिक मनीषा द्विवेदी युग की नीतिपरक और ज्ञान विजलित या विगलित भाषा-शैली से बाहर निकलकर बड़े साहस से आधुनिक चिन्तन के क्षेत्र मे प्रवेश करती है। द्विवेदी की आलोचना की भाषा का सर्वश्रेष्ठ मानदण्ड आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाषा थी। परन्तु पाण्डित्य का आतंक ही अधिक था और वह संस्कृत शब्दावली से बोझिल हो गयी थी। वाजपेयी जी ने उसे आधुनिकता दी। विचार की गम्भीरता को अक्षुण्ण रखते हुए भी उन्होंने भाषा को सरल प्रसादपूर्ण बनाया। अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली को हिन्दी में ढाल कर उन्होंने हिन्दी समीक्षा के लिए एक स्वतन्त्र और समर्थ शब्दकोश का निर्माण किया। उन्होंने भावुकता और रसात्मकता से चिन्तन की भाषा का पल्ला छुड़ाया है और उसे एकान्त बौद्धिक उत्कर्ष का ऐश्वर्य प्रदान कर दिया। जहाँ तक विचारात्मक और सैद्धान्तिक समीक्षा का सम्बन्ध है, उनकी प्रतिभा अतुलनीय है और उसी के अनुरूप उन्होंने अपनी स्वतंत्र और सक्षम भाषा-शैली का निर्माण किया है।

समीक्षा का क्षेत्र में लगभग उतना ही महत्व आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का है। जहाँ आचार्य वाजपेयी जी स्वच्छन्दतावादी अथवा सौष्ठववादी समीक्षक माने जाते है वहाँ आचार्य द्विवेदी मानवतावादी अथवा सांस्कृतिक समीक्षक हैं। अपने-अपने क्षेत्रो मे दोनों अद्वितीय हैं और दोनों की शैलियाँ उनके साहित्यिक दृष्टिकोण और विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करती हैं। द्विवेदी जी ने भारतीय इतिहास और संस्कृति के विश्लेषण दी है और वर्षों अध्यापक के रूप में शान्ति-निकेतन में महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के सम्पर्क में रहे हैं। उनकी भाषा-शैली में जहाँ एक ओर अध्यापक की सुस्पष्टता है, वहाँ दूसरी ओर आदर्शवादी और भावुकप्राण कलाकार की सजीवता है। वे छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते हैं, विशेष रूप से जहाँ उन्हें साहित्य के स्वरूपों अथवा सिद्धान्तों की व्याख्या करनी होती है। उदाहरण के लिए 'साहित्य सहचर' (१९६५) का यह अवतरण लिया जा सकता है—

'साहित्य प्रभावशाली होकर सफल होता है। साहित्य प्रकाश का रूपान्तर है। कुछ आग केवल आँच पैदा करती है जीवन के लिए उसकी भी ... ता होती है

हमारे स्थूल जीवन के अनेक पहलू हैं। हमें नाना शास्त्रों की जरूरत होती है। परन्तु दीपशिखा स्थूल प्रयोजनों के लिए व्यवहृत होने योग्य आँच नहीं देती। वह प्रकाश देती है। साहित्यकार जो कहानी लेता है, जिन जीवन-परिस्थितियों की उद्‌भावना करता है वह दीप-शिखा के समान आँच के लिए नहीं होती, बल्कि प्रकाश के लिए होती है। प्रभाव ही वह प्रकाश है। समूचे बाज़ार की ब्योरेवार घटनाएँ भी वह प्रभाव नही उत्पन्न कर सकतीं, जो एक-दो चरित्रों को ठीक से चित्रित करके उत्पन्न किया जा सकता है। उसी प्रकार जिस प्रकार बहुत-सी लकड़ियाँ जलकर भी उतना प्रकाश नहीं उत्पन्न कर पातीं जितना एक छोटी-सी मोमबत्ती कर देती है। संसार के बड़े-बड़े साहित्यकारो ने यथार्थवादी कौशलों को इसीलिए अपनाया था कि उनके सहारे वे पाठक को अपने नज़दीक ले आते थे और उसके चित्त में यह विश्वास पैदा करते थे कि लेखक उनसे कुछ भी छिपा नहीं रहा है। यही बात मुख्य नहीं हुआ करती। परन्तु बाद के अनुकरण करने वालों ने उन कौशलों को ही लक्ष्य समझ लिया।''[1]

परन्तु जहाँ लेखक गम्भीर विषयों में उतरता है और साहित्य के सामान्य विद्यार्थियों की बात छोड़कर विशेष अध्येताओं और पण्डितों को ध्यान में रखता है, वहाँ उसकी भाषा-शैली कहीं अधिक गम्भीर और मार्मिक बन जाती है। ऐसी स्थिति में उसमे सस्कृत शब्दों के अनुपात की वृद्धि हो जाती है और लेखक संस्कृत के सारे साहित्य को मथकर ऐसे शब्दों और प्रयोगों का उपयोग करता है जो सांस्कृतिक अभिनिवेश की सृष्टि कर देते हैं। संस्कृत शब्दों के व्युत्पत्तिमूलक और अत्यन्त सशक्त प्रयोग हमें आचार्य द्विवेदी जी में मिलेंगे। वैदिक ऋचाओं से लेकर महाकवि रवीन्द्रनाथ के काव्य तक विशाल-साहित्य का उद्धरणों के रूप में लेखक ने उपयोग किया है, जो उनकी रचना को अत्यन्त मार्मिक बना देते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी का सांस्कृतिक व्यक्तित्व ही उनकी शैली बन गया है। मध्ययुग के संत कवियों की जैसी सरलता और सजीवता उनकी शैली का आकर्षण है। उनकी सम्पन्न सांस्कृतिकता और वैचारिक गाम्भीर्य का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमें उनकी 'कबीर' शीर्षक रचना में मिलेगा जो कदाचित् उनको सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जायगी। धर्म, अध्यात्म, इतिहास, संस्कृति आचार्य द्विवेदी के प्रिय विषय हैं और इनके सन्दर्भ से वे साहित्य को बराबर पुष्ट करते चलते हैं। विषय के अनुरूप उनकी भाषा-शैली बदलती रहती है। 'कबीर' और 'कालिदास' दोनों उन्हें समान रूप से सुलभ हैं। 'कालिदास की लालित्य-योजना' (१९६५) की ये पंक्तियाँ हमारे मन्तव्य के प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं :

---

१ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'साहित्य-सहचर' (१९६५, प्रथम संस्करण पृ० २०

'सौन्दर्य केवल चाक्षुष विषय नहीं है। उसकी स्वीकृति चेतना के विभिन्न स्तरों पर अपेक्षित होती है। सब बात वाणी से ही नही कही जाती। पर जो भी तत्व कुछ अर्थ प्रकट करे उसे 'वाक् या 'वचन' कहा जा सकता है। वाक् या वचन वह है जो अर्थ सूचित करे। मालविका ने भाव-मनोहर नृत्य किया था। उसके अंगों के संचालन से गीत का अर्थ स्पष्ट हुआ था। कालिदास ने इन अंगों को 'अन्तर्निहित वचन' कहा है। जो बोलते तो नहीं पर सारे अर्थ सूचित कर देते हैं, वचन जिनमें भीतर ही भीतर छिपा हुआ है। जो कुछ अभिव्यक्ति का माध्यम है वह वाक् है और जो कुछ भी इस अर्थ से प्रकाश्य है वह अर्थ है। वाक् और अर्थ अभिव्यक्ति के माध्यम और विषय हैं। संसार में जो कुछ दिख रहा है वह कुछ-न-कुछ अभिव्यक्त करता है। यह सारा संसार ही यहाँ देवता का रचित काव्य है। वैदिक ऋषि ने कहा था—'पश्य देवस्य काव्यं न बिभेति न ऋृव्यति' सो वाक् का प्रयोग बड़े विस्तृत अर्थ में किया गया है। नृत्य, नाटक, चित्र, मूर्ति, वस्तु यहाँ तक कि सारा विश्व वाक् है और इसीसे अभिव्यक्त अर्थ अपनी शक्ति के अनुसार हम ग्रहण कर रहे हैं। सारा विश्व वाक् और अर्थ की सम्पृक्तता की लीला है। पार्वती शिव की लीला-सखी हैं। यह लोकरचना उनकी क्रीड़ा है, चिन्मय शिव उनके सखा हैं, सदानन्द उनका आहार और वाक् और अर्थ की आश्रयभूमि सज्जनहृदय ही उनका निवास है—

> क्रीडाति लोकरचना सखा ते चिन्मयः शिव ?
> आहारस्ते सदानन्दो वासस्ते हृदयं सताम् ।।'[1]

—ललिता सहस्रनाम

यहाँ विषय शृंगारिक है। परन्तु लेखक वैदिक ऋषि और तंत्र से उद्धरण देकर उसे अधिक व्यापक पृष्ठभूमि प्रदान करता है।

आचार्य द्विवेदी उपन्यासकार भी हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु-चन्द्रलेख' उनके दो विशिष्ट सांस्कृतिक उपन्यास हैं। उनकी भाषा-शैली की अत्यन्त महत्वपूर्ण भंगिमा हमें इन उपन्यासों में मिलेगी। यहाँ वे सांस्कृतिक विचारक ही नहीं है स्वतन्त्र स्रष्टा भी है। 'चारु चन्द्रलेख' (१९६३) से उद्धृत ये पंक्तियाँ यह सिद्ध कर सकती हैं कि आचार्य द्विवेदी ताम्बूल-जैसी छोटी सी वस्तु को लेकर तन्त्र में उसके उपयोग की बात कहकर किस चातुर्य और पांडित्य से उसे श्रीचक्र का प्रतीक बना देते है। उनकी वाणी में प्राचीन भारत असंदिग्ध रूप से बोल उठता है। अवतरण इस प्रकार है

'भगवती ने प्रसन्नता प्रकट की। उनके मुख से असन्तोष का भाव प्रकट हुआ।

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'कालिदास की लालित्य योजना' (१९६५ प्र०) पृ० ९० ९१

बोलीं—'यह जो ताम्बूल है न बेटा, यह शिव और शक्ति का युक्त प्रत्यक्ष विग्रह है। यह गृहस्थ धर्म का साक्षात् रूप है। भगवान को जब लीला-विस्तार की इच्छा हुई तो उनके ज्ञानमय चिन्मय वपु ने दो दिशाओं में चलकर रूप-परिग्रह किया। एक तो उनकी विलास-लीला इच्छा के रूप में और दूसरी क्रिया के रूप में अभिव्यक्त हुई। यही कारण है कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया रूप में यह जगत त्रिधा-विभक्त है। त्रिधा-विभक्त होने की सामर्थ्य रखनेवाली इसी शक्ति को कोई आद्याशक्ति, कोई त्रिपुरा, कोई सीता, कोई महामाया कहता है। बात एक ही है। नाम उसके बहुत हो सकते हैं, तत्व एक ही है। ज्ञान से निकली हुई दो शाखाएँ–इच्छा और क्रिया–यही अधोमुख त्रिकोण है। यही ऊर्ध्वशाखा अधोमूल अश्वत्थ है, यही त्रिगुणात्मक जगत है। इसमें ज्ञान नीचे की ओर पड़ा हुआ है।

'पान के पत्ते में यही त्रिकोण दिखाई देता है। कह सकते हो कि यह मायिक जगत का एक छोटा सा प्रतिमान है। यह उस शक्ति का प्रतीक है जिसने स्थूल जगत में नारी कलेवर धारण किया है और यह जो पूगीफल है, जो नीचे से दीर्घ और ऊपर सूक्ष्म होता गया है, वह शिवतत्व है। जब क्रिया और इच्छा दोनों ज्ञान की ओर बढ़ने लगती हैं तो नर-नारी के पिन्ड में–इस स्थूल काया में–चिन्मय शिवतत्व की ज्योति जगती है। शिव और शक्ति की इसी लीला को शक्ति-साधक अधोमुख और ऊर्ध्वमुख त्रिकोण में अंकित श्रीचक्र कहते हैं, बौद्ध साधक वज्र कहते हैं। परन्तु ताम्बूल ही गृहस्थ का श्रीचक्र है। इसमें केवल शिवशक्ति का लीला-विलास ही नहीं उनका तेज भी विन्यस्त है। खदिर राग (कत्था) शक्ति का तेज है, सुधाचूर्ण (चूना) शिवतत्व का तेज है। सो, ताम्बूल-वीटक गृहस्थ को भगवान की आदि सिसृक्षा और समस्त जगद्व्यापी तेजोयाग का स्मरण तो दिलाता ही है, संसार में रहते हुए संसार-चक्र से मुक्त होने के उपाय का भी स्मरण दिलाता है। इसीलिये शास्त्रकार इसे गृहस्थ के लिये परम मंगमय मानते हैं। गृहस्थ की कोई पूजा इसके बिना सफल नहीं मानी जाती।'[1]

सांस्कृतिक विचारक के रूप में हम आचार्य द्विवेदी की गद्य-शैली पर बाद में विचार करेंगे। यहाँ हमें यही कहना है कि उनकी भाषा-शैली धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विषयों का निर्वाह बहुत सुन्दर रूप से कर सकती है।

समीचक के रूप में तीसरे विचारक डॉ० नगेन्द्र हैं जिनका प्रचुर आलोचना साहित्य हमें प्राप्त है। उन्हें मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषणवादी समीक्षक कहा जाता है क्योंकि वे रचना में रचनाकार के अहम् का विस्फोट देखते हैं और उसके

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'चारु चन्द्रलेख' (१९६३) पृ० २८५ २८६

अचेतन मन को प्रधानता देते है। उनकी शैली में अध्यापकीय तत्व अधिक है। सामान्यतः वे गम्भीर विषयों को भी हास्य-विनोद से रंजित कर लोकप्रिय बना देते हैं। उनके संस्कृत के शब्दों के प्रयोग अत्यन्त सार्थक हुआ करते हैं। भाषा का धारा-प्रवाह और प्रांजल स्वरूप हमें उनकी रचनाओं में मिलता है। वे विचार के तारतम्य और निर्वाह को विशेष महत्व देते हैं। उनकी समीक्षाएँ बहुधा व्यावहारिक समीक्षाएँ हैं। परन्तु बीच-बीच में उन्होंने सिद्धांतों का विवेचन भी सुन्दर ढंग से किया है। उनके विचार तर्क-शृङ्खला पर आश्रित रहते हैं और विषय के अनुरूप यह शृंखला छोटा या बड़ी रहती है। उदाहरण के तौर पर उनकी ये पंक्तियाँ ली जा सकती है जिनमे वे राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। हमने एक पूरा अनुच्छेद ले लिया है, जिससे लेखक की तर्क-पद्धति पर प्रकाश पड़ सके—

'इन कविताओं की मूल-भावना है देशभक्ति। देशभक्ति में प्राधान्य तो निस्सन्देह 'उत्साह' का ही है परन्तु उसमें राग का आधार भी वर्तमान है। देशभक्ति व्यक्तिपरक न होकर एक समष्टि-परक भाव है। अर्थात् यह रागमिश्रित उत्साह व्यक्ति के प्रति न होकर समष्टि के प्रति होता है। जब मनुष्य के राग वृत का विस्तार होता है तो वह अपने व्यक्तित्व से परिवार, परिवार से ग्राम-नगर फिर प्रदेश-प्रदेश और इसके आगे विश्व तक व्यापक हो जाता है। यह वास्तव् में स्व का विस्तार ही है, उसका निषेध नहीं है। देशभक्ति में स्व का वृत्त समग्र देश और उसके निवासियों तक विस्तृत हो जाता है। इस विस्तार-प्रक्रिया में राग के साथ उत्साह का मिश्रण भी हो जाता है क्योंकि देशवासियों के प्रति राग का अभिप्राय है उनके कष्टों का निवारण, उनकी सेवा-सहायता, उनके विकास का प्रयत्न और ये सभी उत्साहमूलक क्रियायें हैं। इस प्रकार देशभक्ति में राग उत्साह के साथ मिलकर उदात्त रूप धारण कर लेता है।'[1]

चौथे समीक्षक डॉ० देवराज हैं, जिनके दो प्रसिद्ध समीक्षा-ग्रन्थ 'साहित्य-चिन्ता' (१९५०) और प्रतिक्रिया' (९६६) हैं। इन दोनों से हमने दो अवतरण लिए हैं। पहला अवतरण विरोधात्मक है और उसमें 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' की सीमाएँ बतलायी गयी हैं और दूसरा अवतरण विशुद्ध सैद्धान्तिक चिन्तन। इस दूसरी रचना में लेखक आचार्य वाजपेयी की तरह सन्दर्भ को छोड़कर विशुद्ध चिन्तन के क्षेत्र में उड़ानें भरता है। दोनों अवतरणों से हिन्दी समीक्षा की प्रगतिशीलता और प्रौढ़ता का पता चलता है—

'प्रसादजी की मौलिकता की प्रशंसा की गई है। अवश्य ही उनकी प्रतिभा उद्भावना-शील है। किंतु उद्भावनाकी नूतनता अपनेमें विशेष महत्वपूर्ण नहीं, युग-प्रकाशनका अस्त्र बन कर ही वह महत्वशालिनी होती है। महान कलाकार वह नहीं जो आत्मकेन्द्रित रहता हुआ,

१. डा० नगेन्द्र का लेख 'राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता' हिन्दी साहित्य-संग्रह भाग १ पृ० ११७

निराली या विचित्र बातें कहता है, बल्कि वह जो युग-जीवन की अनदेखी या उपेक्षित शतशः वास्तविकताओंऔर उनके मर्म-सबन्धों की विवृति करता है। महती प्रतिभा अहन्ता के एकान्त में नहीं अपितु विश्व के अशेष विचारकों और मानवता के समस्त शुभ-चिन्तको के बीच अपनी शक्तियों को व्याप्त और समझने प्रकाशित करती है। अन्ततः प्रतिभा काल-विशेष के जीवन को और मानव-कल्याण के लिए नियंत्रित करने का अस्त्र है, व्यक्ति के निरालेपन के विकास और ख्यापन का उपकरण नहीं। बड़ी से बड़ी प्रतिभा को नम्र होना चाहिए और दूसरों के सहयोग का काङ्क्षी, क्योंकि जीवन की जटिलता और विस्तार एक-दो नहीं दस बीस प्रतिभाओं के लिये भी दुराधर्ष और दुरासद है। आज शायद संसार में कोई भी ऐसा चिन्तक नहीं है जो युद्ध के समस्त हेतुओं को जानता हो और उसे रोकने के उपायों का निर्देश कर सकता हो। मनुष्य बड़ा हो सकता है, प्रतिभा महत् और वरेण्य होती है, पर वास्तविकता उनसे महत्तर है, सच यह है कि वास्तविकता के आकलन और नियमन का साधन होने के कारण ही प्रतिभा का मान होता है। 'कामायनी' में हमें युग-जीवन की जटिल परिस्थितियों की स्पष्ट, दृढ़ और मार्मिक चेतना प्रायः कहीं भी उपलब्ध नहीं होती।'[1]

प्रश्न है, शिल्प के विकास और समृद्धि की सन्दर्भ-योजना की अपेक्षा में क्या स्थिति होती है? हमारा उत्तर कुछ यों होगा : 'प्रत्येक रचना में अर्थवत्ता के, कमोवेश-विविक्त किन्तु सम्बद्ध कई सन्दर्भ हो सकते हैं। काव्य-रचना में ध्वनि-संयोजन अपना अलग सन्दर्भ खड़ा करते हैं, छपी दीखने वाली पंक्तियों का विन्यासक्रम अलग प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार के सन्दर्भ व प्रभाव एक-दूसरे में गुँथकर रचनागत सम्पूर्ण रस सम्वेदना को विशेषित व समृद्ध करते हैं। कीट्स की 'नाइटिंगेल' रवीन्द्र की 'उर्वशी' और निराला की 'शक्ति-पूजा' में इस तरह की समृद्धि मिलती है। रचनाकार की सृजन क्रिया द्वारा एक प्रकार की 'अचन सचेतनता' द्वारा नियोजित उच्च कोटियों के प्रभावों के अलावा प्रौढ़ व प्रतिनिधि रचना में एक और सन्दर्भ अनुस्यूत रहता है जिसका सम्बन्ध लेखक की सचेत सृजन-क्रिया से कम, उसके सांस्कृतिक व्यक्तित्व से अधिक होता है, यह सन्दर्भ लेखक के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश अथवा इतिहास का है। इन बड़े सन्दर्भो को प्रतिफलित करती हुई रचना-विशेष (स्थिति, युग) की भूमि से उठती हुई क्रमशः अधिकाधिक सामान्य या सार्वभौमिकता के धरातल पर प्रतिष्ठित होती है। यह भी ठीक है कि हर रचना अनजाने अपने तात्कालिक युग और समाज की संस्कृति का संकेत देती है। किन्तु ज्यादा महत्वपूर्ण रचना युगीन होते हुए भी सार्वकालिक होने का आभास देती है।'[2]

१. डॉ० देवराज : 'साहित्य चिन्ता' (१९५०, प्रथम) पृ० २१९-२२०।

२ डॉ० देवराज प्रतिक्रिया' १९६६ दूसरा पृ० २२४

डॉ० देवराज प्रसिद्ध अंग्रेजी समीक्षक टी० एस० इलियट के विशेष प्रशंसक हैं और उनकी शैली पर इलियट की शैली की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। इसका कारण यह भी है कि लेखक इलियट की भाँति ही तर्क और दर्शन की सारी भूमिकाओं से परिचित है और उसका साहित्य-चिन्तन भी बहुत कुछ दार्शनिक के चिन्तन जैसा सूत्रबद्ध निर्वैयक्तिक और सार्वभौमिक रहता है।

समीक्षा के क्षेत्र में समसामयिक युग में सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यद्यपि वे मूलरूप से कवि और कथाकार हैं, परन्तु गद्य-शैलीकार के रूप में भी उनका कम महत्व नहीं है। उनके सर्जनात्मक गद्य का सबसे सुन्दर रूप उनके उपन्यास 'नदी के द्वीप' में मिलता है जहाँ वह मानव-मन की सम्वेदनशीलता को बड़ी सूक्ष्मता से पकड़ते हैं और प्रकृति के अत्यन्त सुन्दर तथा मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'अज्ञेय' की भाषा-शैली गद्य-लेखन में एक नये मोड़ की सूचक है। वह उनके सांस्कारिक मन का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करती है। अन्य समसामयिकों की अपेक्षा 'अज्ञेय' के मानस सङ्गठन में यूरोपीय जीवन साहित्य और संस्कृति का कहीं अधिक व्यापक प्रभाव है। उन्होंने यूरोप और अमरीका के पर्यटन से अपने संस्कार को पुष्ट किया है। उनकी संवेदना का ढाँचा फ्रेंच कवियों और लेखकों से मिलता-जुलता है। वे अंग्रेजी में भी लिखते हैं। मूलतः उनकी प्रकृति दार्शनिक है। वे चेतना के संस्कार और सम्वेदना के परिष्कार को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनकी भाषा-शैली पर डी०एच० लारेन्स, टी०एस० इलियट,और पाल वलयेर का प्रभाव दिखलाई देता है। अपनी संवेदना के प्रति अधिक से अधिक ईमानदार होने के कारण वे अंग्रेजी शब्दों को साथ-साथ रखते चलते हैं या कहीं-कहीं उनका सीधा अनुवाद कर देते हैं। वे अपने वाक्य-विन्यास में 'ब्राक्टो', संयोजक-चिन्हों, 'डेश', पेरेन्थेसिस' आदि का व्यापक रूप से उपयोग करते हैं। सेमिकोलन आदि साधारणतः हिन्दी में अप्रचलित विराम-चिन्हों का प्रयोग उनकी रचनाओं में बराबर मिलता है। वे अपने विचारों के प्रति संवेदित हो उठते हैं और नये विचार की ओर मोड़ लेते समय अपनी रचना में एक प्रकार का रिक्त छोड़ते चलते हैं, जो बिन्दुओं द्वारा सूचित रहता है। एक प्रकार की मानसी भाषा हमें जैनेन्द्र में भी मिलती है परन्तु उसकी प्रकृति अज्ञेय की इस मानसी भाषा से भिन्न है। जैनेन्द्र विचारक अधिक हैं, 'अज्ञेय' कलाकार और शिल्पी अधिक। 'आत्मने पद' (१९६०) का यह उद्धरण अज्ञेय की विचारात्मक भाषा-शैली को पूर्णतः स्पष्ट करने में समर्थ है—

'मेरा मन ही तो एक द्वार है जो एक अचरज भरी दुनिया की ओर खुलता है। (यह दुनिया घर है कि खुला प्रदेश!) एक तनाव और दर्द और मनस्ताप-भरी अचरज-दुनिया की ओर—जिसमें कैसे-कैसे अद्भुत प्राणी रहते हैं। भोक्ता में, और

भोग्य ममेतर—मेरा परिदृश्य, मेरी परिस्थिति, मेरा परिजगत यथार्थ—ये दोनों मुकुर आमने-सामने हैं और एक दूसरे को प्रतिबिम्बित करते हैं असंख्य रहस्यमय आवृत्तियों मे, छाया रूपों में—और ये छाया रूप ही मेरे मनोजगत के वासी असंख्य अद्भुत प्राणी है-जो सभी में भी हैं, ममेतर भी हैं, और दोनों की परस्पर प्रतिच्छायित असंख्य रहस्यमय संभावनाएँ भी—उसी जगत में से कोई सम्भावनाएँ ऊपर आती हैं और कोई विलीन होती हैं, कोई खुलकर जैसे घुटन और तनाव को बिखेर देती हैं, मुक्त करती हैं, कोई मुँदकर, रुँधकर, तनाव में और बल दे देती हैं, कोई प्रतीकों के मुखौटे ओढ़कर बाहर विचरण करने चली जाती हैं, तो कोई एकांत साक्षात की साधना में सब आवरण-वेष्टन झराकर कृच्छ तपस्या के लिये गुफा-वास अपना लेती है। कुछ को मैं पहचानता हूँ। कुछ को दुआ-सलाम है, कुछ से पान-खइनी के विनिमय का सम्बन्ध, कुछ ऐसे अतिपरिचित हैं कि अवज्ञा को ही सहजता पाते हैं ... ...।'[1]

अज्ञेय को व्यक्तिवादी कहा जाता है। सम्भवतः इसका तात्पर्य है कि वे अपने भावों और विचारों के प्रति बड़ी तन्मयता रखते है और उनको यह आत्मीयता उनकी अभिव्यंजना-शैली से भी प्रकट हो जाती है। संस्कृत शब्दों के प्रति उनका आग्रह नही है। वे शब्द-योजना में उन्हें स्वाभाविक स्थान देते हैं। उद्धृत अवतरण में दर्शन और विचार की मुद्रायें पाठक को एकांततः आकर्षित करने में समर्थ हैं।

परन्तु 'अज्ञेय' की भाषा-शैली का सबसे सुन्दर रूप वहाँ मिलता है जहाँ वे ऐसे क्षणों को पकड़ते हैं जो विचार और संवेदना का समुच्चय है। इन्हें वाणी देने के लिये वे प्रकृति के भीतर से अनेक उपमान अथवा उदाहरण खोजते हैं। जीवन और प्रकृति का एक-एक क्षण, मन की एक-एक भाव-मुद्रा, विचार की एक-एक झाँकी उनके शब्दो मे मूर्त हो जाती है। यहाँ उनकी शैली अस्तित्ववादी कलाकारों, विशेषतः सार्त्र से मिलती-जुलती है। यहाँ हमें कवि, विचारक, प्रकृति-प्रेमी और शब्द-शिल्पी शां का पूर्ण योग मिलता है। निस्सन्देह 'अज्ञेय' कलाकार हैं और उनकी संवेदनात्मक और प्रसन्न-चेतस् शैली उनके सांस्कारिक व्यक्तित्व और विस्तृत अध्ययन का प्रतिलिक्षित्व करती है। इस शैली का नमूना इन पंक्तियों में मिलेगा जिनमें लेखक एक शांतिपूर्ण मनोदशा का वर्णन कर रहा है। उसके विचार में शांति वह मनोदशा है जो मन के बाहर से नही, उसके भीतर से उत्पन्न होती है। इस अतिसूक्ष्म मनोदशा को व्यक्त करने के लिये लेखक ने शारदीय धूप का सहारा लिया है। अवतरण इस प्रकार है—

'शारदीय धूप। धूप का एक वृत जिसके भीतर की आलोक-भरी शांति ने मुझे घेर लिया है और जो मुझे घुमा-फिराकर उसी एक स्थल पर ले आती है। यात्रारम्भ

---

१ अज्ञेय 'आत्मनेपद' (१९६० प्रथम) पृ० २३० २३१

करते ही हमारे सामने कई मार्ग खुल जाते हैं, विभिन्न और प्रतिकूल दिशायें विशद हो जाती हैं। कई मार्ग हैं, लेकिन किसको चुनकर हम शांति पाते हैं यह भी मूलतः हमारी मनोदशा पर ही निर्भर है ! अर्थात् अन्ततोगत्वा शांति मनोदशा ही है और मन के बाहर से नहीं, मन से उत्पन्न होती है।

'पत्तियों पर झूलती हुई तीसरे पहर की धूप इससे भिन्न किसी परिणाम की अनुमति नहीं देती। बल्कि वह मानो बाहर से मेरे कान में यह भी कहती है कि यह परिणाम भी पूरा-पूरा सही नहीं हो सकता क्योंकि वास्तव में शांति मनोदशा भी नहीं है। वह होने की ही एक दशा है। और होना क्या है इसको हम न केवल बाहर से बाँध सकते हैं, न केवल अभ्यन्तर से। न वह दोनों के सम्बन्ध भर से बंध सकता है। वह एक बहुत बड़ी इकाई है—नहीं, एक बहुत छोटी इकाई जिसमें बड़ी-बड़ी इकाइयाँ डूब जाती हैं। वैसी ही इकाई जैसी यह छोटी-सी पत्ती और इस पर झूलती हुई शारदीय तीसरे प्रहर की धूप।

यही एक परिणाम है जो जीवन और शांति के सम्बन्ध को अमान्य नहीं करता क्योंकि वह जीवन को भी और शांति को भी मिथ्या नहीं करता। जीवन होने की एक दशा है, और शांति होने की अनुभूति की ओर अनुभावक की एक दशा सहज, स्वस्थ, स्व-पूरक, स्व-प्रेरक, आत्म-भरित और स्वतः सम्पूर्ण दशा।

बगीचे में शारदीय तीसरे पहर की धूप ! धुली पत्तियों पर खेलती धूप की आंख मिचौनी। मानस-क्षितिज पर एक शब्द का उदय : शांति।'[1]

आधुनिक आलोचना का सम्बन्ध नये जीवन से ही नहीं है, वह नये शास्त्रों की ओर भी देखती है। इन शास्त्रों की ओर समीक्षकों का आकर्षण है। साम्यवाद, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र, मार्क्स और फ्रेजर की रचनाओं से आज का समीक्षक अनिवार्यतः परिचित है। वह मनोवैज्ञानिकों और मनोविश्लेषकों का भी ऋणी है। इन शास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में हम अभी तक अनिश्चित हैं। भिन्न-भिन्न लोगों ने इस पारिभाषिक शब्दावली को भिन्न-भिन्न ढंग से अनूदित किया है। अतएव समीक्षक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह कठिन और अप्रचलित पारिभाषिक शब्दों का हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत करते समय अंग्रेजी शब्द को भी सामने रखे। इससे भाषा शैली में अनिश्चितता आ जाती है। परन्तु इसके बिना लेखक आश्वस्त ही नहीं होता। प्रस्तुत उद्धरण प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक शिवदान सिंह की पुस्तक 'प्रगतिवाद' (१९४६) से लिया गया है। रचना हमारे काल के आरम्भ में ही प्रकाशित हुई है। परन्तु अवतरण से जिस कठिनाई का अनुमान होता है वह अभी भी

---

१ अज्ञेय कृत 'आत्मनेपद' (१९६०- प्रथम)- पृ० २४६-२४७।

बनी हुई है। इस अवतरण में लेखक सम्भवतः मार्क्सवादी विचारक काडवेल की तरह काव्य के उद्गम के संबन्ध में अपने मार्क्सवादी विचार प्रस्तुत कर रहा है—

'प्राथमिक युग में जब कविता का जन्म हुआ था उस समय मनुष्य की संस्कृति : उसका शिल्प-विज्ञान, समाज-संगठन और चेतना अपने प्रारम्भ काल में थी। समाज-जीवन अलग-अलग फिरकों (ट्राइब्स) में संगठित था, मनुष्य-मनुष्य का सम्बन्ध या तो प्राथमिक साम्यवाद (प्राइमेटिव कम्युनिज्म) का था या वर्गों का अभी जन्म ही हो रहा था। इस युग की सबसे बड़ी आवश्यकताएँ थीं प्रकृति के अन्ध प्रकोपों से आत्म-रक्षा करना और प्रकृति के विधान से संघर्ष कर खेती या फसल उगाना। मनुष्य ने प्रकृति से संघर्ष कर उसके कुछ अंगों को तो विजय कर अपना सहचर बना लिया था, और उनके प्रति उ.में रागात्मक सहानुभूति उत्पन्न हो गयी थी, कुछ अपने प्रकोपों से उसे, उसके किये-कराये को असह्य-क्षति पहुँचाते थे, और उनसे वह कुछ चिढ़ता था, या भय खाता था। उसके जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य उसका प्रकृति से संघर्ष था। इस संघर्ष में मनुष्य व्यक्तिगत रूप से विजयी होने की कल्पना ही न कर सकता था, इसके लिए यह आवश्यक था कि वह सामूहिक जीवन व्यतीत करे और सामूहिक रूप से ही संघर्ष करे। किन्तु इस सामूहिक संघर्ष का संगठन कैसे हो? निश्चय ही वाणी द्वारा या भाषा द्वारा। लेकिन उस युग में लय-विहीन (गद्य) भाषा व्यक्तिगत आग्रह-आदेश की ही भाषा हो सकती थी, सामूहिक भावों को जाग्रत करने की नहीं, किन्तु लय-युक्त (पद्य) भाषा, जो 'प्रभाव युक्त भाषा' (हाइटेण्ड लेंग्वेज) होने के कारण और संगीत के संयोग से सामूहिक रूप से गेय होने के कारण सामूहिक रूप से मनुष्य के भावों को जाग्रत कर सकती थी, उन्हें कर्म करने के लिए प्रेरित कर सकती थी, उनके श्रम को मधुर बना सकती थी। इसीलिए उस युग में पद्यबद्ध भाषा का ही प्रयोग हुआ। यहीं पर कविता का जन्म हुआ। क्योंकि इस पद्यबद्ध भाषा में यद्यपि अविभाजित (अनडिफ्रेनसियेटेड) जीवन की वैविध्यविहीनता होने के कारण तथा उस समय तक ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ न फूट पाने के कारण कविता सामूहिक ज्ञान का एकमात्र माध्यम थी, उसी में सारा ज्ञान संचित था, तथापि उसमें प्रकृति के प्रकोपों, और उससे संघर्ष, फसल और प्रकृति के विजित सहचरों के प्रति मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति होने लगी थी, अर्थात् कविता का जन्म हो गया था। और जिस प्रकार विकासमान समाज ने वातावरण के साथ संघर्ष करने में पृथ्वी पर अपने अस्तित्व के साथ नॉन-बॉयोलॉजिकल और 'मानवीय' तादात्म्य (एडापटेशन) अथवा अनुकूलता स्थापित करने के लिए, काडवेल के शब्दों में, फसल उगाने की टेकनिक को जन्म दिया उसी प्रकार उस फसल के प्रति उस फिरके (ट्राइब) के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए भावात्मक, सामाजिक एवं सामूहिक मनोदशा (कलेक्टिव काम्प्लेक्स) की अभिव्यक्ति करने वाली कविताओं

को भी जन्म दिया।'[1]

इस रचना में उर्दू शब्दों का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। प्रगतिवादी विचारक भाषा की शुद्धता के कायल नहीं हैं। वे प्रचार को अधिक महत्ता देते हैं। इसके अतिरिक्त वे ग्रामीण जन और सर्वसाधारण में प्रचलित शब्दों के प्रयोग से भी नहीं हिचकते। अधिकांश प्रगतिवादी समीक्षक जनवादी प्रवृत्तियों के समर्थक हैं और उनकी भाषा-शैली में मंचीय प्रभाव स्पष्ट है, वे अभिभाषण करने या उपदेश देने लगते हैं। बहुत से प्रगतिवादी समीक्षक ऐसे हैं जो वाद-प्रतिवाद और पक्ष-स्थापन के बीच में गद्य-शैली की मार्मिकता और सजीवता बनाये रख सकते हैं। शिवदानसिंह चौहान का यह दूसरा अवतरण जो हमने उनकी एक अन्य रचना 'आलोचना के मान' (१९५८) से लिया है, इस आलोचक की उस विशेषता की ओर इंगित करता है जो उसे संवेदनशील कलाकार बना देती है :

'माटी, अँखुआ, दल'

आज अपनी स्मृति को कुरेदने बैठा हूँ। कितने कल्प, मन्वन्तर, युग और सहस्राब्दी बीत गए, लेकिन यह स्मृतियों का अम्बार बढ़ता ही जाता है। अणु-परमाणु में भी चेतन का अंश तो है ही, नहीं तो चेतन कहाँ से पैदा होता? उस सूक्ष्मतम चेतन के भीतर भी कहीं स्मृति का खाना तो होगा ही, कौन जाने? जब चाकू लेकर लता छाँटने जाओ, तो वह पीड़ा की आशंका से काँप उठती है— स्मृति के बिना उसमें आशंका कहाँ से पैदा हुई? लता, द्रुम, किसलय और कौन जाने नद, गिरि, निर्झरों में भी, जिनकी छाती हम निर्दयता से रौंदते चले जाते हैं, स्मृति के खाने हों, जहाँ वे अपने मूक अनुभवों का ढेर जमा करते हों और हमारी लापरवाह उछल-कूद और क्रीड़ा से संत्रस्त हो उठते हों। पीड़ा कौन झेलना चाहता है?

तो आज अपनी स्मृति को कुरेदने बैठा हूँ। मस्तिष्क के किसी कोने में स्मृतियों का अम्बार लगा है, राख के ढेर की तरह, जिसे जरा-सा कुरेदो तो पुराने अनुभवों के शोले भड़क उठते हैं और जो मैंने व्यक्तिगत रूप से न देखा है न झेला है, वह भी चल-चित्र की तरह आँखों के परदे पर घूम जाता है। व्यक्तिगत रूप से न देखने-झेलने से क्या होता है? इस जीवन में सब कुछ साँझा है और सब कुछ व्यक्तिगत है। मेरी स्मृति के खाने में अनादि काल से मनुष्य मात्र के अनुभवों का अम्बार जमा है। मेरे व्यक्तिगत अनुभव हैं ही कितने, लेकिन वे रंग की तरह इस सारे अम्बार में पिन्हा हो गए हैं, और बीते युगों की जिस स्मृति को भी मैं उठाकर देखता हूँ, वह मेरे अनुभवों की स्मृति के रंग में रँगी दिखाई देती है— तो यह साँझी स्मृति मेरी अपनी स्मृति भी है। इसमें से

१- शिवदानसिंह चौहान : 'प्रगतिवाद' (१९४६), पृ० ९८-९९।

कुछ कभी कम नहीं होता, इसमें सब अपने अनुभवों का ढेर डालते जाते हैं। यह ब्रह्माण्ड, ये नक्षत्र, ये ग्रह, ये उपग्रह कब और कैसे बने, यह अभी ठीक से याद नहीं कर पाया–स्मृति के किसी अतलगर्त में कहीं इसकी याद भी छिपी पड़ी होगी। ये जिन दिनों की घटनाएँ हैं, उन दिनों मैं भी तो मिट्टी और आग के अणु-परमाणुओं में बिखरा पड़ा था–कुदरत ने मेरे नाक-नक्श नहीं गढ़े थे कि मैं सृष्टि निर्माण के उस विराट नाटक का द्रष्टा-इन्द्रियों के द्वारा अपने अनुभवों को रूप और अर्थ दे पाता। लेकिन उस काल की स्मृतियाँ पर्वतों और पठारों की परतों में आज भी सोयी पड़ी हैं। उनकी कोई मानवीय भाषा नहीं है, लेकिन मैंने कुदरत के इन संस्मरणों को पढ़ने की भाषा बना ली है और मैंने उनमें सृष्टि के निर्माण और विकास की कहानी पढ़नी शुरू भी कर दी है। बड़ी लम्बी कहानी है यह, इसकी नायक-नायिकाएँ ग्रह और नक्षत्र हैं, पर्वत और सागर हैं, अग्नि, हिम, ज्वालामुखी, वन, आद्य जीव-जन्तु हैं, मनुष्य नहीं। मनुष्य तो बहुत बाद में आया, अनेक मन्वन्तरों, जल-प्रलयों और हिम-युगों के बाद।'[1] ऐसे स्थल हमे प्रगतिवादी समीक्षा में बहुत कम मिलेंगे। सच तो यह है कि पिछले बीस वर्षों मे समीक्षा का अन्तरंग ही सम्पन्न और प्रौढ़ नहीं बना है, उसकी अभिव्यंजना शैलियों में भी परिपक्वता आयी है। इसीलिए जब ऐसा व्यक्ति भी जो मूलतः आलोचक नहीं है समीक्षा करने बैठता है तो उसके सम्मुख भाषा और शैली के निश्चित मानदण्ड रहते हैं और वह बड़ी सफलता से विचारक का परिधान पहन लेता है। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध कलाकार और नाटककार श्री उपेन्द्रनाथ अश्क' के समीक्षा-ग्रन्थ 'हिन्दी कहानी और फैशन' (१९६४) का यह अवतरण उपयुक्त होगा।

'मैं जिन्दगी को उससे परे होकर उसका अंग बनकर–दोनों तरह देखता हूँ। परे होकर देखने पर मैं पाता हूँ कि इस ब्रह्माण्ड में हमारी धरती की हस्ती तो रेत के नन्हे से कण के हजारहवें हिस्से से भी कम है। यह दुनिया एक दिन ठंडी हो जायगी और इसके समस्त कार्य-व्यापार भी इसके साथ ही ठंडे पड़ जायेंगे। तब आदमी संघर्ष-द्वन्द्व, दौड़-भाग, इच्छाएँ-आकांक्षाएँ, काम-क्रोध सब बेकार नहीं तो क्या है? और इस तरह सोचने पर आदमी अस्तित्ववादियों अथवा परमानन्दवादियों के निकट जा पहुँचता है।''' लेकिन मैं धरती को उसकी सन्तान होकर, जिन्दगी को उसका अंग बनाकर भी देखता हूँ और इस दृष्टि से देखने पर मुझे यह अत्यन्त दिलचस्प और सुन्दर लगती है और महसूस होता है कि जिन्दगी को नकारना उस बच्चे ऐसा है, जिसे जन्मते ही मालूम हो जाय कि जिन्दगी का अन्त मौत है और वह अपना और अपनी माँ का गला घोटने का प्रयास करे। और मैं न अपना गला घोंटना चाहता हूँ, न धरती के विध्वंस

१ शिवदानसिंह चौहान आलोचना के मान १९५८, पृ० १७३ १७४

की कामना करता हूँ, बल्कि जितना थोड़ा-सा वक्त मुझे मिला है, उसमें अपनी जिन्दगी को यथासम्भव बेहतर तौर पर जीना और बाहर की जिन्दगी को बेहतर बनाने में, कितना भी कम क्यों न हो, अपना योग देना चाहता हूँ।'[1]

यह अवतरण मौलिक रूप से एक परिसम्वाद का अंश है और इसीसे इसमे लेखक का अपना कंठस्वर प्रतिध्वनित हो उठता है। 'अश्क' उर्दू भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ हैं। इस अवतरण में उन्होंने सरल सामान्य भाषा-शैली का ही उपयोग किया है परन्तु उनकी बात बड़े प्रभावशाली ढंग से सामने आ सकी है।

नीचे हम डॉ० रामरतन भटनागर के दो ग्रन्थों के अवतरण दे रहे हैं जो व्यावहारिक और सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी हैं। उनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि समीक्षा की भाषा ने आज एक निश्चित व्यापक स्वरूप धारण कर लिया है और उसमें हमें विचार का सुस्पष्ट एवं संश्लिष्ट रूप मिलता है। समीक्षक के लिये यह आवश्यक है कि वह मौलिकता के साथ-साथ परम्परागत ज्ञान से भी लाभ उठाये। उसकी अभिव्यक्ति सरल और प्रसादपूर्ण होनी चाहिये. सामान्यतः वह विचारों के संगठन और उनके तारतम्य पर अधिक ध्यान देता है परन्तु यह असम्भव नहीं है कि वह अपने विचारों को आकर्षक बनाने के लिये काव्योपकरणों की सहायता ले—

'निराला तप को ही संस्कृति मानते थे क्योंकि उसमें कला-धर्म के ही नही, जीवन के धर्म का भी निर्वाह है। तप अर्थात् योग ही संस्कार का साधन है। यह भीतर की जागरूकता है। इस योग का निर्वाह निराला ने मनसा, वाचा, कर्मणा किया है। वह किसी सस्ते समन्वय से ठगे जाने वाले प्राणी नहीं थे। फलतः वह अन्त तक अपने प्रति सजग रहे। नवजागरण की सभी भूमिकाओं से उन्होंने बहुत कुछ लिखा। साहित्य, संगीत और साधना को एक प्रस्थान-बिन्दु पर लाकर उन्होंने राष्ट्र के सुन्दरतम भविष्य की कल्पना की। काव्य भाषा, छंद और भाव-भंगिमा की बड़ी संवार उनकी रचनाओं मे है। नेहरू की तरह निराला ने भी अकेलेपन और टूट का अनुभव किया है परन्तु सर्व सम्पृक्ति और आत्मोपलब्धि के क्षण भी उन्हें उनसे कम नहीं मिले हैं। जो अपनी सौन्दर्य चेतना को छूरे की धार की तरह तेज बनाता है उसे उसकी काट भी बराबर सहनी पड़ती है। परन्तु संस्कृति का कल्पवृक्ष बलिदान के थाले में ही लगता है। निराला का तप साहित्य तक ही समाप्त नहीं होता, वही संस्कृति को भी प्राणवान बनाता है। नवजागरण के कवि बनकर हमारे भविष्यत जीवन के इन्द्रधनुषी रंगों में घुल गये है। उन्होंने अनामिका को सार्थवती बनाया है।'[2]

१. उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'हिन्दी कहानियाँ और फैशन' (१९६४, प्रथम), पृ० १२७।

२. डॉ० रामरतन भटनागर : 'निराला और नवजागरण' (फरवरी १९६५, प्रथम संस्करण) पृ० ग।

'भावुक (काव्यरसिक) और बुद्धि-विलासी पण्डित की इन दो अतियों के बीच में इलियट अन्तर्दृष्टि और आस्वादन का विशिष्ट मार्ग बनाना चाहते हैं जो काव्य को कवि, युग, ज्ञान-विज्ञान तथा मनस्तत्वीय सन्दर्भों से एकदम रिक्त कर निर्वैयक्तिक, युगातीत अन्तर्दृष्टिमूलक तथा मानवीय भूमि पर आस्वादनीय बना सके। कवि के जीवन तथा अन्तर्जगत, युग-मन, समकालीन विचारधारा एवं भाषा की स्थिति का ज्ञान काव्यास्वादन की भूमिका बन सकता है और हमें भारती के मन्दिर की दहलीज तक पहुँचा सकता है। परन्तु भीतर प्रवेश करते ही हमें हृदय के पट खोलने होंगे और काव्य की प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक अनुभूति के आधार अपना मत बनाना होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि इलियट के मत में समीक्षक का कार्य उस समय समाप्त हो जाता है जब वह पाठक को रचना के सामने उपस्थित कर देता है और रचना पर से पूर्वाग्रह, अनासक्ति तथा मतमतांतर का आवरण उठा देता है। काव्यानुभूति प्रत्यक्षानुभूति है, अतः रचना को प्रत्यक्ष कराने में ही समीक्षा की सार्थकता है। वस्तुतः ये परदे आस्वादन अथवा काव्य रसिक के मन के परदे हैं जिन्हें तह-पर-तह खोलते जाना है। तभी रचना का निर्विरोध सौन्दर्य और अविभाज्य आनन्द उपलब्ध हो सकेगा।'[1]

एक अन्य आलोचक जयनाथ 'नलिन' के सद्यः प्रकाशित ग्रन्थ 'चिन्तन और कला' से इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है कि आज समीक्षक ने दार्शनिक और विचारक का स्थान ले लिया है। वह साहित्य तक ही सीमित नहीं रहता। आरम्भ में वह साहित्य के माध्यम से जीवन को देखता है परन्तु धीरे-धीरे जब उसकी दृष्टि खुल जाती है और वह अपने प्रति विश्वासी बन जाता है तो वह सीधा जीवन से साक्षात्कार करता है। वह दार्शनिक की तरह है। वह भाव-निकायों और विचार-बन्धों का अनुभव करता है और उन्हें सूक्तियों में ढालता है। उसकी भाषा अन्तःदर्शन की भाषा बन जाती है। उदाहरण के रूप में जयनाथ 'नलिन' का यह अवतरण लिया जा सकता है जिसमें लेखक कालप्रवाह को अपनी विचारात्मक चेतना का विषय बनाता है—

'काल अविच्छिन्न गति है—निरन्तर प्रवाह है। प्रलय में प्रकृति के सभी तत्वों का—जीवन के सभी तत्वों का—विलय है। लेकिन प्रलय की वज्र-कठोर बाँहें भी समय के लिये मोम-सी मुलायम और नवनीत-सी द्रवित बन जाती हैं। प्रलय की बाँहों में काल नहीं बँध पाता—न ही प्रलय का भूखा पेट उसे पचा पाता है। काल तब भी गतिवान है। नित्य-प्रवाही काल की चाल को न समझने वालों ने उसे तीन कालों में बाँटा है। भला, निरन्तरता बाँटी जा सकती है? तो भी हम काल को अतीत, वर्तमान और भावी की पहचान देते हैं। क्योंकि काल अकल्पित क्षिप्रता से भाग रहा है, न क्षणों में

---

१ डॉ० रामरतन भटनागर - मूल्य और मूल्यांकन (१९६२) पृ० १८१ १८२

संधि है, न विराम, इसलिये वह हमारे सामने स्थिर मालूम होता है। इसलिये भी कि हम जड़ हैं—शायद स्थिर हैं। इसलिये गतिशील समय भी स्थिर या वर्तमान-जैसा लगता है। अगर समय को पहचान या प्रकार के विशेषण देने ही हैं, तब वह अतीत और भावी है। जो क्षण तेजी से निकल गया, वह अतीत या भूत और जो उससे जुड़ा दूसरा क्षण निकल जाने को बेताब, वह भावी। जब दो क्षणों के बीच ठहरा हुआ एक भी क्षण नहीं, तब पड़ाव की कल्पना कैसी ? क्षण को बिन्दु समझिए। बिन्दुओं को मिला कर रेखा बनाते है। बिन्दु का आकार नहीं। लम्बाई, ऊँचाई, चौड़ाई, गहराई कुछ भी नहीं, तब रेखा का भी आकार नहीं, लेकिन रेखा का अस्तित्व हम मानते हैं। हम जब रेखा खींचते हैं, निराकार बिन्दु मिलते जा रहे हैं। दो बिन्दुओं के बीच न अवकाश है, न आकार, न रेखा, न जोड़, इसी प्रकार क्षणों के बीच न अवकाश, न ठहराव और न आकार। वर्तमान तब कैसे माना जाय ?'[1]

परन्तु इतनी ऊँचाई पर स्थिर रहना सदैव सम्भव नहीं है। इसलिए लेखक कुछ नीचे उतरकर उपदेशात्मक अथवा प्रेरणात्मक बन जाता है। यहाँ वह साधारण निबन्धकार से भिन्न नहीं रह जाता। उसका निरपेक्ष कलाकार और दार्शनिक का स्वरूप धूमिल पड़ जाता है। 'असन्तोष पर लिखी जयनाथ 'नलिन' की ये पंक्तियाँ इस कथन की साक्षी हैं।

'असन्तोष-जीवन के विराम का नाम है सन्तोष। सभी कहते हैं सन्तोषी बनो। 'रूखी सूखी खाय के ठण्डा पानी पीव' के उपदेशों से सन्तवाणी लबालब है। पराई-चुपड़ी रोटी देखकर जी मत ललचाओ। जो कुछ मिला है, उसी को वरदान समझो, उसके आगे पाने के लिए हाथ-पैर मत मारो। सन्तोष करो। क्यों करें सन्तोष ? जीवन को जड़ बना दें ? कर्म पर विराम लगा दें ? साधनाओं का गला घोंट दिया जाय ? उपलब्धियों की उपेक्षा करें ? वृत्तियों को समेट हाथ पर हाथ धर बैठ रहें ? जीवन-विकास की अभिलाषाओं को कुचल दें ? निकम्मे हो जायँ ? पलायन, निष्क्रियता, प्रमाद, आलस्य, पौरुषहीनता का ही तो गरिमाशाली नाम है सन्तोष। शील का रूपांकन (मेकप) कर जब पलायनवाद हमें बहकाता है, तब वह सन्तोष कहलाता है। राग-निग्रह का ही दूसरा नाम सन्तोष है। उपलब्ध का उपभोग, नवीन उपलब्धियों की ओर से विमुखता, जीवन-विकास के प्रति विराग, सुख समृद्धियों के संचय में निष्प्रयत्नता और अल्पतम मे सुखानुभूति—ये सब सन्तोष के विभिन्न रूप हैं। विश्व जीवन से प्राप्त प्रेरणाएँ अपने मानस के कब्रिस्तान में दफ़न कर दीजिए, तो आप परम सन्तोषी और यदि उनमे शक्ति और प्रोत्साहन पाकर स्पर्धा और संघर्ष के क्षेत्र में उतरिए तो महा असन्तोषी—महा-लालची (अपने विकास प्रयत्नों को समेट कछुआ-धर्म अपनाइए तो महासाधक और जीवन

1 नलिन चिन्तन और कला पृ० ४-५

क्षेत्र में अकम्पित चाल से बढ़ने की कोशिश कीजिए तो चपल चित्त। जीवन की इतनी उपेक्षा। चिरन्तन कर्म-प्रवाह को बनाए रखिए, तभी तक जीवन है। प्रवाह को समेटकर कैद कीजिये, तो मृत्यु! सन्तोष ऐसी ही रागात्मक मृत्यु है। राग के बिना कर्म सम्भव नहीं। तब सच्चा सन्तोष कर्म पर भी मौत की मुहर लगा देता है।'[1]

इन पंक्तियों में लेखक प्रश्नात्मक हो गया है और प्रश्नों के माध्यम से हमारी जिज्ञासा को उभाड़ना चाहता है। उसकी उपलब्धि यही है कि वह अपनी विषय-वस्तु का स्पष्टीकरण कर देता है और उसके सम्बन्ध में हमें अन्त तक जागरूक बनाये रखता है।

साहित्य के बाद संस्कृति का क्षेत्र ही ऐसा है, जिसमें हिन्दी के लेखक पिछले बीस वर्षों में बराबर गतिशील रहे हैं। साहित्य का आधार ही संस्कृति है। अतः साहित्यकारों से हम अपेक्षा रखते है कि वे संस्कृति के भी विशेषज्ञ हों अथवा अपनी रचनाओं में सांस्कृतिक चिन्तन को प्रधानता दें। सभी लेखक सांस्कृतिक चिन्तन के दावेदार नहीं हो जाते। इसके लिये अभिरुचि और अध्ययन की आवश्यकता है। सम्प्रति मौलिक सांस्कृतिक चिन्तन हमें अधिक नहीं दिखाई देता। परन्तु डॉ० देवराज, और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे साहित्यकार हैं जो संस्कृति के क्षेत्र में भी नयी स्थापनाएँ करने में समर्थ हैं। इनमें डॉ० देवराज दर्शन के विद्यार्थी और अध्यापक भी हैं। पूर्वीय और पश्चिमीय दर्शनों पर उनका समान अधिकार है। उनकी विचार-प्रक्रिया अंग्रेजी की दार्शनिक पदावली को सिमेट कर आगे बढ़ती है और कहीं-कहीं वे हिन्दी शब्द के साथ अंग्रेजी शब्द भी रख देते हैं जिससे अंग्रेजी भाषा का जानकार उनके चिन्तन की ओर विशेष रूप से प्रबुद्ध हो सके। प्रस्तुत अवतरण डॉ० देवराज के ग्रन्थ 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' (१९५७) से लिया गया है। इसमें हमें उनका प्रौढ़ चिन्तन और उसके अनुरूप भाषा के दर्शन होते हैं।

'हम यह कह सकते हैं कि तर्क-मूलक भाववाद तथाकथित अनुभववाद का अतिरंजित रूप है, जिसे तत्वदर्शन सम्बन्धी (मेटाफ़िज़ीकल) चिन्तन से विशेष शत्रुता है। यद्यपि तर्क-मूलक भाववादी बुद्धि के विरोधी नहीं हैं, फिर भी उन्हें विशुद्ध बौद्धिक चिन्तन (स्पेकुलेटिव रीजनिंग) में गम्भीर अविश्वास है। वे किसी भी ऐसी स्थापना (हाईपोथीसिस) या सिद्धान्त (थ्योरी) को अर्थपूर्ण नहीं मानते जिसे इन्द्रिय-अनुभव द्वारा परीक्षित न किया जा सके। तर्कमूलक भाववाद ने अपने को विज्ञान के एक महत्वपूर्ण दर्शन में विकसित किया और घोषणा की कि ऐसा कोई सत्य नहीं है जो विवादास्पद न हो, और यह कि समस्त वैज्ञानिक स्थापनाएँ अस्थायी कल्पनाएँ मात्र होती हैं, जिनमें भावी प्रयोगात्मक अन्वेषणों द्वारा संशोधन आवश्यक हो सकता है। इस प्रकार, तर्क-

१ जयनाथ नलिन चिन्तन और कला पृष्ठ १२२ १२३।

मूलक भाववाद के अनुसार कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त अन्तिम सत्य की झाँकी नहीं कराता। विज्ञान के सारे सिद्धान्त उपयोगी कल्पनाएँ भर होते हैं। तर्कमूलक भाववादियों को इस बारे में निश्चित सन्देह है कि विज्ञान प्रकृति के बारे में कभी अन्तिम सत्यों को पा सकता है। और विज्ञान के बाहर के क्षेत्रों, जैसे नीति शास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र में, तो किसी प्रकार के सत्य को पाया ही नहीं जा सकता। इस प्रकार निश्चित अथवा अन्तिम सत्यों की प्राप्ति के सम्बन्ध में, फिर वह प्राप्ति चाहे केवल तर्क से हो, अथवा अनुभव द्वारा परीक्षित तर्क से, तर्कमूलक भाववादियों को मनोभाव निषेधात्मक तथा निराशावादी है। इस प्रकार तर्कमूलक भाववाद में जेम्स आदि की बुद्धि-विरोधी दृष्टि सन्निहित है। साथ ही उसे बुद्धि से भिन्न मनुष्य की किसी दूसरी क्षमता में विश्वास नहीं है, जैसा कि जेम्स को कृति-शक्ति में था। तर्कमूलक भाववाद मानता है कि प्रत्येक विवाद में हमारी आखिरी अदालत इन्द्रियानुभूति है। केन्द्रिय अनुभूति के समर्थक होने के नाते इस सम्प्रदाय के लोग ह्यूम की भाँति सार्वभौम संयोजक कथनों या सत्यों (सिनथेटिक नेसेसरी प्रोपोजीसन्स) की सम्भावना से इन्कार करते हैं।'[1] इस आवरण के समकक्ष हम डॉ० नगेन्द्र का एक अवतरण रखते हैं जो भारतवर्ष की राष्ट्रीय संस्कृति की विवेचना करता है। यहाँ हमें विचार की प्रौढ़ता नहीं मिलेगी जो डॉ० देवराज में मिलती है। परन्तु अपनी अध्यापकीय शैली में लेखक संस्कृति के मूल तत्वों को सामान्य पाठक के सामने रखने में पूर्णतः सफल हुआ है।

'प्राचीन गौरव की पुनरुत्थानमयी भावना में स्वभावतः आर्य संस्कृति का ही जय-जयकार है। परन्तु यह भावना कहीं भी संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक नहीं होने पाई। संस्कृति का यह स्वरूप अत्यन्त व्यापक और उदार है। वास्तव में स्वयं संस्कृति शब्द मे संकीर्णता के लिए स्थान नहीं है। संस्कृति का मूल तत्त्व है आत्मा का संस्कार, जिसमे क्षुद्रता के लिये अवकाश ही नहीं रहता। इसमें प्रायः अपने गौरव का ही भावना है, दूसरे की हीनता का नहीं। भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास को देखते हुए इस प्रसग मे थोड़ी बहुत कटुता का समावेश हो जाना अस्वाभाविक नहीं था। परन्तु इस सांस्कृतिक विचारधारा पर गांधी के सर्व-धर्म-समभाव सिद्धांत और रवीन्द्र की अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा विश्व-संस्कृति की कल्पना का गहरा प्रभाव था जिसने जाति, सम्प्रदाय और देश के बृहत्तर इकाई—विश्व मानवता—की उदार भावनाओं को जन्म दे दिया था। इसके अतिरिक्त एक और प्रभाव—समान सर्वहारा संस्कृति का प्रभाव भी कुछ-कुछ पड़ने लगा था, परन्तु उसका स्वरूप अभी प्रच्छन्न ही था। कहने का तात्पर्य यह है कि इस युग मे जिस राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चैतन्य का विकास हो रहा था, उसमें प्राचीन आर्य-संस्कृति के

---

१ डॉ० देवराज संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, १९५७ पृ० ६७

पुनरुत्थान की भावना निस्सन्देह थी—वास्तव में इसका मूल आधार वही था। परन्तु इसमें संकीर्णता तथा कटुता नहीं थी। इसका आधार स्वभावतः ही अत्यन्त व्यापक था। इसके मूल में ही 'कृण्वंतो विश्वमार्यम्' का सिद्धांत वर्तमान था, फिर गांधी और रवीन्द्र के सार्वभौम विचारों का गहरा प्रभाव ऊपर पड़ रहा था।'[1]

परन्तु संस्कृति और चिन्तन का एक कलात्मक स्वरूप भी है जो आत्मचिन्तन के रूप में सामने आता है। इतिहास, संस्कृति और मनुष्य को एक परिपूर्ण इकाई के रूप मे देखते हुए जब निबन्धकार एक विशेष भावोन्मेष का अनुभव करता है तो उसके भीतर एक अदम्य शक्ति का जन्म होता है। उस समय विचार सक्रिय हो जाता है और वह चित्रात्मक तथा प्रेरणात्मक बनकर हमें चारों ओर से घेर लेता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्ध 'अशोक के फूल' का यह अवतरण संस्कृति-बोध के इसी कलात्मक स्वरूप की ओर इंगित करता है—

'मुझे मानव-जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ़ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती वह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्ष से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सब कुछ मे मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है, परन्तु इस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवन शक्ति को समर्थ बनाता है उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदन-देवता का गर्वखंडन किया है, धर्मराज ने कारागार में क्रांति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है। आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़ता है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुंठनृत्य से ध्वस्त हो जायगा, कौन जानता है।'[2]

---

१. डॉ० नगेन्द्र : जनरल एजुकेशन रीडिंग मेटीरियल सीरीज, संख्या २४, हिन्दी साहित्य संग्रह, भाग १ (१९६३, प्रथम), पृ० १३० ।

२ जनरल एजुकेशन रीडिंग मेटीरियल सीरीज, संख्या २४ हिन्दी साहित्य संग्रह भाग १ १९६३ पृ० १३३ ३४

यहाँ लेखक की भावना उसकी विचारणा पर विषय प्राप्त कर लेती है और उसका गद्य ऐतिहासिक कल्पना के योग से काव्य में अप्रविहन शक्ति पा जाता है। फलतः रचना गद्य-काव्य बन जाती है। इस सांस्कृतिक चिंतन के भीतर से साहित्यिक चेतना का प्रसार कहा जाता है।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हमने पिछले युग में ही भाषा और शैली की परिपक्वता प्राप्त कर ली थी। वस्तुतः ये दोनों क्षेत्र उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही भारतीय 'जिज्ञासा और समाधान' के विषय रहे हैं। धर्म और दर्शन की हमारी अपनी पारिभाषिक शब्दावली थी जिसका उपयोग हम शताब्दियों से करते आए हैं। परन्तु आधुनिक युग में ईसाई धर्म प्रचारकों के कारण भारतीयों को अपने विचारों को अधिक सुस्पष्ट और युगानुकूल बनाना पड़ा। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय दर्शन का नये ढंग से विकास हुआ और उसकी व्यावहारिक तथा तार्किक भूमिका स्थिर हुई। अगस्टस, काम्टे, मिल, स्पेन्सर, हीगल और अन्य विचारकों ने परम्परागत ईसाई धर्म और दर्शन से अपना पल्ला छुड़ाकर अपने विचारों को अरस्तू की विचार-धारा से सम्बन्धित किया और एकात्मवादी मानवतावाद (यूनिटेरियनिज्म) के रूप में नए दार्शनिक सिद्धान्त को पल्लवित किया। फलस्वरूप दर्शन धर्म से स्वतन्त्र होकर एक प्रकार की बौद्धिक चर्चा बन गया और धीरे-धीरे उसने अपनी शास्त्रीय भाषा का निर्माण कर लिया। उन्नीसवीं शताब्दी दार्शनिक और धार्मिक विचारों के क्षेत्र में पूर्व-पश्चिम के आदान-प्रदान की शताब्दी है। जहाँ पूर्व को पश्चिम की व्यावहारिक लोक-मांगलिक और धर्म-निरपेक्ष धारणा के अनुकूल अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की नयी व्याख्या करनी पडी, वहाँ जर्मनी, इंग्लैंड और अमरीका के विचारक भारतीय धर्म और दर्शन की अन्तर्दृष्टियों से परिचित हुए और वे ईसाई मर्मियों (माइटिज) के जीवन और उनकी गहन साधना पर अधिक गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने लगे और उन्हें भली-भाँति समझने मे समर्थ हुए। यह दोतरफ़ा आदान-प्रदान दोनों के लिए हितकर हुआ है। इससे धर्म और दर्शन सम्बन्धी नयी विश्व-चेतना का जन्म हुआ है जो मानवजाति की मूलभूत आध्यात्मिकता में विश्वास करती है।

पिछले चालीस वर्षों में भारतीय धर्म, दर्शन और अध्यात्म के प्रमुख व्याख्याता सर्वपल्ली राधाकृष्णन् रहे हैं। उनकी रचनाएँ अंग्रेजी भाषा और साहित्य का गौरव है। इधर उनकी रचनाओं के हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित हुए हैं. जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक दार्शनिक चिन्तन को हिन्दी में व्यक्त करने के लिए पर्याप्त शब्दकोश हमारे पास तैयार है। यह अवश्य है कि यूरोपीय सन्दर्भों से अपरिचित्त पाठकों के लिए अंग्रेजी शब्दावली के साथ भारतीय धर्म-साधना और दर्शन की सर्वमान्य शब्दावली भी रख दी गयी है और सम्भवत अभी बहुत दिनों तक हमें ऐसा करना पड़ेगा इसका कारण य

कि पश्चिम का ज्ञान-विज्ञान बराबर प्रगतिशील है और एक दर्जन से अधिक भाषाओं में पश्चिमी विचार-जगत् नित्य नवीन शोध और समाधान प्रस्तुत कर रहा है। भारतीय विद्या अभी अपनी पिछली दो शताब्दी की स्तब्धता से मुक्त नहीं हुई है और उसका नया सर्जन अभी आरम्भिक स्थिति में है।

नीचे हम डॉ० राधाकृष्णन् के अनूदित ग्रन्थ 'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि' (१९६२) का एक अवतरण दे रहे हैं जिससे अनुवादक की कठिनाइयों पर प्रकाश पड़ेगा। यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे विचार का सारा ढाँचा पश्चिमीय है और पश्चिम के दार्शनिकों और विचारकों की स्थापनाओं के लिए हमें बराबर नये शब्दों का निर्माण करना पड़ रहा है। जब तक पश्चिम का सम्पूर्ण दार्शनिक और वैचारिक साहित्य हिन्दी में रूपान्तरित नहीं हो जाता तब तक मौलिक रूप से उन क्षेत्रों में नये विचार सामने रखने की सुविधा हमें प्राप्त नहीं हो सकेगी। अवतरण इस प्रकार है—

'आइडियलिज्म एक संदिग्धार्थक शब्द है और अनेक प्रकार के दृष्टिकोणों को प्रकट करने के लिए उसका प्रयोग किया जाता है। आइडिया (प्रत्यय) का अर्थ एक ऐसा एकांश व्यापी मानसिक बिम्ब (मेंटल इमेज) माना जाता है जो प्रत्येक व्यक्ति मे अलग अलग होता है और बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद (मेण्टलिज्म) और अंग्रेजी के इम्पीरिसिज्म (अनुभववाद) शब्दों में इसी अर्थ में समस्त ज्ञान को आइडिया (प्रत्यय) बताने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार ब्रह्माण्ड में विद्यमान समस्त वास्तविक वस्तुएँ ऐसी ही चीजें हैं जिनसे आइडिया (प्रत्यय) बनते हैं। प्रत्यय या बिम्ब स्वतः पूर्ण सत्ताएँ हैं. वे एक ऐसे विश्व को जानने के मार्ग नहीं हैं जो उनसे अधिक प्रात्ययिक और वास्तविक हैं। 'आइडिया' शब्द का प्रयोग पूर्ण व्यापी प्रत्यय (यूनिवर्सलनोशन) के अर्थ में भी किया जाता है। यह प्रत्यय तद्देशीय और तत्कालीन नही होता, बल्कि वह विद्यमान सत् का एक ऐसा गुण है जो अन्य सत् एवं दूसरे मनों के द्वारा ज्ञेय वस्तुओं में भी पाया जाता है। बर्कले की आइडिया सम्बन्धी प्रथम उक्ति विज्ञानवादी अधिक है, क्योंकि उसमें यह माना गया है कि सत्ता का अर्थ है स्वयं जानना या दूसरो के द्वारा ज्ञेय होना। किन्तु उसकी संशोधित उक्ति, जिसमें 'पूर्ण व्यापी प्रत्यय' पर अधिक बल दिया गया है, उपर्युक्त दूसरी श्रेणी में आती है। काण्ट की दृष्टि में ज्ञान का अर्थ है इन्द्रियजन्य बहुविध प्रत्यक्ष अनुभव का विचार की विभिन्न श्रेणियों (पदार्थ भेद-केटेगरी) द्वारा विस्तार। यद्यपि इससे उसका मुख्य आशय विभिन्न पदार्थों को एक ऐसा साधन मानने से है जिनसे कि दत्त सामग्री (गिवन डेटम) की परिधि से परे फैला विश्व ससीम मन पर अपने आपको अभिव्यक्त करता है।'[1]

---

१ सर्वपल्ली 'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि' (जुलाई १९६२, प्रथम संस्करण पृ० १।

इस अवतरण में पश्चिमी विचार-क्षेत्र में अत्यन्त प्रचलित आइडियालिज्म शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अनुवाद की कठिनाई इसी से स्पष्ट है कि अनुवादक, 'आइडिया' शब्द को संस्कृत शब्द 'प्रत्यय' से अभिव्यंजित करना चाहता है। परन्तु हमारे यहाँ इस शब्द के दूसरे ही अर्थ हैं। इसलिये अनुवादक इस शब्द के लिए 'नोशन' शब्द का भी उपयोग करता है। अंग्रेजी के 'केटेगरी' शब्द के लिए 'श्रेणी' शब्द का उपयोग किया गया है, जो अंग्रेजी शब्द की पूरी अर्थभूमिका देने में असमर्थ है। जहाँ विषय सार्वभौमिक है अथवा भारतीय विद्या से सम्बन्धित है, वहाँ अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग के बिना भी काम चल जाता है, जैसा डॉ० राधाकृष्णन् के इसी ग्रन्थ के एक दूसरे अवतरण से स्पष्ट है, जिसमें लेखक भारतीय चिन्तन-शैली का उपयोग करता है। यहाँ हमे उस भाषा-शैली का सर्वोच्च विकास मिलता है जिसका उपयोग राजा राममोहन राय से स्वामी विवेकानन्द तक अंग्रेजी के माध्यम से हुआ है। भारतीय भाषाओं में भी धर्म और दर्शन सम्बन्धी विवेचना की एक परिनिष्ठ शैली समानान्तर भूमिका पर विकसित हो चुकी है। इस अवतरण में चिन्तक ने ईश्वर और ब्रह्म के भेद को स्थापित किया है।

'इस संसार का सृजन, पालन और लय करनेवाला ईश्वर पूर्ण ब्रह्म से सर्वथा व्यतिरिक्त और सम्बद्ध नहीं है। मानवीय पक्ष से देखा जाए तो ईश्वर ही पूर्ण ब्रह्म को वास्तविक सम्भावना के साथ उसके सम्बन्ध तक सीमित कर देते हैं तब वह ज्ञानमय, प्रेममय और कल्याणमय प्रतीत होता है। नित्य सत्ता ही प्रथम और अन्तिम बन जाती है। नित्य 'मैं हूँ' की भावना, परिवर्तनहीन केन्द्र और परिवर्तनों के कारण ब्रह्म को हम प्रकृति के क्रम में आदि और अन्त दोनों के रूप मे कल्पित करते हैं। वह संसार का सृजनात्मक मन है, जिसमें सृष्टि के देश और काल में वास्तविक रूप धारण से पूर्व भी, उसकी सामान्य योजना का ज्ञान और ब्रह्माण्ड का निदेशन, सन्निहित है। वह सृष्टि की सब बारीकियों को सही परिप्रेक्ष्य में अपने सामने रखता है और सभी चीजों को प्रेम और एकत्व के बन्धन में परस्पर जोड़े रखता है। वह विश्व का वत्सल उद्धारक है। स्रष्टा और पालक के रूप में ईश्वर असली प्रक्रिया से ऊपर और अतीत होकर रहता है, जिस प्रकार की सम्भावना का वास्तविक रूप धारण करना उसकी प्रक्रिया से आन्तरिक रूप से अतीत होना ही वास्तव में मूल्य के भेदों को अर्थपूर्ण बनाता है और उसी के कारण उनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य के संघर्ष और प्रयत्न में सार्थकता आती है। सर्वोच्च सत्ता को जब हम ब्रह्माण्ड से पृथक करके देखते हैं तो उसे हमे पूर्ण ब्रह्म कहते हैं और उसे ब्रह्माण्ड से सम्बद्ध रूप में देखते हैं तो ईश्वर कहते हैं। पूर्ण ब्रह्म ईश्वर की ब्रह्माण्ड की सृष्टि से पहले की प्रकृति है और ईश्वर ब्रह्माण्डीय दृष्टिकोण से पहले पूर्ण

ब्रह्म का रूप है।'

धार्मिक और दार्शनिक विवेचन की विशुद्ध हिन्दी शैली हमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की रचना 'सहज-साधना' (१९६३) में मिलती है। यहाँ पश्चिमी भाषा-शैली का कोई आरोप नहीं है क्योंकि लेखक स्वतन्त्र विचारक है और पश्चिमी विचार-धारा से अधिक परिचित नहीं है। उसके चिन्तन और अभिव्यंजना के समस्त उपकरण स्वदेशी हैं। निम्नलिखित अवतरण में लेखक 'मधुरोपासना' की व्याख्या कर रहा है जो मध्ययुग की साधना साहित्य की विशेषता है—

'मधुरोपासना—

यह सारा व्यक्ति-जगत सीमा और असीम की क्रीड़ा-भूमि है और अगुण और सगुण का मिलन-क्षेत्र है। एक तत्व है जो अनन्त की ओर गतिशील है। दूसरा तत्व है, जो उसको सीमा की ओर खींच रहा है। इसीलिए यह सारी सृष्टि रूपायित हो रही है। रूप क्या है? अरूप गतिमय असीम को सीमा में उपलब्ध करने का परिणाम है। गति असीम है, तालों में बँधने पर वह सीमित हो जाती है। सीमा और असीम के इस द्वन्द्व को ही हम नृत्य के रूप में उपलब्ध करते हैं, स्वर अनन्त हैं, छन्द उस सीमा में बाँधने का प्रयत्न है। छन्द, लय, ताल इत्यादि के बन्धनों में बँधा हुआ स्वर ही हमें काव्य और गान के रूप में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार शब्द असीम है, अपार है। अर्थ के द्वारा उसे हम भाषा में बाँधने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ देखो, इस सीमा और असीम की केलि-लीला दिखाई दे रही है। मध्ययुग के संत और भक्तों ने नाना भाव से इस तत्व को हृदयंगम किया है। किसी ने शिवशक्ति के रूप में, किसी ने प्राण-अपान के रूप से, किसी ने चित्-अचित् के रूप में इस द्वन्द्व को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। जीव सीमा से बँधा हुआ है, वह प्रत्येक वस्तु को नाम और रूप की सीमा में बाँधकर देखना चाहता है, यही उसके लिये सहज है। भक्तों ने इसी अध्यात्म-तत्व को सहज भाषा में कहने का प्रयत्न किया है।'[२]

इस अवतरण की शैली पर भारतीय पाण्डित्य की स्पष्ट छाप है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि चिन्तक पूर्व-परम्परा का अनिवार्य रूप से पालन करे। मौलिक चिन्तन का एक स्वरूप सूत्रबद्ध चिन्तन भी है जिसमें लेखक मकड़े के जाले की तरह अपने विचारों को अपने भीतर से निकालता है और अपनी ही सामर्थ्य से विचार का ऐसा इन्द्रजाल बुनता है कि हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, महात्मा

---

१. सर्वपल्ली राधाकृष्णन 'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि' जुलाई, १९६२) प्रथम संस्करण, पृ० ३६४-३६५।

१ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी सहज साधना' १९६३ प्रथम) पृ० ८३

भगवानदीन की रचना 'अपनी पहचान' (१९६६) के ये दो उद्धरण यथेष्ट होंगे। पहले का शीर्षक है 'इच्छा डर की जननी' और दूसरे का 'अहंकार की आत्म-प्रवंचना'।

'इच्छा डर की जननी'

'जब भी मैं नया रूप धरने की सोच रहा होता हूँ, तब मैं डर रहा होता हूँ। डर के बिना रहना यानी रूप धरे बिना रहना। जब भी मैं कोई जीवन की नई राह निकाल रहा होता हूँ, तब पहली राह से डर रहा होता हूँ। इससे यह नतीजा निकला कि मेरी नई-नई इच्छायें ही मेरे डर का कारण हैं। मैं इन इच्छाओं के जाल में से कैसे निकलूँ ? यह उसी वक्त हो सकता है, जब मैं असलियत को पहचान लूँ। जहाँ असलियत है वहाँ डर नहीं। यह डर ही है, जो इच्छाओं का ताना-बाना बुनता रहता है। याद रहे, डर से बचने के लिए अगर आप कोई भी रूप धारण करने लगेंगे तो डर से बचने की जगह डर के जाल में फँस रहे होंगे। डर से बचना और मरने से बचना या धन खोने से बचना सब एक ही बात है। सब में डर का जन्म होता है। क्योंकि सबके पीछे इच्छा मौजूद रहती है और इच्छा डर की जननी है। अब सवाल यह पैदा होता है कि मैं डर से बिना डर पैदा किये कैसे छुटकारा पाऊँ। इसका एक ही इलाज है कि अपने को पहिचानना, निष्कर्ष बनना यानी उस अवस्था में आना जिसमें रचना अपने आप होती है। जिस वक्त मैं अपनी क्रिया अपने आप देख रहा हूँगा यानी मैं केवल द्रष्टा हूँगा, तब और तभी मैं डर रहित हूँगा क्योंकि उस वक्त मैं इच्छा रहित हूँगा। मैं आप अपने आपमें समाया हुआ हूँगा। यही वह रूप होगा, जो मेरा असली रूप है। यानी जब मैं वह होऊँगा जो मैं हूँ, तब और तभी मैं भयरहित होऊँगा। जब भी मैं मन में निवास करता हूँ, तब मैं डर में निवास कर रहा होता हूँ। मन करता ही क्या रहता है ? पुराने रूप से चिपका रहता है या नये रूप को गढ़ता रहता है। यानी एक डर से बचकर दूसरे डर में कूदता रहता है।'[1]

'अहंकार की आत्म प्रवंचना'

'अहंकार यानी कि 'मैं हूँ', 'मैं कुछ हूँ', 'मैं ये हूँ, 'मैं वो हूँ', एक बीमारी है और ये सबको है। कम-ज्यादा का भेद हो सकता है। कम-ज्यादा यों कि हमें धर्म-ग्रन्थ डराते हैं। स्वर्ग का लालच देकर या नर्क का डर दिखाकर हमारे 'मैं' को मिटा तो नहीं सकते, हाँ हद से बाहर जाने से रोकते जरूर हैं। ये 'मैं' हम सबके पीछे पड़ा हुआ है। किसी भी तरह हमारा पीछा नहीं छोड़ना चाहता। हममें से कुछ तो ये माने हुए हैं कि हम में से 'मैं' गया तो सब गया। ये 'मैं' का ही तो जमूहड़ा है जो हम उन्नति करते हैं। मैं न हो तो ठस रह जाय। अब बताइए जिस मैं की इतनी कद्र है उस मैं से

---

१ महात्मा भगवानदीन : अपनी पहचान (१९६६ प्रथम) पृ० १०६-१०७

पीछा कैसे छुड़ाया जायँ। पर धर्म शास्त्र है कि इसी पर जोर देता है। अहंकार कम करो, छोड़ो'। राजा अहंकार की मूर्ति पर उपदेश देता है। अहंकार छोड़ो, कम करो, इतना ही नहीं, ये भी कह डालता है कि मैं आपका सेवक हूँ यानी अहङ्कार रहित हूँ। देखी अहंकार की करामात? देखी अहंकार की आत्मप्रवंचना? बस इस अहंकार से बचने के लिए, अहंकार से सदा सचेत रहना होगा।'[1]

इन दोनों शैलियों की मध्यवर्तिनी शैली डॉ० सम्पूर्णानन्द के ग्रंथ 'हिन्दू देव परिवार का विकास' (१९६४) में देखी जा सकती है। इस ग्रन्थ का एक अवतरण इस प्रकार है—

'आज मनुष्य मात्र के सामने विज्ञान की प्रगति ने कुछ बड़े प्रश्न उपस्थित कर दिये हैं। उसने मनुष्य को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की है और शक्ति तथा सम्पन्नता का द्वार खोल दिया है। परन्तु ऐसा लगता है कि मनुष्य अपने को सम्भाल नहीं पा रहा है, उसमें वह बुद्धि नहीं है जिसके सहारे इस शक्ति से काम लिया जा सकता है। राग-द्वेष के अंकुश में काम करने वाला मानव पृथ्वी का संहार कर सकता है। उसने ऋतु को तो कुछ-कुछ जाना है। परन्तु सत्य से बहुत दूर है। विज्ञान ने उसको मदान्ध कर रखा है और वह अपनी तर्कशक्ति और प्रकृति पर अपनी विजय से इतना धृष्ट हो गया है कि श्रद्धा खो बैठा है, परमात्मा और परादेवता को निरर्थक कल्पना मानने लगा है। परन्तु आज भी समझदार लोग हैं जो उसको चेतावनी देते हैं। विज्ञान के प्रकांड पंडितों में ऐसे महापुरुष हैं जिनमें ज्ञानानुरूप नम्रता है, जो विज्ञान की सीमाओं से परिचित है, जिनको विज्ञान किसी अनिर्वचनीय तत्व और चेतना के किसी अतीन्द्रिय स्रोत का सन्देश देता प्रतीत होता है। देखना यह है कि मनुष्य उनकी बात सुनता है या नहीं है।'[2]

यहाँ लेखक अध्यापक की भाँति अपने विचार की स्पष्टता का ही आग्रही है। वह विचार की बहुत गहराई में प्रवेश करना नहीं चाहता। छोटे-छोटे वाक्यों में अपनी विचार-धारा को बाँधकर वह अपनी विचार-सम्पत्ति को सर्वसाधारण को सुलभ बनाना चाहता है।

पांडित्यपूर्ण दार्शनिक विवेचना-शैली का एक उदाहरण डॉ० उमेश मिश्र के ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' (१९५७) से दिया जा सकता है। इस शैली में पांडित्य-प्रदर्शन का प्रयत्न स्पष्ट जान पड़ता है। लेखक अपने मन्तव्य की पुष्टि में आप्त ग्रंथों के अवतरण

---

१. महात्मा भगवानदीन : अपनी पहचान, 'अहङ्कार की आत्म-प्रवंचना' (१९६६ प्रथम), पृ० १५९।

२. डॉ० सम्पूर्णानन्द : 'हिन्दू देव-परिवार का विकास', (१९६४ प्रथम सं०) पृ० २१८

देता चलता है। प्राचीन ढङ्ग के पांडित्य का भारीपन इस अवतरण में स्पष्ट दिखाई देता है। अवतरण आत्मवाद से सम्बन्धित है और लेखक आत्मदर्शन अथवा साक्षात्कार सम्बन्धी विचारणा को निर्विकल्प समाधि की उस भूमिका पर स्पष्ट करना चाहता है जो योगियों का विषय है। विषय अत्यन्त गूढ़ है और उसने लेखक की अभिव्यंजना को पूरी चुनौती दे रखी है, फिर भी लेखक अपने विचारों के स्पष्टीकरण में बहुत दूर तक सफल हुआ।

'नाना प्रकार के क्लेशों से पीड़ित होकर उनसे छुटकारा पाने के साधन को ढूँढता हुआ साधक आचार्य के समीप जाता है। उनसे अपने दुःख से छुटकारा पाने का उपाय पूछता है। उसके दुःख से दुःखी होकर, उसपर अनुकम्पा दिखाते हुए आचार्य उपदेश देते हैं—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'—अरे! आत्मा को देखो, उसी से दुःख की निवृत्ति होगी। आत्मा को देखने से वस्तुतः 'जीव' अपने को ही देखेगा। अनादिकाल से खोये हुए अपने स्वरूप को देखकर, उसे कितना आनन्द होगा। इतने समीप में, अपने शरीर ही के अन्दर विद्यमान अपने को अब तक वह नहीं देखता था। अपने आपको ढूँढने के लिए उसे कहीं जाना नहीं था। फिर भी वह भूले-भटके की तरह अपने को खोकर दुःखी था, पागल था। आज उस खोये हुए अपने को, अपने ही शरीर में पाकर उसे कितना आश्चर्य होगा, कितना आनन्द होगा, किन्तु क्या यथार्थ में वह उस 'आनन्द' का अनुभव कर सकेगा? यह ध्यान रखने की बात है कि वह अपने को 'साक्षात्' देखेगा। दर्पण में अपने मुख के प्रतिबिम्ब के समान कल्पित रूप में अपने को नहीं देखेगा। 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के मध्य में किसी के रहने से दृश्य का साक्षात दर्शन द्रष्टा को नहीं हो सकता। इसलिये दो ही हैं-एक 'द्रष्टा' और दूसरा 'दृश्य' परन्तु द्रष्टा अपने को तभी साक्षात देखेगा और पहचानेगा जब देखने की वस्तु भी 'द्रष्टा' ही हो, उससे भिन्न न हो 'दृश्य' न हो। 'दृश्य' तो द्रष्टा' से भिन्न है, वह 'द्रष्टा' का अपना स्वरूप नहीं है। वह 'द्रष्टा' का अपना स्वरूप ही है जब दोनों ही 'द्रष्टा' ही जायेंगे। दोनों में किसी प्रकार का भेद न होगा, तब कौन किसे देखेगा? याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कहा है—

'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्।'

फिर दो नहीं रहेंगे, और दो नहीं रहने से एक का भी भान नहीं रहेगा। एक और दो, ये तो सापेक्ष संस्थायें हैं। अनादिकाल से खोये हुए 'अपने' को 'आप' ही पाकर आनन्दसमुद्र में वह मग्न हो जाता है, अपने को भूल जाता है। इस स्वरूप के वर्णन के लिये शब्द में सामर्थ्य नहीं; यह स्वरूप अनिर्वचनीय, अवाङ्मनसगोचर है।'[1]

---

१. डॉ० उमेश मिश्र : 'भारतीय दर्शन' (१९५८, प्रथम संस्करण), पृ० ३४५ ४६।

जाता है, जिसका कोई मान-चित्र उसके पास नहीं है। बहुत कम लेखक और विचारक ऐसे है जो चिन्तन के इस मूलबद्ध रूप तक पहुँच सके। हिन्दी का सौभाग्य है कि उसे जैनेन्द्रकुमार के रूप में ऐसा विचारक और चिन्तक प्राप्त है।

जैनेन्द्र का विचारात्मक गद्य साहित्य सन् १९३९ से आरम्भ होता है। इससे पहले वे उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में प्रसिद्ध हो चुके हैं और उनकी सर्जनात्मक रचनाओं से उनकी विचारात्मकता और नैतिकता की सम्पूर्ण भूमिका स्पष्ट हो जाती है। लगभग तीस वर्षों के विस्तृत अभ्यास ने जैनेन्द्र को वक्ता, व्याख्याता, विचारक और गद्य शैलीकार एवं निबन्धकार के रूप में एक ऐसे शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया जो हिन्दी के अन्य किसी लेखक को प्राप्त नहीं है। उन्हें हम चाहे पुरातनवादी, अध्यात्म-वादी या गांधीवादी कहें, यह स्पष्ट है कि उनकी सूझ-बूझ उनकी अपनी चीज है और अन्य लेखकों की अपेक्षा विचार की साधना को अपने लेखन कर्म में कहीं अधिक स्थान दिया है। उनपर आल्डस हक्सले की यह मान्यता लागू होती है कि श्रेष्ठतम् विचार व्यक्तिगत और अव्यक्तिगत विभाजनों से ऊपर उठ कर एकदम सार्वभौमिक और सार्व-जनिक होता है। उसका अपना ज्योतिवलय रहता है जिसके बीच में वह अपनी पूर्णसत्ता मे प्रतिष्ठित रहता है।

पाप और पुण्य की समस्या मानव-चेतना के आरम्भ से ही महत्वपूर्ण समस्या रही है। ईसाई धर्म में तो वह मूल विचारणा ही है जिससे उसके तत्व चिन्तन का आरम्भ होता है। जैनेन्द्र अपने ग्रन्थ 'इतस्ततः' (१९५९) में एक स्थान पर इस समस्या पर विचार करते हैं--

'तो पाप है। इसलिए नहीं कि ईश्वर ने उसकी सृष्टि की है, बल्कि इसलिये कि मनुष्य को उन्नति करनी है। मनुष्य वर्तमान से आगे भविष्य को देखता है, और वर्तमान को व्यतीत से जोड़कर देखना चाहता है। यह क्षमता उसमें आकांक्षा और विवेक को पैदा करती है। पशु सिर्फ होता है, चाहना-सोचना उसमें होने से अलग नहीं है। आदमी की चाह असल में होने (प्राप्त) से सदा अनहोने (अप्राप्य) की ओर जाती है। इस तरह प्राप्त और प्राप्य में मनुष्य के भीतर निरन्तर ही एक तनाव रहता है। इसी में से कर्म उपजता है और मनुष्य प्रगति करता है। जैसे दाएँ-बाएँ पैर से चला जाता है वैसे ही पाप-पुण्य के विवेक से ऊपर को उठा जाता है। पाप का होना इस दृष्टि से सृष्टि-विधान में गलत नहीं रह जाता, बल्कि बेहद जरूरी हो जाता है, कारण, उसके अभाव में स्थिति से भिन्न हम गति की कल्पना ही नहीं कर सकते। तब सारा पुरुषार्थ गिर जाता है और विकास की क्रिया रुक जाती है।

पाप वह जिसमें हम खिंचते हैं और खिंचना नहीं चाहते। जिसे आधा मन चाहता है, आधा एकदम नहीं चाहता। जो हमें स्वाद में अच्छा लगता है, परिणाम में बुरा लगता

है। पाप इस तरह आदमी के अपने अन्दर के द्वन्द्व में बसता है। पशु की पशुता में पाप नहीं है, पाप मनुष्य की पशुता में है। अर्थात् पशुता को पाप नहीं कहा जा सकता, पाप का प्रवेश तभी होता है जब प्राणी निरा पशु नहीं है, मनुष्य भी है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि पाप की स्थिति बिना पुण्य के हो नहीं सकती।'[1]

यहाँ विचार चिन्तन बनकर सामने आता है। पहले ही वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक पूर्व-सिद्धान्तों में बँधा नहीं है। ह पाप की समस्या को एक क्षण मे ही समाप्त कर देता है क्योंकि उसके विचार में ईश्वर की ओर से पाप है ही नहीं। पाप मनुष्य के लिये है, इसलिये कि वह अपने लिये बन्धन बना लेता है और अपनी आकांक्षाओं तथा विवेक को इस प्रकार परिचालित करता है कि वह प्राकृतिक नियमो के विपरीत काम करने लगता है। पाप मनुष्य की ही कल्पना है क्योंकि मनुष्य अपने मे पशुता देखना नहीं चाहता और पशुता से ऊपर उठने के लिये बराबर यत्नशील रहता है। पाप की तरह पुण्य भी मनुष्य की कल्पना है। लेखक के विचार में ईश्वर ने पाप की सृष्टि इसलिये भी की है कि मनुष्य को उन्नति करनी है। उसके विचारों से चाहे वह सहमत हो या नहीं, लेखक उसका ताना-बाना कुछ इस तरह बनाता है कि उसके निष्कर्ष अपरिहार्य हो जाते हैं।

जैनेन्द्र के विचार की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह दूसरे अथवा विरोधी सिरे से शुरू करते हैं और अन्त तक अपनी धारणा में विरोधाभास बनाये रखते है। सामान्य लोग जैसा सोचते हैं वैसा सोचना उन्हें पसन्द नहीं है। सामान्य लोग जीवन को महत्ता देते हैं, जैनेन्द्र मृत्यु के कायल हैं। इस प्रकार की विरोधी मुद्रा लेखक के चिंतन मे एक नयी स्फूर्ति को जन्म देती है। विचार की यह विरोधी भंगिमा उसे आकर्षक बना देती है और पाठक के लिये यह आवश्यक होता है कि लेखक के प्रत्येक शब्द के प्रति अपनी जागरूकता बनाये रखे। इसे एक प्रकार की नाटकीयता कहा जा सकता है। एक दूसरी विशेषता यह है कि जैनेन्द्र विचार और पाठक के बीच में भाषा नहीं आने देते। साधारणतः विचारक भाषा द्वारा सम्वेदित रहते हैं। वे परम्परागत शब्दों का प्रचलित अर्थों में प्रयोग करते हैं और विचार-गाम्भीर्य के प्रदर्शन के लिए अपने शब्दकोश से कठिन-से-कठिन और अप्रचलित-से-अप्रचलित शब्द उठाते है। जैनेन्द्र की स्थिति इससे विपरीत है। वह सरल-से-सरल शब्दों का बड़ा सारगर्भित और व्यंजनापूर्ण उपयोग करते हैं। भाषा उनके चिन्तन के साथ आगे बढ़ती चलती है और कहीं भी आभास दिखाई नहीं पड़ता। इस विरोधाभास की शैली का एक उदाहरण इस प्रकार है—

'मैं मृत्यु का कायल हूँ। जीवन से अधिक उसका कायल हूँ। यह परमेश्वर का

---

१ जैनेन्द्र कुमार 'इतस्ततः' (सितम्बर १९५१ प्रथम) पृ० १७० १७१।

वरदान है। मैं मृत्यु को समाप्त नहीं चाहता हूँ। उसके बिना जीवन असह्य हो जायगा। चण मरता जाता है कि समय जिये। व्यक्ति को मरते रहना चाहिये कि विराट जी सके। आदमी मरे नहीं तो निरन्तरता किस तरह अक्षत रह सकती है। इसलिये जीवनमे मृत्यु का विचार मुझे परम कल्याणमय जान पड़ता है। इसमें से भय प्राप्त हो सकता है, वैराग्य प्राप्त हो सकता है। निराशा और उदासीनता प्राप्त हो सकती है। उस उपलब्धि को भी मूल्यवान मानूँगा। गृहीतइववकेशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत। मौत सिर पर है, यह यदि हम याद रखें तो धर्म आचरण सहज होता है। अन्त में वही धर्म साथ भी जाता है। यों तो जिन्दगी में आदमी खूब करना-धरना लगाये ही रहता है। पर जाते वक्त उसका यह किया धरा सब यहीं रह जाता है। राव तब उसी तरह अपने को रीता और बीता पाता है जैसे रंक। वहाँ आकर सब समान हो जाते हैं। अन्तर यदि रहता है तो धन और मान की कमाई के कारण नहीं, धर्म की कमाई के कारण रहता है। धर्म की कमाई उसके स्नेह की याद। वह छूटी हुई याद फिर जीवन का निर्माण करती है। इसलिये कुछ लोग हैं जो मर कर ही अमर बनते हैं। वह मृत्यु को जीतते हैं। जीतते इसलिये हैं कि अपने जीवन-काल में वे उसको स्वेच्छा से वरण करते और धन्य भाव से उस मृत्यु को सदा अपने अन्तरंग में धारण किये चलते है। वे ही द्विज होते हैं। वे आकांक्षा और स्वार्थ से जी नहीं पाते। एक स्नेह की ही पूँजी उनके पास होती है जो उनके मृत्युवरण के कारण पुष्ट ही होती जाती है, अहं के उदय के लिये उनमें कोई अवकाश नहीं छोड़ती।'[1]

जैनेन्द्र की गद्य-शैली की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे कहानी की वर्णन-शैली और नाटक की सम्वाद-शैली का भी अपने निबन्धों और लेखों में स्थान-स्थान पर उपयोग करते हैं। उनका विचारक जब कहानीकार से तालमेल बढ़ा लेता है तो उनकी रचना बड़ी हृदयग्राही और आकर्षक बन जाती है। घटना एवं मनःस्थिति से वे अपने लेख अथवा निबन्ध का आरम्भ करते हैं। परन्तु एक क्षण वे गम्भीर और मूलबद्ध विचार पर पहुँच जाते हैं और सामान्य वर्णन को गम्भीर चिन्तन का ऐश्वर्य प्रदान कर देते हैं। सामयिक जीवन के चित्र भी साथ-साथ चलते हैं। वे अधिकतर अपने जीवन पर से ही सोचते हैं, परन्तु धीरे-धीरे उसमें आसे-पास के लोग और फिर समाज के अन्य प्राणी भी आत्मसात हो जाते हैं। वे व्यक्तियों के नाम लेकर रचना को प्रामाणिकता प्रदान करते हैं और कहानीकार की तरह समस्या को भावना-मंडित कर उसके समाधान को पाठक पर छोड़ देते हैं। उदाहरण के लिए हम इस अवतरण को ले सकते हैं जिसमें लेखक पैसे के सम्बन्ध में अपनी परेशानी से आरम्भ कर उसकी अनि-

---

१. जैनेन्द्रकुमार : 'इतस्ततः' (फरवरी, १९६०, प्रथम) पृ० ११६-११७।

वार्यता और अन्त में अपनी असार्थकता तक पहुँच कर विचार का पूरा चक्र ही समाप्त कर देता है। पैसा व्यक्ति के दु.ख और चिन्ता का कारण बन सकता है परन्तु पैसे के त्याग में जो आनन्द का भाव है, वह उसकी उपादेयता से कहीं बड़ी चीज़ है। अवतरण इस प्रकार है—

'इधर तीन रोज़ से मैं बेहद परेशान हूँ। कारण, पैसा। सोचता हूँ पैसा दुःख का कारण कैसे हो सकता है या फिर सुख का। भगवान की ओर से तो बनकर आया नहीं है यह पैसा। जीवन अलबत्ता वहीं से बना है। फिर बात क्या है कि दुःख और सुख पैसे पर आ टिकता है।

यह सवाल बरसों बरस से मेरे साथ है। हल ज़रा भी नहीं हो पा रहा है। मैं आस्तिक हूँ और असत् की सत्ता नहीं मान सकता। पैसे में असत् देखना तो उसमें शक्ति नहीं मान पाता। शक्ति तो मानवी ही होती है। इससे मेरे लिये तय है कि उसमें असत् नहीं देखूँगा। सत् देखने की ही कोशिश करूँगा।

तो वह क्या सत् और सत्य है जो पैसे को शक्ति देता है? शक्ति है, यह मानने के लिये तो कहीं दूर जाना नहीं है। खुद मुझमें उसका प्रमाण है। आस-पास चारों तरफ प्रमाण ही प्रमाण हैं।

पड़ोस के वकील साहब हजार रुपया रोज की फीस ले लेते हैं, तब कदम आगे रखते हैं। लाला साहब मिल पर मिल बनाते जा रहे हैं। पैसे की जरूरत नहीं है, फिर भी कुछ है जो उनमें करोड़ से आगे अब अरब चाहता है। कुन्दन मेरे यहाँ तीस रुपये पर काम।'''

'क्या मतलब?'

'ऐसा मालूम होता है कि त्याग का आदर्श आप पर सवार है। उसी से फिर झगड़ा भी है। नहीं तो घबराहट क्यों?''' '''लेकिन सच मानिए मैं त्याग का एकदम कायल नहीं हूँ। मैं उसमें बड़ाई देख नहीं पाता। मेरे अन्दर उसकी महिमा का भाव रंच मात्र नहीं है। मैंने कहा था कि गांधीतत्व-विचार में मुझे न ले चलिए। गांधी की व्याख्या मैं नहीं दे सकूँगा। दूँगा तो हो सकता है वह गांधी की रह न जाय, मेरी हो जाय। गांधी का लोगों ने त्याग लिया, गांधी का लाभ किसने लिया। त्याग छिलका था, लाभ सार था। मैं नहीं मानता कि गांधी को उसने तनिक भी पाया है जिसने छिलका लिया है, सार फेंका है। अन्दर आनन्द का भाव नहीं है तो त्याग दम्य है।'[1]

इसी के साथ हम लेखक के 'प्रस्तुत प्रश्न' (१९६१) से यह प्रसंग लेंगे जहाँ लेखक ने प्रश्नोत्तर के रूप में अपने विचार सामने रखे हैं। ध्यान देने की बात यह है

१- जैनेन्द्रकुमार : 'इतस्ततः' (मई १९६० प्रथम) पृ० २३५ २३६।

कि प्रश्न और उत्तर दोनों पूर्व-कल्पित नहीं हैं। वे अनायास ही आते हैं और लेखक के सहज-चिन्तन के सम्बन्ध में हमारी धारणा को सुन्दर और प्रशस्त बनाते हैं। इस प्रकार के अनौपचारिक संवाद लेखक के अन्त:चेतना-प्रवाह को अधिक सफलता से पकड़ने में समर्थ हैं। जैनेन्द्र सभा-चतुर और वाग्मी लेखक हैं। वे शब्दों के बाजीगर हैं। इसीलिये वे प्रश्नकर्त्ता की पकड़ में नहीं आते। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे अपने विचारों के प्रति ईमानदार नहीं हैं। उनके विचारों का एक केन्द्र है जो उनका व्यक्तित्व है अथवा गांधी दर्शन है। वैसे जैनेन्द्र ने अपने को गांधीवादी नहीं कहा, क्योंकि वे गांधीवाद को भारतीय आध्यात्मिक परम्परा से भिन्न वस्तु नहीं मानते। भारतीय संतों की तरह वे स्वयं सत्य, अहिंसा, धर्म, ईश्वर आदि विचार-प्रतीकों की आड़ लेकर चलते हैं और इसीलिये आधुनिकता के आग्रह के लिए वे पूर्णत: सुबोध नहीं हैं। हमें उन्हें उनकी सीमाओं में ही देखना और पाना है। जिस अवतरण का यहाँ पर उल्लेख किया गया है वह जीने के प्रश्न से उठता है और प्रेम की उस परिभाषा पर आकर रुकता है जिसमें उसे अपने को दे डालने की आतुरता कहा गया है।

प्रश्न– आप क्यों जीते हैं ?

उत्तर– जब तक मौत न आये क्या उससे पहले ही मरना होगा ?

प्रश्न– तो क्या अन्तिम ध्येय मौत हुई ?

उत्तर– जीने का अन्त मौत है। अगर ध्येय भी मौत हो सके तो इसी घड़ी मर जाना क्यों न बेहतर समझा जाय ? इसलिये मौत ध्येय तो कभी नहीं है, अन्त बेशक मौत है।

प्रश्न—मौत नहीं, तो फिर ध्येय क्या है ?

उत्तर—ध्येय है मुक्ति।

प्रश्न—मुक्ति क्या ?

उत्तर—व्यापक या व्याप्त सत्ता।

प्रश्न—खुलासा समझाइये।

उत्तर—अब मैं व्यक्ति बनकर रहता हूँ। उससे अतीत बनकर रहना जब मेरे लिये सम्भव हो जायगा तब वह स्थिति मुझ व्यक्ति के लिये मुक्ति होगी।

प्रश्न—यानी मुक्ति हुई व्यक्ति का व्यक्तित्व-नाश ?

उत्तर—हाँ।

प्रश्न—तो यह एक तरह की मौत हुई। और मौत ही नहीं खुदकशी-सी भी जान-बूझकर हुई। यानी मुक्ति और मृत्यु एक हो गये ?

उत्तर—हाँ, एक लिहाज से मुक्ति व्यक्ति की मौत है, क्योंकि वह क्षुद्र व्यक्तित्व विराट व्यक्तित्व में मिट जाता है। ऐसी मौत होना बहुत अच्छा है।

प्रश्न—अजी जब व्यक्ति ही नहीं बचा तब विराट व्यक्तित्व की अनुभूति क्या और 'बहुत अच्छा' क्या ? विराट की अनुभूति समीप की परिभाषा में ही तो होगी ?

उत्तर—यह पहले से बताने की बात थोड़े ही है। गुड़ का स्वाद तो असल मे चखने से ही मालूम होगा। यों बातों में और सब-कुछ है असली स्वाद नहीं है।

प्रश्न—पर ऐसा गुड़ का स्वाद क्या जिसकी जुबान के नाश पर ही पता चलने की सम्भावना है ?

उत्तर—वह स्वाद एकदम हमसे अपरिचित भी नहीं है। प्रेम मे हमें स्वाद आता है। पर प्रेम अपने को दे डालने की आतुरता के सिवा क्या है ?'[1]

जैनेन्द्र के विचार का सर्वश्रेष्ठ प्रतिग्रन्थ 'समय और हम' (१९६२) है जिसमे उन्होंने आधुनिक मानव समाज के लगभग सभी प्रश्नों पर विचार किया और धर्म, अध्यात्म एवं मनोविज्ञान की गम्भीरतम समस्याओं से अपना परिचय दिखलाया है। इस ग्रन्थ में विचार महाकाव्यात्मक गरिमा और विश्वकोशीय विस्तार लेकर सामने आता है। इसमें प्रश्नों के अनुरूप ही लेखक की शैली बदलती रहती है। लेखक कहीं एकदम व्यक्तिगत हो जाता है और कहीं एकदम अपने को निरपेक्ष बना लेता है। भाषा का अत्यन्त मार्मिक और सार्थक प्रयोग हमें इस ग्रंथ में मिलेगा। कोई भी शब्द जैनेन्द्र के लिए अछूता नहीं है, यहाँ तक कि नितांत बोलचाल में आने वाले गँवारू शब्दों का भी उन्होंने बड़ा ही समर्थ उपयोग किया है। उदाहरण के लिये निम्न अवतरण का प्रारम्भ भाग लिया जा सकता है जिसमें लेखक अकालमृत्यु को अपने चिन्तन का विषय बना रहा है।

'बिजली तड़कती है तो काला आसमान ज्योति की रेखाओं से एक साथ दरक आता है। इसी तरह ऐसे अकाल पुरुषों के चमक कर मानो एकाएक तरेड़ पाकर टूट रहता है। काल फट जाता है और उस पुरुष का आविर्भाव नये युग के प्रादुर्भाव का सूचक बन जाता है। यह मुझे उचित और संगत से आगे अनिवार्य लगता है कि अकाल पुरुष की अकाल मृत्यु हो। ऐसी ही मृत्यु से काल मानो अमरता को अपने बीच अवकाश देने को विवश होता है। स्पष्ट है कि अकाल मृत्यु तभी हो सकती है, जब व्यक्ति से प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वेष की ऐसी शक्ति का उद्भव हो जो उद्विग्न और विचलित होकर हत्या और हिंसा पर उतारू हो आये। यह प्रक्रिया मानो मूल शक्ति के अभिनन्दन स्वरूप घटित होती है।

अकाल-मृत्यु को महिमान्वित करना चाहता है,ऐसा मतलब आप न लें। ईसा के साथ चोरों ने भी फांसी पायी थी। मतलब यह कि जिसको शीर्ष और केन्द्र में लेकर

१ जैनेन्द्रकुमार प्रस्तुत प्रश्न जनवरी १९६१ सं० पृ० २८६ २८७

तीव्र प्रेम और तीव्र द्वेष जगत को मथता हुआ ऊपर आ उठता है, वे मानो परमेश्वर की ओर से मानवता के आत्म-मन्थन के निमित्त भेजे हुए अवतारी पुरुष ही होते हैं। उस कृति के उदाहरण से जगत् आत्म-दर्शन और आत्मलाभ का अवसर पाता है। मानो उस उपलक्ष्य से आदितत्व अपने आदि द्वन्द्व में जूझते हुए दीख आते हैं। राम-रावण, पांडव-कौरव, धर्म-अधर्म का युद्ध चाक्षुस् जगत् में प्रत्यक्ष हो जाता है।

उन्हें संगत मृत्यु मिली।

'गांधी के जीवन के साथ वही मृत्यु मेल खाती है जो उन्हें मिली। मानो वह उनके जीवन-पाठ को परिपूर्णता देती है। प्रेम को अहिंसा कह सकते हैं, लेकिन सत्य के बिना सब अधूरा है, यह पाठ उस मृत्यु से अमोघ बन जाता है। सम्भव था कि जीवन द्वारा वह कुछ ओझल भी रह जाता और हम उस महात्मा के लोकपक्ष को ही देखते। मृत्यु से मानो उसके आत्मपक्ष, आलोक-पक्ष की पीठिका भी स्पष्ट हो आती है।'[1]

प्रसंग गांधी जी की अकाल मृत्यु का है। लेखक इसे अकाल-मृत्यु मानता हुआ भी यह मानता है कि ऐसी ही मृत्यु गांधी के जीवन से मेल खाती है और यदि यह अकाल मृत्यु है तो वह गांधी को सिमेटकर महिमान्वित ही हुई है।

इसी ग्रंथ के अन्य उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्र हमारे प्रथम विचारक हैं जो मूलतः हिन्दी में ही सोचते हैं क्योंकि उनके शब्द एकदम अप्रत्याशित और असंगत जैसे लगते हैं परन्तु अपने स्थान पर वह पूर्ण रूप से सार्थक रहते हैं। उनकी भाषा-शैली में शब्दों का एक पूरा प्रजातन्त्र दिखलाई पड़ता है जिसमें छोटा-बड़ा, अच्छा-बुरा कोई नहीं है। सब अपने स्थान पर सार्थक हैं। 'चँहक', 'किम्मूढ़', 'औंधा', 'नेस्तनाबूद' आदि कुछ ऐसे शब्द इस अवतरण में मिलते हैं जो 'अहन्ता' जैसे दार्शनिक विषय की विवेचना में सामान्यतः उपयोग में नहीं आ सकते। परन्तु जैनेन्द्र के यहाँ वर्जनीय शब्द कोई है ही नहीं। वे खड़ी बोली के मूल प्रदेश के निवासी हैं और उनकी भाषा-शैली में हमारी साहित्यिक भाषा सम्भ्रांत वर्गों की सीमाओं से बाहर निकलकर जनसाधारण तक पहुँच जाती है। मेरठ, हस्तिनापुर, दिल्ली और सहारनपुर के बीच के भू-भाग के ऐसे अनेक अप्रचलित बोलचाल के शब्द हैं जो जैनेन्द्र की भाषा-शैली को सजीव और शक्तिशाली बना देते हैं।

'विस्मय होगा आपको यह जानकर कि अहन्ता जब अपने में क्षुब्ध-प्रक्षुब्ध होकर चँहक पड़ती है, तो कैसे-कैसे काम कर जाती है। विष्ठा और वमन तक का खाना सम्भव बनता है। और यह नित्यप्रति घरों में हम देखते हैं कि आत्म-गर्व में सिर फोड़ा जाता है, अपने को नोचा और काटा जाता है और ऐसे सन्तोष प्राप्त किया जाता है। सन्तोष इस बात का होता है कि सामने का व्यक्ति कुछ भी प्रतिकार नहीं कर

१ जैनेन्द्रकुमार 'समय और हम' (१९६२), पृ० ६४७-६४८

सकता, हारा-सा ठिठका किम्मूढ़ रह गया है। उसकी पराजय और अपनी विजय इसमें मालूम होती है। अर्थात् अहन्ता के चहकने और ठन आने पर जो औंधा है, वह सहज हो जाता है और जो अरुचि और विमर्श का कारण है, उसी में रुचि और प्रवृत्ति होने लगती है। यह अहन्ता के लिए कम महिमा और गरिमा का प्रश्न नहीं है कि वह सारी भगवत्ता को नेस्तनाबूद करने की चुनौती दे उठे और सचमुच वैसा कर निकले। पाप का कुछ उसी प्रकार का मनोविज्ञान है और इसी कारण बड़े अपराधी बड़े शालीन और आत्मविश्वासी पुरुष पाये जाते हैं। इतिहास के महान् अधिकारियों की गवेषणा हो, तो क्या जाने अधिकांश वे निकलें जो महान् नेता और विजेता समझे जाते रहे हैं। यह लगभग अनिवार्य है कि बड़ा पाप बड़ी अहन्ता की सृष्टि करे और यह दर्पी व्यक्ति अपने समय और समाज में गरिमामय समझा जाय।'[१]

जैनेन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता उनका मूल-चिन्तन ही है जो उनकी शैली को व्यक्तिगत और विशिष्ट बनाता है। यह चिन्तन-शैली ही जैनेन्द्र का व्यक्तित्व है। उनके उपन्यासों और कहानियों में भी उनकी चिन्तक की मुद्रा स्पष्ट है परन्तु निबन्धों में वे अधिक आत्मीय हैं। वहाँ वे पाठकों और पात्रों के प्रति उन्मुख न होकर अपने ही प्रति उन्मुख हैं। जैनेन्द्र पर यह लांछना लगायी जाती है कि वे 'बात की खाल' निकालते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि उनकी बात-बात में बात है, परन्तु वे अपने तर्कवाद को व्यर्थ ही आगे नहीं बढ़ाते। वह उनके चिन्तन में से स्वयं विकसित होता है। उसके पीछे कोई पूर्वाग्रह नहीं रहता। इसलिए वे अपने निबन्धों और लेखों में अवतरण नहीं देते और सब कुछ अपनी ही मेधा पर छोड़ देते है। जैनेन्द्र की यह समूल विचारणा के उदाहरण स्वरूप हम पूर्वोदय (१९६४) का यह अवतरण रखते है—जिसमें उन्होंने सर्वोदय शब्द की व्याख्या की है—

'सर्वोदय शब्द परिचित है। पूर्वोदय उसी की नकल में निकला हुआ कुछ होगा, ऐसा लग सकता है।

पर लेखक की ओर से ऐसा नहीं है। सर्वोदय भावना है। जब भावना घटना बनने चलेगी तो सर्वोदय का रूप पूर्वोदय होगा, यह उसका विश्वास है।

उदय हम सबका चाहते हैं। पश्चिम का और पूरब का, द्विज का और अन्त्यज का। लेकिन पश्चिम की तुलना में पूरब का और द्विज की अपेक्षा में अन्त्यज का, जो पिछड़े हुए समझे जाते हैं। इससे सर्वोदय आयेगा तो अनिवार्यतः पूर्वोदय और अन्त्योदय के आरम्भ से उसे आना होगा।

---

१ जैनेन्द्रकुमार समय और हम १९६२ पृ० ५६२

अन्त्योदय को हम अधिक समझ सकते हैं, लेकिन पूर्वोदय को स्वीकार करने में कदाचित् मानसिक बाधा उपस्थित हो सकती है। कारण, पूर्व शब्द दुनिया को जोड़ता नहीं, दो हिस्सों में बांटता है। दुनिया एक है, और एक हो रही है। पूर्व का उदय चाह कर जैसे इस एकता में फांक पैदा की जाती हो, मानो पूर्वोदय में पूर्व की ओर की अहंता का निनाद हो। अतः सर्वोदय को जब अन्त्योदय के रूप में हमें स्वीकार करना अच्छा लग सकता है, तब पूर्वोदय के रूप में उ। देखने से बचने की इच्छा भी हमें हो सकती है।

सही यह है कि पूर्व और पश्चिम दोनों सापेक्ष धारणाएँ हैं। कोई देश नहीं जो एक साथ हमारे पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में न हो। विश्ववृत्त है और दिशा-बोधक संज्ञाएँ केवल व्यवहार की सुविधा के लिए हैं। पूर्वोदय में किन्हीं खास देशों का उदय और दूसरे किन्ही का अस्त इष्ट नहीं है। निरपवाद सबका उदय है। इसमे गर्भित है कि यदि कोई एक (व्यक्ति, समुदाय या देश) किसी दूसरे को परास्त करके उसके बल पर गर्वोन्नित है, तो सर्वोदय में उसको अवनत होना होगा। विनत होना सीखने के लिए अवनत-होगा। इस अवनति में से विनति और फिर सच्ची आत्मोन्नति आयेगी। घमंड अगर है तो उसे गिरना होगा, बाद ही आत्म-लाभ की आशा होगी।

इस प्रकार सर्वोदय यदि भावना की ओर से सबके प्रति मधुर है तो घटना की ओर से उसे कठोर होने और निर्मम बन रहने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।'[१]

यहाँ जैनेन्द्र के अन्तरंगी चिन्तन और सूक्ष्म विश्लेषण का चमत्कार दर्शनीय है।

जैनेन्द्र की एक विशिष्ट शैली नाट्य-शैली है। इसमें स्वयं वे ही पात्र हैं। वे अपने मन के उद्वेगों को पूरी तरह खोलकर रखते हैं और अपने को दो व्यक्तित्वों मे बाँटकर उत्तर-प्रत्युत्तर या संवाद की शैली में अपनी उधेड़-बुन को आगे बढ़ाते हैं। जान पड़ता है कि वे ऊँचे स्वर में सोच रहे हैं। वे अपने निबन्धों में कहीं-कहीं मित्रो, परिचितों अथवा अभिभावकों की कल्पना कर लेते हैं और अपने को नितान्त निरीह बनाकर पाठक की सहानुभूति अपनी ओर खींचते हैं। पाठक उनकी बेचारगी का मजा लेता है। निम्नलिखित अवतरण से, जो उनके निबन्ध-संकलन 'सोच-विचार' (१९६४) से उद्धृत है, हम उनकी इस नाट्य-शैली का उदाहरण सामने रख सकते हैं।

'हिन्दुस्तान में आये हफ्ते बाँधकर मैं लिखा करूँगा, यह पता चला तभी से मन में उठ रहा है : हरे राम, हरे राम !

अब वह दिन ही आ पहुँचा है। कोई उपाय अब नहीं चलेगा। पीछे की राह बन्द है। आगे जो बला दीखती थी, सिर आकर वही जिम्मेदारी हो गई है ? अब किये ही निपटारा है।

---

१. जैनेन्द्र कुमार : 'पूर्वोदय (१९६४, तृतीय) पृ० ३१-३२।

पर, फिर भी तो जी ठिठकता ही है। कुछ समझ में नहीं आता, कुछ सूझ नहीं पड़ता।

ऐसे समय में अपने से कहता हूँ कि अरे, तू भी चल पड़, तुझे राह से क्या? जो सब जानता है वह जाने और उसका काम जाने। राम की राम पर छोड़। और तू चल, कि वह है।

ऐसे मन को मनाकर मैं चलने को होता हूँ कि तभी बराबर से आवाज आती है कि 'भई, ठहरना, जरा सुनना।'

देखता हूँ कि वह एक अभिभावक हैं। मेरे परम हितैषी, बुजुर्ग, अनुभवी, जानकार। बोले कि 'तू चलने को हुआ, चला खुशी की बात है। कब से कहता था कि सुस्ती ठीक नहीं, गति चाहिए। अब शाबाश! पर जानता है, भाई की सदी यह बीसवी है? उसी सदी की छियालीसवीं देहली पर अब काल है। दो, शायद तीनों, भारी-भारी ताकतों के सिर अणु-शक्ति पर मिलकर बुन-बुन कर रहे हैं। अणु-शक्ति अब ज्ञान की नही, काम की है। इसलिए विज्ञानियों के ऊपर होकर शासक उसपर जुटे हैं। समझे। उन्नति अब अणुबम जितनी उन्नति है। ऐसे में भई, तू किसका नाम लेकर चलने को हुआ था रे।'

मैं नहीं कुछ समझा। मैंने कहा, 'नाम किसका?'

बोले–'राम-श्याम-तू ऐसा ही कुछ बड़बड़ा रहा था न? वह क्या है और कौन है?'

मैंने कहा, 'अजी, किसी का नाम वह थोड़े है।' 'नाम नहीं है!' हितैषी बोले, 'तो फिर?' मैंने कहा, 'अजी, वह तो अपनी हार का नाम है।' 'हार!' और वह मेरी तरफ देखते रह गये। बोले, 'तो तू पहले मन में हार मानकर चलना चाहता है?'

मैंने कहा, 'नहीं जी, मानने की ही बात हो तब तो मैं अपनी पूरी-पूरी जीत ही मानकर चलूं। पर जीत का तो लेश भी नहीं है, निपट हार ही है। इसमें मेरा मानना-न मानना कहीं काम नही देता है।'

अभिभावक चिन्तित हो आये। वह हितैषी थे। कुछ देर वह कुछ बोल न सके। अन्त में रोष से बोले, 'और तुम अपने को युवक मानते हो?'

जवाब में मैं क्या कहूँ? अपने कोई कुछ भी क्या माने? दूसरे जन मुझे युवा मानें तो मुझे युवक हुए ही गुजारा है। ऐसे अपने यौवन का श्रेय मेरा नहीं, तो दोष भी मेरा नहीं। यानी मैं अभिभावक के आगे चुप निरुत्तर ही रह गया।'[1]

इस सारे अवतरण में लेखक का कहानीकार-व्यक्तित्व अधिक सक्रिय है और गम्भीर विचारक कहानी के बीच में खो गया है।

---

१ जैनेन्द्रकुमार : सोच विचार (१९६४, द्वितीय संस्करण) १९४-१९५

जैनेन्द्र की शैली का साम्प्रतिक रूप हमें उनकी रचना 'परिप्रेक्ष (१९६५) में मिलेगा। उसकी भूमिका में उन्होंने अपने जीवन-दर्शन को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है। जैनेन्द्र ईश्वरवादी हैं और उनके वक्तव्य के अनुसार वे लिखते इसलिए हैं कि वे भगवान के दर्शन पाना चाहते हैं। लेखक में भगवान कहाँ आता है, यह जानना कठिन है। परन्तु जैनेन्द्र अपने विचित्र तर्कवाद के द्वारा दर्शन और चिन्तन के जाल फैलाकर इस अतर्क्य को भी सिद्ध कर देते हैं। सच तो यह है कि जैनेन्द्र सूझ-बूझ के धनी हैं और उनका चिन्तन स्वानुभूतिपूर्ण और व्यक्तिगत है। यही उनकी शक्ति है। उन्होंने अपनी भाषा को इस प्रकार ढाल दिया है कि वह उनके दर्शन-चिन्तन का उपयुक्त माध्यम बन गयी है। प्रस्तुत उद्धरण में उनके उत्कृष्ट विचार के साथ-साथ उनकी शैली का भी उत्कृष्टतम रूप हमारे सामने आ जाता है। वे कहते हैं—

'मुझे ठीक पता नहीं। लगता यह है कि मैं भगवान के दर्शन पाना चाहता हूँ। मानता एक उन्हीं को हूँ, पर साक्षात् में उन्हीं के दर्शन नहीं हो पाते। देखने को सामने सब चीजें ही आती हैं। किन्तु उस समय और संसार की लीला में से बस भगवान ही नहीं दीखता है। भीतर मेरे जिद है कि एक वही है। लेकिन है के रूप में जितना जो कुछ दीखता है वह सब अपने-अपने में प्रमुख बन आता है। उसके नानात्व में वह एक खो जाता है कि जिसके नाते ही सब हैं।

ऐसे परेशानी में दिन बीत रहे हैं। जीना अकारथ हुआ जा रहा है। कारण, उसका एक ही सारार्थ है और वह यह है कि स्वयं में न रह जाया जाये, कुल मे मिल जाया जाये।

शायद यही है कि जिसके लिए जीना मैं सार्थक मान सकता हूँ। मेरा लिखना अन्त में इसी प्रयोजन से जा मिलता होगा। अन्यथा अपने-आप में उसका दूसरा प्रयोजन मुझे नहीं मालम होता है।

यथार्थ के रूप में दूर-पास जो घटित हो रहा है वह मन पर आकर लगता है। उससे इन्कार नहीं हो सकता। पर स्वीकर कर उतने ही में बंद रहना भी सम्भव नही हो पाता। अर्थात् होने के रूप में जीने से ही बस नहीं, उस जीने को जानने की भी जरूरत रह जाती है। होने और जीने में शायद यही फर्क है। होना उतना ही रहता है, जीने में अनिवार्य बढ़ना, फैलना समाया है। जीने में कल्पना शामिल है जो आगे जाती है। स्मृति भी गर्भित है जो पीछे जाती है। इस तरह जीने में प्रयत्न भी करना होना है। चेतना का यही पुरुषार्थ है। समय उस चेतना में समा जाता है। इस क्षण रहते हुए अतीत और अनागत को भी वर्तमान में ले आने की शक्यता जब चेतना मे होती है तब मानो उसको जीना कहा जा सकता है। चिन्मय जीवन समय के अधीन

नहीं होता। अधिक से अधिक समय का संगी वह होता है, अथवा तो मुक्त एवं विभु होना है।'[1]

उपसंहार

हमने पिछले पृष्ठों में हिन्दी के विचारात्मक गद्य की विभिन्न शैलियों के उदाहरण प्रस्तुत किया है और यह बताने का प्रयत्न किया है कि पिछले बीस वर्षों मे विभिन्न गद्य-शैलीकारों के द्वारा हमारी विचारात्मक शैलियों को कहाँ तक प्रौढ़ता प्राप्त हुई। हिन्दी गद्य-शैली का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है क्योंकि उन्होंने ही विशुद्ध संस्कृत और उर्दू-प्रधान शैलियों के बीच का मार्ग पकड़ा और सन् १८७३ में उस नयी हिन्दी गद्य शैली को जन्म दिया जो 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' कही जा सकती है। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस शैली का उपयोग विशेष प्रकार से नाटक के क्षेत्र में किया और वहीं पात्रों तथा परिस्थितियों के अनुकूल अनेक शैलियों को गढ़ा, परन्तु विचारात्मक गद्य के क्षेत्र में भी उनका महत्व कम नहीं रहेगा। 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' के तीसरे भाग मे लगभग एक सहस्र पृष्ठों में भारतेन्दु द्वारा लिखित निबन्ध, लेख, टिप्पणियाँ, व्याख्यान और छोटे-छोटे प्रचारात्मक ग्रन्थ अथवा शोध-लेख संग्रहीत हैं। अपनी विविधता और प्रौढ़ता में यह सामग्री थोड़ी नहीं है। इससे यह जान पड़ता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें और आठवें दशक में ही हमारे लेखक विचारों के प्रति जागरूक हो गये थे और विचारात्मक निबन्धों और लेखों के साथ शोध-निबन्ध और गम्भीर चिन्तन की परिपाटी से भी परिचित हो चले थे। उस युग के लेखक मूलतः पत्रकार थे और उन्होंने अगले बारह वर्षों में निबन्ध, लेख, संस्मरण, जीवनी, सम्पादकीय, अग्रलेख और राजनैतिक टिप्पणियों तथा साहित्य-समीक्षा के द्वारा समसामयिक चिन्तन और विचार की नयी पद्धतियों और शैलियों का गठन किया। १८८५ में 'भारतेन्दु' का इहलोकवास समाप्त हुआ। इसके बाद पन्द्रह-सोलह वर्षों तक हिन्दी गद्य के क्षेत्र में पर्याप्त अराजकता रही है क्योंकि यह युग बंगला, अंग्रेजी, मराठी और उर्दू से अनुवाद का युग था और इन भाषाओं के असंख्य शब्द हिन्दी-गद्य में प्रवेश पाकर उसकी स्थिति को अराजक बना रहे थे। विभिन्न भाषाओं के अनुवादों में हिन्दी के अपने व्याकरण के निर्वाह की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। इन वर्षों में गद्य-शैली के क्षेत्र में उर्दू और हिन्दी का संघर्ष एक बार फिर पल्लवित हुआ और हिन्दी लेखक और पाठक दो भागों में बँट गये। इन वर्षों में हिन्दी में कोई भी ऐसा विचारात्मक नमूना नहीं मिलता जिसकी छाप युग के चिन्तन पर दिखलाई देती हो। अधिकांश पत्र-लेखक उपन्यास, नाटक और चलते हुए सामान्य निबन्ध लिखकर अपनी शक्ति पर विराम लगा देते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हम सच्चे अर्थों में विचारात्मक साहित्य की सृष्टि नहीं कर सके थे।

१ जैनेन्द्रकुमार परिप्रेक्ष १९६५ प्रथम पृ० क-ख।

बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्षों में हिन्दी-गद्य-शैली का एक परिनिष्ठित रूप (स्टेन्डर्ड फार्म) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा आविष्कृत होकर अनेक दिशाओं मे विकसित हुआ। द्विवेदी जी की गद्य-शैली से ही आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्म होता है क्योंकि उसके वाक्य-विन्यास और विराम चिह्नों में पर्याप्त सतर्कता बढ़ती गई है और अंग्रेजी गद्य के अनुरूप एक निश्चित और टकसाली (स्टैन्डर्ड) शैली के निर्माण का प्रयत्न उसमें हुआ है। विज्ञान, व्यापार और विद्या के क्षेत्र में अंग्रेज जाति कर्मण्यता, विवेक और व्यवहार-बुद्धि का एक नया आदर्श लेकर हमारे सामने आयी थी। उसकी भाषा शैली पर बुद्धिवाद और विज्ञानवाद की स्पष्ट छाप थी। अठारहवीं शताब्दी में ही अंग्रेजी गद्य ने प्राचीनता से अपना पल्ला छुड़ा लिया था और नये ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्ध स्थापित कर अपनी अभिव्यंजना-शक्ति पर्याप्त मात्रा में विकसित कर ली थी। भारतीय संस्कृति मूलतः धार्मिक, आध्यात्मिक और काव्यात्मक थी। भारतीय भाषाओं में इन्हीं विशेषताओं के अनुरूप शब्दकोश का विकास हुआ था। यूरोपीय संस्कृति तर्कवाद और विश्लेषण को प्रधानता देती है और उसके शब्द-कोश में भाव की अपेक्षा कर्म की अभिव्यञ्जना अधिक हुई है। अंग्रेजों के पदार्पण और अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप भारतवर्ष मे एक नयी कर्म-शक्ति का संचार हुआ और पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के प्रति हमारी श्रद्धा बढ़ी। यह आवश्यक था कि कोई ऐसा आत्मविश्वासी मनीषी विद्वान सामने आये जो पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान को सरलतम भाषा में ढालने की प्रेरणा हमें दे। ऐसे व्यक्ति से हम उत्कृष्ट गद्य-शिल्प की आशा नहीं करते। परन्तु उसका व्यावहारिक कार्य अपने मे कम महत्वपूर्ण नहीं होता। ऐसे व्यक्ति आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। १९०३ में 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में वे साहित्य-क्षेत्र में आये और १९१८ तक इस पत्रिका से उनका सम्बन्ध बना रहा' इन पन्द्रह-सोलह वर्षों में उन्होंने जहाँ हिन्दी की गद्य-शैली को व्यवस्थित रूप दिया और भाषा एवं शैली का एक मानदण्ड तैयार किया, वहाँ अपने लेखों और निबन्धों के द्वारा पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की सूचना का एक बड़ा भांडार हमें दिया। भाषा की एकरूपता और प्रौढ़ता का यह पहला सोपान था। द्विवेदी जी की मण्डली के बाहर भी उस युग के अनेक साहित्यकार और लेखक आचार्य द्विवेदी द्वारा निर्मित भाषा-शैली के मानदण्ड को मानकर चले। फल यह हुआ कि द्विवेदी जी की भाषा-शैली युग के लिये आदर्श बन गयी। अन्य लेखक उसमें इतना नहीं परिवर्तन कर सकते थे कि अपनी विशेष अभिरुचि और विशेष साहित्य-कोटि के अनुरूप उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दें। द्विवेदी जी के ही समय में प्रेमचन्द और जयशंकर 'प्रसाद' ने अपनी विशिष्ट गद्य-शैलियों का निर्माण किया और पद्मसिंह शर्मा जैसे पंडित और समीक्षक साहित्यिक वाद-विवाद की नयी शैली को लेकर सामने आये। हिन्दी-प्रदेश मे उस समय तक एक ही विश्वविद्यालय था और वह प्रयाग विश्वविद्यालय था। यह

आश्चर्य की बात नहीं है कि उस युग की सर्वश्रेष्ठ विचार पत्रिका 'सरस्वती' इण्डियन प्रेस द्वारा प्रयाग से ही प्रकाशित होती थी। इस पत्रिका ने अंग्रेजी-शिक्षित समाज का भी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था और प्रयाग विश्वविद्यालय के बहुत से विद्वान व्याख्याता और प्रोफेसर धीरे-धीरे 'सरस्वती' के लेखक बन गये। इन लेखकों के प्रवेश से हिन्दी विचारणा को पर्याप्त परिपक्वता मिली। वैसे १९२० तक हिन्दी-क्षेत्र का शिक्षित वर्ग अंग्रेजी भाषा को ही अपने विचारों के प्रकाशन का माध्यम बनाये रहा है।

१९१६–१९२२ तक हिन्दी प्रदेश में काशी, पटना, अलीगढ़, लखनऊ और दिल्ली में पाँच विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और इन विश्वविद्यालयों में हिन्दी को भी बी० ए० तक स्थान मिल गया। उच्च कक्षाओं में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था ने हिन्दी-गद्य-साहित्य, विशेषत: निबंध और समीक्षा को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। धीरे-धीरे हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की ओर भी लोगों का ध्यान गया। राष्ट्रीय आन्दोलनों ने हिन्दी भाषा की जन-शक्ति का पहली बार परिचय दिया और असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना होने के कारण स्वतंत्र विचारणा और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में हिन्दी भाषा और साहित्य को विशेष श्रेय मिलने लगा। गांधी-युग अथवा छायावादी युग में हम गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में नयी उपलब्धियाँ पाते हैं। जहाँ सर्जनात्मक गद्य में भावना और कल्पना के उन्मेष के साथ नयी मान्यता का समावेश होता है, वहाँ हमें इस युग के गद्य का सबसे सुन्दर रूप मिलता है। परन्तु विचार के क्षेत्र में सरल और व्यंजन-शैली का उपयोग भी उतना महत्वपूर्ण है और जिसके लिए हमें उन साहित्यकारों और गद्य-शिल्पियों को श्रेय देना होगा जिन्होंने विचार की साधना को अपना जीवन-ध्येय बनाया। इनमें आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल सबसे महत्वपूर्ण हैं। परन्तु छायावादी कवियों और छायावाद के समीक्षकों को ही उतना ही महत्वपूर्ण स्थान मिलेगा क्योंकि उन्होंने नयी साहित्यिक प्रवृत्तियों का नये ढंग से विश्लेषण किया और हमारी साहित्यिक चिन्तना को एक नया मोड दिया। इनके साथ हम राजनैतिक क्षेत्र के लेखकों और पत्रकारों को ले सकते है। इनकी शैली पर गांधी और नेहरू की शैली का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। जहाँ गांधी सरल और सूक्त-प्रधान चिन्तन को भाषाबद्ध करते हैं और सामयिक पद्धति को सर्वोच्च ऐश्वर्य प्रदान करते हैं, वहाँ नेहरू भावुक और संवेदनशील कलाकार की भाँति अपने गद्य-शैली को प्राणवान और सशक्त बनाते हैं। ये दोनों शैलियाँ राजनैतिक गद्य के दो छोर हैं। स्वाधीनता-संग्राम के महारथियों में अनेक साहित्यकार और गद्य-शिल्पी भी थे। उन्होंने साहित्य और समाज का अटूट सम्बन्ध स्थापित किया।

हिन्दी गद्य-शैली के विकास का एक नया युग १९३० से आरम्भ होता है। इस वर्ष आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के सम्पादन में साप्ताहिक भारत प्रयाग से प्रकाशित

होने लगा। इस साप्ताहिक में ही वाजपेयी जी की प्रारम्भिक आलोचनात्मक गद्य रचनाएँ निबन्धों और लेखों के रूप प्रकाशित हुईं। 'बीसवीं शताब्दी' और 'जयशंकर प्रसाद' ग्रन्थों में संकलित बहुत-सी सामग्री पहली बार 'भारत' में प्रकाशित होकर पाठकों के सामने आयी और उसने नयी काव्य-कला के प्रति पाठकों को प्रबुद्ध बनाया। छायावाद के समीक्षक और विचारक साहित्यकार के रूप में वाजपेयी जी का कार्य अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। स्वतंत्रता-पूर्व युग में भी वे ख्याति-लब्ध साहित्यकार बन चुके थे। परन्तु उन्हे विशेष महत्व स्वातंत्र्योत्तर युग में ही प्राप्त हुआ। उन्होंने साहित्यिक चिन्तन को सतही भूमिका पर से ऊपर उठाकर उसे मौलिक और शास्त्रीय कोटि की चीज़ बना दिया। उनके समीक्षात्मक निबन्ध साहित्य में हमें गद्य-शैली का अपूर्व उन्मेष मिलता है। इन्ही वर्षों में हिन्दी-शोध के क्षेत्र में काशी और प्रयाग-विश्वविद्यालयों में कार्यारम्भ हुआ। शोध-शैली की विशेषता यह है कि उसमें विचार और वाणी दोनों पर संयम रखा जाता है और व्यावहारिक तथा सूत्रबद्ध शैली में शोधकर्ता प्रामाणिकता के साथ अपनी बात कहता है। शोध-निबन्धों का आदर्श हमें डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के उन निबन्धों में मिलता है जो बाद में 'विचार-धारा' के नाम से संकलित हुए हैं। इन निबन्धों ने शोध-प्रबन्ध की उस शैली की स्थापना की जो आज विश्वविद्यालयीन क्षेत्रों में सर्वमान्य है। यह तथ्य-प्रधान व्यावहारिक शैली है जो काव्योत्कर्ष को किंचित मात्र भी महत्व नहीं देती। शोध-कर्ता केवल सत्य या निरपेक्ष सत्य का आग्रही होता है। वह अपने शब्दों को भावना से रगना नहीं चाहता। साहित्य-चिन्तन-क्षेत्र में समीक्षा-शैली के साथ शोध-शैली भी है जो पिछले ३५-३७ वर्षों से बराबर चली है और दोनों ने पर्याप्त प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। तीसरी शैली मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों और कहानीकारों की है जो आत्मकथात्मक पद्धति से उपन्यास अथवा कहानी की रचना करते हैं और पात्रों के मन:संघर्ष के विश्ले-षण द्वारा उसकी अन्त:चेतना के प्रवाह को पकड़ना चाहते हैं। इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' और जैनेन्द्रकुमार ऐसे कथाकार हैं जो मानस के सूक्ष्म आलोड़न-विलोड़न को अपने साहित्य में महत्ता देते हैं और बड़ी सतर्कता और जागरूकता से शब्दों का प्रयोग करते है। यद्यपि ये सर्जनात्मक कलाकार हैं और विशुद्ध विचारात्मक साहित्य में इनकी रचनाएँ नहीं आती, परन्तु इन्होंने विचारात्मक गद्य का चिन्तनमूलक स्तर अवश्य ऊँचा उठाया है और इनके निबन्ध साहित्य पर अनिवार्य रूप से इनके मनोवैज्ञानिक साहित्य के अध्ययन और इनकी उपन्यास-कला की छाप है। चौथी शैली स्वतंत्र विचारकों की है जो धर्म, दर्शन, इतिहास और संस्कृति के भीतर से आधुनिक समस्याओं का समाधान चाहते हैं और जिनके चिन्तन और लेखन पर इन क्षेत्रों की उपलब्धियों की स्पष्ट छाप है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, काका कालेलकर, गोपीनाथ कविराज, भगवानदीन और अनेक अन्य लेखकों का नाम इस प्रसंग में लिया जा सकता है।

• • •

गांधी-युग के अनेक लेखक और शैलीकार आलोच्य युग में भी सक्रिय रहे हैं। सच तो यह है कि उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ स्वातन्त्र्योत्तर युग में ही प्राप्त की है। वे ही इस पीढ़ी के वयोवृद्ध और प्रौढ़ साहित्यकार है। उन्हें पुरानी पीढ़ी के साहित्यकार कहा जा सकता है। इस साहित्यकारों में कुछ अपेक्षाकृत कम वय के भी साहित्यकार हैं, जैसे 'अज्ञेय', जो नयी पीढ़ी के भी साथ चलते हैं। इनकी रचनाओं पर हमने इस अध्याय में विस्तारपूर्वक सोदाहरण विचार किया है। नयी पीढ़ी के भी अनेक गद्यकार और गद्य-शिल्पी पिछले बीस वर्षों में सामने आते हैं। उनपर पश्चिमी विचारणा और अभिव्यंजना की छाप कुछ अधिक दिखलाई पड़ती है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे जिन विश्वविद्यालयों अथवा उच्च शिक्षा-संस्थानों के वैचारिक परिवेश में रहते हैं वे पश्चिम की ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति से पूर्णतः प्रभावित है। अभी तक हम भारतीय विद्या का स्वतन्त्र और निरपेक्ष रूप स्थापित नहीं कर सके हैं। नये ज्ञान-विज्ञान के लिए अभी भी हमें पश्चिम की ओर देखना पड़ रहा है। स्वतन्त्र राष्ट्र की नयी आवश्यकताओं के अनुसार हमें हिन्दी को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक प्रकार से उपयोग में लाना आवश्यक हो गया है। नया युग नये विचारों से उद्वेलित है। उसकी विचारों की दिशाओं के अनुरूप उसमें नयी अभिव्यंजना और नित्य नवीन शैलियों के लिए होड़ लगी हुई है।

द्वादश अध्याय

उपसंहार : विचारात्मक गद्य की उपलब्धियों का आकलन तथा नवीन प्रवृत्तियों का संकेत

पिछले पृष्ठों में हमने हिन्दी के स्वातन्त्र्योत्तर विचारात्मक गद्य का विस्तृत अनुशीलन किया है और विभिन्न अध्यायों के अन्तर्गत साहित्य और चिंतन के विभिन्न क्षेत्रों मे पिछले बीस वर्षों की प्रगति की एक रूपरेखा प्रस्तुत की है। हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि हिन्दी के गद्य में विचारात्मकता का प्रवेश आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' नाम की मासिक पत्रिका से होता है। इस मासिक पत्रिका में पहली बार ऐसे लेख और निबन्ध प्रकाशित हुए जिनमें भावना पर अंकुश रखा गया है और तर्कसंगतिमूलक विचार को ऊपर उभारा गया है। अभी ये विचार प्रारम्भिक स्थिति में हैं। वे अधिकांश सूचना पर ही समाप्त हो जाते हैं। उनमें वह गम्भीरता नहीं मिलती जो चिन्तन-धर्मी साहित्य की विशेषता है। उनमें विचार का सीधा-सादा अनलंकृत स्वरूप मिलता है। धर्म और दर्शन जैसी परम्परागत विचार-धाराओं को पीछे छोड़कर आचार्य द्विवेदी साहित्य, संस्कृति, राजनीति, अर्थशास्त्र, भूगोल, विज्ञान, शिक्षा-शास्त्र आदि विषयों को लेते हैं और उनके सम्बन्ध में पाठकों को साधारण जानकारी देते हैं। इसीलिये हम 'सरस्वती' को 'विचार पत्रिका' नहीं कह सकते, यद्यपि उसने हमारे गद्य-लेखन को भावात्मकता से बाहर लाकर विचार के मार्ग पर लगाया है। सम्पूर्ण द्विवेदी-युग में भारतीय जनता और शिक्षित वर्ग पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के सम्बन्ध में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने में लगा रहा है। इस क्षेत्र में हिन्दी प्रदेश बङ्गाल और महाराष्ट्र से बहुत पीछे था और इसीलिये आचार्य द्विवेदी को इन भाषाओं के लेखों, निबन्धों आदि को अनूदित कर अपनी पत्रिका में प्रकाशित करना पड़ा। परन्तु इन वर्षों में विचार के आदान-प्रदान और शिक्षित वर्ग के चिन्तन की भाषा अंग्रेजी ही थी। अंग्रेजी भाषा और साहित्य में बंगाल सबसे पहले दीक्षित हुआ और इसीलिये पत्रकारिता और साहित्य के सभी क्षेत्रों में उसको अग्रगामिता मिल सकी। हिन्दी प्रदेश में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार १८५७ के बाद हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अँग्रेज़ी भाषा और साहित्य में दीक्षित सम्प्रदाय महत्व को प्राप्त

कर सका। सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी प्रदेश में राजकाज के लिये उर्दू भाषा का प्रयोग होता रहा। वही अदालतों की भाषा थी और मकतबों, स्कूलों और कालेजो में उसकी शिक्षा की व्यवस्था थी। मुसलमानों के अतिरिक्त शिक्षित हिन्दुओं का भी एक बड़ा वर्ग उर्दू भाषा और साहित्य का जानकार था। इस प्रकार अंग्रेजी और उर्दू के प्रचलन ने हिन्दी साहित्य के विकास में बाधा पहुँचायी। 'भारतेन्दु' ने सन् १८७३ मे 'हिन्दी नयी चाल से चली' कहकर भाषा की एक मध्यमार्गीय शैली का विकास किया, जिसमें स्वाभाविक रूप से बोलचाल में आनेवाले संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्द प्रयोग में आते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम पच्चीस वर्षों में यही 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' हमारे गद्य की भाषा का मानदण्ड बनी रही।

इस 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' में परिपूर्ण रसात्मकता थी और 'भारतेन्दु' ने नाटक के संवादों में इसका उपयोग कर इसे अत्यन्त मार्मिक बना दिया था। उन्होंने निबन्ध के क्षेत्रों में भी इसी से मिलती-जुलती भाषा का उपयोग किया। विषयगत और व्यक्तिगत दोनों प्रकार के निबन्ध उन्होंने लिखे और इन निबन्धों में उन्होंने भाषा, शैली के अनेक प्रयोग किये। 'भारतेन्दु मूलरूप से संवेदनापूर्ण कवि और कलाकार थे और इसीलिये उनका गद्य बड़ा सजीव और कोमल है। उसमें लेखक की विभिन्न अनुभूतियों का सुन्दर ढंग से उपयोग हुआ है। उपदेशात्मक, प्रबोधात्मक और भावात्मक शैलियाँ उनके गद्य का प्राण है। परन्तु उनके विचारात्मक निबन्ध या तो सामान्य ढङ्ग की सूचना देते है या उस समय के शोधात्मक लेखों की वह पद्धति अपनाते है जो तथ्य को ही अधिक प्रधानता देती है। उनके विचार में चिन्तन की निगूढ़ता नहीं है वास्तव में उन्नीसवी शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्ष धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों के वर्ष थे और इन वर्षों में गद्य का विशेष उपयोग मञ्च पर भाषणों और अभिभाषणों के रूप में हुआ है। आर्य-समाज और ईसाई पादरियों के मौखिक वाद-विवादों और शास्त्रार्थो से यह युग भरा हुआ है। शिक्षित वर्ग राजनीति के क्षेत्र में अंग्रेजी का ही उपयोग कर रहा था, यद्यपि बंगाल और महाराष्ट्र में भाषणों और पत्रकारिता के लिये मातृ-भाषाओं का भी सशक्त ढंग से प्रयोग होने लगा था। स्वदेशी भाषाओं की इस शक्ति से भयभीत होकर ही सरकार ने सन् १८७३ में वर्नाकुलर प्रेस एक्ट जारी कर मुद्रण और समाचार-पत्रो पर रोक लगा दी। हिन्दी के क्षेत्र में इन पच्चीस वर्षों में नाटक, उपन्यास और निबन्धों की विशेष रूप से रचना हुई। निबन्धों में आत्मगत या व्यक्तिगत निबन्ध विशेष महत्व पूर्ण हैं, क्योंकि उनसे उस युग की जीवन-शक्ति का पता हमें आज भी मिलता है परन्तु उनमें गम्भीर विचार जैसी चीज कम है। उनमें भावना की प्रधानता है, अथवा उन्हें व्यंग्य-विनोद से आकर्षक बनाया गया है। अधिकांश गद्य नाटक और उपन्यास के रूप में मिलता है ये दोनों ही उस युग की जनता के मनोरंजन के विषय

है। इसीलिए हम विचारात्मक गद्य का आरम्भ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से ही मान सकते हैं।

परन्तु जैसा हमने ऊपर लिखा है कि द्विवेदी जी के विचारात्मक गद्य की बहुत बड़ी सीमा है। वह बहुत कुछ सूचनामूलक है। उसमें अध्यापक की भाँति एक ही बात को अनेक रूपों में कहकर पाठक को समझाने का प्रयत्न किया गया है। उसकी शैली सरस और सुबोध है, गम्भीर और विशिष्ट नहीं। वह सर्वमान्य शैली हो सकती है, परन्तु उसे साहित्यिक नहीं कहा जा सकता। वास्तव में द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'सर वती' पत्रिका प्राइमरी स्कूल के अध्यापकों में ही अधिक लोकप्रिय थी, जो हिन्दी के माध्यम से नये ज्ञान-विज्ञान से परिचित होना चाहते थे और अधिक अंग्रेजी नहीं जानते थे। उनके लेखक संस्कृत और अंग्रेजी के विद्वान थे, परन्तु वे हिन्दी मे पहली बार लिख रहे थे और इसीलिए गम्भीर चिन्तन और मनन को छोड़कर, नीचे उतरकर, सरल और सामान्य भाषा में अपने सरल विचार ही लोगों के सामने रखते थे। विचार की साधना उनकी साधना नहीं थी। सन् १९२० तक यही स्थिति रही।

सन् १९२० के बाद हमारे लेखक और साहित्यकार स्वतन्त्र चिन्तन और मौलिक विचारणा के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक वे इस क्षेत्र मे अपनी व्यक्तिगत स्थिति बना लेते हैं। वस्तुतः दो महायुद्धो के बीच का समय हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में भी आश्चर्यजनक उन्नति का समय है। इन बीस वर्षों में काव्य के क्षेत्र मे स्वच्छन्दतावाद और छायावाद को प्रधानता मिली, जिन्होंने एक नया मानदण्ड स्थापित किया। परन्तु गद्य के क्षेत्र में भी यह युग 'प्रसाद', प्रेमचन्द और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की महत्वपूर्ण उपलब्धियों को सामने लाता है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध और पत्रकारिता—सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व विकास मिलता है। जहाँ एक ओर संसार की अनेक भाषाओं का साहित्य अनूदित होकर हिन्दी का अंग बन जाता है, वहाँ दूसरी ओर हमारे गद्य-लेखक, गद्य की विभिन्न विधाओं के अन्तर्गत मौलिक रचना प्रस्तुत करने में लगते हैं। गाँधी जी पश्चिम के विरोधी थे। वे सब क्षेत्रों में स्वदेशी के पक्षपाती थे। वे यूरोपीय धर्म-चिन्तन, साहित्य तथा संस्कृति से पूर्णतः परिचित थे। परन्तु उन्होंने साधना के द्वारा पूर्व के धर्म-चिन्तन, साहित्य और संस्कृति को आत्मसात कर तात्कालिक समस्याओं पर मौलिक रूप से विचार करने की एक परिपाटी को जन्म दिया था। वे हर चीज को विवेक और मर्यादा की दृष्टि से देखते थे। उनके चिन्तन मे धर्म और नीति अनिवार्य रूप से आ जाते थे। यह कहा जा सकता है कि गाँधी-युग मे ही हम महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी की अंगुलियाँ पकड़कर मौलिक विचार और चिन्तन के क्षेत्र में पहली बार अपने पैरों पर खड़े हुए। गाँधी-युग का प्रचुर साहित्य ही हमें प्राप्त नहीं है उस युग की पत्र-पत्रिकाओं और राजनीतिक तथा सामा

जिक भाषणों में भी हमें पर्याप्त मौलिकता मिलती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और प्रेमचन्द गांधी-युग की ही उपज हैं। पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी और गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे बड़े वक्ता और पत्रकार गांधीवादी विचारों की प्रेरणा लेकर ही चले है। यही नहीं, हजारीप्रसाद द्विवेदी और जैनेन्द्र जैसे स्वातन्त्र्योत्तर युग के लेखकों का अधिकाश साहित्य भी गांधी-युग में ही लिखा गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हमारे विचारात्मक गद्य का पहला कंठ-स्वर गांधी-युग में ही खुला। इससे पहले हमारी वाणी में किशोर कंठ का उच्छ्वास ही अधिक था।

आलोच्य युग में हिन्दी के विचारात्मक गद्य ने और भी ऊँची उड़ानें ली है। पिछले युग के अनेक विचारक, विद्वान और शैलीकार इस युग में भी रचना करते रहे और उन्होंने अपनी विचारधाराओं और शैलियों को और भी अधिक पुष्ट कर लिया है। सच तो यह है कि साहित्य के क्षेत्र में हम विशेष सन्-संवत् को लेकर कोई विभाजन प्रस्तुत नहीं कर सकते। विशेष काल-खण्ड बहुत कुछ औपचारिक रहते हैं। उनमें नयी प्रवृत्तियों के साथ पुरानी प्रवृत्तियाँ भी चलती रहती हैं। इसी प्रकार विशेष घटनाओ से किसी विशेष काल को आरंभ करने में हमें थोड़ी सुविधा अवश्य हो जाती है, परन्तु साहित्य की प्रकृति में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। राष्ट्रीय स्वाधीनता आधुनिक भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी घटना है और हमारे जीवन और साहित्य पर इस घटना का प्रभाव पड़ना अनिवार्य बात है। परन्तु इस सिद्धान्त को बहुत आगे नही बढाया जा सकता। स्वातंत्र्योत्तर युग में हम परम्परा का बोझ बराबर ढोते रहे है और हमारी नयी उपलब्धियाँ हमारी राष्ट्रीय और व्यक्तिगत सीमाओं से अतिक्रांत रही हैं। बदलते युग और जीवन का प्रवाह साहित्य में देर में आता है। इसीलिये हमे साहित्य और कला में बराबर अतीत की ओर देखना पड़ता है। वस्तुतः प्रत्येक उन्नत साहित्य का अपना स्वतंत्र जीवन रहता है और उसके विकास के सूत्र उसी में अन्तर्निहित रहते हैं। गांधी-युग में स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद साहित्य की ये दोनों धाराएँ तुल्य बल से चल रही थीं और उसी युग को इसीलिए एक विशेष प्रकार का संतुलन प्राप्त था। बाद में उसी युग में छायावादोत्तर काव्य-धारा का विकास हुआ जो आकाशचारी कल्पना को महत्व न देकर प्रतिदिन के संवेदनों और दैहिक अनुभूतियों को महत्व देती थी। इसी के साथ यथार्थवाद ने प्रगतिवाद का आश्रय लिया और राजनीतिक अभिप्रायों को साहित्य में समावेश हुआ। एक प्रकार से स्वतंत्रता-प्राप्ति के दस वर्ष पहले ही हमारा साहित्य स्वर बदलने लगा था। गांधी-युग का सर्वश्रेष्ठ हमें सन् १६२०-३७ तक मिल जाता है। इसके बाद के वर्ष उतार के वर्ष हैं। जीवन की गति क्षिप्रता से बदली है और उसके साथ साहित्य ने भी नया मोड़ लिया है। इस समय तक हमारी राष्ट्रीय चेतना बहुत कुछ कुंठित हो चुकी थी और हमारे जीवन में भी एक प्रकार का

गतिरोध आ चुका था। भावोन्मेष और कल्पना-प्राचुर्य का स्थान यथातथ्य-वाद और दैनिक जीवन की उलझनों ने ले लिया। द्वितीय महायुद्ध ने हमारे जीवन और साहित्य की रही-सही उदात्त चेतना भी नष्ट कर दी और एक प्रकार की हताशा हम पर आ गयी। हम रोमांस को पलायन कहने लगे और नग्नता और विरूपता से चिपटना ही हमारा धर्म बन गया। द्वितीय महायुद्ध में संसार भर के साहित्य-मनीषी विमूढ़ता के कारण मौन थे। उन्हें सूझ ही नहीं रहा था कि सत्य का पक्ष किधर है? ऐसी स्थिति में नाजी और फासिस्ट-विरोधी विचारधारा तीव्रता से जड़ पकड़ने लगी और मार्क्सवाद के आधार पर प्रगतिवाद का आन्दोलन बड़े जोर से चल पड़ा। इस आंदोलन में अमीरों के प्रति गरीबों का आक्रोश व्यक्त है। पूँजीपतियों को गालियाँ दी हैं और मजदूर और किसानों को युग का नेता बनाया गया। इसके विपरीत कवियों और साहित्यकारों का एक दूसरा वर्ग राजनीतिक भिप्राय से एकदम अलग रहकर व्यक्तिवादी भूमिका पर साहित्य का सर्जन कर रहा है। यह प्रयोगवादी कवि और साहित्कारों का दल है। आलोच्य-युग में प्रवेश करते समय हमें प्रगतिवादी और प्रयोगवादी चेतनाएँ उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई हैं और नये परिवेश में वे नया रूप धारण कर हमारे सामने आयीं।

आवश्यकता यह थी कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हमारे भीतर नये राष्ट्रीय उन्मेष का जन्म होता और हम सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय साहित्य की रचना करते। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने 'राष्ट्रीय साहित्य'[1] शीर्षक लेख में और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'सावधानी की आवश्यकता'[2] शीर्षक अपने निबन्ध में बदलती हुई परिस्थितियों की ओर इंगित किया है और राष्ट्र एवं युग के प्रतिनिधि साहित्य की मांग की है। परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा साहित्य हमें नहीं मिल सका। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हमें राष्ट्रीय भावोन्मेष के थोड़े ही क्षण प्राप्त हुए क्योंकि स्वतन्त्रता खण्डित राष्ट्र के रूप मे हमारे सामने आयी और सीमाओं पर घटित बर्बरता और रक्तपात ने हमें स्तंभित कर दिया। हमें ज्ञात हुआ कि राष्ट्रीय संग्राम में हमने जिस जातीय और धार्मिक सहिष्णुता से काम लिया था, वह ऊपर से थोपी हुई चीज थी और गांधी जी के अनुसार हमारी चारित्रिक दुर्बलता और दैहिक अशक्ति से मेल खाती थी। ३० जनवरी १९४८ को राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की हत्या ने हमारे मन के शैतान को जीवित कर दिया। शंका, भय,

---

१. 'हिन्दी अनुशीलन' के डॉ० धीरेन्द्र वर्मा अभिनन्दन अंक में आचार्य बाजपेयी का लेख। बाद में यह लेख 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध' (१९६५) पुस्तक में संकलित हुआ।

२. 'अशोक के फूल' में संकलित।

आकुलता, जातिगत और धार्मिक वैमनस्य, भाषागत संघर्ष, व्यक्तिगत कुंठा और अवसाद हमारे राष्ट्रीय जीवन के अंग बन गये। फलस्वरूप हमारे साहित्य में राष्ट्रीय संस्कृति जैसी कोई चीज अभिव्यक्ति ही नहीं पा सकी और शाश्वत प्रश्नों से नीचे उतरकर हम छोटी-छोटी बातों में ही उलझते गये। आलोच्य युग का विचार साहित्य इसी संक्रात मन स्थिति की देन है। उसमें ऐसा बहुत है जो हमें तोड़ता है, ऐसा कम है जो हमे जोड़े। परन्तु यदि यही हमारी ऐतिहासिक नियति थी तो उससे छुटकारा हमारे लिए सम्भव नहीं था।

परन्तु यह संतोष का विषय है कि स्वातंत्र्योत्तर युग के हिन्दी विचारको ने साहित्य, नीति, समाज, संस्कृति, राजनीति, धर्म और दर्शन, सभी क्षेत्रों में पुन:मूल्याकन का प्रयत्न किया है और चिन्तन के क्षेत्र में असांस्कृतिक और विघटनकारी शक्तियों का सामना किया है। इन विचारकों और चिन्तकों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, 'अज्ञेय', शांतिप्रिय द्विवेदी, डॉ० देवराज, जैनेन्द्रकुमार, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० सम्पूर्णानन्द और कविराज गोपीनाथ महोपाध्याय सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। इसी तरह युग को नयी प्रेरणा और भावना देने में जिन भावुक हृदय शैलीकारों का नाम लिया जा सकता है उनमें माखनलाल चतुर्वेदी और विद्यानिवास मिश्र अप्रतिभ हैं। वैसे इन क्षेत्रो मे शताधिक व्यक्तियों का नाम लिया, जा सकता है। यह स्पष्ट है कि सर्जन से भी अधिक विचार के क्षेत्र में यह युग नये प्रतिमान सामने लाता है। अब हमने पश्चिम के विचारों से आक्रांत होना छोड़ दिया है और चिन्तन के क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्र परिपाटी स्थापित कर ली है।

आलोच्य युग के लेखक और साहित्यकार

आलोच्य युग हिन्दी साहित्य के प्रसार का युग है। स्वतन्त्र राष्ट्र के विकास की अनेक दिशाएँ होती हैं और यह उचित ही था कि स्वतन्त्र भारत जीवन के सभी क्षेत्रों मे सक्रिय बने। पराधीन राष्ट्र के लिये एक ही मार्ग खुला रहता है, जो राष्ट्रीय मुक्ति के लिए आन्दोलन का मार्ग होता है और राष्ट्र की सांस्कृतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक गतिविधियां इसी एक उद्देश्य से बँधी रहती हैं। स्वतन्त्र राष्ट्र अन्य राष्ट्रों से सहज सम्बन्ध स्थापित करता हुआ राष्ट्रीय विकास की सभी दिशाओं में अपना मार्ग प्रशस्त करता है। स्वतन्त्र भारतवर्ष में मध्यदेशीय अथवा हिन्दी-भाषी समाज ने राष्ट्रोन्नति का बीड़ा नये सिरे से उठाया है और वह सब दिशाओं में प्रगतिशील रहा है। उसकी राजनैतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का लेखा जोखा हमने एक स्वतन्त्र अध्याय में प्रस्तुत किया है। यहाँ हमें यह देखना है कि इसका साहित्यकार की मनोवृत्ति पर क्या प्रभाव पड़ा है और उसकी चेतना किन दिशाओं में काम कर रही है।

प्रारम्भ में हमें आलोच्य युग के उपयोगी और सर्जनात्मक साहित्य को अलग कर लेना होगा। उपयोगी साहित्य विशुद्ध साहित्य से अलग स्वतन्त्र वस्तु है। उसका क्षेत्र सूचना, शिक्षा और ज्ञान प्रसार है। उसमें भावना और कल्पना के तत्व नहीं रहते। समाज और राष्ट्र की प्रतिदिन की आवश्यकताओं से वह बँधा रहता है। स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए शिक्षा का बड़ा महत्व है। पिछले बीस वर्षों में हमारे शिक्षा के सामान्य धरातल का बड़ा व्यापक विस्तार हुआ है। प्रजातन्त्र राष्ट्र के लिये अपने नागरिकों की शिक्षा की व्यवस्था करना प्राथमिक आवश्यकता होती है। हमने प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को इन बीस वर्षों में इतनी दूर तक चलाया है कि साक्षरों का एक बहुत बड़ा वर्ग तैयार हो गया जो समाचार पत्रों से देश-विदेश की राजनैतिक गतिविधियों की सूचना लेता है और निर्वाचन-पत्र के द्वारा अपने मताधिकार का उपयोग करता है। इस वर्ग के लिए सस्ते मनोरंजन की पुस्तकें तैयार करना व्यावसायिक प्रकाशकों का धर्म बन गया है और फलस्वरूप साहित्य में सस्तेपन की बाढ़ आ गयी है। राष्ट्रीय सरकार ने साक्षरों के लिये लिखी पुस्तकों के लिए पुरस्कारों की घोषणा की और इन बीस वर्षों मे दो-तीन हजार पुरस्कृत पुस्तकें बाजार में आ चुकी हैं। तात्पर्य यह है कि शिक्षा के फैलाव-प्रसार से साहित्य का प्रसार तो अवश्य हुआ, परन्तु उसका मानदण्ड अनिवार्यत: नीचे गिरा।

समाज-व्यवस्था के क्षेत्र में स्वातन्त्र्योत्तर युग की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें राजनैतिक शक्ति मध्यवर्ग के हाथ में ही रही है। परन्तु इस मध्यवर्ग का विस्तार बहुत अधिक हो गया है। अब यह वर्ग उच्च, मध्य और निम्न वर्गों में विभाजित हो गया है। धन के वितरण की व्यवस्था पूँजीवादी ही रही है और इसके फलस्वरूप उच्च मध्यवर्ग उद्योगपतियों और राजकर्मचारियों से मिलकर एक सम्पन्न भारतीय समाज का निर्माण करने में सफल हो गया। परन्तु यह समाज आकाश-बेलि की तरह ऊपर-ही-ऊपर फैला है और इसकी जड़ें धरती में नीचे नहीं गई हैं। व्यवसायियों, ठेकेदारों और पेशेवरों के लिये यह समाज कामधेनु बन गया। परन्तु धन की असमानता ने वर्गों के बीच में गहरी खाइयाँ भी डाल दीं। स्वयं उच्च मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग के बीच में बहुत गहरी खाई पड़ गयी और तीव्र विरोध का जन्म हुआ। इन दोनों के बीच मध्यवर्ग की स्थिति है। इस युग के कवि और साहित्यकार मुख्यत: इसी मध्यवर्ग से सम्बन्धित हैं। वे एक ओर सामान्य जनता, मजदूरों और किसानों का दम भरते हैं और दूसरी ओर संभ्रांत जनों और उच्च-मध्यवर्गीय जनों से प्रेरणा प्राप्तकर अधिकाधिक यूरोपीय बनते जाते हैं। इस कलाकार और साहित्यिक वर्ग की चेतना पर पश्चिम हावी होता गया है। उसने मार्क्सवाद, फ्राइडवाद, यूरोपीय साहित्य और कवियों के नये-नये वादों और वैचित्र्यमूलक यूरोप-अमरीका की भंगिमाओं को अपनी रचनाओं में लिया है। जहाँ

एक मार्क्सवादी विचार-धारा का संबंध है। वह राष्ट्रीय दुःख दैन्य के सूत्रों के सहारे हमारी अपनी चेतना बन गई है और यथार्थवाद तथा प्रगतिवाद का हाथ पकड़कर इस युग में विश्वास के साथ पैर जमाये रही है। परन्तु फ्राइडवादी, यौनवादी और प्रयोगवादी साहित्यिक चेतना पूँजीवादी मनोवृत्तियों के समुद्र पर तैरती रही है और वह सामान्य जनता के लिये अविश्वास और आश्चर्य का ही विषय रही है। उसमें अंधानुकरण ही अधिक है। मौलिक सर्जना के नाम पर पश्चिम का सब कुछ बटोर लेना हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के लिये आत्म-हत्या ही कहा जा सकता है। जो हो, यह स्पष्ट है कि साहित्य-कारों का एक वर्ग आलोच्य युग में जन-सम्पर्क को खो बैठा है। आत्महीनता की पीड़ा उसके पल्ले पड़ी है। उसने पश्चिम के समकालीन साहित्यकारों की तरह अकेलापन का अनुभव किया है और कुन्ठा एवं अवसाद उसकी चेतना के अनिवार्य अंग बन गये हैं। आलोच्य युग के कवि और लेखक की यह नियति भले ही दुःख-पूर्ण हो उससे बचना हमारे लिये असंभव बात है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय जीवन में बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया था और स्वाधीनता के बाद यह भेद और भी बढ़ता चला गया। परम्परागत जीवन की तरह हम परम्परागत काव्य और साहित्य से भी दूर चले गये हैं और नवीनता के प्रति आग्रह युग का फैशन बन गया है। आलोच्य युग की साहित्यिक उपलब्धियाँ नये सामाजिक मूल्यों की ही अपेक्षा रखती हैं। हमने अभी-अभी मध्यवर्ग के बिखराव की ओर इङ्गित किया है। परन्तु यही सब कुछ नहीं था ; राजाओं, महाराजाओं और जमींदारों के उन्मूलन ने हमारे सामाजिक स्थिति को और भी विषम बना दिया था, क्योंकि अब जनता को इन वर्गों के स्वार्थों का सामना नये सिरे से करना पड़ता है। एक प्रकार से नेहरू-युग सभी क्षेत्रों में क्रांति का युग है। बीस वर्षों के छोटे-से अन्तराल में हमने यूरोप की लगभग दो शताब्दियों की औद्योगिक, टेकनीकी, आणविक क्रांतियों को अपने भीतर आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। जिस तीव्रता से हमने स्वातंत्र्योत्तर युग से पश्चिम की वैज्ञा-निक प्रकृति को अपनाया उस तीव्र गति से हम अपने समाज के नव-संगठन में समर्थ नहीं हो सके। हमारी देह बदली, पर मन पुराना ही रहा। यह असमंजस और अन्तर्विरोध हमारे युग के साहित्य में पूर्णतः प्रतिनिधित्व पाता है। वह नेहरू की पीढ़ी की सीमाओं और मनोव्यथाओं का सुन्दर प्रतिबिम्ब है। 'नेहरू की (यह) पीढ़ी अंग्रेजी शिक्षित समाज की पाँचवीं पीढ़ी थी। स्वयं नेहरू का व्यक्तित्व उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के संधिकाल में निर्मित होता है। इसीलिए वेल्स की भाँति मनुष्य की अपरिसीमिता तथा मानव-जीवन की संभावनाओं के प्रति उनका अदम्य विश्वास है। बर्नार्ड शा और फैबि-यन समाजवादियों के रूढ़ि विरोधी और क्रांतिकारी समाज सुधार और समाजवाद के सिद्धांत उन्होंने अपने इंग्लैंड प्रवास में किशोर-जीवन में ही प्राप्त किये थे विज्ञान और

समाजवाद नेहरू की क्रांतिकारी चेतना के दो प्रमुख छोर थे। वे बुनियादी युग की उपज थे और उन्होंने सब प्रकार के रहस्यवादी विचारों से अपना पल्ला छुड़ा लिया था। धर्म के प्रति नेहरू की अनास्था के पीछे उनका समाजवादी और ऐतिहासिक दृष्टिकोण ही है। उन्होंने वैज्ञानिक और विकासवादी विचारणा को कस कर पकड़ा और विज्ञान, टेकनालॉजी, प्रजातंत्र और समाजवाद चार स्तम्भों पर अपने जीवन-दर्शन को आधारित किया। नेहरू की पीढ़ी का यूरोप, जिस अनास्था, अविचार, वैचारिक अतिवाद और अक्रियाशीलता में से गुजर रहा था, उसके विरोध में उनके भारत की पीढ़ी राष्ट्रीयता, नव-जागरण तथा पूर्वी मनुष्य की अनन्त सम्भावनाओं से आक्रांत थी। इस प्रकार नेहरू के व्यक्तित्व में यूरोप और भारत, पूर्व और पश्चिम का द्वन्द्व उनके युग की दो पीढ़ियो का अन्तर लेकर विकसित हुआ था। अन्त तक वे इस द्वन्द्व के समाधान में लगे रहे और उनके अद्भुत कर्तव्य और विलक्षण नेतृत्व ने भारत की नवीन आस्था का कुछ अंश पश्चिम को भी दिया और उसे आधुनिक युग के सामूहिक हिंसा के भय से उबारा।'[1]

नेहरू-युग में हमारी साहित्यिक चेतना सर्जना के क्षेत्र में जितनी गतिशील है, उससे कम विचार के क्षेत्र में नहीं। पहली बार हमने स्वतन्त्र विचारणा का महत्व समझा। स्वयं नेहरू उत्कृष्ट कोटि के विचारक थे और वे कम महान साहित्यकार नहीं थे। अंग्रेजी भाषा को अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के कारण हिन्दी प्रदेश में जन्म लेने पर भी नेहरू का हिन्दी से सीधा सम्बन्ध नहीं रहा और स्वाधीनता-पूर्व युग मे वे साहित्यिक हिन्दी और उसकी नवीन उपलब्धियों के अत्यन्त कटु समीक्षक थे। परन्तु स्वातंत्र्योत्तर युग में उनका ही व्यक्तित्व केन्द्रीय था और हिन्दी के लेखकों के लिए उनके अनुकरण में विचार के क्षेत्रों में मौलिकता की साधना जीवन-मरण का प्रश्न बन गयी थी। जैसा अंग्रेजी के प्रोफेसर और हिन्दी के प्रसिद्ध प्रगतिशील-समीक्षक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है – 'नेहरू (भी) हमारे युग के श्रेष्ठ लेखकों में हैं। उनके शब्दों में एक मृदुलता, एक सौन्दर्य तथा हृदय को छू लेने वाला वह गुण विद्यमान है जिसकी कामना नेहरू की अभिव्यक्ति का स्तर सदा ऊँचा रहता था। ऐसा प्रतीत होता था कि वे गहन चिंतन, मनन या विचार करते रहते थे। वे अपने श्रोताओं को भी विचार या चिंतन की दुनिया में ले जाते थे। वे उस कवि की तरह थे जिसने सौन्दर्य-लोक का अनुभव कर लिया हो और दूसरों में भी उसका अनुभव प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत कर दी हो। वे भाषा पर अपने नियन्त्रण, सुझाव तथा चिन्तनशील अभिव्यक्ति के द्वारा श्रोताओं की भावनाओं को झकझोर देते और उनकी अन्तरात्मा को हिला देते थे।'[2] फलस्वरूप

---

१. डॉ० रामरतन भटनागर का लेख 'नेहरू की पीढ़ी' 'मध्य प्रदेश संदेश' २७ मई १९६७ पृ० ६

२ वही नेहरू अंक

स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी का विचारात्मक साहित्य एक अभिनव उन्मेष की प्राप्ति करता है। उसमें बौद्धिकता का आग्रह कुछ अधिक मात्रा में ही मिलेगा।

२७ मई १९६४ में नेहरू का देहावसान हुआ। परन्तु इस तिथि को हम नेहरू-युग की समाप्ति नहीं मान सकते, क्योंकि उनके द्वारा स्थापित जीवन-मूल्य बहुत मात्रा मे अभी भी हमारे बीच चल रहे हैं। यह अवश्य है कि 'नेहरू के बाद हमारा राजनीतिक नेतृ व मूल्यच्युत हो गया। उसने गांधीवादी आध्यत्मिक चेतना और नेहरूवादी समाज-वादी चेतना दोनों से हाथ खींच लिया। पुनरुत्थानवादी और व्यावहारिक राजनीति का पल्ला पकड़ कर उसने तात्कालिक संकटों का निराकरण अवश्य किया, परन्तु अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त पश्चिमोपजीवी पीढ़ी के मन में अपने नेतृत्व तथा महत्व के सम्बन्ध में शकाओं को भी जन्म दिया। फलतः इस वर्ग के जन संक्रांति की मन स्थिति को प्राप्त हुये। नयी युवा-पीढ़ी की असमंजसता और अराजक मनोवृत्ति के पीछे यही पदच्युति-भावना है। नेहरू ने युवा-भारत के नेतृत्व का जो बिम्ब हमें दिया, वह आघात पड़ने पर विचलित हो उठा है। वैसे संसार भर में पुरानी और नयी पीढ़ी का अपरिचय बढ़ रहा है और सांस्कृतिक विच्छेद तथा बदलते मूल्यों की यह स्थिति राजनीतिक दृष्टि से भयावह हो उठी है। परन्तु अपने देश में यह संक्रांति यदि अजनबीपन की स्थिति को नहीं पहुँची है, तो आत्मनिर्वासन की स्थिति को तो पहुँच ही गई है।'[1]

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर-युग में अथवा नेहरू-युग में कवि और साहित्यकार नयी राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ सर्जना और विचारणा के क्षेत्र में नये मूल्यो के निर्माण में सफल हुआ है और उसकी रचनाएँ युग-धर्म को पूर्णतः प्रतिबिम्बित करती हैं। इस युग की सामाजिक और बौद्धिक प्रगतिशीलता के साथ-साथ युग के असमंजस और अंतर्विरोध को भी हम साहित्य में प्रतिफलित पाते हैं। पिछले आठ-दस वर्षों मे बराबर यह शोर उठा है कि हमारे काव्य और साहित्य में गतिरोध आ गया है और हम बन्द गली में पहुँच गये है, परन्तु प्रत्येक बार जब नयी प्राणवान रचना सामने आयी है तब हमने उसका अभिनंदन किया है और उससे एक नयी स्फूर्ति प्राप्त की है।

गद्य-निर्माण के राजकीय प्रयत्न

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के फोर्ट विलियम कालेज के प्रारम्भिक प्रयत्नों के बाद सरकारी क्षेत्रों में हिन्दी गद्य के लिये व्यवस्थित रूप से प्रयत्न अभी कल की बात है। स्वतन्त्र भारतवर्ष के लिये राजकीय अथवा राष्ट्रीय भाषा के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग बहुत काल तक सम्भव नहीं था भारतीय संविधान में राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी की

स्थिति स्वतन्त्र स्वीकार की गयी और विधान-सभा में यह प्रस्तावित किया गया कि पन्द्रह वर्षोंके भीतर केन्द्र और राज्यों के परस्पर आदान-प्रदान के लिये अंग्रेजी के स्थान मे अनिवार्य रूप से हिन्दी भाषा का उपयोग होगा। परन्तु प्रश्न उठाया गया कि कौन-सा स्वरूप राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचलित हो। वह संस्कृत-गर्भित हिन्दी हो या हिन्दुस्तानी या सरल कही जाने वाली हिन्दी। उर्दू का तो प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि सविधान ने उसे क्षेत्रीय भाषा माना था और दूसरे, उसके क्षेत्र को उत्तर प्रदेश तक सीमित कर दिया था। इन तीनों में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का पल्ला भारी था क्योंकि प्रान्तीय भाषाओं में संस्कृत के शब्द अपेक्षाकृत अधिक काम में आते थे और दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं में आरम्भ से ही संस्कृत शब्दावली का प्रयोग अधिक था। तेलुगु, कन्नड और मलयालम्, तीनों भाषाओं में संस्कृत की धातुओं का उपयोग हुआ, विशेषकर मलयालम् भाषा के अस्सी शतमान शब्द, शुद्ध संस्कृत (तत्सम) शब्द हैं और इनके साहित्य में वैदिक और ब्राह्मण संस्कृति के व्यापक प्रवाह के कारण दर्शन, धर्म और साहित्य क्षेत्र मे सस्कृत शब्दावली का बड़े अनुपात में उपयोग हुआ है। केवल तमिल में विशुद्धतावादी आन्दोलन और भाषा की प्राचीनता के कारण संस्कृत पदावली अपेक्षाकृत कम मिलती है। पिछले बीस वर्षों में राष्ट्र-भाषा सम्बन्धी चर्चा बड़े तीव्र रूप से चलती रही है और धीरे-धीरे उसने राजनैतिक रूप धारण कर लिया है। राष्ट्रीय भाषा से उतरकर हम राजकीय भाषा अथवा राजभाषा अथवा सम्पर्क भाषा तक आ गये हैं। प्रारम्भ में अंग्रेजी के पूर्ण बहिष्कार की बात सरकार ने स्वीकार कर ली थी। परन्तु अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त सत्ताधारी वर्ग के आग्रह से हमारी अन्तः चेतना के लिये अंग्रेजी से एकदम मुक्ति पाना असम्भव हो गया। केन्द्र और प्रान्त के राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों ने भाषा के प्रश्न को विकट रूप से उलट दिया। अब यह स्थिति यहाँ तक पहुँची है कि हिन्दी प्रदेश के साहित्यिक विचारक राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के प्रश्न को प्राथमिक प्रश्न मानने से इनकार कर रहे हैं। उनके विचार में पहले यह आवश्यक है कि हिन्दी भाषी राज्य परस्पर और केन्द्र से विचार-विनिमय और पत्र-व्यवहार आदि में हिन्दी का उपयोग करें और अपनी इस स्थिति को सुदृढ़ बनायें। वे यह घोषित कर दें कि संविधान की अन्य भाषाओं से कोई भी भाषा राष्ट्रभाषा मान ली जाय। (भारत की चौदह मुख्य भाषाओं को राष्ट्रभाषा मान ली गयी है) इस प्रकार वे हिन्दी समस्या को व्यावहारिक रूप से हल करना चाहते हैं।'[1]

'राजभाषा वही भाषा बनती है, जिसे राजसत्ताधारी वर्ग चाहता है। प्राचीन काल में संस्कृत भारत की राजभाषा थी। कभी-कभी राजभाषा का पद प्रकृति, पाली

---

१ देखिए नरेन्द्र शर्मा का लेख राजभाषा का प्रश्न धर्मयुग मई १९६७

या अपभ्रंश को मिला। आंचलिक या माण्डलिक राज्यों के अंचलों या मंडलो के राजवर्गों की भाषाएँ राजभाषा बनीं। मुस्लिम शासन में फारसी इस देश के अधिकाश की राजभाषा रही। अंग्रेजी राज्य में राजभाषा का पद अंग्रेजी को मिला। अंग्रेज गये, अंग्रेजी है। इसे राजभाषा पद से हटाने के लिये भारतीय प्रजा को अंग्रेजी या स्वार्थी राजसत्ताधारी अल्प संख्यक वर्ग के हाथों से राजसत्ता और शासन की बागडोर छीननी होगी। प्रजा को गांधी जी के बनाये हुए अहिंसक उपायों से राज्यक्रांति करनी होगी। लेकिन इससे पहले, संविधान का संशोधन कर हिन्दी को राजभाषा पद की मिथ्या माया से हट जाना है। संविधान का संशोधन होना है तो इसी दिशा में होना है। यह हिन्दी के स्वाभिमान की माँग है। राजभाषा के प्रश्न का उत्तर 'चाहे जो भारतीय भाषा' कहकर हिन्दी को देना है। लेकिन अंग्रेजी कदापि नहीं।

राष्ट्रभाषा की समस्या मुख्यतः केन्द्रीय शासन की समस्या है। उसका सम्बन्ध सर्वप्रथम राजकर्मियों से है जो अब तक राजकीय भाषा के रूप में अंग्रेजी का उपयोग करते रहे हैं और जिनके संस्कारों और अभिरुचियों पर अंग्रेजी अथवा यूरोपीय शिक्षा और संस्कृति की पूर्ण छाप है। परन्तु साहित्य के स्तर पर केन्द्र सभी भाषाओं को समान मानता है और संविधान की चौदहों मुख्य भाषाओं के साहित्य के संवर्द्धन के लिये संकल्पबद्ध है। अंतः प्रान्तीय अथवा राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी भाषा को लाने के लिये उसने पिछले दिनों में कुछ प्रयत्न अवश्य किये हैं जिनमें सबसे प्रमुख है पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, डॉ० बाबूराम सक्सेना और अन्य भा ाविदों की सहायता से डॉ० कोठारी के अधीन नियुक्त भाषा-समिति द्वारा लगभग एक दशक के परिश्रम के बाद एक सर्वमान्य परिभाषावलीआधुनिक ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विषयों के लिए निश्चित की गई है, जिसमें संस्कृत और ठेठ शब्दावली के बीच के मध्यम मार्ग को आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया। इससे पहले ही डॉ० रघुवीर और राहुल सांकृत्यायन जैसे मनीषियों के द्वारा इस क्षेत्र में अनेक प्रयत्न हुए। परन्तु उन्हें शासन की मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी। यह शब्दावली अन्य राज्यों को कहाँ तक स्वीकार होगी, यह भी विचारणीय है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इतिहास ने हमें ऐसे चौराहे पर खड़ा कर दिया है कि हमारे लिये सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए एक सामान्य शब्दावली का नियोजन आवश्यक हो गया है। अंग्रेजी भाषा के अध्ययन-अध्यापन का स्तर स्वातंत्र्योत्तर युग में बड़ी तीव्रता से नीचे गिरा है और यह आवश्यक हो गया है कि उच्चतम कक्षाओं तक ज्ञान-विज्ञान के सभी विषयों का अध्यापन मातृ भाषाओं के माध्यम से हो। हमारे पास यदि अपनी कोई निजी शब्दावली है तो वह धर्म दर्शन और साहित्य के क्षेत्र तक ही सीमित है शेष समस्त ज्ञान विज्ञान के लिये हम पश्चिम के ऋणी हैं और वहाँ की सम्पन्न भाषाओं की ओर ही हमें

देखना पड़ेगा। विभिन्न प्रान्तीय भाषाएँ पश्चिमी ज्ञान विज्ञान के लिए अलग-अलग शब्दों का निर्माण करें, उससे यह कहीं अच्छा है कि सभी भाषाओं के लिए एक सामान्य शब्दावली का निर्माण हो। केन्द्रीय सरकार द्वारा परिभाषावली निर्माण का यह प्रयत्न हिन्दी को नयी गरिमा प्रदान करता है।

परन्तु केन्द्र द्वारा सर्वमान्य राष्ट्रभाषा और परिभाषावली निर्माण के इस प्रयत्न ने हिन्दी की अधुनातन भाषा-शैली के सम्बन्ध में एक विषम स्थिति को भी जन्म दिया है। ऐसा लगता है कि उर्दू को हम क्षेत्रीय भाषा मान चुके हैं और हिन्दुस्तानी अथवा सरल हिन्दी हमारे लिये समाचार पत्रों और चित्रपटों की भाषा रह गई है। कहानी और उपन्यास को छोड़कर शेष सभी क्षेत्रों में भाषा की विशुद्धता का आग्रह बढ़ा है और कुछ लोगों के विचार में हिन्दी समीक्षा की भाषा इतनी जटिल हो गई है कि उसे एकदम असगत और रूढ़िबद्ध कहा जा सकता है। इसका कारण है वह एकांगी और संकीर्ण प्रवृत्ति जो हमें आत्म-गौरव की झूठी भावना से संस्कृत की ओर ढकेलती है। पिछले बीस वर्ष मुख्यतः अनुवाद के वर्ष रहे हैं। सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं के द्वारा सहस्रों पुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। अनुवाद की भाषा एक प्रकार की बनावटी भाषा होती है जिसमें अनुवादकों का आलस्य और प्रमाद अराजकता की सृष्टि करता है। हमारी मनोवृत्ति अभी भी विदेशी भाषाओं से मुक्ति नहीं पा सकी है और उस समय तक यह मानसिक दासता बनी रहेगी, जब तक ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में अनुवाद से आगे बढ़कर मौलिक सृजन की स्थिति में नहीं पहुंच जाते हैं। ज्ञान-विज्ञान का नयी विचारणा से बहुत निकट का सम्बन्ध है। फल यह हुआ है कि स्वातन्त्र्योत्तर युग की हमारी सारी विचारणा अत्यन्त क्लिष्ट और अस्पष्ट हो गई है। भाषा सम्बन्धी यह काठिन्य भावाभिव्यंजना के हमारे सारे प्रयत्नों को असफल अथवा असमर्थ बना देता है। परन्तु यही निश्चित है कि इन्हीं प्रारम्भिक प्रयत्नों से विचार के क्षेत्र में मौलिक सृजन का आरम्भ हुआ है और हम नये युग के अनुरूप मौलिक चिन्तन की सृष्टि कर सकेंगे।

आंचलिकता का आरम्भ

स्वातन्त्र्योत्तर युग में हमारी राजनीति धीरे-धीरे अधिकाधिक जनवादी बनती गयी है। इसके फलस्वरूप स्थानीय राजनीति और स्थानीय व्यक्तियों के प्रवाह में वृद्धि हुई है। पिछले बीस वर्षों में ग्रामों से सहस्रों व्यक्ति नगरों में आकर बस गये हैं। उद्योगीकरण के लिये यह आवश्यक है कि उसमें सामान्य जनता का हाथ लगे। ग्रामीण समाज का नगरों की ओर संक्रमण यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में ही शुरू हो गया था परन्तु यह हमारे लिये नयी ही चीज है नौकरी और सिनेमा के आकर्षण

में बँधा हुआ ग्रामीण जन-समाज नगरों के आकर्षण को ठुकरा भी नहीं सकता। परन्तु स्वयं नगरों में मध्य वर्ग की स्थिति बराबर अधिक संकटपूर्ण होती गई है। बस्तियां नगर बनती गयी हैं और नगर महानगर हो चले हैं। ऐसी स्थिति में मध्यवर्गीय लेखक के मन में ग्रामीण समाज को आकर्षण स्वाभाविक बात थी। गांवों से आये हुए नये मध्यवर्गीय लेखकों ने साहित्यिक भाषा-शैली में लोक-प्रचलित ग्रामीण शब्दों का समावेश कर उसे नये ग्रामीण विषय दिये। आंचलिक कविता, आंचलिक कहानी, आंचलिक उपन्यास, नये युग की विशेषता बने हैं। पिछले बीस वर्षों में जहाँ पश्चिम के ज्ञान विज्ञान के अनुवाद और नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हमारा ध्यान संस्कृत की ओर गया है और हमारी भाषा-शैली दुरूह होती गई है, वहाँ दूसरी ओर हमने अपनी बोलियों के शब्द अबाधित रूप से खड़ी बोली के अन्तर्गत स्वीकार किये हैं। जनपदीय भाषाओं में मौलिक रचनाएँ भी होने लगीं हैं। इस सबका फल यह हुआ है कि खड़ी बोली की साहित्यिक शैली जहाँ एक ओर संस्कृत-शब्दावली की ओर मुड़ती है, वहाँ दूसरी ओर मनोरंजक साहित्य, विशेषत: कहानी और उपन्यास में ऐसी भाषा शैली का उपयोग हो रहा है, जो सरलतापूर्वक समझी जा सके और जिसमें जनता की भाषा ही नहीं, उसके द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का भी उपयोग हो। संस्कृत-निष्ठता और आंच-लिकता का यह द्वन्द्व आधुनिक युग की साहित्यिक विशेषता है।

सार्वजनिक प्रसार साधन

स्वातंत्र्योत्तर युग में सार्वजनिक प्रसार के साधनों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है और उसके फलस्वरूप एक ऐसे लोकप्रिय साहित्य का निर्माण हुआ है जो किसी भी प्रकार साहित्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: सारे संसार में सार्वजनिक प्रसार के इन साधनों ने मनुष्य की एकान्विति को खण्डित किया है और उच्च संस्कृति तथा निम्न संस्कृति, ऐसी दो इकाइयाँ समाज में बन गई हैं। निम्न संस्कृति को हम सर्वहारा वर्ग (वरकिंग क्लास या मजदूर वर्ग, की संस्कृति अथवा 'लोक-प्रिय' संस्कृति भी कह सकते है। शिक्षा और संस्कार का संभ्रांत वर्गों का एकाधिकार बड़ी शीघ्रता से समाप्त होता जा रहा है। उच्चवर्ग प्राचीन संस्कृतियों से बँधा हुआ है, परन्तु निम्न वर्ग अपने दैनन्दिन क्षणों में ही जीता है। संस्कृति का यह द्वन्द्व स्वाधीनता के पिछले बीस वर्षों में हमारे यहाँ भी विकसित हुआ है। पश्चिमी विचारकों ने संस्कृति के क्षेत्र मे इस द्वन्द्वात्मकता पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।'[1]

यह स्पष्ट है कि यह केवल हिन्दी की समस्या नहीं है. प्रजातन्त्र और साम्य-

---

१ Mass communication in Britain by Richard Hoggart in The Modern Age A Pelican Book Vo 7 P 443

वादी दोनों देशों में अलग-अलग कारणों से सामाजिक बोध का जन्म हुआ है। दोनों देशों की जनता की प्रवृत्तियों में भिन्नता है, परन्तु समानता यह है कि दोनों क्षेत्रों मे साहित्य और संस्कृति का सरलीकरण हुआ है और एक हूलाहूपी और बीतनिकी संस्कृति है तो दूसरी ओर प्रोलेतेरियेती संस्कृति, जो मजदूर की संस्कृति को जीवन-मान समझती है। पिछले बीस वर्षों में हमने अमरीकी और रूसी, दोनों संस्कृतियों को अपने ऊपर झेला है। प्रयोगवाद में अमरीकी संस्कृति और काव्य की स्पष्ट झलक है तो प्रगतिवाद में रूसी सर्वहारा संस्कृति की। खड़ी बोली हिन्दी का नया शब्द-कोश इस नयी स्थिति को पूर्णतः प्रतिबिम्बित करता है। यह स्पष्ट है कि एक प्रकार की ग्रामीणता (vulgarity) हमारी कुछ रचनाओं में पिछले वर्षों में दिखलाई पड़ी है और इस प्रकार के साहित्य को हम उच्च संस्कृति का साहित्य नहीं कह सकते। यह नयी स्थिति नयी जन-संस्कृति को जन्म देगी अथवा यों ही एकदम समाप्त हो जायेगी और किसी नये वाद' में बदल जायगी, यह कहना कठिन है। परन्तु कुछ लोगों की यह स्पष्ट धारणा है कि हम अन्ततः सार्वजनिक मानव-संस्कृति को जन्म दे सकेंगे।'[१] उस समय भाषा और संस्कृति का क्या रूप होगा, यह अभी अनुमान का ही विषय हो सकता है।

आलोच्य युग के विचारात्मक गद्य की उपलब्धियों का आकलन—

आलोच्य युग का विचारात्मक गद्य भावनात्मक न होकर बौद्धिक है और उसमे शास्त्रीयता का समावेश आवश्यकता से कुछ अधिक मात्रा में हो गया है। पिछले युग का गद्य प्रमुख रूप से चेतना और नैतिक धारणाओं तथा मान्यताओं का समावेश है और उस युग के उत्साह और कर्म-सौन्दर्य की परिपूर्ण झाँकी हमें उसमें मिलती है। इसके बाद जब स्वातंत्र्योत्तर युग का आरंभ होता है तो हम राष्ट्रीय युग के उच्छ्वास से दूर जा पड़ते हैं और निर्माण के कार्य में लगते हैं। आलोच्य युग की बौद्धिक शक्ति और मेधा के प्रतीक पं० नेहरू हैं और साहित्य के क्षेत्र में भी उनकी व्यावहारिक और निर्माणात्मक स्फूर्ति पूर्णतः व्याप्त है। कुछ लोगों का विचार है कि स्वातंत्र्योत्तर युग का साहित्य गांधी-युग अथवा छायावादी युग के साहित्य से कम ऊँची कोटि का है। राष्ट्रीय जीवन का जो नया उन्मेष हमें पिछले युग में मिलता है, वह इसमें नहीं मिलता। पिछले युग में राष्ट्रीयता ही राजनीति थी। अब वे दो स्वतन्त्र और समानान्तर चलनेवाली इकाइयाँ हैं। वास्तव में राजनीति राष्ट्रीय चेतना पर हावी हो गयी है और राष्ट्रीय राजनीति का स्थान दलगत राजनीति ने ले लिया है। फल यह हुआ है कि चारों ओर विचारों का संघर्ष है। एक प्रकार से स्वातंत्र्योत्तर युग अतिवादी रूप से विचाराक्रांत है,

१. Mass communication in Britain by Richard Hoggart in The Modern Age–A Pelican Book Vol 7 Page 557

यद्यपि विचारों का क्षेत्र राजनीति अथवा स्वार्थनीति ही अधिक है। पश्चिम में विचारों की जो उत्कृष्ट और प्रथम कोटि की साधना हमें मिलती है, वह अभी बहुत दूर की बात है। परन्तु इतना ही क्या कम है कि हम भावुकता के केलिकुंजों से बाहर निकलकर विचारों के प्रशस्त मैदान में आ गये। जो हो, यह स्पष्ट है कि युग की बौद्धिक चेतना और तर्क-सम्बन्धी विचार शीलता रचनाओं पर हावी है। स्वातंत्र्योत्तर युग की सर्जनात्मक रचनाओं में भी विचार का आग्रह अधिक है। ऐसा जान पड़ता है कि राष्ट्रीय आंदोलनों और महायुद्ध की निःशेषात्मक संवेदनाओं ने हमारे भाव-जगत को एकदम रिक्त कर दिया और बौद्धिकता की बैसाखी लेकर चलना हमारे लिए आवश्यक हो गया। कोई भी राष्ट्र और उसका साहित्य बराबर एक ही तरह भावना के सर्वोच्च शिखर पर स्थिर नहीं रह सकता है। अतः इस नये युग में यदि भावना का स्थान बौद्धिकता ने ले लिया है तो आश्चर्य की कोई बात नहीं।

आलोच्य युग के वैचारिक गद्य-साहित्य का हमने विशद रूप से विवेचन किया है और विषय एवं अभिव्यंजना के क्षेत्र में उसकी उपलब्धियों की भी हमने चर्चा कर दी है। यहाँ हम संक्षेप में कुछ निष्कर्ष सामने रखेंगे। पहली बात यह है कि इस युग के वैचारिक गद्य का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप हमें आलोचना में मिलता है, क्योंकि अभी हम स्वतन्त्र चिंतन के प्रारम्भिक सोपान पर ही हैं और जीवन के अन्य क्षेत्रों में हमारी पहुँच उतनी व्यापक और गहरी नहीं है। अंग्रेजी साहित्य में वैचारिक गद्य का सर्वोच्च बिन्दु दर्शन में मिलता है और कान्ट, ब्रेडले, सर जान मूर आदि दार्शनिकों की रचनाएँ इस विषय में प्रतिमान स्थापित करती हैं। यह अवश्य है कि वहाँ अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति और समाजशास्त्र के क्षेत्रों में भी श्रेष्ठतम वैचारिक रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें गद्य का वैशिष्ट्य रहता है, परन्तु इन सभी क्षेत्रों में हम पश्चिमी लेखों के अनुवादों तक ही सीमित हैं और अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते। पिछले सौ वर्षों में हमने इन क्षेत्रों में जो कुछ नया दिया है, वह सब विदेशी शास्त्रों की भाषा अंग्रेजी में है, जो एक प्रकार से शिक्षित भारतवासियों का सार्वभौमिक बौद्धिक मानदण्ड बन गयी थी। अंग्रेजी शासन में अंग्रेजी भाषा केवल शासन की भाषा ही नहीं थी, वह अंग्रेजी शिक्षित मध्यवर्ग की नयी संस्कृति की भाषा भी थी। इस भाषा में उस मध्यवर्ग ने अपना स्वतन्त्र छोटा-मोटा साहित्य भी रच डाला था और तरुदत्त, सरोजिनी नायडू, रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पं० जवाहर लाल नेहरू आदि सैकड़ों नेता, विचारक और शिक्षक इस भाषा के माध्यम से नवजागरण की वाणी देने में समर्थ हुए हैं। उन्नीस सौ बीस के बाद ही स्वदेशी आन्दोलन और महात्मा गाँधी के प्रयत्नों के फलस्वरूप साधारण जनता का राजनीतिक क्षेत्रों में पदार्पण हुआ और देशी भाषाएं राजनैतिक साहित्य और संस्कृति की माध्यम बनीं इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट

हो जाता है कि आलोच्य युग का हमारे ऐतिहासिक विकास में क्या महत्व है। इस युग मे अंग्रेजी शिक्षित वर्ग पहली बार विचार-प्रकाशन के लिए आत्मविश्वास के साथ मातृ-भाषाओं का उपयोग करता है। उसकी उपलब्धि बहुत बड़ी नहीं है परन्तु उससे स्पष्ट रूप से भारतीय इतिहास, संस्कृति और चिंतन का एक नया मोड़ सूचित होता है। हिन्दी के क्षेत्र में जो रचनाएं पिछले बीस वर्षों में आयी हैं, वे सब प्रथम कोटि की भले ही न हों, परन्तु उनकी स्वधर्मिता और स्वदेशीयता के सम्बन्ध में शंका नहीं की जा सकती। सभी क्षेत्रों में पश्चिम में स्वतन्त्र मौलिक निर्माण, चाहे वह थोड़े ही मात्रा में हो हमें स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार और 'अज्ञेय' किसी भी राष्ट्र और साहित्य की सर्वश्रेष्ठ वैचारिक मेधा के समकक्ष रखे जा सकते है और उनकी रचनाओं से निस्सन्देह भारतीय साहित्य के वैचारिक धरातल का उन्नयन हुआ है।

परन्तु यह भी स्पष्ट है कि अभी हमारा चिंतन परम्परानुमोदित विचारधाराओं से एकदम स्वतन्त्र नहीं हुआ है और इसीलिए हमारी गद्य-शैलियों में पुरानापन भी बहुत कुछ शेष रह गया है। अंग्रेजी साहित्य में जिस प्रकार ब्रेडले के बाद मूर चिन्तन के क्षेत्र में एकदम नयी तर्कपूर्ण शैली का प्रवर्तन करते हैं, अथवा टी० एस० एलियट समीक्षा-शैली को तर्क मूलक सिद्धांतवादिता और अंतर्दृष्टिमूलक चिन्तन का नया रूप देने में समर्थ हो जाते है वह बात अभी हमारे लोगों को प्राप्त नहीं है, फिर भी बीस वर्षों के स्वल्प काल-विस्तार मे हमारे वैचारिक गद्य की यह प्रवृत्ति असन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

स्वातंत्र्योत्तर गद्य का निर्माण जिस साहित्यिक परिवेश में हुआ है उसे 'राष्ट्रीय' नही कहा जा सकता। वह उत्साहवर्द्धक भी नहीं है। वह मध्यवर्ग के उन लेखकों की सृष्टि है जो पिछले युग के लेखकों से नितान्त भिन्न है। इस सामयिक परिवेश की चर्चा आचार्य वाजपेयी ने अपने इसी शीर्षक के एक निबन्ध में की है—

'सन '४७ में राजनैतिक स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात अपने देश की परिस्थिति मे शीघ्रता के साथ बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। समग्र रूप से ये परिवर्तन देश को उन्नति की दिशा में ले गये हैं। यद्यपि इनके साथ ही समस्याएं और प्रश्न भी उठ खड़े हुए हैं। सामूहिक रूप से ये राष्ट्रीय परिवर्तन एक नई चेतना और नई रचनात्मक दृष्टि का उन्मेष और निर्माण कर सकते थे। साथ ही जो नई समस्याएँ उपस्थित हुई हैं, उन पर गम्भीरता के साथ विचार करके साहित्यिक सृष्टियों द्वारा उनके समाधान का प्रयत्न किया जा सकता था। अपने देश की अन्तर्राष्ट्रीय नीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी ऐसे रहे हैं जो नये साहित्यिकों में नई उदभावना और नई सक्रिय कल्पना की योजना कर सकते थे। कुल मिलाकर हमारा राष्ट्रीय परिवेश साहित्य में एक नये और मूल्यवान

युग की सम्भावना लेकर आया था। परन्तु हम देखते है कि इस नये परिवेश के अनुरूप विशिष्ट स्तर की साहित्य-सृष्टि कम हो रही है और बहुत से लेखक और कवि नये राष्ट्रीय परिवेश का लगाव छोड़कर व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं, कुण्ठाओं और उद्गारों को व्यक्त कर रहे हैं। हमें यह देखना है कि ऐसी अनाकाङ्क्षित स्थिति क्यों उत्पन्न हो गई है ?'[1] इस प्रश्न के उत्तर में समीक्षक ने हमारे सामने जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे अधिक विश्वासनीय नहीं है क्योंकि उनमें नये कवियों और साहित्यकारों की आर्थिक तथा वर्गीय मजबूरियों का ही लेखा-जोखा लिया गया है, स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य पर पड़े हुए विश्वसनीय प्रभाव और उस नई सांस्कृतिक चेतना की उपेक्षा की गई है जो महानगरों की संस्कृति, औद्योगिक परिवेश तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों की ओर अधिक देखती है।

वाजपेयी जी का कथन है—

'हमारे वर्तमान समाज का नया मध्यवर्ग अपने परिवार की मर्यादा और स्तर कायम रखने तथा रोजी कमाने में ही सारी शक्ति लगा रहा है। इस वर्ग की राष्ट्रीय चेतना में ह्रास के साथ उसकी नैतिक शक्तिमत्ता भी बहुत कुछ क्षीण होने लगी है। लोग अपने से ऊँचे स्तर के व्यक्तियों को देखते हैं और उनमें किसी प्रकार का चारित्रिक उत्कर्ष, त्याग की भावना अथवा अन्य उच्चादर्श न पाकर स्वयं भी उसी जीवन-शैली को अपनाने की ओर प्रेरित रहे हैं। अपने से भिन्न और अभावग्रस्त वर्ग की जीवन-दशा उनका ध्यान आकृष्ट नहीं करती और इस प्रकार से विच्छिन्न होकर अपनी इकाई अलग ही बनाते जा रहे हैं। अपने निजी परिवेश को ही वह सब कुछ मान कर उसी मे रम रहे हैं। अपनी सीमित जीवन-चर्या के पाश मे बँध कर राष्ट्रीय जीवन के प्रति उपेक्षाशील हो गये हैं। प्रदर्शन की वृत्ति और महत्वाकांक्षा के मोह में पड़कर वे देश-विदेश की नई साहित्य-सृष्टियों को अपना लेते हैं और थोड़े से परिवर्तन के साथ उन्हे अपने कर्तव्य के रूप में प्रचारित करते हैं। पश्चिम की नई कृतियों के अनुवाद किये जायँ इसमें किसी को आपत्ति नहीं, परन्तु उनमें अनुवादक का नाम होना आवश्यक है, पर पश्चिमी कृतियों को अल्पपरिवर्तन के साथ अपनी रचना का रूप देने में ये लेखक दुहरा अन्याय करते हैं। एक तो भारतीय स्थिति का उनमें लगाव नहीं रहता और दूसरे अपने देश के लिए एक तथ्यहीन तथा निरर्थक, किन्तु चकाचौंध से भरे जीवन चित्र देकर ये मिथ्या आकर्षण भी उत्पन्न करते हैं। हिन्दी पाठक-समाज को न केवल उनके परिवेश के बाहर की वस्तु देते हैं बल्कि एक कृत्रिम और बेपहचाने जीवन का आकर्षण उत्पन्न कर उनको स्पष्टत: गुमराह भी बनाते हैं।'[2]

---

१. 'राष्ट्रीय साहित्य', पृ० ११। २. वही, पृ० १२।

ऊपर के अवतरण से लेखक का आशय भी प्रकट हो जाता है, परन्तु वस्तुस्थिति का यह विश्लेषण बहुत कुछ एकांगी भी है। पिछले बीस वर्षों में सर्जना और विचार दोनों क्षेत्रों में भारतीय मेधा पूर्णतः सक्रिय रही है। उसने नई जीवन-चेतना को काव्य और साहित्य की वाणी देने का प्रयत्न किया है। देश-विदेश के विचारों तथा साहित्यिक आन्दोलनों के प्रति उसकी जागरुकता में कुछ वृद्धि ही हुई है। पिछले पृष्ठों में हमने विचारात्मक गद्य की उपलब्धियों का जो विश्लेषण किया है उससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि इन दो दशकों में जितना लिखा गया है वह किन्हीं भी दो दशकों के कृतित्व से अधिक है। वह अधिक श्रेष्ठ भी है, यह अवश्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु नया कवि, कलाकार और विचारक आज अपने देश की सीमाओं में बंदी न रह कर यदि समस्त संसार के हृत्स्पन्दन का अपने भीतर अनुभव कर रहा है तो उसे एकदम राष्ट्रीय चेतना के प्रति उदासीन अथवा मात्र अनुकरणकर्ता नहीं कहा जा सकता। अपने सीमित क्षेत्र में और सीमित काल के भीतर उसकी उपलब्धियाँ कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। यह अवश्य है कि उसका चिन्तन अब पारम्परिक नहीं रह गया है, उसकी भाषा-शैली भी बदल गई है और उसमें पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान, टेकनोलाजी और शास्त्र के असंख्य शब्द आ जुड़े हैं जो उसे एकदम अपरिचित और नवीन बना देते हैं। परन्तु स्वतन्त्र भारतवर्ष के केन्द्रीय भाषा साहित्य (हिन्दी) के लिए ऐसा होना अनिवार्य बात थी। प्रसन्नता की बात यह है कि हमारा चिंतन बंद गलियों में जा कर रुक नहीं गया है और यदि एक ओर डॉ० रामविलास शर्मा और अज्ञेय जैसे लेखक हैं जो रूस और अमरीका की भावधारा और प्रौढ़ विचार-सम्पत्ति का सूत्र पकड़कर चलते हैं, तो दूसरी ओर जैनेन्द्र और हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे सिद्ध कृती भी हैं जो प्राच्य-ज्ञान और धर्म तथा भारतीय संस्कृति का पक्ष एक क्षण को भी नहीं छोड़ते। इन दोनों वर्गों के बीच में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डा० देवराज आदि अनेक ऐसे श्रेष्ठ चिन्तक और गद्य-शैलीकार भी हमारे बीच में अग्रिम हैं जो मध्यवर्ग को अपनाने में ही सुरक्षा समझते हैं और पूर्व-पश्चिम के समन्वय के द्वारा नये सांस्कृतिक मूल्यों का सृजन कर रहे हैं। ये नये सांस्कृतिक मूल्य एकदम निर्वैयक्तिक अथवा देशकालोत्तर नहीं हो सकते क्योंकि उनके निर्माता आधुनिक भारतवर्ष के चिन्तन और सृजन से अन्यतम रूप से सम्बन्धित हैं। वे अन्ततः 'राष्ट्रीय' ही होंगे। सच तो यह है कि नये राष्ट्रीय परिवेश में भारतीय-अभारतीय, पारम्परिक और आधुनिक, क्रियात्मक और विचारात्मक आदि श्रेणियाँ बांध कर चलना एक बड़ी भ्रांति होगी। स्वातंत्र्योत्तर साहित्य हमें यदि पूर्णतः आश्वस्त नहीं करता तो अपनी प्रगतिशीलता और नवीनता से हमें हताश भी नहीं करता। उसके प्रति अविरोधी दृष्टि ही हमारे लिए कल्याणकर होगी।

सहायक ग्रन्थ-सूची

(१) हिन्दी

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी	: समाचार पत्रों का इतिहास (सं० २०१०)
अमृतराय	: प्रेमचन्द : कलम का सिपाही (१९६२)
अरविन्द	: भारतीय संस्कृति के आधार (१९५१)
आबिद हुसेन	: राष्ट्रीय संस्कृति (सं० २०१५)
अज्ञेय	: आत्मनेपद (१९६०)
उमेश मिश्र	: भारतीय दर्शन (१९५७)
उपेन्द्रनाथ अश्क	: हिन्दी कहानियाँ और फैशन (१९६४)
खाडिलकर रा० र०	: आधुनिक पत्रकार कला (१९५३)
जयनाथ 'नलिन'	: चिन्तन और कला
जैनेन्द्र कुमार	: पूर्वोदय (१९५९, द्वितीय संस्करण)
	: काम, प्रेम और परिवार (१९६१, द्वि० सं०)
"	: सोच-विचार (१९६४, द्वि० सं०)
"	: प्रस्तुत प्रश्न (१९६१ तृ० सं०)
"	: मंथन (१९६१, द्वितीय सं०)
"	: राष्ट्र और राज्य (१९६५, प्रथम सं०)
"	: प्रश्न और प्रश्न (१९६६, प्रथम सं०)
"	: साहित्य का श्रेय और प्रेय (१९६१, द्वि० सं०)
"	: परिप्रेक्ष (१९६५, द्वि० सं०)
"	: समय और हम (१९६२)
"	: इतस्ततः (१९६०)
"	: जयवर्धन (१९५६)
"	: उपन्यास
	: हिन्दी गद्य के विविध रूप (१९४६, द्वि० सं०)
दुनीचन्द (सं०)	: साहित्य चिन्ता (१९५०)
देवराज (डॉ०)	: प्रतिक्रियायें (आलोचनात्मक लेखों का संग्रह) (१९६६)
"	: संस्कृति का दार्शनिक विवेचन (१९५७)
देवराज उपाध्याय (डॉ०)	: आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान (१९५६)
धर्मवीर भारती	मानव मूल्य और साहित्य १९६०

रामाधार शर्मा (डॉ०) : हिन्दी की सैद्धांतिक समीक्षा (१९६२)
राहुल सांकृत्यायन : नये भारत के नये नेता (१९४३)
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास (१९६१, पं० सं०)
„ : आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९५४)
„ : पश्चिमी आलोचना शास्त्र (१९६५)
विजयशंकर मल्ल : हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद (१९४७)
शंकरदयाल चौऋषि : द्विवेदी युग की हिन्दी गद्य शैलियों का अध्ययन(१९४७)
शम्भूनाथ सिंह : छायावाद युग (१९५२)
शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के मान (१९५८)
„ : प्रगतिवाद (१९४६)
सम्पूर्णानन्द (डॉ०) : हिन्दू देव परिवार का विकास (१९६४)
सुमित्रा नन्दन पंत : पल्लव (१९४२)
„ : छायावाद पुनर्मूल्यांकन (१९६५)
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' : संग्रह (१९६३, प्रथम संस्करण)
„ : प्रबन्ध प्रतिभा (१९६३, द्वितीय संस्करण)
हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर (१९५५, पंचम संस्करण)
„ : सहज साधना (सं० २०२०)
„ : विचार-प्रवाह (१९५९)
„ : मध्यकालीन धर्म-साधना (१९५२)
„ : साहित्य-सहचर (१९६५)
„ : हिन्दी साहित्य की भूमिका (१९४४, द्वि० सं०)
„ : चारु चन्द्रलेखा (१९६३)
„ : कालिदास की लालित्य योजना (१९६५)
हरिभाऊ उपाध्याय : आधुनिक भारत (१९४४)
हुमायुं कबीर : बंगला काव्य की भूमिका (१९६१)
एशिया पब्लिशिङ्ग हाउस : हिन्दी साहित्य-संग्रह, भाग १ (१९६३)

(२) पत्र-पत्रिकाएँ

त्रैमासिक आलोचना

५. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : आदिकाल की सामग्री का पुनर्परीक्षण
आ० नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी आलोचना

डॉ० नामवर सिंह	: इतिहास का नया दृष्टिकोण
डॉ० रघुवंश	: आधुनिक युग का पूर्वार्द्ध
८. राहुल सांकृत्यायन	: मातृभाषाओं का महत्व
डॉ० देवराज	: अतीत का साहित्य : क्लासिक की परिभाषा
६. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	: गौड़ीय वैष्णव रस-सिद्धान्त
शम्भूनाथ सिंह	: आ० ह० प्र० द्वि० की समीक्षा की मानववादी भूमिका
१०. नरोत्तम नागर	: जैनेन्द्र का सोच-विचार
१३. नन्ददुलारे वाजपेयी	: हिन्दी उपन्यास की विकास रेखा : उपलब्धियाँ और अभाव
डॉ० देवराज	: हिन्दी उपन्यास का धरातल
राहुल सांकृत्यायन	: ऐतिहासिक उपन्यास
डॉ० सम्पूर्णानन्द	: वैज्ञानिक कथा-साहित्य
१४. डॉ० नगेन्द्र	: हिन्दी का अपना समीक्षा शास्त्र (सम्भावनाएँ)
डॉ० देवराज उपाध्याय	: हिन्दी कहानियाँ : शिल्प और शैली
१५. जैनेन्द्रकुमार	: स्वातंत्र्य बनाम शहादत
१६. विद्यानिवास मिश्र	: व्यष्टि और समष्टि की संधि
१७. बच्चनसिंह	: मूल्यांकन-नया साहित्य : नये प्रश्न,नन्ददुलारे वाजपेयी
१८. रामविलास शर्मा	: कालिदास : साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या
नन्ददुलारे वाजपेयी	: सम्पादकीय
२०. डॉ० भगीरथ मिश्र	: साहित्यिक सौष्ठव और सामाजिक तत्व
२१. डॉ० देवराज	: प्रौढ़ता के स्तर
नन्ददुलारे वाजपेयी	: सामयिक परिवेश—सम्पादकीय
महादेवप्रसाद शर्मा	: राजनीति और दर्शन
२२. नन्ददुलारे वाजपेयी	: सम्पादकीय—समाज और साहित्य
राजेन्द्रप्रसाद सिंह	: नवीन विकास बोध के चार अध्याय
डॉ० रमेश कुंतल मेघ	: साहित्य सृजन और आलोचना सिद्धान्त
२४. प्रकाशचन्द्र गुप्त	: प्रगति और परम्परा
२७. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	: कलाकार की सिसृक्षा और सर्जन-सीमा
डॉ० नगेन्द्र	: भट्ट लोल्लट का रस-सिद्धान्त
शिवदानसिंह चौहान	: सम्पादकीय
अमृतराय	: आज का परिवेश और हमारा साहित्यिक दायित्व
२८. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	: सिसृक्षा का स्वरूप

नंददुलारे वाजपेयी : निराला का काव्य
शिवदानसिंह चौहान : सम्पादकीय : आलोचना और लेखक

१९. प्रो० धनंजय वर्मा : आचार्य वाजपेयी का निराला-विषयक विवे
डॉ० बच्चन : आधुनिकता और लोक चेतना
गोपालकृष्ण कौल : विश्वविद्यालय और समकालीन साहित्य

२३. शिवदानसिंह चौहान : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक
: नया परिवेश : नये प्रश्न—नयी उपलब्धियाँ
डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : वाक् तत्व और विनायक धर्म
डॉ० रामविलास शर्मा : लेखक और व्यक्ति स्वातंत्र्य
डॉ० चन्द्रभूषण तिवारी : प्रगतिवादी समीक्षा—सीमा और सम्भावना
विश्वम्भर मानव : नयी समीक्षा—सीमा और सम्भावना

२४. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के सन्दर्भ
डॉ० शिवकुमार मिश्र : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
डॉ० कुमार विमल : डॉ० नगेन्द्र
प्रकाशचन्द्र गुप्त : अमृतराय

२५. स्वातंत्र्योत्तर निबन्ध साहित्य
डॉ० रामखेलावन पांडेय : हिन्दी निबन्ध : प्रेरणा, प्रयास और उपल
डॉ० प्रभाकर माचवे : विदेशों में हिन्दी साहित्य

२६. शिवदानसिंह चौहान : सम्पादकीय
विजयकुमार शुक्ल : साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप
देवीप्रसाद गुप्त : मानवतावादी चिन्तन धारा और नया सा०
डॉ०विशम्भरनाथ उपाध्याय : हिन्दी में रेखाचित्र और रिपोर्ताज़
डॉ० रामाधार शर्मा : माखन लाल चतुर्वेदी : एक राष्ट्रीय कवि
डॉ० केदारनाथ लाभ : डॉ० रामविलास शर्मा

२७. विजयशंकर त्रिवेदी : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी समीक्षा की समस्यायें
लक्ष्मीकांत शर्मा : महादेवी का संस्मरणात्मक गद्य: उपलब्धियाँ

ऊपर के पाँचों अंक स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी विशेषांक हैं।

मासिकपत्र 'साहित्यपरिचय': आधुनिक साहित्य विशेषांक
डॉ० कृपाशंकर सिंह : हिन्दी रेखाचित्र
डॉ० विजयपाल सिंह : आधुनिक साहित्य में राष्ट्रीय भावना

डॉ०रामगोपलसिंह चौहान : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : एक सर्वेक्षण
डॉ० रामरतन भटनागर : आधुनिक साहित्य की पूर्व पीठिका

बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ रजत जयन्ती ग्रन्थ (दिसम्बर, १९६३)

२४. आ० नन्ददुलारे वाजपेयी : शोध और समीक्षा
२५. डॉ० रामरतन भटनागर : आज का आलोचना साहित्य (पृ० १७८)
२७. डॉ०श्रीधर दत्तात्रेय लिमये : विज्ञान का साहित्य और हमारी भाषायें (पृ० १९३)
हिन्दी अनुशीलन : धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक (१९६०)
१८. डॉ० नगेन्द्र : 'रस' शब्द का अर्थ विकास (पृ० ४२१-४२७)
२९. नन्ददुलारे वाजपेयी : राष्ट्रीय साहित्य (पृ० ५२०-५२८)

प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ (अक्टूबर १९४६)

१२. प्रो० सत्येन्द्र : हिन्दी गद्य निर्माण की द्वितीय अवस्था (पृ० १२२)
१७. प्रो० विनयमोहन शर्मा : समालोचना और हिन्दी में उनका विकास (पृ०१४४)

राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ (अक्टूबर १९६०)

आ० नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक काव्य चिन्तन (पृ० २९२)
मन्मथनाथ गुप्त : स्वतन्त्रता आंदोलन और हमारी संस्कृति पर उसका प्रभाव (पृ० ४७५)
डॉ० नगेन्द्र : अनुसन्धान और आलोचना (पृ० ३२६)
रामधारीसिंह 'दिनकर' : चार सांस्कृतिक क्रांतियाँ (पृ० ३५७)

(३) अंग्रेजी ग्रन्थ

Aldous Huxley : On Art and Critics, 1960.
Aldous Huxley : Collected Essays, 10-1960.
Arnold Toynbee : The World and the West, 1952.
Aurobindo : The Renaissance in India, 9-1920.
" Bankim, Tilak, Dayanand, 11-1940.
Barbara Ward : India and the West, 8-1961.
Balabushevieh V. V.(Ed.): A Contemporary History of India, 11-64.
(A. M. Dyakoo)
Benjamin Nelson : Freud and the 20th Century, 1958.
Bethel S. L. : Essays on Literary Criticism and the English Tradition, 1948.

Bijoy Bhattacharya : Bengal Renaissance, 1963.
Boris Ford (Ed.) : The Modern Age, 1961.
Bronowski Bruec Mazlish : The Western Intellectual Tradition, 1960.
Brumwell J. R. M. : The Chan;ing World, 1945.
Crane, R. S. : Critics and Criticism, 1952.
,, : The Languages of Criticism and the structure of Poetry, 1953.
Christopher Caudwell : Further studies in a dying culture, 1949
,, : Illusion and Reality, 1956.
David Daiches : Critical Approaches to Literature, 1956.
Deogirikar : Democracy in Action; 12 Years in Parliament, 1954.
Desai, A. R. : Social Background of Indian Nationalism, 1948.
,, Recent Trends in Indian Nationalism, 1960.
Edward Shils : Intellegensia in India (Chicago)
Eliot T. S. : Selected Prose : Penguin Books, 1953.
,, Notes towards the Definition of Culture, 1948.
,, : The Sacred Wood, 1920.
Emile Legouis & Louis Cazamian : A History of English Literature, 1961.
Esmend Wright : Thrift Books, 1951.
Fraser, G. S. : The Modern Writer and His World, 1961.
George Saintsbury : A History of English Criticism, 1911.
George Thompson : Marxism and Poetry, 1954.
George Watson : The Literary Critics, 1962.
Gokak, V. K. (Ed.) : Literatures in Modern Indian Languages, 1957.
Harold Osborne : Aesthetics and Criticism, 1955.

Helen Gardner : The Business of Criticism, 1959.

Herbert Read : Collected Essays in Literary Criticism, 1938.

Howard Fast : Literature and Poetry, 1952.

Humayun Kabir : Britain and India, 1960.

Humphry House : Aristotle's Poetics, 1956.

James H. Cousins : The Renaissance in India, 1918.

Jawaharlal Nehru : The Discovery of India, 1956.

Jean-Faul Sartre : The Reprieve, 1945.

Joseph-T. Shipley : Dictionary of World Literary Terms, 1955

Karan Singh : Post-Independence Generation, 1965.

Lascelles Abererombei : Principles of Literary Criticism, 1958.

Leavis, F. R. & Deny Thompson : Culture and Environment, 1950.

Lucas, F. L. : Literature and Psychology, 1951.

,, : Style

Mackenzie Brown D. : Indian Political Thought, 1964.

Middleton Murrary : The Problem of Style, 1922.

Mikhail Lifshitz : Literature and Marxism, 1945.

Misra, B. B. : The Indian Middle Classes, 1961.

Morris Gensberg : The Psychology of Society, 1921.

Moses Hadas : Humanism, 1961.

Mukerji, D. P. : Diversities, 1958.

,, Modern Indian Culture, 1942.

Munshi, K. M. : Our Greatest Need and other Addresses, 1953.

Nirad C. Chaudhuri : The Autobiography of an unknown Indian, 1951.

Panikkar, K. M. : The State and the Citizen, 1956.

,, : The Determining Period of Indian History, 19-2.

,, : Hindu Society at Cross Roads, 1955.

Panikkar, K. M. : A Survey of Indian History, 1947.

,, : The Foundations of New India, 1963.

Palme Dutt, R. : India Today and Tomorrow, 1955.

Plekhanov, G. V. : Art and Social Life,

Priestley, J. B. : Literature and Western Man, 1960.

Rabindranath Tagore : Lectures and Addressess 1955.

Ram Avadh Dwivedi & Vikramaditya Rai : Literary Criticism, 1965.

Ram Bilas Sharma : Nineteenth Century English Poetry, 1961.

Ram Ratan Bhatnagar : The Rise aod Growth of Hindi Journalism, 1947.

Raymond Williams : Culture and Society, (1780-1950), 1958.

Rene Wellek & Austin Warren : Theory of Literature, 1949.

Ronald Segal : The Crisis of India, 1965.

Radhakamal Mukerjee : The Destiny of Civilization, 1964.

,, : The Dimensions of Values, 1964.

Sahitya Akademi : Contemporary Indian Literature, 1957.

Scott-James R. A. : The Making of Literature, 1928.

,, : Fifty Years of English Literature (1900-1950), 1951.

Sengupta S. C. : Towards A Theory of the Imagination, 1959.

Sisir Kumar Misra : Resurgent India, 1963.

Soven Kierkegarrd : The Present Age, 1962.

Srinivasan, C. R. : The Press and the Public, 1944.

Stephen Spender : The Struggle of the Modern, 1963.

Sartre J. P. (Philip Mairet. Tr.) : Existentialism and Humanism, 1948.

Theodore de Bary (Ed.) : Sources of Indian Tradition, 1958,

Unnithan T. K. N. (Ed.) : Sociology of Culture in India, 1965.
(Indra Deva and
Yogendra Singh)
Vishwanath Iyer : The Indian Press, 1945.
Waddington C. M. : The Scientific Attitude, 1941.
William Henry-Hudson : An *Introduction to the Study of Literature* 1910.
William K. Winsatt ; : Literary Criticisms, 1957.
Qr. and Cleanth Brooks
The Visva Bharati Quarterly Founded by Rabindranath Tagore
1. Nirmal Kumar Bose : Hindu Social Organization (A Speculative Essay).
Alert Aronson : Cultural Relations and *Problem of* Response.
B. L. Allen : Existentialism and the Crisis of Western Man.
Dhirendra M. Datta : The Crisis in European Culture.

(३६४+२० = ३८४)